आचार्य जयन्तभट्ट
का
शब्द-दर्शन

Verbal Philosophy of Jayant Bhatta

डॉ० शङ्कर दयाल द्विवेदी

श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान
इलाहाबाद

आचार्य जयन्तभट्ट का शब्द-दर्शन

Verbal Philosophy of Jayant Bhatta

डॉ० शङ्कर दयाल द्विवेदी
एम्० ए०, डी० फिल्०
प्राध्यापक, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान
११७ सी, टैगोर टाउन, इलाहाबाद

१६८८

⊙ प्रकाशक एवं वितरक :
श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान
बिहसड़ा, मिरजापुर
के लिये

⊙ समाज धर्म एवं दर्शन (प्रतिष्ठान)
११७ सी, टैगोर टाउन,
इलाहाबाद—२
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : १९८६

⊙ मूल्य रु० १२५=००

⊙ भुवनेश्वरी प्रेस
११७ सी, टैगोर टाउन,
इलाहाबाद—२

अपनी बात

भारयीय न्याय दर्शन में जयन्तभट्ट का आविर्भाव बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है। नवम शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध में कश्मीर में महापण्डित आचार्यप्रवर जयन्तभट्ट का जन्म हुआ। बचपन से ही इन्होंने अपनी प्रखर मेधा एवं अद्भुत शास्त्रीय ज्ञान की धाक स्थापित कर ली थी। इनके आश्रयदाता नरेश शङ्करवर्मा ने इनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर प्रारम्भ में इन्हें दो शिक्षा संस्थानों का प्रभारी बनाया था। परन्तु बाद में राजनीतिक कारणों से इनकी शङ्करवर्मा से खटपट हो गयी। परिणाम-स्वरूप शासक ने उन्हें एकाकी जीवन बिताने के लिये बन्दी बनाकर निःशब्द जेल में डाल दिया। जेल यातना के विस्मरण के लिये तथा खाली समय को काटने के लिये जयन्त ने जेल में ग्रन्थलेखन प्रारम्भ किया और न्यायदर्शन का अनूठा ग्रंथ 'न्यायमञ्जरी' लिख डाला। यद्यपि जयन्त की उपलब्ध-अनुपलब्ध, ज्ञाताज्ञात अन्य अनेक रचनायें भी हैं, परन्तु जयन्त को शिखर के दार्शनिकों में स्थान दिलाने के लिये अकेली 'न्याय-मञ्जरी' ही पर्याप्त है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि जयन्त और उनकी 'न्याय-मञ्जरी' को समय से वह सम्मान नहीं मिल पाया, जो उन्हें पर्याप्त पहले से मिलना चाहिये था। जयन्त न्यायदर्शन का एक धुंधला नाम है। जयन्तभट्ट जो समय से अपनी पहिचान नहीं बना पाये, उसके कई कारण हैं। एक तो शङ्करवर्मा के शासनकाल (८८३-९०३ ई०) में कश्मीर आन्तरिक कलह एवं युद्ध सम्बन्धी गतिविधियों का केन्द्र बन गया था, जिसके कारण भयवश बाहर के अध्येताओं और विद्वानों का वहाँ आना-जाना बन्द हो गया था, दूसरे जयन्तभट्ट ने यह ग्रन्थ जेल में लिखा जिससे उनके ग्रंथ का परिचय अपने ही क्षेत्र के समकालिक विद्वानों को नहीं हो पाया, तब बाहर के विद्वानों को जयन्त की जानकारी कैसे होती। इसके अतिरिक्त बारहवीं शताब्दी में गंगेशोपाध्याय के उद्भव के साथ ही न्यायदर्शन के तत्त्व-चिन्तन पद्धति में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ, जिसे नव्य-न्याय के नाम से जाना जाता है, उसने मिथिला और नवद्वीप को विद्वानों का आकर्षण बिन्दु बना दिया। इस तथ्य ने भी जयन्त की उपेक्षा में अपना भरपूर योग दिया। अपि च, जिन आचार्यों एवं ग्रंथों का न्यायसूत्रों से साक्षात् अन्वय है, उन्हें तो यत्किञ्चित् सम्मान मिलता भी रहा, परन्तु 'न्यायमञ्जरी' चुने हुये न्यायसूत्रों पर स्वतन्त्र विवृत्ति है, इसलिये 'न्याय-मञ्जरी' नव्यन्याय की होड़ में काफी पीछे छूट गयी।

परिणाम स्वरूप पूरे भारतीय वाङ्मय में दो चार स्थलों पर ही जयन्त का और उनके मत का उल्लेख किया गया है। जयन्त के पुत्र अभिनन्द द्वारा अपने ग्रंथ 'कादम्बरीकथासार' में जयन्त के बारे में प्रचुर सूचनायें दिये जाने पर भी और चक्रधर द्वारा 'न्यायमञ्जरीग्रन्थिभङ्ग' नामक टीका लिखने पर भी, विद्वानों ने जयन्त की लगातार उपेक्षा की। इतना विश्रुत और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ परवर्ती अध्येताओं एवं अनुसन्धित्सुओं के लिये दीर्घकाल तक अज्ञात एवं अनुपलब्ध रहा। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में पं० गंगाधर शास्त्री ने सर्वप्रथम 'न्यायमञ्जरी' का प्रकाशन किया। उसके बाद से अब तक इसके दशाधिक संस्करण प्रकाश में आ चुके हैं।

'न्यायमञ्जरी' के प्रकाशन के पश्चात् ही इसके गहन अध्ययन एवं शोध की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। पं० चक्रधर की 'न्यायमञ्जरी-ग्रंथि-भङ्ग' नामक संस्कृत टीका के अतिरिक्त पं० फणिभूषण तर्कवागीश ने इसका बङ्गला अनुवाद प्रकाशित किया। पं० जानकी वल्लभ भट्टाचार्य ने इसके पूर्वार्ध का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। इसी तरह मैसूर के विद्वान् के० एस० वरदाचार्य ने इस पर 'न्याय-सौरभ' नाम की संस्कृत टीका लिखी। पं० सूर्यनारायण शुक्ल ने सन् १९५६ में आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस में 'न्यायमञ्जरी' पर एक शोधपत्र प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त महामहिम पं० गोपीनाथ कविराज, प्रो० राघवन्, प्रो० अनन्तलाल ठाकुर, पाल हाकर, सातकरी मुखर्जी, एच० जी० नरहरि, बी० गुप्त, पी० वी० काणे, कार्ल एच० पाटर, एम० आर० कवि, सतीशचन्द्र विद्याभूषण, डा० धर्मेन्द्र शास्त्री, पं० गङ्गानाथ झा, डा० चक्रधर बिजाल्वान के अनेक शोधपत्र एवं शोधग्रंथ प्रकाश में आ चुके हैं जो अपने ढंग से जयन्त की सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता तपादित करते हैं।

बारह आह्निकों वाले 'न्यायमञ्जरी' ग्रंथ के प्रथम छः आह्निकों में, जो कलेवर में पूरे ग्रंथ के दो तिहाई भाग को पूरा करते हैं, केवल प्रमाणों का ही परिचय व विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। जबकि शेष छः आह्निकों में प्रमेय से लेकर निग्रहस्थान पर्यन्त पन्द्रह पदार्थों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इससे यह कहा जा सकता है कि आचार्य प्रवर का प्रमाणों के विश्लेषण पर अधिक आग्रह था। यहाँ भी यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रारम्भिक छः आह्निकों में से पहले और दूसरे आह्निक में प्रमाण का लक्षण, प्रमाण विभाग, चतुः प्रमाणवादी न्यायमान्यता के विरोधी मतों का तर्कोपन्यासपूर्वक निराकरण और प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान प्रमाणों का लक्षण, पदकृत्य एवं उनका स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। जबकि शेष चार अर्थात् तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम व षष्ठ-आह्निकों में शब्द प्रमाण और उससे सम्बद्ध अन्यान्य पक्षों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार आह्निकों

के अनुसार पूरी पुस्तक के एक तिहाई व कलेवर के अनुसार विचार करने पर पूरी पुस्तक के लगभग आधे भाग में केवल शब्द सम्बन्धी न्याय-मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया है। इस अंश में आचार्य ने शब्द प्रमाण के लक्षण एवं स्वरूप के अतिरिक्त शब्द की अर्थवत्ता, शब्द का अर्थ से सम्बन्ध, शब्द की अनित्यता, शब्द से अर्थबोध की उपपत्ति, शब्द की प्रामाण्यसिद्धि के व्याज से सभी प्रमाणों के परतः प्रामाण्य की स्थापना आदि का समुचित निरूपण किया है। शब्द से अर्थबोध के प्रसङ्ग में वर्णों में वाचकत्वाभाव एवं पद व वाक्य में वाचकत्व का उपपादन, वर्णों का पदवाक्यभावोपगमप्रकार प्रदर्शित किया है। पदार्थवाद तथा वाक्यार्थवाद का निरूपण करते हुये जयन्त ने वाक्यार्थबोध के लिये आवश्यक संसर्गबोध के प्रसङ्ग में मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों में प्रसिद्ध अन्विताभिधान एवं अभिहितान्वय सिद्धान्तों का खण्डन करके मीमांसकों के एतद्विषयक एकाधिपत्य को न केवल चुनौती दी, अपितु स्वाभिमत संहत्यकारिता के सिद्धान्त की स्थापना की। पदार्थबोध के लिये पदनिष्ठ अभिधा एवं लक्षणा शक्तियों को स्वीकार करते हुये व्यञ्जनाशक्ति का खण्डन करके जयन्त ने तात्पर्याख्या शक्ति को स्वतन्त्र शक्ति के रूप में भारतीय चिन्तन के इतिहास में सर्वप्रथम स्थापित किया। पदार्थपर्यवसायिनी पदनिष्ठ अभिधा एवं लक्षणा शक्ति की ही तरह तात्पर्य शक्ति का अधिष्ठान भी आचार्य के मत में वाक्य के घटक पद ही हैं, किन्तु इस तात्पर्य शक्ति का उपयोग पदार्थबोध में न होकर सीधे वाक्यार्थबोध में होता है। शब्द सम्बन्धी उपर्युक्त तथ्यों का विश्लेषण करते हुये जयन्त ने पूर्ववर्ती वैयाकरण सिद्धान्तों, बौद्धमत सांख्य-योग, वेदान्त एवं मीमांसा के प्राभाकर एवं भाट्ट सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का खण्डन करके अपने जयन्त नाम को अन्वर्थ किया है।

कहना न होगा कि शब्द दर्शन के विविध पक्षों पर जयन्त के सिद्धान्तों का अनुशीलन समकालिक चिन्तन की माँग बन गया है। पूरे 'न्यायमञ्जरी' ग्रथ अथवा प्रमाणखण्ड को विषय बनाकर किये जाने वाले शोध में आचार्य के शब्द के सन्दर्भ में विशेष आग्रह का समुचित आदर सम्भव नहीं है। इस कारण गुरुदेव प्रो० डॉ०आद्याप्रसाद मिश्रजी ने मुझे 'न्यायमञ्जरी' के शब्दखण्ड पर स्वतन्त्र रूप से कार्य करने को प्रेरित किया। यद्यपि गंगेश की 'तत्त्वचिन्तामणि' अथवा 'न्यायसिद्धान्त मुक्तावली' की तरह 'न्यायमञ्जरी' का विभाजन प्रत्यक्षखण्ड, अनुमानखण्ड, उपमानखण्ड, शब्दखण्ड आदि अभिधानों से नहीं हुआ, तथापि 'न्यायमञ्जरी' के शब्द से सम्बन्धित अंशों अर्थात् तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ आह्निकों को ही शब्दखण्ड के नाम से अभिहित करके 'न्यायमञ्जरी का शब्दखण्ड : एक आलोचनात्मक अध्ययन' विषय पर शोधकार्य करने के लिये मेरा पञ्जीकरण मार्च १६७६ में

हुआ। काल की दुर्निवारता को यथाकथञ्चित् पार करते हुए अगस्त १९८१ में शोध-प्रबन्ध को मूर्त्तरूप देकर परीक्षणार्थ प्रस्तुत किया गया और नवम्बर १९८१ में उपर्युक्त विषय पर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी ने डी० फिल्० उपाधि स्वीकृत की। प्रस्तुत पुस्तक उसी शोध प्रबन्ध का परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप है। पुस्तक के नामकरण के सन्दर्भ में यह स्पष्ट करना है कि न्याय जैसे प्रमाणशास्त्र में 'शब्द-खण्ड' शब्द से आपाततः शब्द-प्रमाण मात्र अर्थ स्वीकार किया जाता है, किन्तु इसके अन्तर्गत 'शब्द' की नित्यता-अनित्यता, अर्थबोध और उससे जुड़े अन्य प्रश्नों को भी समायोजित समझा जा सके, इसलिये पुस्तक का नामकरण **'आचार्य जयन्तभट्ट का शब्द दर्शन'** किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सम्बन्ध में अपनी बात समाप्त करने के पूर्व मैं उन सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी प्रत्यक्ष या परोक्ष कृपा से मैं अपनी बौद्धिक जड़ता एवं मदान्धता को यत्किञ्चित् भी पहचान सका हूँ। मेरा स्वत्व जिनके कारण है, यह उन्हीं के लिये समर्पित है। गुरुवर प्रो० डॉ० आद्या-प्रसाद मिश्र जी ने आशीर्वचन लिखकर, पद्मभूषण प्रो० पट्टाभिराम शास्त्री जी ने ग्रन्थ की भूमिका लिखकर और प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डे जी ने प्राक्कथन लिखकर मेरे प्रति जो स्नेह प्रदर्शित किया है, मैं उसके लिये आप तीनों महाविभूतियों को हृदय से नमन करता हूँ। शोध प्रबन्ध के प्रकाशन हेतु प्राप्त आर्थिक सहयोग के लिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के अधिकारियों को धन्यवाद देना अपना पावन कर्त्तव्य समझता हूँ। श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान और श्री भुवनेश्वरी प्रेस के स्वत्वाधिकारी एवं कर्मचारी हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने न केवल लगनपूर्वक पुस्तक के प्रकाशनभार का निर्वाह किया बल्कि अपने पास से प्रभूत पूरक धनराशि लगाकर पुस्तक के प्रकाशन को आर्थिक भार से मुक्त कर दिया। हमारे कम्पोजीटर श्री केदारनाथ निषाद जी की यहाँ प्रशंसा करना आवश्यक है क्योंकि उन्होंने तकनीकी ज्ञान के अतिरिक्त भी इस प्रकाशन कार्य में बड़ी रुचि एवं लगन का आद्योपान्त परिचय दिया। अन्त में पुस्तक को पाठकों के हाथ सौंपकर उन्हें यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यदि इसमें कुछ तथ्य सत्य व अनुकूल बन पड़े हों तो यह ऋषियों की साधना और गुरुओं की कृपा का प्रतिफल है, और यदि कुछ भी दुष्ट या अनुचित लगे तो वह मेरे अपने ही अज्ञान से जनित है, अतएव क्षन्तव्य है।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

शनिवार, हरिप्रबोधिनी, सं० २०४५.
८४, टैगोर नगर, इलाहाबाद.

शङ्कर दयाल द्विवेदी

आशीर्वचन

डॉ० शङ्करदयाल द्विवेदी को इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हमारे निर्देशन में 'जयन्त भट्ट कृत न्यायमञ्जरी का शब्द खण्ड' एक आलोचनात्मक अध्ययन—विषय पर सन् १९८१ में डी० फिल् उपाधि प्राप्त हुई थी। प्रस्तुत पुस्तक उसी शोध प्रबन्ध का संशोधित एवं परिष्कृत रूप है।

आचार्य जयन्त भट्ट और उनकी न्यायमञ्जरी को न्याय दर्शन के इतिहास में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, किन्तु दुर्भाग्य से अन्य नैयायिकों की अपेक्षा जयन्त भट्ट एवं न्याय दर्शन को उनके अवदान की जानकारी कम लोगों को है। **'आचार्य जयन्तभट्ट का शब्द-दर्शन'** नामक यह कृति इस कमी को पूरा करती है। जयन्त प्राञ्जल भाषा एवं रस सिद्ध प्रवाहमयी शैली, गम्भीर चिन्तन और तर्क प्रवण विचारपद्धति के क्षेत्र में बेजोड़ हैं। विशेषतः शब्द प्रमाण और उससे सम्बद्ध विविध पक्षों का जैसा निरूपण न्यायमञ्जरी में हुआ है, वैसा प्राच्य-न्याय के किसी ग्रंथ में शायद ही प्राप्त हो। आचार्य ने शब्द प्रमाण के लक्षण के अतिरिक्त शब्द की अनित्यता, शब्द का अर्थ से सम्बन्ध, शब्द का परतः प्रामाण्य, वेद के प्रामाण्य एवं पौरुषेयत्व, वेद कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि, पद का स्वरूप, पदार्थ विचार, वाक्यार्थवाद एवं संसर्ग बोध सम्बन्धी मान्यता आदि प्रश्नों पर न केवल न्याय सम्मत पक्ष प्रस्तुत किया, वरन् व्याकरण, बौद्ध-न्याय, मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों और अन्य न्याय विरोधी मान्यताओं का निराकरण करते हुये स्थान-स्थान पर अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय देकर एतद्विषयक अपना स्वतंत्र मत भी प्रस्तुत किया। उदाहरणार्थ सामग्रीप्रमाणवाद, तद्वत् पदार्थवाद, तात्पर्य की स्वतंत्र वृत्ति के रूप में स्थापना, फल एवं संसृष्ट पदार्थ की वाक्यार्थ के रूप में स्वीकृति एवं संसर्ग बोध सम्बन्धी अभिहितान्वय व अन्विताभिधान की मान्यताओं का खण्डन करके संहत्यकारितावाद की स्थापना करना—आदि तथ्य जयन्त को भारतीय चिन्तन के इतिहास में उच्च पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये पर्याप्त हैं।

विद्वान् लेखक ने उपर्युक्त सभी तथ्यों की खोज पूर्ण व्याख्या करके सरल-सहज भाषा में जयन्तभट्ट के शब्द सम्बन्धी सभी विचारों को विद्वानों के समक्ष रखने

का चिरवाञ्छित प्रयास किया है। यह ग्रंथ न केवल न्यायदर्शन के विद्यार्थियों एवं अनुसन्धित्सुओं के लिये, वरन् व्याकरण, काव्य शास्त्र, बौद्ध और मीमांसा के प्रविवित्सुओं के लिये भी पठनीय एवं संग्रहणीय है—ऐसी हमारी दृढ़ मान्यता है। भाषा के दार्शनिक विश्लेषण और उसके द्वारा आध्यात्मिक प्रश्नों के समाधान की दिशा में प्रस्तुत कृति एक स्तुत्य प्रयास है। अन्त में डा० द्विवेदी को हमारा हार्दिक आशीर्वाद है कि वे विद्या व्यसनी बन कर ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में अहर्निश आगे बढ़ते रहें।

आद्याप्रसाद मिश्र
सेवा निवृत्त आचार्य एवं अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
एवं
पूर्व कुलपति
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद,

सत्य सदन,
२६, बलरामपुर हाउस,
इलाहाबाद.

प्राक्कथन

आचार्य जयन्तभट्ट प्राच्य न्याय के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावशाली चिन्तक हैं। उनकी प्रसिद्ध कृति 'न्यायमञ्जरी' में न्यायदर्शन के षोडश पदार्थों का विवेचन हुआ है। उन्होंने गौतम के न्यायसूत्रों में से कुछ विशिष्ट सूत्रों पर वृत्ति लिखकर न्यायदर्शन में अभूतपूर्व योग दिया है। उनकी तर्कशुद्ध आलोचना पद्धति, गम्भीर चिन्तन तथा हास्यव्यङ्ग्यपूर्ण शैली विद्वानों को सदा आकृष्ट करती रही है। पूर्वपक्ष का सुन्दर उपस्थापन, तदन्तर उसका सोपहास खण्डन तथा स्वपक्ष का मण्डन करने में वे परम निष्णात तार्किक हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में यथावसर बौद्धों तथा मीमांसकों का खण्डन तो किया ही, आनन्दवर्धन जैसे सहृदयचक्रवर्ती आचार्य भी उनकी तीखी आलोचना की चपेट से न बच सके। पदार्थ विवेचन के क्रम में व्यक्ति-आकृति-जातिवाद के उनके व्याख्यान ने परवर्ती आचार्य शृंगार-प्रकाशकार भोज को इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने अपने ग्रन्थ के अनेक स्थलों में उन्हीं के कथन को यथावत् उद्धृत किया है। शब्दार्थ विमर्श के सन्दर्भ में शब्द का परतः प्रामाण्य, प्रामाण्यवाद की समस्या का शब्दखण्ड के अन्तर्गत विचार का औचित्य, सामग्रीप्रमाणवाद की स्थापना, पदार्थों का संहत्य-कारितावाद, तात्पर्य की वृत्ति रूप में स्थापना इत्यादि विविध विषयों का जयन्तभट्ट ने अतीव रोचक एवं महत्त्वपूर्ण व्याख्यान किया है।

डॉ० शङ्करदयाल द्विवेदी ने ऐसे ही महनीय ग्रन्थ का गम्भीर अध्ययन मन्थन करके अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया था। यह पुस्तक उन्हीं के इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का परिवर्धित रूप है। डॉ० द्विवेदी ने जयन्तभट्ट के शब्ददर्शन की गवेषणापूर्ण प्रस्तुति की है। सम्पूर्ण पुस्तक विद्वान् लेखक के अनुसन्धान विषयक सूक्ष्मचिन्तन, मौलिक प्रतिभा तथा गम्भीर शास्त्रीय ज्ञान का सुफल है। प्रतिपाद्य-विषय का कोई भी अंश डॉ० द्विवेदी की सूक्ष्म प्रतिभा से अछूता नहीं बच सका है। मौलिकता का प्रदर्शन करते हुए वे कहीं भी अपथगामी नहीं हुए हैं। इसका कारण है, उनकी सहज प्रतिभा, गम्भीर चिन्तन एवं शास्त्रज्ञान के प्रति सदैव जाकरूक बुद्धि। आशा है प्रस्तुत कृति न्यायदर्शन के परिशीलन की नई दिशाएँ उन्मीलित करेगी।

सुरेश चन्द्र पाण्डे

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी.

१/६ प्रयाग स्ट्रीट.
इलाहाबाद.

भूमिका

'यच्छ्रुतं न विरागाय न धर्माय न शान्तये ।
सुबद्धमपि शब्देन काकवाशितमेव तत्' ।। (महाभा०)

इस उक्ति के अनुसार चिरंतन भारतीय विद्वानों ने संस्कृत वाङ्मय का प्रणयन किया है । पवित्र भारत की यह संस्कृति है कि जिस रचना के अध्ययन से वैराग्य, धर्म बुद्धि एवं शान्ति की प्राप्ति न होती हो वह रचना हेय ही है । विभिन्न सिद्धान्त एवं विरुद्ध मार्ग को प्रदर्शित करने वाले दर्शन ग्रन्थों से शान्ति की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है, इस प्रश्न के उत्तर में व्यासाचार्य कहते हैं—

'शमार्थं सर्वशास्त्राणि निर्मितानि मनीषिभिः ।
य एव सर्वशास्त्रज्ञः तस्य शान्तं मनस्सदा' ।।

शास्त्रकारों ने अपने मूलभूत सूत्र ग्रन्थों में प्रतिपादित अनुशासन का यथायथ पालन करते हुए अपने शास्त्र के मार्ग को दृढ़ और मसृण बना कर रक्खा है । भगवान् ने मानवों की सृष्टि कर उन्हें विवेकरूपी साधन दिया है । इस साधन के अवलंब से प्रसूत हैं सभी सूत्र ग्रन्थ । सूत्र ग्रन्थों के विस्तार के लिए भाष्य, वार्तिक, व्याख्योपव्याख्यायें प्रवृत्त हुई हैं । उनमें विद्यास्थान के रूप में चौदह परिगणित हैं, जिनमें आन्वीक्षकी न्यायविद्या भी एक है—

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।।

ये विद्यायें पढ़कर केवल समझने मात्र के लिये ही नहीं परन्तु अनुष्ठान के लिए भी हैं । यह सूचित किया जाता है—'धर्मस्य च' से । पवित्र वेद, तदङ्गों के साथ न्याय की परिगणना से प्रतीत होता है—न्यायशास्त्र का क्या महत्त्व है ।

न्यायशास्त्र के ग्रन्थ प्रणेताओं में श्री जयन्त भट्ट एवं ग्रन्थों में न्यायमञ्जरी विशेष महत्त्व रखते हैं । जयन्त भट्ट एक निर्भीक और न्यायप्रिय व्यक्ति हैं । इनकी चिन्तना शक्ति विलक्षण है । पदार्थों का उपपादन एवं मतान्तर-समालोचनाओं की शैली अनुपम है । तत्र-तत्र इनके द्वारा दिये गये तर्क एवं प्रमाण अनितर साधारण होते हैं । ये महान दार्शनिक, विचारक, चिन्तक और उत्तम लेखक हैं । इनके व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में **डॉ० शङ्करदयाल द्विवेदी** जी ने अपनी भूमिका में विस्तार से लिखा है । वेदों के प्रामाण्य में इनका दृढ़ विश्वास है । मीमांसा शास्त्र का वेदों के साथ जितना सन्निहित सम्बन्ध है उतना न्याय शास्त्र का नहीं है, तथापि इतना ही अन्तर है कि मीमांसक वेदों को स्वतः प्रमाण मानता है तो नैयायिक परतः मानता है । इस न्यायशास्त्र की पद्धति (मार्ग) से च्युत होना अपने लिए

उचित नहीं समझ कर जयन्त भट्ट वेदों का प्रामाण्य सिद्ध करते हुए लिखते हैं—'अस्मत्पितामह एव ग्रामकामः साङ्ग्रहणीं कृतवान्, स इष्टिसमाप्त्यनन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवाप' न्या०मं० पृ० २५०, चौखाम्बा संस्करण, प्रमाण-पारायण।

इस प्रकार लिखने का आशय है कि 'वैश्वदेवीं साङ्ग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः ? इस श्रुति वाक्य से सिद्ध अर्थ ज्ञान का प्रामाण्य परतः संवादज्ञान से सिद्ध होगा। उसी संवाद को प्रदर्शित करता है—मैं उसी ग्राम का वासी हूँ जिसे मेरे पितामह ने इष्टि के अनुष्ठान से अर्जित किया है। इससे जयन्तभट्ट सिद्ध करना चाहते हैं कि वे शुष्क नैयायिक ही नहीं है किन्तु श्रौतकर्मों का अनुष्ठान करने वाले परिवार की सन्तान भी है। कुल परम्परागत कर्मकाण्डवासना से कर्मकाण्डी भी हैं। ईश्वर की सिद्धि करते हुए लिखी गई पंक्तियों के अध्ययन से प्रतीत होता है—यह एक अंतरंग भक्तिमान् भी है।

न्यायमञ्जरी के आधार पर विद्वान् **डॉ० शङ्करदयाल द्विवेदी** जी ने एक सुन्दर और विस्तृत शोध प्रबन्ध का प्रणयन किया है। न्यायमञ्जरी प्राचीन न्याय शास्त्र का असाधारण ग्रन्थ है। मतमतान्तरों में सिद्ध विषयों की समालोचना इस ग्रन्थ में की गई है। प्रतीत होता है कि डॉ० द्विवेदी ने इस ग्रन्थ का कई बार आमूलचूड अध्ययन, मन्थन व चिन्तन करने का परिश्रम किया है।

भट्टपाद को मीमांसा शास्त्र निकेतन का स्तम्भ माना जाता है। विषयों के उपपादनों में भट्टपाद के तर्क दुरूह होते हैं। जयन्त भट्ट उन तर्कों की समालोचना कई स्थलों में करता है। डॉ० द्विवेदी ने इन स्थलों का सुचारु परिशीलन कर इन्हें अपने शोध प्रबन्ध में अंकित किया है। शाब्दबोधप्रक्रिया के विभिन्न सिद्धांतों को प्रदर्शित करते हुए जयन्त भट्ट के मत को विशेष रूप से प्रदर्शित किया गया है। डॉ० द्विवेदी जी के इस प्रबन्ध से इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है कि 'तात्पर्याख्या शक्ति' को किसने स्वीकार किया। 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' इस मम्मट सूत्र की व्याख्या करते हुए कतिपय व्याख्याकारों ने इस तात्पर्य को मीमांसकों द्वारा स्वीकार की गयी वृत्ति माना है। परन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध से इस भ्रम का निवारण हो जाता है। फलतः कई दृष्टियों से यह प्रबन्ध उपादेयतम है। विशेषतः हिन्दी जगत के लिए न्याय जैसे गहन शास्त्र के विषयों को जानने में यह प्रबन्ध परम उपकारक है। मैं इस प्रबन्ध से अत्यंत ही प्रसन्न हूँ। विद्वान् डॉ० शंकर दयाल द्विवेदी के परिश्रम का अभिनन्दन करता हुआ परमेश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वे इस प्रकार के अनेक प्रबन्धों का प्रणयन कर विद्वत्समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करें।

'पद्मभूषण' प्रो० डॉ० पी० एन० पट्टाभिराम शास्त्री
संरक्षक
श्री पट्टाभिराम शास्त्री वेदमीमांसानुसन्धान केन्द्र
४/७, हनुमानघाट, वाराणसी.

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१	१ नीचे	आगमडम्र	आगमडम्बर
३२	११ नीचे	आहतः	आहृतः
४५	११ ऊपर से	शब्दों	शब्द
४६	५ ऊपर से	विनाशी होता—२	विनाश होता
७७	११ ऊपर से	अर्थों	प्रमाणों
८९	५ व ७ नीचे से	४ व ३	२ व १
९९	१४ ऊपर से	परमसत्तावादी	परमसत्तावादिता
१०१	५ नीचे से	पाद्यमाने	पाट्यमाने
१२२	२ नीचे से	श॒देन	शब्देन
१२९	१२ नीचे से	उत्पत्ति	उत्पन्न
१४८	१ नीचे से	चेद्	चेत्
१५३	६ ऊपर से	असमर्थ	समर्थ
१५४	११ ऊपर से	प्रमाण	प्रमा
१५५	१ नीचे से	मेतिह्यम्	मैतिह्यम्
१५६	१ नीचे से	पर्यायाणामेवरु	पर्यायाणामेव
१६०	१३ ऊपर से	थर्मा	धर्मा
१६८	१ नीचे से	विवक्ष	विवक्षा
१६९	१६ ऊपर से	प्रमाणवाद	प्रामाण्यवाद
२२५	२ नीचे से	कार्याथत्वा-	कार्यार्थत्वा-
२२८	१ नीचे से	तै० ना०	तै० ब्रा०
२३२	९ नीचे से	ह्यद्भिदाय	ह्यद्भिदादयः
२३५	१ नीचे से	पृ० १६	पृ० १२६
२४०	२ नीचे से	३	४
२४५	११ नीचे से	गोसादृश	गोसदृश
२४७	६ नीचे से	अयमस्थ	अयमस्य
२६२	११ नीचे से	अन्तर्गत	अर्थ
२८८	७ नीचे से	उच्चारित तत्त्व	उच्चारितत्व
३०६	४ ऊपर से	वाक्यार्थज्ञान	वाक्यार्थवाद
३१२	५ नीचे से	चेतन्न	चेन्न
३४०	६ नीचे से	प्रमादेयुत्क्तम्	प्रमादेत्युक्तम्

विषय सूची

अध्याय पृष्ठ

—:०:—

प्रथम अध्याय

सामान्य-परिचय

दर्शन का स्वरूप :

जब हम यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है, तब इससे यह तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है कि इस पृथ्वी में मानवके अवतरण के साथ ही सोचने समझने की परम्परा ने जन्म लिया होगा। एक विशाल ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इन्हीं मानवीय विचारों का व्यवस्थित स्वरूप ही दर्शन है। वैदिक संहिताओं से यह स्पष्ट होता है कि मानव में कौतूहल और पृच्छा की प्रवृत्ति उसकी मौलिक विशेषता थी। अतः अपनी पृच्छा की सन्तुष्टि के लिये मानव ने जो विकल्प दिये, उन्हीं का व्यवस्थितीकरण दर्शन बन गया। दर्शन मानव की बौद्धिक परिपुष्टि का दस्तावेज़ है। दर्शन देखने की एक विशिष्ट विधा है। देखने से यहाँ तात्पर्य दृष्टि से है—जीवन दृष्टि से। जीवन की यही जीवन्त दृष्टि दर्शन है। संस्कृति के अन्य पहलुओं तर्क, विज्ञान, धर्म तथा कला से दर्शन का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है। धर्म जीवन की आदर्श आचार पद्धति है और दर्शन शास्त्र का कार्य जीवन को व्यवस्थित करना और कर्म करने के लिये उचित मार्ग का प्रदर्शन करना है। विचारकों के विचार उनके जीवन के सर्वोत्तम प्रयोग होते हैं और उनका जीवन होता है एक आदर्श दार्शनिक प्रयोगशाला।

निःसन्देह सबके सोचने समझने की शैली एक नहीं हो सकती क्योंकि बुद्धि भी प्राकृतिक, भौगोलिक, सामाजिक और अपने स्वयं के पूर्वाग्रह से प्रभावित होती है, अतः प्रश्न एक होता है और उसके उत्तर अनेक हो जाते हैं, पृच्छा एक ही है, पर उसके समाधान में विकल्प उपस्थित होते हैं, निर्णय ऐकान्तिक न होकर अनैकान्तिक हो जाता है। इसीलिये दर्शन अनेक हो गये। भारतीयों की दृष्टि अलग रही, पारसीकों की कुछ और, मिस्रियों की उससे भी कुछ भिन्न, और रोमन दार्शनिकों की कुछ इतर ही मान्यता रही। भारतीय शास्त्रों में अनुबन्ध-चतुष्टय और अधिकारी भेद को बड़े विशद रूप से समझाया गया है। दर्शनों तथा दार्शनिक मान्यताओं की अनेकता में उक्त प्रश्न ने भी महत्त्वपूर्ण पहल किया है। जो नितान्त भोगवादी है, भौतिकता का पक्षधर है, वह दर्शन में अध्यात्म की चर्चा नहीं कर

सकता, परन्तु जो इन सांसारिक भोगों की असारता को समझ रहा है, उसकी सन्तुष्टि भोगवादी दृष्टि से संभव नहीं है, वह तो उससे भी कुछ अधिक जीवन्त तथ्य की ईषणा में रत रहता है। नितान्त भौतिक संस्कृति में स्वांस लेने वाले पाश्चात्त्य जिज्ञासुओं को शङ्कर का अद्वैत तत्त्व शान्त नहीं कर सकता, जबकि भारत की भूमि में ही उपजे बौद्ध, जैन दर्शन और धर्म विदेशों में दूर-दूर तक प्रसृत हुये एवं पूजित हुए, परन्तु वेद विरुद्ध होने के कारण आज भारत में उनका कोई नाम लेवा भी कठिनता से मिलेगा। यही कारण है कि छिछले दर्शन का प्रचार प्रसार करने वाले तथाकथित आधुनिक विचारकों का भोगवादी रुख भारत के लोगों को उतना प्रभावित नहीं कर सका जितना पाश्चात्त्य अभ्यागतों को। अतः यह अधिकारी भेद न केवल एक देश या एक पर्यावरण के दर्शन का दूसरे देश या पर्यावरण के दर्शन से भेद उत्पन्न करता है, वरन् एक ही पर्यावरण में जन्मे और पनपे सभी भारतीय दर्शनों में ईषद्बृहद् भेद सर्वत्र हो गया है। मान्यताओं के इस भेद के कारण भारत में वैदिक अवैदिक भेद से—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदान्त), रसेश्वरदर्शन, पाशुपत दर्शन, शाक्त दर्शन, व्याकरण दर्शन आदि तथा जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि दर्शनों का व्यवस्थित विकास हुआ।

आज दर्शन शब्द का प्रयोग उस वैचारिक परम्परा के लिये होता है, जिसका एक व्यवस्थित रूप है, उसका साहित्य है, व्यवस्थितकर्त्ता है और इसके व्यवस्थितीकरण का क्रमबद्ध इतिहास है। दर्शन के लिये पाश्चात्त्य भाषाओं में Philosophy शब्द का प्रयोग होता है। इस शब्द का तात्पर्य है—ज्ञान की चाह (Love of wisdom)। यह दो ग्रीक शब्दों Phllos (Love) और Sophia (wisdom) से मिल कर बना है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में दर्शन शब्द का अर्थ कई प्रकार से स्वीकार किया जा सकता है। 'दर्शन' का मौलिक अर्थ दृश् धातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय करने पर होगा दृष्टि या देखना, जिसका तात्पर्य है 'तत्त्वसाक्षात्कार'। यदि ल्युट् प्रत्यय को करण अर्थ में स्वीकार किया जाय तो दर्शन शब्द का अर्थ होगा 'जिससे देखा जाय', अर्थात् वह विशिष्ट विधा जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान हो सके। 'दृश्यते आत्मादितत्त्वमनेनेति दर्शनम्' इस प्रकार का अर्थ सभी भारतीय दर्शनों के लिये समीचीन है। इसी तथ्य को अभिप्रेत कर औपनिषद ऋषियों ने द्रष्टव्य आत्मतत्त्व का उपदेश किया है[1] तथा भगवान् बुद्ध ने सम्मादिट्ठि का उपदेश किया

१. आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च मैत्रेयि।

—बृह० उप० २।४।५

है। भारतीय दर्शन का सम्बन्ध तत्त्वज्ञान से है और वह नित्यानन्द की अवाप्ति है जो ब्रह्म जैसे अथाह समुद्र में गोते लगाने के समान है।[1] भारत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय उसी एक सार्वभौम तत्त्व के साक्षात्कार करने के विभिन्न साधन प्रस्तुत करते हैं। भारतीय बिचारधाराओं का सर्वेक्षण समस्त विचार मात्र के सर्वेक्षण की भाँति प्रत्येक व्यक्ति के मन में जीवन के रहस्य, उसकी विशालता तथा सौन्दर्य और उसे समझने के लिये मानवीय पुरुषार्थों के स्वरूप का एक अद्‌भुत चित्र प्रस्तुत करता है। भारत में दर्शन केवल जिज्ञासा की शान्ति तक ही सीमित नहीं है, वरन् वह परमपुरुषार्थाधिगम का उपाय है, एक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से हम आध्यात्मिक जीवन जीकर अद्वय परम तत्त्व का साक्षात्कार कर सकते हैं। इसीलिये भारत में दर्शन भौतिक प्रश्नों का तार्किक समाधान मात्र न रहकर अध्यात्म की परा भूमि की ओर उन्मुख हो गया। चूँकि भारतीय दार्शनिक जीवन की क्रियात्मक व्याख्या के निकटतम रहकर जीवन को एक ऐसी वैचारिक प्रस्तुति देता है जो दूसरे रूप में धर्म का रूप धारण करके जीवन की श्रेष्ठ कसौटी पर कसी जाने योग्य होती है, इसलिये भी भारतीय दर्शन नितान्त तर्कपरक न होकर आदर्श भारतीय जीवन का प्रमाण बन गया।

यह भारत भूमि और भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य है कि यहाँ ऋग्वेद-काल से ही तत्त्वदर्शन की परम्परा रही। उपनिषद् काल में अध्यात्म विषयक विचार मुखर हो उठा था जो परवर्त्ती काल में अधिकारी भेद से कई सम्प्रदायों में विखर गया। फिर भी सभी भारतीय दर्शनों का यह एक प्रधान वैशिष्ट्य है कि सभी दर्शनों का उद्‌भव एक स्थान (उपनिषद्) से हुआ है और सबका गन्तव्य भी एक ही (मोक्ष) है, भेद केवल दृष्टि का है—जीवन दृष्टि का—जिससे इनकी विचारधारा में अन्तर आता गया। सभी आस्तिक दर्शनों का विकास औपनिषद विचारों से हुआ और सभी दर्शनों का उद्देश्य है—सब प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति। भले ही जैन और बौद्ध दर्शन वैदिक धर्म के विरुद्ध की गयी क्रान्ति और प्रतिक्रिया के फलस्वरूप विकसित हुये हों, परन्तु दुःख का अस्तित्व और उसका विनाश इन्हें भी मान्य है। भारतीय दार्शनिक यह मानता रहा है कि एक ऐसी अवस्था है जहाँ सांसारिक दुःख, बाधा, पीड़ा अपूर्णता आदि कुछ नहीं है, ऐसी पूर्ण, शान्त, स्थिर, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, आनन्दस्वरूप अवस्था ही सबका ध्येय है, यही परम पुरुषार्थ है, यही मोक्ष है और इसकी प्राप्ति हो जाने पर पुनः

---

१. स्वामी प्रज्ञानानन्द, Schools of Indian Philosophical Thoughts. P. 1.

अज्ञानजन्य इस दुःखपूर्ण संसारचक्र में नहीं फँसना होता।[१] नित्यानन्द को प्राप्त करना ही भारतीय महर्षियों का उद्देश्य था। परन्तु इसकी प्राप्ति के साधनों में अधिकारी भेद से भेद होता गया और इसीलिये तत्त्वगवेषणा में अन्तर आता गया। पुनश्च मौलिक गुरु के विचारों से पूर्वाग्रह युक्त होकर शिष्यों ने वाग्विलास करना प्रारम्भ कर दिया जिससे भारतीय दर्शनों में पारस्परिक भेद को प्रौढ़ता प्राप्त हुई। सिद्धान्त और क्रियात्मक—दोनों ही दार्शनिक क्षेत्रों में धीरे-धीरे यह अन्तराल भारतीय दर्शनों के मध्य आता गया। इसके परिणामस्वरूप वैदिक तथा अवैदिक—मुख्य दो भेद किये जाते हैं। जिन्होंने वेद की अधिमान्यता स्वीकार की, वे आस्तिक कहे गये और जो वेद-विरोधी थे, वे नास्तिक कहे गये। नास्तिकों में मुख्यतः जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शन आते हैं तथा आस्तिकों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त—इन छः दर्शनों का परिगणन होता है। पाशुपत नकुलीश दर्शन, मध्व का द्वैत दर्शन, पाणिनीय दर्शन तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन—इन विचार-धाराओं का आस्तिक दर्शन के क्षेत्र में परिगणन हुआ है।[२] प्रमुख छः आस्तिक भारतीय दर्शनों में से न्याय और वैशेषिक, सांख्य और योग तथा पूर्वमीमांसा और वेदान्त की तत्त्वगवेषणा एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध है, अतः ये समान-तन्त्र (Allied Systems) कहे जाते हैं।

प्रत्येक दर्शन के दो पक्ष हैं—सैद्धान्तिक और प्रायोगिक। सर्वप्रथम दर्शनों का विकास केवल प्रायोगिक रहा होगा। धीरे-धीरे प्रायोगिक तथ्यों को तत्त्वज्ञ महर्षियों ने सिद्धान्त रूप में सूत्र ग्रंथों में संक्षेप में सूत्रित कर दिया। इन दर्शनों का प्रयोग पक्ष धीरे-धीरे निर्बल होता गया और सिद्धान्त पक्ष विस्तृत होता गया। परस्पर सैद्धान्तिक विरोधों के कारण एक दूसरे के सिद्धान्तों में उंगली उठने लगी और अपने मत पर आक्षिप्त शंकाओं का समाधान तर्क की सहायता से किया गया। इसीलिये भारत का अध्यात्मवादी दर्शन धीरे-धीरे तार्किकता की ओर कदम खिसकाने लगा। यही कारण है कि तर्क का प्रयोग न केवल न्यायदर्शन में ही हुआ, वरन् सांख्य, मीमांसा, जैन, बौद्ध और यहाँ तक कि शङ्कराचार्य तक को अवाङ्मनसगोचर तत्त्व पर प्रतिक्षिप्त तर्कों का उत्तर देने के लिये तर्क का आश्रय लेना

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ —मुण्डकोपनिषद् २।२।८

२. द्रष्टव्य—सर्वदर्शन संग्रह।

पड़ा।[१] तर्क का कभी भी एक रूप नहीं हो सकता, इसलिये इन दर्शनों में भी अन्दर ही अन्दर तार्किक अन्तर्विरोध उत्पन्न हुये जिससे एक-एक सम्प्रदाय में कई-कई सम्प्रदायों का विकास हो गया। भगवान् बुद्ध के उपदेशों को प्रमाण मान कर प्रारम्भ हुआ बौद्ध-दर्शन चार सम्प्रदायों में बँट गया। शङ्कराचार्य का अद्वैत-दर्शन उनके शिष्यों तक पहुँचकर दो प्रस्थानों में बँट गया। दर्शन के क्षेत्र में ऐकान्तिकता के अभाव का मुख्य कारण है तर्क की अप्रतिष्ठा। फिर भी भारतीय दर्शन में आस्तिक सम्प्रदाय में आने वाले दर्शनों में मुख्यतः छः दर्शनों का परिगणन ही उल्लेखनीय है। इनमें से न्यायदर्शन के आदि आचार्य अक्षपाद गौतम है जिन्होंने 'न्यायसूत्र' की रचना की। वैशेषिक के आदि आचार्य महर्षि कणाद है तथा इनका ग्रन्थ 'वैशेषिक-सूत्र' कहा जाता है। सांख्य दर्शन की उपलब्ध आद्य मौलिक रचना ईश्वर कृष्ण की 'सांख्यकारिका' है जबकि सांख्य के आदि आचार्य कपिल माने जाते हैं। योग का प्रथम ग्रंथ है 'योगसूत्र' जिसकी रचना योग के प्रथम आचार्य पतञ्जलि ने की। पूर्वमीमांसा के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि हैं, इन्होंने 'मीमांसासूत्र' की रचना की तथा वेदान्त दर्शन के मौलिक आचार्य बादरायण व्यास है जिन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की।

आलोच्य विषय के सन्दर्भ में हमें केवल न्यायदर्शन की परम्परा का अध्ययन अपेक्षित है। अतः न्यायदर्शन के विषय में अति संक्षेप में जयन्त की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर विचार करना आवश्यक है।

आचार्य जयन्त भट्ट के लिये उपलब्ध न्याय-परम्परा एवं दार्शनिक पर्यावरण :

न्यायदर्शन की विशाल अविच्छिन्न परम्परा में प्रवृत्ति भेद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है गङ्गेश के उदय के साथ न्याय वैशेषिक की प्रतिपादन शैली में परिवर्तन। इसीलिये गङ्गेशोपाध्याय से पूर्व का न्याय साहित्य 'प्राच्यन्याय' कहा जाता है और गङ्गेश तथा उसके बाद उसके अनुयायियों द्वारा प्रवर्तित न्याय-दर्शन को 'नव्य-न्याय' कहा जाता है। प्राच्य न्याय का उदय महर्षि अक्षपाद द्वारा न्याय-सूत्र' की रचना के साथ होता है। न्याय दर्शन को आन्वीक्षिकी, हेतुविद्या भी कहा जाता है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार प्रमाणों के द्वारा अर्थ-

---

१. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य—तर्कपाद।

परीक्षण करने को न्याय कहते हैं।[1] वात्स्यायन का यह भी कहना है कि प्रमाणादि पदार्थों का विवेचन करने के कारण ही आन्वीक्षिकी मूलतः अध्यात्मविद्या होते हुये भी न्यायशास्त्र हो गयी।[2] पारिभाषिक रूप से पाँच अवयवों वाले अनुमान वाक्य को न्याय कहते हैं।[3] अतः न्याय और अनुमान समानार्थक हुये। प्रमाणों द्वारा अर्थ का परीक्षण करना न्याय कहा जाता है। प्रत्यक्ष और शब्द के आश्रित अनुमान होता है उसी को अन्वीक्षा कहते हैं, उस अनुमान या अन्वीक्षा से जो प्रवृत्त हो उसे आन्वीक्षिकी या न्यायशास्त्र कहते हैं।[4]

इस अन्वीक्षिकी विद्या का प्रारम्भ गौतम नामा ऋषि के द्वारा माना जाता है[5] जबकि न्यायसूत्रों का रचयिता व्यक्ति अक्षपाद था। अक्षपाद और गौतम दो अलग व्यक्ति थे या एक—यह एक समस्या है। न्यायभाष्य,[6] वार्तिक,[7] तात्पर्य टीका,[8] न्यायमञ्जरी[9]—सर्वत्र अक्षपाद को ही न्याय का प्रथम आचार्य कहा गया है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह[10] में न्यायदर्शन का प्रतिपादन अक्षपाददर्शन के

---

१. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। —न्या० भा० १।१।१

२. सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिपदार्थैर्विभज्यमाना...। —वही १।१।१

३. तेषु प्रमाणसमवायः आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपनयमुपमानम्, सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं' निगमनमिति। सोऽयं परमो न्यायः। —वही १।१।१

४. प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा, प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्त्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्। —वही १।१।१

५. पद्मपुराण—उत्तरखण्ड, अध्याय २६३, अपि च स्कन्दपुराण—कालिका खण्ड, अध्याय १७, नैषधीय चरित—अध्याय १७।

६. योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद्वदतां वरम्।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्त्तयत्॥ —न्या० भा० ग्रन्थ समाप्ति

७. यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥—न्या० वा० प्रारम्भ

८. अथ भगवताऽक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते...।
—न्या० वा० ता० टी० प्रारम्भ

९. अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादपः।
सान्द्रामृतरसस्यन्दफलसन्दर्भनिर्भरः॥ —न्या० म० प्रारम्भ

१०. सर्वदर्शनसंग्रह—चौ० सं० सि० प्रकाशन

रूप में किया है। परन्तु न्याय का सम्बन्ध गोतम या गौतम नामा ऋषि से भी है। अतः गौतम और अक्षपाद का अभिज्ञान आवश्यक हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि गौतम और अक्षपाद ये दोनों एक ही व्यक्ति के नाम थे। यह हो सकता है कि 'गोतम' या 'गौतम' न्यायसूत्रकर्त्ता का वंशबोधक शब्द हो और अक्षपाद उनका अभिधान हो। न्यायसूत्रकार अक्षपाद का काल प्रथम शताब्दी ईसवी के लगभग होना चाहिये,[१] क्योंकि नागार्जुन ने, जिनका समय द्वितीय सदी ईसवी है,[२] अक्षपाद की आलोचना की है।

न्यायसूत्रों पर आचार्य वात्स्यायन ने तीसरी शताब्दी में[३] न्यायभाष्य लिखा और वार्त्तिककार उद्योतकर ने (षष्ठ सदी ई०)[४] 'न्यायवार्त्तिक' की रचना की। न्यायसूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि न्यायसूत्रों के प्रणयन काल तक आस्तिकों और नास्तिकों का वैचारिक संघर्ष प्रारम्भ हो चुका था। यह संघर्ष मुख्यतः न्याय-वैशेषिक विचारधारा और बौद्धों के मध्य था। पाँचवीं सदी ईसवी के आस-पास महायान बौद्धों के विस्तार ने न्यायशास्त्र के विकास एवं परिष्कार को प्रभावित किया। इस काल में बौद्ध तार्किक वसुबन्धु तथा दिङ्नागाचार्य ने 'न्याय सूत्र' और 'न्यायभाष्य' की बाहुल्येन आलोचना की और न्याय-सिद्धान्तों पर प्रश्न-चिन्ह लगा दिया। बौद्ध तार्किकों के आक्षेपों का उत्तर देने के लिये ही उद्योतकर ने 'वार्त्तिक' की रचना की जिसमें स्वपक्षरक्षण के साथ-साथ न्यायसूत्र के उन अंशों पर भी प्रकाश डाला गया, जिन्हें भाष्यकार ने संदिग्ध ही छोड़ दिया था। लेकिन यह लड़ाई यहीं समाप्त नहीं होती। वरन् दिङ्नाग सम्प्रदाय के उत्तरवर्त्ती आचार्यों धर्मकीर्ति, कमलशील, शान्तरक्षित, धर्मोत्तर आदि ने बौद्ध-पक्ष से न्याय सिद्धान्तों का एकैकशः खण्डन करके न्याय पक्ष को इतना शक्तिहीन बना दिया कि लगभग दो शताब्दियों तक बौद्धों के विरोध में न्याय-सम्प्रदाय बिलकुल मौन रहा। चुनौतियों के इस काल में नवम सदी के मध्य भाग में न्याय-पक्ष में दो महान् विद्वानों का परिचय मिलता है। इनमें से एक हैं वाचस्पति मिश्र और दूसरे हैं जयन्त भट्ट। इन दोनों आचार्यों ने अपनी अप्रतिम चिन्तनशक्ति द्वारा न्याय सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की।

---

१. द्रष्टव्य : History of Indian Logic, पृ० ११७-१८

२. द्रष्टव्य : संस्कृत साहित्य कोश, पृ० २३३।

३. भारतीय दर्शन का इतिहास भाग—१ (दास गुप्त, हिन्दी अनुवाद), पृ० ३१८।

४. संस्कृत साहित्य कोश, पृ० ८२-८३।

न्यायदर्शन से चलने वाले इस संघर्ष के साथ-साथ जयन्त भट्ट के लिये जो दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार थी, उसमें मुख्य योगदान मीमांसकों का है। वस्तुत: प्राचीन भारतीय तर्क में मुख्य योगदान न्याय, बौद्ध और मीमांसा का है। विशेषत: मध्य काल में (सप्तम से नवम सदी के मध्य) वैचारिक संघर्ष त्रिकोणात्मक था।[१] एक ही विषय में तीनों दर्शनों के विचारकों के भिन्न-भिन्न मत थे। परन्तु इनमें से बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शन है और न्याय, मीमांसा आस्तिक। इसलिये नैयायिकों की ही तरह मीमांसकों ने भी बौद्ध सिद्धान्तों का डटकर खण्डन किया है। जयन्त ने स्थान-स्थान पर बौद्धों से धर्मकीर्ति को तथा मीमांसकों में कुमारिल को उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं वैयाकरणों, आलङ्कारिकों, ध्वनिवादी आचार्यों तथा वेदान्त आदि के सिद्धान्तों का भी अवसरानुकूल खण्डन जयन्त ने किया है, इससे स्पष्ट होता है तात्कालिक परिवेश में वैचारिक संघर्ष में इन लोगों की भी कुछ भूमिका अवश्य थी। परन्तु मुख्य संघर्ष न्याय का बौद्धों के दिङ्नाग-सम्प्रदाय तथा मीमांसकों के भाट्ट-सम्प्रदाय से था।

जयन्त भट्ट का परिचय :

हम यह देख चुके हैं कि नवम सदी में वाचस्पति मिश्र और जयन्त भट्ट दो उद्‌भट विद्वानों का आविर्भाव न्याय-सम्प्रदाय में होता है। इनमें से वाचस्पति मिश्र का अध्ययनाध्यापन बहुत पहले से होता आ रहा है और वे न केवल एक सफल नैयायिक ही है, वरन् उन्होंने सभी आस्तिक दर्शनों के प्रमुख ग्रन्थों पर टीकायें लिखकर अपनी सर्वतंत्र-स्वतंत्रता सिद्ध किया है। परन्तु जयन्त भट्ट न्यायदर्शन का एक धुंधला व्यक्तित्व है। भारतीय न्याय-दर्शन के इतिहास में जयन्त का स्थिति दिसम्बर की कोहरे भरी रात के चन्द्रमा जैसी बतायी गयी है।[२] जयन्त का मुख्य ग्रन्थ 'न्याय-मञ्जरी' न केवल प्राच्य-न्याय के इतिहास में एक अभूतपूर्व प्रयास है, वरन् इनका यह ग्रंथ भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास में तीन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों-धर्मकीर्त्ति का 'प्रमाणवार्त्तिक', कुमारिल का 'श्लोकवार्त्तिक' और जयन्त की 'न्याय-मञ्जरी' में से एक है।[३]

---

१. न्या० म० ग्रं० भ० भूमिका, पृ० ३।

२. द्रष्टव्य: न्याय-मञ्जरी, भाग १ (अंग्रेजी अनुवाद) भूमिका, पृ० २३।

३. द्रष्टव्य: न्या० म० ग्रं० भ० भूमिका, पृ० ३।

एक सहज जिज्ञासा होती है कि इतना महत्त्वपूर्ण ग्रंथ और उसका रचयिता इतने अपरिचित और उपेक्षित क्यों रहे ? 'न्याय-मञ्जरी' का अध्ययन यद्यपि बहुत पहले से ही किया जाना चाहिये था, परन्तु वाचस्पति मिश्र की सर्वाङ्गीण प्रतिभा, उदयन. गङ्गेश तथा मीमांसकों की तर्कप्रसिद्धि से विद्वानों ने 'न्याय-मञ्जरी' की उपेक्षा कर दी। बाद में बङ्गाल में नव्यन्याय के उद्भव एवं उत्कर्ष ने भी प्राच्य न्याय को पर्याप्त धक्का पहुँचाया। यदि प्राच्य न्याय का अध्ययन किया भी जाता रहा तो 'न्याय-मञ्जरी' की उपेक्षा की जाती रही क्योंकि यह न्यायसूत्रों की व्यवस्थित व्याख्या न होकर कुछ चुने हुये सूत्रों की व्याख्या मात्र प्रस्तुत करती है, यह बात अलग है कि इस व्याख्या में जयन्त ने सम्पूर्ण न्यायसूत्रों का प्रतिपाद्य समेट लिया हो।[१] चूँकि यह न्याय-सूत्रों पर सीधे भाष्य, टीका या प्रटीका आदि नहीं थी अतः यह सामान्य दार्शनिक ग्रन्थ प्रणयन की परम्परा से हटकर है, इसलिए भी 'न्याय-मञ्जरी' उपेक्षित रही होगी। जयन्त भट्ट और उनकी 'न्याय-मञ्जरी' विद्वानों को आकृष्ट नहीं कर पाये—इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जयन्त के 'न्याय-मञ्जरी' लिखने के पहले से ही कश्मीर युद्ध-सम्बन्धी गतिविधियों का केन्द्र हो गया था, अतः कश्मीर में अशान्ति छा गयी थी। 'राजतरंगिणी' इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि अवन्तिवर्मा के शासनकाल के बाद कश्मीर की प्रसिद्धि का सूर्य अस्त हो चुका था।[२] इसलिये सम्भव है कि कश्मीर का देश के शेष भागों से शैक्षिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध समाप्त हो गया हो। राजनीतिक असुरक्षा और प्रशासनिक दुर्व्यवहार से देश के ही विद्वान् हतोत्साह हो गये, तब बाहरी विद्वानों के कश्मीर आने और कश्मीर के सम्बन्ध में जानकारी रखने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। नवम-दशम सदी में चिन्तन का प्रमुख केन्द्र मिथिला था जो नैयायिकों तथा प्राभाकारों से भरा पूरा था।[३] मध्य-काल के उत्तरार्ध में यह केन्द्र मिथिला और पूर्वी भारत में था।[४] इन सब कारणों से एक लम्बे समय तक कश्मीर का सम्बन्ध समूचे चिन्तन क्षेत्र से टूटा रहा, जिससे जयन्त भट्ट और 'न्याय-मञ्जरी' को समय से वह सम्मान नहीं मिल पाया, जो उसे मिलना चाहिये था। इसका परिणाम यहाँ तक आश्चर्यजनक रहा कि उदयन

---

१. न्याय-मञ्जरी, भाग १ (अंग्रेजी अनुवाद) प्रिफेस, पृ० ७।

२. राजतरङ्गिणी—पञ्चम तरङ्ग।

३. न्याय-मञ्जरी भाग १ (अंग्रेजी अनुवाद) प्रिफेस, पृ० ७।

४. वही पृ० ७।

और गङ्गेश जैसे विद्वान्, जो जयन्त के नाम से परिचित थे, वे भी जयन्त के ग्रंथ से अनभिज्ञ थे। लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्ति काल में पं० गङ्गाधर शास्त्री ने प्रथम बार 'न्याय-मञ्जरी' को प्रकाशित किया[१] और इसी काल से ही जयन्त भट्ट एक स्वीकृत नैयायिक के रूप में विश्रुत हो गये और 'न्याय-मञ्जरी' का विस्तृत अध्ययन किया गया।

जयन्त का जीवन-परिचय :

जयन्त ने अपनी किसी कृति में कहीं भी अपने जीवन के बारे में स्पष्टतः कुछ नहीं कहा। फिर भी उनकी कृतियों से कुछ ऐसे अंश ढूंढे जा सकते हैं जो जयन्त के व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश डालते हैं। इसके अतिरिक्त जयन्त के जीवन और वंशावली के सम्बन्ध में इनके पुत्र अभिनन्द के ग्रंथ 'कादम्बरी-कथासार' से पर्याप्त और प्रामाणिक परिचय मिलता है। सम-सामयिक कश्मीरी परिवेश के बारे में 'राजतरंगिणी' से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन सब साक्ष्यों के समन्वय से जयन्त के जीवन की जो कहानी गढ़ी जा सकती है, वह इस प्रकार होगी—

जयन्त के शक्तिनामा पूर्व-पुरुष, जो जात्या गौड ब्राह्मण थे और जिनका गोत्र भारद्वाज था, बङ्गाल से कश्मीर के लिये स्थानान्तरित हुये। यह स्थानान्तरण कश्मीर के 'दार्वाभिसार' नामक स्थान पर शक्ति के वैवाहिक सम्बन्धों के फलस्वरूप हुआ।[२] डा० ब्यूलर ने दार्वाभिसार की स्थिति कश्मीर की सीमा पर बताया।[३] डा० स्टीन का मत है कि वितस्ता और चन्द्रभागा नदियों के मध्य का भाग दार्वाभिसार था, जिसका एक स्थानीय मुखिया होता था।[४] यह भाग कश्मीर नरेशों द्वारा बार-बार विजित किया गया है। कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' में दार्वाभिसार का अनेकशः उल्लेख है।[५] जयन्त के समय शङ्करवर्मा ने इस स्थान

---

१. न्याय-मञ्जरी भाग १ (वि० न० सं० सिरीज—१०) १८९५ ई०।

२. शक्तिर्नामाऽभवद् गौडो भारद्वाजकुले द्विजः।
दार्वाभिसारमासाद्य कृतदारपरिग्रहः॥ —का० क० सा० १।५

३. Indian Antiquary, Part II P. 102

४. 'राजतरङ्गिणी' स्टीन कृत अनुवाद भाग १, पृष्ठ ३२ में श्लोक १८० पर पाद टिप्पणी।

५. राजतरङ्गिणी १।१८०; ४।७१२; ५।१४१,२०९; ७।१२८२; ८।१५३१, २४४०।

को पुनः जीता था। शक्ति के पुत्र का नाम मित्र था और मित्र का पुत्र शक्ति-स्वामी कश्मीर के कर्कोटवंशीय शासक मुक्तापीड ललितादित्य का मन्त्री था।[१] जयन्त शक्तिस्वामी के प्रपौत्र थे। जयन्त के पिता का नाम चन्द्र तथा पितामह का नाम कल्याणस्वामी था। अभिनन्द का कहना है कि उसके पूर्वज वैदिक परम्पराओं में निष्णात थे।[२] जयन्त भी इसका समर्थन करते हैं—कि उनके बाबा ने एक ग्राम को प्राप्त करने की इच्छा से संग्रहणी यज्ञ किया और यज्ञ की समाप्ति काल में ही गौर-मूलक ग्राम प्राप्त किया।[३] जयन्त ने 'गौरमूलक' का उल्लेख अन्यत्र भी किया है।[४] इससे प्रतीत होता है कि जयन्त गौरमूलक ग्राम के स्वामी रहे हों या न रहे हों, लेकिन निवासी अवश्य थे।[५] प्रो० स्टीन ने गौरमूलक का समीकरण 'राजतरङ्गिणी' के ८।१८६१ में उल्लिखित 'घोरमूलक' से किया है और यह स्वीकार किया है कि यह नगर राजपुरी के क्षेत्र में स्थित है जो दार्वाभिसार की सीमाओं में आता है।[६] भाषा-विज्ञान की दृष्टि से देखने से ज्ञात होता है कि गौरमूलक का मूल रूप गौडमूलक रहा होगा। गौडमूलक का तात्पर्य होता है वह ग्राम जहाँ गौडों का प्राधान्य हो, या जहाँ के मूल निवासी गौड हों। यह हो सकता है कि जयन्त के पूर्वजों का ग्राम यही रहा हो परन्तु बीच में किन्हीं कारणों से जयन्त के प्रपितामह या कोई अन्य पूर्व पुरुष इस गाँव से अन्यत्र चले गये रहे हों, और अपने पैतृक ग्राम को प्राप्त करने के लिये जयन्त के पितामह को सङ्ग्रणी यज्ञ करना पड़ा हो। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से गौरमूलक का 'घोरमूलक' से समीकरण भी उचित प्रतीत होता है क्योंकि गौरमूलक और घोरमूलक के प्रयोग में लगभग तीन शताब्दियों का अन्तर है।

कल्याण स्वामी के पुत्र चन्द्र जयन्त भट्ट के पिता थे। प्रो० स्टीन ने इस सम्बन्ध में दोहरी गलती की है, एक तो यह कि इन्होंने 'न्याय-मञ्जरी' का लेखक

---

१. का० क० स० १।६-७।

२. (क) वही १।११
(ख) वी० राघवन्, आगमडम्बर की भूमिका, पृ० १।

३. तथा ह्यस्मत्पितामह एव ग्रामकामः साङ्ग्रहणीं कृतवान्, इष्टिसमाप्तिसमनन्तर-मेव गौरमूलकं ग्राममवाप। —न्या० मं० भाग–१, पृ० २५०

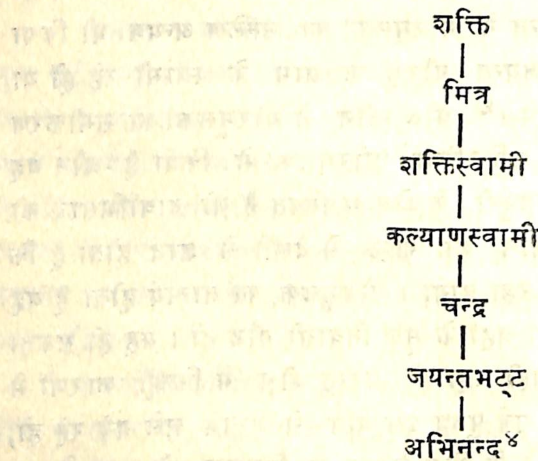
४. न्या० मं० (वि० सं० सि०) भाग १, पृ० ५०, ५३, ५४, २१५।

५. C. D. Bijalvan, Theory of Indian knowledge, P. 16.

६. Steen, Kalhana's Chronicles of the kings of Kashmir. Vol. II पृ० १४४-५, श्लोक १८६१ पर पाद टिप्पणी।

'अभिनन्द' को माना है और दूसरे जयन्त के पिता का नाम 'कान्त' माना है।[१] वस्तुतः अभिनन्द के उक्त श्लोक में[२] कान्त और चन्द्र दोनों शब्द आये हैं। यहाँ चन्द्र शब्द द्वयर्थक है और यमक का चमत्कार दिखाने के लिये स्वीकार किया जा सकता है। जयन्त के पिता का नाम चन्द्र था जिसका 'कान्त' शब्द विशेषण है। जयन्त ने 'न्यायमञ्जरी' के अन्त में स्वयं चन्द्र को अपना पिता स्वीकार किया है।[३]

जयन्त भट्ट का वंश वृक्ष



१. Gopi Nath Kaviraj; Gleenings from the History and Bibliography of Nyaya-Vaisheshika Literature Page 16-17

२. अगाधहृदयात्तस्मात् परमेश्वरमण्डनम्।
अजायत सुतः कान्तश्चन्द्रो दुग्धोदधेरिव॥ —का० क० सा० १।६

३. न्या० म०, भाग–२ का अन्तिम श्लोक।

४. यह परम्परा अधोलिखित से समर्थित है—

(i) H. G. Narahari, "Nyaya-Manjari of Guru Trilochan, a forgotten work", Journal of the Bihar and Orissa Research Society (Patna) 1-1915, 49-1953,41-1955 Pages 507-511.

(ii) Brahmanand Gupta, "Die wahrnehmungslehre in Nyaya-Manjari"—Beitrage zur sprach und Kulturege schihte des orients, Walldorf Hessen, 1963.

(iii) Satkari Mookerjee—"Jayanta Bhatta, the auther of Nyaya-Manjari", Cultural Review, 40, 1931 PP. 251-277.

जयन्त का जन्म अवन्तिवर्मा (८५३-८८३ ई०) के शासन काल में हुआ और इसी काल में ही इनका अध्ययन कार्य हुआ । ये अलोकसामान्य प्रतिभा के छात्र थे तथा सभी शास्त्रों में इनकी अप्रतिहत गति थी । अपने प्रारम्भिक जीवन में ही इन्होंने पाणिनीय व्याकरण पर कोई वृत्ति लिखी थी[1] जो सम्प्रति अनुपलब्ध है । जयन्त ने वादों तथा शास्त्रार्थ गोष्ठियों को जीत-जीत कर अपने जयन्त नाम को सार्थक बनाया था ।[2] शङ्कर वर्मा ने शासन की बागडोर सम्भालने के बाद विजय यात्रा की और जीत की खुशी में पाटन नामक स्थान पर एक नगर बसाया और वहाँ 'शङ्करगौरीश' तथा 'सुगन्धेश' नाम के दो मन्दिर बनवाये। शासक शङ्करवर्मा ने जयन्त की कुशाग्र मति से मुग्ध होकर इन्हें उक्त दोनों मन्दिरों तथा तत्सम्बद्ध शिक्षालयों का प्रभारी नियुक्त कर दिया ।[3]

जयन्त बन्दी बनाये गये थे :

न्याय-मञ्जरी के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि जयन्त को उनके शासक ने बन्दी बनाया था । जयन्त ने जेल-यातना को भुलाने के लिये 'न्याय-मञ्जरी' ग्रंथ जेल में ही लिखा ।[4] जयन्त को बन्दी बनाने वाला शासक शङ्कर वर्मा होना चाहिये । शङ्करवर्मा के अत्याचारों का वर्णन 'राजतरङ्गिणी करती है ।[5] उसने विद्वानों को अपमानित किया, मन्दिरों एवं धर्मशालाओं की आय छीन ली, तथा अपनी विस्तृत सैन्य व्यवस्था और अपनी फिजूल खर्ची के लिये उसने अपनी प्रजा को हर प्रकार की यन्त्रणा दी । इस अत्याचार के विरोध में जयन्त ने आवाज उठायी होगी और तब जयन्त के बन्दी बनाये जाने का अनौचित्य नहीं रह जाता है । 'न्याय-मञ्जरी' के टीकाकार चक्रधर ने एक जनश्रुति की ओर सकेत किया है

---

१. अद्य चात्र भवतः शैशव एव व्याकरणविवरणकरणाद् वृत्तिकार इति प्रथितापरनाम्नः भट्टजयन्तस्य शिष्यपरिषदाहमाज्ञप्तः...। आगमडम्बर, पृ० २

२. वादेष्वाप्तजयो जयन्त इति यो विख्यातकीर्त्तिः क्षितौ...।

—न्या० म० भाग २ अन्तिम श्लोक

३. वी०राघवन्, आगमडम्बर, भूमिका, पृ०३१ तथा राजतरङ्गिणी ५।१५६-५९ ।

४. राज्ञा तु गह्वरेऽस्मिन्नशब्दके बन्धने विनिहितोऽहम् ।
ग्रन्थरचनाविनोदादिह हि मया वासरा गमिताः ॥

—न्या० म० भाग १, पृ० ३६३ ।

५. राजतरंगिणी—५।१६०-७५

कि जयन्त शङ्करवर्मा के आदेश से कई वर्ष खश देश में रहे।[१] बहुत सम्भव है कि खश देश का यह प्रवास काल जयन्त की जेल यातना का काल हो। ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्त्ती काल में जयन्त और शंकर वर्मा के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित हो गये थे।[२] 'न्याय-मञ्जरी' में वेदों के प्रामाण्य के सन्दर्भ में जयन्त ने शंकरवर्मा द्वारा 'नीलाम्बर व्रत-प्रथा' पर रोक लगाने के कारण उन्हें 'धर्मतत्त्वज्ञ' कहा है।[३] दूसरी ओर 'आगमडम्बर' के द्वितीय अंक में शंकरवर्मा का उल्लेख वैदिक धर्म के संस्थापक के रूप में हुआ है। यहाँ भी जयन्त ने यह स्वीकार किया है कि शंकरवर्मा ने 'नीलाम्बरव्रत' जैसी प्रथाओं पर रोक लगा दी थी।[४] यही नहीं, तृतीय अंक में जयन्त को शंकरवर्मा का मन्त्री स्वीकार किया गया है।[५] अतः सम्भवतः अपने जीवन के परवर्त्ती काल में जयन्त राजा के धर्म-सम्बन्धी मामलों के सलाहकार नियुक्त किये गये रहे होंगे। 'आगमडम्बर' के कुछ अन्य सन्दर्भ भी जयन्त के साचिव्य का समर्थन करते हैं।[६] 'आगमडम्बर' चूँकि जयन्त की परवर्त्ती रचना है, अतः अब तक जयन्त और शंकरवर्मा के सम्बन्धों में यदि सुधार हुआ हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जयन्त ने 'न्याय-मञ्जरी' की रचना शंकरवर्मा के शासनकाल (८८३-९०३ ई०) में तथा 'आगमडम्बर' की रचना सुगन्धादेवी के राजत्व काल में की। सुगन्धादेवी के राजत्वकाल (९०३-९०६ ई०) के बाद हुई क्रान्ति और सामाजिक उथल-पुथल का कोई परिचय जयन्त की कृतियों से नहीं मिलता। इसलिये इस काल

---

१. कश्मीरे क्वचित् खशदेशे चिरकालमारण्यमसौ श्री शंकरवर्मणो राज्ञ आज्ञया स्थितवान् इति वार्ता...। —न्या० म० ग्रं० भ० पृ० १६७

२. वी० राघवन्, आगम० भूमिका, पृ० २।

३. अमितैकपटनिवीतानियतस्त्रीपुंसविहितबहुचेष्टम् ।
नीलाम्बरव्रतमिदं किल कल्पितमासीद्विटैः कैश्चित् ॥
तदपूर्वमिति विदित्वा निवारयामास धर्मतत्त्वज्ञः ।
राजा शकरवर्मा न पुनर्जैनादिमतमेवम् ॥
—न्या० म० भाग १, पृ० २४८

४, आगम० द्वितीय अंक, पृ० ४०-४४

५. मन्त्री शास्त्रमहाटवीविहरणाश्रान्तो जयन्तोऽप्यसौ। —वही ३।८, पृ० ५४

६. अंक दो, पृ० ४४, तथा अंक ३ में पृ० ४६–४८।

के बाद जयन्त अधिक दिनों तक जीवित रहे हों, इस विषय में साक्ष्यों का अभाव है।

जयन्त अपने पुत्र अभिनन्द से बहुत प्रभावित थे और उससे बहुत अधिक स्नेह करते रहे होंगे।[१] अभिनन्द ने अपने बाल्यकाल में पिता के साथ अध्ययन करते हुए ही 'कादम्बरी-कथासार' का प्रणयन किया। यह तथ्य अभिनवगुप्त के 'पद्यकथा के लेखक' के उल्लेख का समर्थन करता है।[२]

यह जयन्तभट्ट भारद्वाज के पुत्र जयन्तभट्ट से, जिन्होंने काव्य-प्रकाश में 'जयन्ती' नामक टीका लिखी और जिनके नाम का निर्देश बाम्बे मुद्रित 'वामनाचार्य की टीका' में हुआ है, भिन्न है, क्योंकि अपर जयन्तभट्ट गुजरात के बघेल शासक सारंगदेव के राजपुरोहित भारद्वाज के पुत्र थे और इनका समय तेरहवीं सदी ईसवी का उत्तरार्ध है।[३] 'संस्कार कौस्तुभ' में उल्लिखित जयन्तस्वामी' से भी जयन्तभट्ट का समीकरण साक्ष्यों के अभाव में सम्भव नहीं है।[४]

जयन्त-भट्ट का काल-निर्धारण :

जयन्त ने अपनी कृतियों में कहीं भी स्पष्टतः अपने काल का उल्लेख नहीं किया है अतः जयन्त के काल का निर्धारण प्राप्त अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर करना चाहिये।

पूर्वसीमा :

जयन्त ने अपने विश्रुत ग्रंथ 'न्याय-मञ्जरी' में पूर्वपक्ष की प्रस्तुति या सिद्धान्त के समर्थन में अन्यान्य ग्रंथों को उद्धृत किया है। इनमें से जो पर्याप्त पहले के हैं, उन पर हमें विचार नहीं करना है, परन्तु अपेक्षाकृत परवर्ती ग्रंथों से प्राप्त उद्धरण अवश्य अवलोकनीय हैं। जयन्त ने 'न्याय-मञ्जरी' में बाण भट्ट का सम्मान पूर्वक नाम स्मरण किया है।[५] 'न्याय-मञ्जरी' में जयन्त ने ध्वनि-सिद्धान्त पर आक्षेप किया है जिसका शास्त्रीय प्रतिपादन आनन्दवर्धन ने किया है।[६] यहाँ

---

१. तद्ब्रह्म वः क्रमविनश्यदनाद्यविद्यमुद्योततं स्फुरदमन्दनवाभिनन्दम्॥
—आगम० प्रारम्भिक श्लोक

२. द्रष्टव्य 'Bhoja's, Shringar Prakash पृ० ६१२ पर पाद टिप्पणी।

३. द्रष्टव्य 'Histoy of classical Sanskrit Literature' पृ० ७५७, पैरा ८५१

४. न्या० म० भाग १ (विजयनगरम् संस्कृत सीरीज—१०), भूमिका, पृ० २

५. प्रकटरसानुगुणविकटाक्षररचनाचमत्कारितसकलकविकुला बाणस्य वाचः।
——न्या० म० भाग १, पृ० २१७

६. (अ) राघवन्, आगम०, भूमिका, पृ० ६
(ब) जी०मारुल सिद्दैया, न्या०म०(मैसूरुप्रकाशन) प्रथम भाग, प्रस्तावना पृ०८।

जयन्त ने आनन्दवर्धन अथवा उनकी कृति 'ध्वन्यालोक' का नामोल्लेख नहीं किया।[1] जयन्त कृत टीका-टिप्पणी और 'राजतरङ्गिणी' से प्राप्त संकेत जयन्त और आनन्दवर्धन के काल में समीपता प्रदर्शित करते हैं।[2] जयन्त ने 'कुट्टिनीमत' का भी उल्लेख किया है।[3] 'कुट्टिनीमत' के लेखक दामोदर गुप्त आनन्दवर्धन के समकालीन और कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के अमात्य थे।[4] 'राजतरङ्गिणी' के साक्ष्य से अवन्तिवर्मा का राजत्वकाल ८५५-६ से ८८३ ई० तक है।[5] 'तत्त्वोपप्लवसिंह' को संकेत करने वाले चार्वाक सिद्धान्तों का भी जयन्त ने खण्डन किया है यद्यपि वे ग्रंथ नाम से अपरिचित हैं।[6] आठवीं सदी के एक अन्य ग्रथ 'युक्तिदीपिका' के विचारों का भी 'न्याय-मञ्जरी' में खण्डन हुआ है।[7] जयन्त ने सविकल्पक प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में माघ के **'शिशुपालवध'** का एक श्लोक उद्धृत किया है।[8] ये सभी ग्रंथ नवीं सदी के पूर्वार्ध तक के हैं अतः जयन्त के काल की पूर्व सीमा नवीं सदी का पूर्वार्ध निश्चित होती है।

उत्तर सीमा :

जयन्त के काल की उत्तरी सीमा का निर्धारण बहिरंग साक्ष्यों पर आधारित है। मलधारी सूरि कृत **'षड्दर्शन समुच्चय'** नामक ग्रंथ के शैवदर्शन-परिच्छेद में आया १०० वाँ श्लोक राजशेखरसूरि (१३८३ ई०) से उद्धृत है जिसमें जयन्त का

---

१. एतेनशब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः।
यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कंचन ध्वनिम्॥ —न्या० म० भाग १, पृ० ४५

२. वी० राघवन् आगम० भूमिका, पृ० ६।

३. तेषामेवप्रमाणत्वमागमानामिहैष्यते ।
न मृष्यते तु यत्किञ्चित् प्रमाण कुट्टिनीमतम्॥
—न्या० म० भाग १, पृ० २४८।

४. वी० राघवन्, वही, पृ० ६।

५. राजतरंगिणी ४।७१६ से ५।१२५

६. जानकीवल्लभ भट्टाचार्य, न्या० म० भाग १, प्रस्तावना, पृ० २६

७. जा० व० भट्टाचार्य, वही, पृ० २६

८. चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥
—शिशु० १।३ तथा यह श्लोक न्या० म० भाग १, पृ० ७९ में उद्धृत है।

उल्लेख है।[1] गंगेशोपाध्याय ने 'तत्त्वचिन्तामणि' के उपमानखण्ड में जयन्त को 'जरन्नैयायिक' कहते हुये स्मरण किया है।[2] रत्नप्रभ (११८१ ई०) की 'रत्नावतारिका'[3] और देवसूरि (१०८६-११६९ ई०) के 'स्याद्वादरत्नाकर'[4] में भी जयन्त-भट्ट उद्धृत हुये हैं। प्रभाचन्द्र सूरि भी जयन्त से परिचित थे।[5] कुछ लोगों की यह मान्यता रही है कि जयन्त के उद्धरण बौद्ध ग्रंथों तथा वाचस्पति मिश्र के ग्रंथों में खोजे जा सकते हैं,[6] परन्तु यह मान्यता भ्रमपूर्ण और अवैज्ञानिक है। अनन्तलाल ठाकुर ने स्वीकार किया है कि ज्ञानश्रीमित्रकृत 'ईश्वरवाद' और 'क्षणभङ्गाध्याय' से प्राप्त उद्धरण जयन्त भट्ट के नहीं वरन् वाचस्पति मिश्र के गुरु त्रिलोचन के है।[7] उदयन भी जयन्त से परिचित थे। उदयन ने ९८४ ई० में 'लक्षणावली' की रचना की।[8] उन्होंने 'परिशुद्धि' में 'जयन्तमतमाह' कहकर जयन्त का उल्लेख किया है।[9] अतः इन सब साक्ष्यों से स्पष्ट है कि दशम सदी के उत्तरार्ध तक जयन्त-भट्ट विश्रुत हो चुके थे।

अभिनन्द का विवरण :

जयन्त के बारे में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूचना उनके पुत्र अभिनन्द की कृति 'कादम्बरी कथासार' से प्राप्त होती है। अभिनन्द ने 'कादम्बरी कथासार' के

---

१. जयन्ताचार्यविरचितो न्यायतर्कोऽतिदुस्तरः।
—षड्दर्शनसमुच्चय, शैव दर्शन परिच्छेद का १०० वां श्लोक।

२. जरन्नैयायिकाः जयन्तभट्टप्रभृतयः। —तत्त्वचिंता० उपमान खण्ड

३. तथा च जयन्तः—स्वरूपादुद्भवत् कार्यं सहकार्युपबृंहितत्वात्। न हि कल्पयितुं शक्यं शक्तिम्। रत्नावतारिका, अध्याय ४

४. यदा च शक्तिसंसिद्धौ मज्जत्युदयनद्विपः।
जयन्त हन्त का तत्र गणना त्वयि कीटके॥ —स्याद्वादरत्नाकर, परिच्छेद—२

५. जे० वी० भट्टाचार्य, न्या० म० भाग १ (अंग्रेजी अनुवाद) प्राक्कथन, पृ० ७

६. (A) Paul Hacker—"Jayanta Bhatta and Vachaspati Misra" Festchrift Walther Schubring Beitrage zur Indischen Philologie and Altertum Skunde—Hamburg—1951. pp. 160-169.
(B) Encyclopedia of Indian Philosophies. Vol. II P. 343.

७. Ananta lal Thakur, "The Naiyayika Trilochan as a teacher of Vachaspati." I C—14, 1947, P. 36-40.

८. तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वप्रतीतेपु शकान्ततः। लक्षणावली

९. ढुंढिराज शास्त्री, प्र० पा० भा० भूमिका, पृ० ३०

उपक्रम में अपना वंश-परिचय प्रस्तुत किया है। अभिनन्द का कहना है कि 'वृत्तिकार' इस द्वितीय नाम वाले जयन्त उनके पिता हैं जो कविता एवं वक्तृता में निष्णात हैं।[१] प्रो० ए०बी० कीथ का मत है कि अभिनन्द ने यह ग्रंथ नवम सदी में लिखा।[२] इसलिये यदि प्रो० कीथ की गवेषणा पर विश्वास कर लिया जाय तो जयन्त के काल का निश्चय आसानी से हो सकता है। परन्तु प्रो० कीथ ने उक्त काल-निर्धारण में अत्यधिक विवाद प्रस्तुत किया है जिससे उनका उक्त मत ऐकान्तिक और अन्तिम नहीं प्रतीत होता। इसलिये हमें जयन्त के काल के विषय में अन्य साक्ष्यों का भी सहारा लेना पड़ेगा। अभिनन्दकृत 'कादम्बरी कथासार' के अनुसार जयन्त शक्ति स्वामी के प्रपौत्र थे जो कर्कोटवंशीय कश्मीर नरेश मुक्तापीड ललितादित्य के अमात्य थे।[३] मुक्तापीड का राजत्वकाल 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार ७३३ ई० से ७६९ ई० तक है।[४] शक्तिस्वामी इनके समकालीन थे। इस तथ्य के माध्यम से जयन्त के स्थिति-काल का निर्धारण किया जा सकता है। जयन्त के प्रपितामह का काल अष्टम सदी का मध्य भाग निश्चित होता है। यदि दो पुश्तों के मध्य ३० वर्ष का अन्तराल मान लिया जाय तो जयन्त का स्थिति काल नवम सदी का मध्य भाग निश्चित होता है जो पूर्वसीमा तथा उत्तर सीमा का अतिक्रमण नहीं करता।

शङ्करवर्मा का उल्लेख और उसका अभिज्ञान :

जयन्त के काल-निर्धारण में यह तथ्य प्रधान भूमिका निभाता है कि जयन्त की 'न्याय-मञ्जरी' के दो अंशों[५] तथा 'आगमडम्बर'[६] में शङ्करवर्मा का नाम्ना उल्लेख है। जयन्त ने यह स्वीकार किया है कि उन्होंने किसी निःशब्द गह्वर रूप जेल में बन्द होने के कारण ग्रन्थ 'न्याय-मञ्जरी' रचना के बहाने समय बिताया

---

१. का० क० सा० प्रारम्भिक १०-११ श्लोक

२. जा० व० भट्टाचार्य, न्या० म० भाग-१ (अंगेजी अनुवाद) भूमिका, पृ० २३

३. स शक्तिस्वामिनं पुत्रमवाप श्रुतिशालिनम्।
राज्ञः कर्कोटवंशस्य मुक्तापीडस्य मन्त्रिणम्।। —का० क० सा० ७ वां श्लोक

४. राजतरङ्गिणी ४।४२

५. न्या० म० भाग १, पृ० २४८ तथा ३६३

६. वी० राघवन्, आगम० प्रस्तावना पृ० २०

है।[१] कार्ल एच० पाटर, जानकीवल्लभ भट्टाचार्य, एवं उ० आर्य का मत है कि जयन्त ने आगमडम्बर नामक नाटक की रचना सुगन्धादेवी के शासनकाल में की।[२] आगमडम्बर में सुगन्धादेवी का उल्लेख है जिसका राजत्वकाल 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार ९०३-४ ई० से ९०६ ईसवी है।[३] 'राजतरङ्गिणी' के पञ्चम तरङ्ग में अवन्तिवर्मा के उत्तराधिकारी पुत्र के रूप में शङ्करवर्मा का उल्लेख है जिसका राजत्वकाल ८८३-९०३ ई० निश्चित होता है।[४] 'राजतरङ्गिणी' से ज्ञात होता है कि सत्ता प्राप्ति के बाद शङ्करवर्मा ने दार्वाभिसार, गुजरात, त्रिगर्त आदि स्थानों पर विजय पायी और तदनन्तर पञ्चसत्र (आधुनिक पाटन) नामक स्थान पर अपने नाम पर शङ्करपुर नामक नगर बसाया और इसमें अपने नाम पर तथा अपनी रानी सुगन्धा के नाम पर 'शङ्करगौरीश' व 'सुगन्धेश' नामक दो मन्दिर बनवाये[५], जिसके अवशेष आज भी पाटन में देखे जा सकते हैं।[६] शासक शङ्करवर्मा ने नायक नामा किसी उद्भट विद्वान् 'वाग्देवीकुलमन्दिर' को इन दोनों मन्दिरों का प्रभारी नियुक्त किया। प्रो० स्टीन ने इस नायक का समीकरण प्रसिद्ध आलङ्कारिक 'भट्टनायक' से किया है जिसने जयन्त की ही तरह अपने ग्रंथ 'हृदयदर्पण' में आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन किया है।[७] क्षेमराज ने अपने 'स्पन्द-निर्णय' में एक नायक का उल्लेख किया है और 'शिवस्तोत्र' का एक श्लोक उद्धृत

---

१. राज्ञा तु गह्वरेऽस्मिन्नशब्दके बन्धने विनिहितोऽहम्।
ग्रथरचनाविनोदादिह हि मया वासरा गमिताः॥

—न्या० म० भाग—१, पृ० ३६३

२. The Encyclopedia of Indian Philosophies—भाग २, पृ० ३४२

३. वी० राघवन्, आगम० भूमिका, पृ० २१

४. राजतरङ्गिणी ५।१५७-१७५

५. वही ५।१५६

६. (क) वी० राघवन्, आगम० भूमिका, पृ० २१ तथा उस पर पाद टिप्पणी।
(ख) द्रष्टव्य—'Ancient Monuments of Kashmir'—Ramchandra Kak, The Indian Society--London, 1933 में पाटन तथा सुगन्धेश-शंङ्करगौरीश मन्दिर, पृ० १४९-१५२।

७. (क) Kalhana's Chronicles of the Kings of Kashmir—Steen Vol. II P. 144-5; १९६१ वें श्लोक पर पाद टिप्पणी।
(ख) वी० राघवन्, आगम०, भूमिका पृ० ६।

किया है।[1] फणिभूषण तर्कवागीश तथा जानकीवल्लभ भट्टाचार्य ने इस नायक का समीकरण जयन्त-भट्ट से किया है।[2] 'राजतरङ्गिणी' में नायक के जो गुण वर्णित हैं, वे जयन्त के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति में घटित नहीं होते। नायक और भट्टनायक पदों में नायक अंश की उभयनिष्ठता के अतिरिक्त प्रो० स्टीन के पास अपने समीकरण का कोई आधार नहीं है। कल्हण ने शङ्कर वर्मा के शासनकाल में केवल भल्लट नाम के एक लेखक का ही उल्लेख किया है, जो अत्यन्त दयनीय स्थिति का सामना करके किसी प्रकार जीविकोपार्जन करता है। भल्लटकृत 'भल्लटशतक' में भी इस बात का उल्लेख है कि वह और समकालिक अन्य लेखक शासन की ओर से कठिनाई में डाले गये तथा महत्त्वहीन लोगों को उच्च पदों पर प्रतिष्ठित किया गया।[3] यह तथ्य भी जयन्त के बन्दी बनाये जाने का समर्थन करता है। यहाँ दो प्रश्न उठ सकते हैं—कि यदि नायक जयन्त भट्ट ही था तो कल्हण ने इतने विश्रुत व्यक्तित्व का नामोल्लेख क्यों नहीं किया, और साथ ही जहाँ एक ओर शासक शंकरवर्मा द्वारा जयन्त को उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया गया, वहीं दूसरी ओर इन्हें बन्दी क्यों बनाया गया ? प्रो० जानकी वल्लभ भट्टाचार्य एवं फणिभूषण तर्कवागीश का मत है[4] कि 'राजतरगिणी' से प्राप्त साक्ष्य यह स्पष्ट करते हैं कि शङ्करवर्मा ने बाह्य आक्रमणों में युद्धरत होकर राष्ट्रीय आय का अपव्यय किया, जबकि उसे कहीं भी उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। अतएव विस्तृत सैन्य व्यवस्था के खर्च वहन के लिये तथा अपनी फिजूलखर्ची की सन्तुष्टि के लिये उसे अत्याचारपूर्ण कर-प्रणाली का आश्रय लेना पड़ा। इसके लिये उसने मन्दिरों की आय का अपहरण किया तथा विद्वानों को आश्रय एवं संरक्षण देना बन्द कर दिया। अतः बहुत सम्भव है कि जयन्त भट्ट ने इस अत्याचार का विरोध किया हो। जयन्त कट्टर एवं साहसी व्यक्तित्व वाला व्यक्ति था, इसलिये उसके द्वारा किया गया प्रतिरोध निश्चित ही प्रभावी और वजनी रहा होगा। शंकरवर्मा किसी भी प्रतिरोध को सहन करने का आदी नहीं था। इसलिये सम्भव है जयन्त को उसने उक्त प्रतिरोध के कारण जेल

---

१. स्पन्द निर्णय, (Kashmir Texts-42(पृ० १८।

२. (क) तर्कवागीश, न्या० म० भाग १ (बंगला अनुवाद) भूमिका।
(ख) जा० व० भट्टाचार्य, वही (अंग्रेजी अनुवाद) भूमिका, पृ० २५।

३. भल्लट-शतक, वी० राघवन्, Anals—SORI—Tirupati—1-1-37-40,

४. (क) न्या० म० भाग—१ (अंग्रेजी अनुवाद) भूमिका, पृ० २५-२६।
(ख) वही, भाग—१ (बंगला अनुवाद) भूमिका।

भेज दिया हो। जयन्त ने अपने बन्दी बनाये जाने के कारणों पर स्वयं कहीं भी प्रकाश नहीं डाला। इसका कारण यह हो सकता है कि शंकरवर्मा अपनी प्रजा के लिये भय की प्रतिमूर्त्ति सिद्ध हो चुके थे। इसलिये न तो कहीं जयन्त ने अपने बन्दी बनाये जाने के कारणों पर प्रकाश डाला और न कहीं जेल यन्त्रणाओं का उल्लेख किया।

अब यह प्रश्न बच रहता है कि कल्हण ने कश्मीर का इतिहास लिखते समय जयन्त का नामोल्लेख न करके उनके लिये नायक पद का प्रयोग क्यों किया ? जयन्त एक प्रसिद्ध विद्वान् थे तथा शंकरवर्मा के विरुद्ध होने वाले आन्दोलन की उन्होंने अगुआई की, इसलिये जयन्त के लिये नायक पद का प्रयोग अनुचित नहीं है। यह बात आश्चर्यजनक अवश्य है कि कल्हण ने जयन्त का नामोल्लेख क्यों नहीं किया। इसका कारण यह हो सकता है कि जयन्त ने 'न्याय-मञ्जरी' में शकरवर्मा को नीलाम्बर व्रतप्रथा पर रोक लगा देने के कारण 'धर्मतत्त्वज्ञ' कहा है। 'आगमडम्बर' से शंकरवर्मा के परवर्ती शासनकाल से सम्बद्ध जो परिचय मिलता है, वह उसके पहले वाले क्रूर आचरण से अपेक्षाकृत अच्छा है। यहाँ जयन्त ने अपने आपको शंकरवर्मा का मन्त्री स्वीकार किया है।[१] इस प्रकार परवर्ती काल में शासक के साथ जयन्त के सम्बन्ध पुनः मधुर हो गये थे। अतः यदि कल्हण जयन्त-भट्ट का नामोल्लेख करते तो शकरवर्मा जैसे आतातायी शासक के साथ उसका नाम जुड जाता और जयन्त पर तरह-तरह के मिथ्या कलंक तथा दोषारोषण किये जाते, क्योंकि 'राजतरङ्गिणी' शंकरवर्मा का केवल आतातायी शासक के रूप में ही चित्रण करती है। जयन्त जैसे महापुरुष के नाम पर कलंक स्पर्श न हो, इसके लिये हो सकता है कल्हण को उसके सर्वविदित नाम का उल्लेख करना अनभीष्ट रहा हो। जो भी हो, कल्हण द्वारा जयन्त के नाम विषयक चुप्पी, जयन्त के शकरवर्मा के समकालीन होने और 'राज-तरङ्गिणी' के नायक के साथ उसका समीकरण करने का समर्थन भले न करती हो, परन्तु यह उक्त तथ्यों का विरोध तो नहीं ही करती। किसी भी विषय में प्रमाणों में से एक का अभाव प्राप्त अन्य प्रमाणों का विरोध नहीं किया करता। आगमडम्बर के चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में शंकरवर्मा को यशोवर्मदेव के रूप में चित्रित किया गया है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि शंकरवर्मा का उपनाम यशोवर्मदेव था, क्योंकि

---

१. मन्त्रीशास्त्रमहाटवीविहरणाश्रान्तो जयन्तोऽप्यसौ। --आगम॰ पृ॰ ५४

२. अहो बत पुरहृदयस्य...पुण्ययशसः श्रीयशोवर्मदेवस्य ब्रह्मलोकस्य निर्विशेषमेवेदं दृश्यते राष्ट्रम्। आगमडम्बर, पृ॰ ७७

पंजाब के उत्तरी क्षेत्र से प्राप्त यशोवर्मा नामाङ्कित सिक्के कर्कोटवंशीय नरेशों की शैली के हैं।[१] इससे यह निश्चित होता है कि यशोवर्मा नामाङ्कित सिक्के कश्मीरी शासक शङ्करवर्मा उर्फ यशोवर्मा के हैं।[२] यद्यपि 'राजतरङ्गिणी' शङ्करवर्मा के इस उपनाम के विषय में भी मौन है।

एक अन्य प्रश्न उक्त परिस्थिति से सम्बद्ध किया जा सकता है—वह यह है कि जयन्त ने शंकरवर्मा के साथ 'निवारयामास' क्रिया का प्रयोग किया है। यहाँ परोक्षभूतवाची लिट् का प्रयोग होने से कुछ लोग सन्देह करते हैं कि जयन्त-भट्ट के जीवनकाल के पर्याप्त पूर्व शङ्करवर्मा ने शासन किया।[३] परन्तु यह सन्देह निराधार है क्योंकि परोक्ष शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। केवल सौ वर्ष पूर्व या हजार वर्ष पूर्व का होना ही परोक्ष शब्द का अर्थ नहीं है, बल्कि दो-तीन दिन पूर्व के लिये भी परोक्ष का प्रयोग होता है, यहाँ तक कि दीवाल के उस पार घटित होने वाली समकालिक घटनाओं के लिये भी परोक्ष शब्द का प्रयोग होता है।[४] इसलिये जयन्त और शङ्करवर्मा के काल में दीर्घ अन्तराल कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। जब जयन्त शङ्करवर्मा के कारागार में बन्द थे, तभी शंकरवर्मा ने नीलाम्बर व्रत-प्रथा हटायी थी। 'निवारयामास' में परोक्ष का प्रयोग शंकरवर्मा की निन्दा के अर्थ में आया है। विद्वान् जयन्त ने शंकरवर्मा के प्रति अनादर का भाव शास्त्रीय शैली में प्रदर्शित किया है। यदि किसी प्रकार जयन्त और शंकरवर्मा के काल में किसी प्रकार अन्तराल स्वीकार कर लिया जाय तो जयन्त के काल सम्बन्धी अन्य सब साक्ष्य अनुपपन्न हो जायेंगे।[५] इसलिये यह स्वीकार करना ही उचित है

---

१. वी० राघवन्, आगमडम्बर, भूमिका, पृ० ७

२. (क) वही, पृ० ७

(ख) द्रष्टव्य : M. R. Kavi, Bhatta Jayanta and Yashovarman of Kashmir, Indian Culture, D. R. B. Volume. 1940 P. 45-58.

(ग) J. R. Banerjee, Journal of Asiatic Society, Letters, Calcutta—27, I-1951 P. 1-3.

३. जा० व० भट्टाचार्य, न्या० म० भाग-१ (अंग्रेजी अनुवाद) भूमिका, पृ० २१।

४. महाभाष्य में 'परोक्ष क्या हो ?' इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—परोक्षत्वं तु वर्षशतवृत्तत्वमित्येके । वर्षसहस्रवृत्तत्वमित्यपरे । द्व्यहवृत्तत्वं त्र्यहवृत्तत्वमित्यन्ये । कुड्यकटाड्यान्तरितत्वमितीतरे ।

५. फणिभूषण तर्कवागीश, न्या० म० भाग-१ (बंगला अनुवाद) भूमिका।

कि जयन्त और शङ्करवर्मा समकालिक थे। अतः जयन्त का काल इन साक्ष्यों के द्वारा नवम सदी का उत्तरार्ध निश्चित होता है।

जयन्त के काल निर्धारण के सम्बन्ध में एक प्रमुख समस्या है—वाचस्पति मिश्र और जयन्त के पौर्वापर्य का निर्धारण। वाचस्पति का काल तो निश्चित है, अतः यदि जयन्त का वाचस्पति मिश्र से पूर्ववर्त्ती होना या परवर्त्ती होना निश्चित हो जाय तो जयन्त के काल के विषय में महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते है।

वाचस्पति मिश्र और जयन्त का पौर्वापर्य

वाचपति मिश्र के काल का निर्धारण 'न्याय-सूची-निबन्ध' के इस पद्य से होता है—

श्री वाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे।
न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे॥

इस श्लोक के 'वस्वंकवसुवत्सर' पद के अभिज्ञान द्वारा 'न्यायसूचीनिबन्ध' नामक ग्रथ का समाप्ति काल निश्चित होता है। यहाँ वसु का तात्पर्य ८ और अंक का तात्पर्य ९ है, अर्थात् वाचस्पति मिश्र ८९८ वत्सर में ग्रन्थ प्रणयन कर रहे थे।[१] यहाँ वत्सर से तात्पर्य विक्रम संवत् होना चाहिये।[२] यदि इसे शक सम्वत् मान लिया जाय तो वाचस्पति मिश्र का काल ९७६ ई० होना चाहिये। परन्तु उदयनाचार्य से वाचस्पति मिश्र पूर्ववर्त्ती हैं यह 'परिशुद्धि' के प्रारम्भिक श्लोक से स्पष्ट है।[३] उदयनाचार्य ९८४ ई० में 'लक्षणावली' की रचना कर रहे थे क्योंकि लक्षणावली के एक श्लोक में ९०६ शक संवत् का उल्लेख है।[४] इसलिये उक्त वत्सर शब्द को शक संवत् मान लेंगे तो वाचस्पति मिश्र का उदयनाचार्य से पूर्ववर्त्तित्व सम्भव नहीं है। इसलिये निश्चिततया उक्त वत्सर विक्रम संवत् के लिये आया है। अतः ८९८ से ५७ वर्ष निकालने पर वाचस्पति मिश्र का काल ८४१ ई० निश्चित होता है।[५]

---

१. फणिभूषण तर्कवागीश, न्यायपरिचय (हिन्दी अनुवाद) भूमिका पृ० ४७।

२. वही, पृ० ४८।

३. मातः सरस्वति पुनः पुनरेव नत्वा बद्धाञ्जलिः किमपि विज्ञपयाम्यवेहि।
वाक्चेतसोर्मम तथा भव सावधाना वाचस्पतेर्वचसि न स्खलतो यथैते।
—परिशुद्धि (न्याय-चतु०) पृ० ६९

४. तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वप्रतीतेषुशकान्ततः। (यहाँ तर्क का तात्पर्य है ६, अम्बर का तात्पर्य है शून्य तथा अंक का तात्पर्य ९ है। इसलिये इस पूरे वाक्यांश का अर्थ होगा ९०६ शक संवत् या ९८४ ई०।

५. S. C. Vidyabhushan, History of Indian Logic, P. 147.

जयन्त और वाचस्पति मिश्र के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, जिसका कारण यह है कि विद्वानों ने कहीं कहीं अशुद्ध और त्रुटिपूर्ण साक्ष्यों को निर्णय का आधार मान लिया है। इस विषय में मुख्यतः तीन मत प्रचलित हैं।[१] पं० गंगाधर शास्त्री ने जयन्त को वाचस्पति मिश्र का परवर्ती स्वीकार किया है। डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री उन्हें वाचस्पति से पूर्ववर्त्ती और उनका गुरु स्वीकार करते हैं जबकि प्रामाणिक गवेषणाओं के बाद महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, फणिभूषण तर्कवागीश, जानकीवल्लभ भट्टाचार्य, कार्ल एच० पाटर, ए० ठाकुर, वी० राघवन्, एच० जी० नरहरि, सी० डी० बिजाल्वान् प्रभृति विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जयन्त और वाचस्पति मिश्र दोनों समकालिक और एक दूसरे से अनभिज्ञ थे। गोपीनाथ कविराज ने जयन्त को वाचस्पति मिश्र का उत्तरवर्त्ती समकालिक कहा है। प्राप्त साक्ष्य इसी मत का समर्थन करते हैं।

आचार्य गंगाधर शास्त्री 'न्याय-मञ्जरी' में आये आचार्य शब्द को[२] वाचस्पति मिश्र के लिये निर्दिष्ट मानते हैं[३] तथा 'जात च सम्बद्धं चेत्येकः कालः' इस अंश को तात्पर्य टीका से उद्धृत मानते हैं।[४] पं० सूर्यनारायण शुक्ल ने १९५५ ई० की' 'आल इण्डिया ओरिएन्टल कांग्रेस' के एक अधिवेशन में इसी आशय की रपट प्रस्तुत की है[५] जबकि इन्होंने अपने द्वारा सम्पादित 'भेद-सिद्धि' की प्रस्तावना में यह स्वीकार किया है कि जयन्त वाचस्पति के गुरु थे और प्रमाणस्वरूप मण्डन मिश्र कृत 'विधि-विवेक' पर वाचस्पति मिश्र द्वारा की गयी टीका 'न्याय-कणिका' का एक श्लोक[६] उद्धृत करते हैं। दूसरी ओर पण्डित सूर्य नारायण शुक्ल अपने

---

१. C. D. Bijalvan, Theory of Indian Knowledge, P. 18.

२. क— अत्राचार्यास्तावदाचक्षते—न्या० म० भाग १, पृ० ६२
ख—तदपि परिहृतमाचार्यैः जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः इति वदद्भिः।
—न्या० म० भाग १, पृ० २८५

३. न्या० म० भाग १ (विजयनगरम् संस्कृत सीरीज) भूमिका, पृ० १

४. अस्य च सर्वतन्त्र स्वतंत्राच्छ्रीवाचस्पतिमिश्रादुत्तरकालभावित्वमस्मिन्नेव ग्रंथे ३१२ पृष्ठे 'तदपि परिहृतमाचार्यैः....वदद्भिः' इति लेखस्य न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां २।९ न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावादिति सूत्रव्याख्यायां दर्शनादवगम्यते।—न्या० म० भाग १ (वि० सं० सी०) भूमिका, पृ० १

५. The Encyclopaedia of Indian philosophies Pt. II, P. 698.

६. अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्याय-मञ्जरीं रुचिराम्।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥—न्या० क० ३ रा श्लोक

द्वारा सम्पादित 'न्याय-मञ्जरी' की भूमिका[1] में यह स्वीकार करते हैं कि वाचस्पति जयन्त से पूर्ववर्ती हैं, और यहाँ पर इन्होंने भी उक्त 'आचार्य' पद वाचस्पति मिश्र के लिये निर्दिष्ट मानकर यह स्वीकार किया है कि यह अंश जयन्त ने वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्य टीका' से उद्धृत किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पं० सूर्य नारायण शुक्ल के विचार स्वतो-विरुद्ध हैं। अतः इनकी अवैज्ञानिकता स्पष्ट है। पं० गंगाधर शास्त्री से प्रभावित होकर महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने भी इस अंश को वाचस्पति से उद्धृत मानने की भूल की है।[2] कविराज जी ने इस अंश का वैज्ञानिक विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि उक्त अंश वाचस्पति से उद्धृत नहीं हो सकता, साथ ही आचार्य पद वाचस्पति मिश्र के लिये न होकर किसी पूर्ववर्त्ती आचार्य का निर्देश करता है।[3] जयन्त वाचस्पति मिश्र को महत्त्वहीन कालान्तर के होते हुये इतने सम्मानपूर्वक नहीं उद्धृत कर सकते कि उनके लिये आचार्य जैसा शब्द और बहुवचन का प्रयोग किया जाय। वाचस्पति का काल ८४१ ई० सिद्ध किया जा चुका है, जिससे जयन्त-भट्ट मुक्तापीड़ ललितादित्य (७३३-७६९ ई०) के मन्त्री शक्तिस्वामी के प्रपौत्र होने के कारण कालतः अधिक दूर नहीं खींचे जा सकते। यदि हम 'न्याय-मञ्जरी' के सन्दर्भ में आचार्य पद का ध्यान से विश्लेषण करें तो स्पष्ट होगा कि यह पद किसी कट्टर नैयायिक के लिये निर्दिष्ट हो सकता है, जबकि वाचस्पति मिश्र ने स्वयं दूसरे दर्शनों के ग्रंथों पर टीकायें लिखते समय न्याय-सिद्धान्तों का खण्डन किया है। भामती की रचना के बाद तो वाचस्पति मिश्र मुख्यतः अद्वैतवेदान्ती के रूप में उभर कर आते हैं, अतः नैयायिक-शिरोमणि जयन्त-भट्ट द्वारा वाचस्पति मिश्र का इतने सम्मान पूर्वक स्मरण कदापि सम्भव नहीं। वाचस्पति मिश्र जयन्त - भट्ट के आचार्य या गुरु थे—इस सम्बन्ध में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। इससे भी महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि 'न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका' में वाचस्पति मिश्र ने प्रत्यक्ष लक्षण के सन्दर्भ में 'अव्यपदेश्य' और 'व्यवसायात्मक' पदों की व्याख्या करते हुये जो मौलिकता दिखाई है, जयन्त उससे सर्वथा अपरिचित हैं।[4] अधिक सम्भव है कि (जैसा कि 'न्याय-मञ्जरी ग्रंथि-भङ्ग'

---

१. न्या० म० भाग १ (चौ० सं० सी०) भूमिका, पृ० ८।

२. History of Indian Logic, Page 147.

३. Gleenings from the History and Bibliography of Nyaya - Vaisheshika Literature, Page 15-19.

४. C. D. Bijalwan, Theory of Indian Knowledge, P. 18.

के रचयिता चक्रधर का कथन है[1]) यह आचार्य पद 'रुचिकार' आदि के लिये है, जो वाचस्पति और जयन्त दोनों से पूर्ववर्त्ती थे और इन्होंने 'न्याय वार्त्तिक' पर टीकायें लिखीं। 'तात्पर्य-टीका' के सन्दर्भित अंश तथा 'न्याय-मञ्जरी' के उद्धृत अंश में भिन्नता भी है क्योंकि 'तात्पर्य-टीका' में 'जातः सम्बन्धश्चेत्येकः कालः' है, जबकि 'न्याय-मञ्जरी' में 'जातं सम्बन्धं चेत्येकः कालः' पाठ है। एक में पाठ पुंलिङ्ग है और दूसरे में नपुंसकलिङ्ग है। इसलिये उक्त अंशों में शाब्दिक साम्य के कारण इतना सारहीन निष्कर्ष लेना सर्वथा अवैज्ञानिक है। अधिक सम्भव है कि यह उद्धरण इस काल के विद्वानों में अति परिचित रहा हो,[2] जिसे न केवल वाचस्पति और जयन्त ने ही उद्धृत किया वरन् अन्यत्र भी इसे देखा जा सकता है।[3] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वाचस्पति ने उक्त वाक्यांश को उद्धृत करते समय नपुंसक-लिङ्ग के स्थान पर पुंलिङ्ग कर देने की भूल की है।[4]

कविराज जी ने अपनी गवेषणा में आचार्य चक्रवर्ती के इस मत की आलोचना किया है कि 'भामती' की एक पंक्ति[5] जयन्त ने 'न्यायमञ्जरी' में उद्धृत किया है। आचार्य गंगाधर शास्त्री भी इस अंश को 'भामती' २।१।११ से उद्धृत स्वीकार करते हैं।[6] इसलिये डा० चक्रवर्त्ती ने जयन्त को वाचस्पति से परवर्त्ती सिद्ध किया है।[7] परन्तु उक्त पंक्ति मूलतः 'वाक्यपदीय' की है।[8] 'वाक्यपदीय' से 'भामती' और 'न्यायमञ्जरी' दोनों ही में यह पंक्ति उद्धृत है[9] और इसमें कोई अनौचित्य भी नहीं है क्योंकि 'वाक्यपदीय' जयन्त और बाचस्पति मिश्र से पर्याप्त पूर्व लिखा जा चुका था। 'भामती' में 'तदुक्तम्' कहकर उक्त पंक्ति को स्पष्टतः

---

१. इह च सर्वत्राचार्यशब्देन उद्योतकरविवृतिकरो रुचिकारप्रभृतयो विवक्षिताः।
—न्या० म० ग्र० भ० पृ० ४४

२. Gopinath Kaviraj, Gleenings from the History and Bibliography of Nyaya vaisheshika Literature, Page. 16.

३. इसी अंश को उपस्कार १।२।३ पृ० ८२ में उद्धृत देखा जा सकता है।

४. ढुंढिराज शास्त्री, प्रशस्तपादभाष्य, भूमिका, पृ० २९।

५. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते ॥—भामती २।१।११

६. न्या० म० भाग १ (वि० सं० सी०) पृ० १२० तथा उस पर पाद टिप्पणी।

७. Dr. Chakravortee, J.O.A.S.B. Sept., 1915 P.262 पर पाद टिप्पणी—१

८. वाक्यपदीय १।३४ पृ० ८४

९. Gopinath Kaviraj, Gleenings from the History and Bibliography of Nyaya vaisheshika Literature, Page 16.

उद्धरण के रूप में स्वीकार किया गया है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि मण्डन मिश्र कृत 'विधिविवेक' की टीका 'न्यायकणिका' में वाचस्पति ने किसी न्यायमञ्जरीकार को अपना गुरु स्वीकार किया है।[१] इसलिये पं० सूर्यनारायण शुक्ल,[२] डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री[३] और पं० ढुंढिराज शास्त्री[४] प्रभृति विद्वानों ने न्यायमञ्जरीकार जयन्त - भट्ट को वाचस्पति का गुरु मानकर उनका वाचस्पति से पूर्ववर्तित्व स्वीकार किया है। वाचस्पति मिश्र ने 'तात्पर्य - टीका' के प्रत्यक्ष-सम्बन्धी अंश को अपने गुरु त्रिलोचन से पढ़ा है।[५] इस आधार पर कुछ लोगों ने त्रिलोचन और जयन्त-भट्ट को एक ही माना है अर्थात् ये किसी एक ही व्यक्ति के दो नाम है।[६] परन्तु यह ऐक्य कदापि सम्भव नहीं है क्योंकि यदि जयन्त और त्रिलोचन एक होते तो जयन्त भी प्रत्यक्ष लक्षण के संबंध में वही विचार रखते जिन्हें वाचस्पति ने त्रिलोचन से सीखकर 'तात्पर्य-टीका' में प्रस्तुत किया है।[७]

यह भी सम्भव नहीं है कि जयन्त और त्रिलोचन दोनों ही वाचस्पति के गुरु रहे हों। वाचस्पति से जयन्त को किसी भी प्रकार पूर्ववर्त्ती सिद्ध नहीं किया जा सकता। जयन्त कृत 'न्याय-मञ्जरी' का ज्ञान वाचस्पति को नहीं था, क्योंकि वाचस्पति के विशाल शास्त्रीय साहित्य में कहीं भी कश्मीर का कोई परिचय नहीं मिलता।[८] यद्यपि कश्मीर विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र था और मिथिला तथा कश्मीर के विद्वानों में परस्पर वैचारिक विनिमय चलता रहता था, परन्तु जैसा कि 'राजतरंगिणी' के उल्लेखों से स्पष्ट है कि नवीं सदी में कश्मीर युद्धरत होने से अशान्त हो गया था। अपने ही देश के विद्वानों को शासक ने संरक्षण नहीं दिया। तब

---

१. अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥—न्या०क० ३ रा श्लोक

२. भेदसिद्धि—प्रस्तावना

३. भारतीय दर्शन शास्त्र—न्यायवैशेषिक, पृ० १२१-२

४. प्रशस्तपादभाष्य—प्रस्तावना, पृ० २९-३०

५. त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः ।
यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ॥ तात्पर्य टीका

६. (क) भारतीयदर्शनशास्त्र-न्याय-वैशेषिक, पृ० १२१-२।
(ख) न्याय परिचय (हिंदी अनुवाद) पृ० ५०।

७. (क) धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, भारतीय दर्शन शास्त्र, न्याय वैशेषिक, पृ० १२१-२।
(ख) जा० व० भट्टाचार्य, न्या० म० भाग—१ भूमिका, पृ० २८।

८. जा० व० भट्टाचार्य, वही, पृ० २८।

बाह्य विद्वानों के प्रोत्साहन की कौन कहे ? अशान्त वातावरण होने के कारण कश्मीर का समूचे देश से अध्ययन-अध्यापन सम्बन्धी सम्पर्क समाप्त हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर 'न्याय-मञ्जरी' ग्रंथ जयन्त ने जिस जेल में लिखा वहाँ मानव शब्द तक नहीं पहुँचते थे, जिससे जयन्त को अपने ही देश में घटित होने वाली घटनाओं का भी ज्ञान नहीं था, तब उसे वाचस्पतिमिश्र का ज्ञान, जैसा कि पं० गंगाधर शास्त्री मानते हैं—किसी भी प्रकार हुआ हो, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वाचस्पति और जयन्त के काल में लम्बा अन्तराल कथमपि सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में निश्चित यही होता है कि न तो वाचस्पति को जयन्त का पता था, और न जयन्त को वाचस्पति का। अब एक प्रश्न यह बचता है कि वाचस्पति ने 'न्याय-मञ्जरी' का उल्लेख कैसे किया ? इसका समाधान यह हो सकता है कि वाचस्पति ने जिस 'न्याय-मञ्जरी' का उल्लेख किया है, वह कोई मीमांसा ग्रंथ हो।[1] अन्यथा यदि न्याय का ग्रंथ होता तो इतने श्रद्धेय गुरु का स्मरण एवं उनके ग्रंथ का स्मरण वाचस्पति को न्याय-सम्बन्धी ग्रंथों में करना चाहिये था। यह भी नहीं स्वीकार किया जा सकता कि ग्रंथोल्लेख से वे अपने गुरू का संकेत करना चाहते हैं, जो मूलतः नैयायिक रहा हो, क्योंकि ऐसे में वे अपने गुरू का नाम्ना उल्लेख भी कर सकते थे, जैसा कि उन्होंने अन्यत्र ऐसा किया भी है।[2] अतः यह निश्चित है कि 'न्याय-मञ्जरी' जिसका बाचस्पति मिश्र ने उल्लेख किया है, वह मीमासा का ग्रंथ है। न्याय शब्द मीमांसा में बहुतायत से प्रचलित है।[3] बहुत सम्भव है इस 'न्याय-मञ्जरी' में उन सभी न्यायों का समावेश रहा हो, जो मीमांसा-सूत्रों में आये हों।[4] अतः न्याय-मञ्जरीकार जयन्त-भट्ट वाचस्पति के दूसरे गुरु हों, ऐसा भी सम्भव नहीं है। फणिभूषण तर्कवागीश ने अपने ग्रंथ 'न्याय-परिचय' में जयन्त और वाचस्पति के मध्य किसी भी तरह के शिष्य-शासितृ भाव का खण्डन किया है।[5] साक्ष्यों के अभाव में यह कहना कठिन है कि वाचस्पति द्वारा उद्धृत 'न्याय-मञ्जरी' उनके गुरु त्रिलोचन की कृति है। अनन्तलाल ठाकुर ने ज्ञानश्रीमित्र

---

१. (क) जा० व० भट्टाचार्य, न्या० म० भाग–१ भूमिका, पृ० २८।
(ख) C. D. Bijalwan, Theory of Indian knowledge--पृ० १९।

२. वाचस्पति ने न्या० वा० ता० टी० १।१।४ में अपने गुरू त्रिलोचन का नामोल्लेख किया है परन्तु उनके किसी ग्रंथ का उल्लेख नहीं किया।

३. न्याय शब्द को लेकर न्यायमाला, न्यायरत्नाकर आदि ग्रंथों की रचना हुई। न्यायकणिका का नामकरण भी न्यायशब्द सहित है।

४. जा० व० भट्टाचार्य, वही, पृ० २७।

५. न्या० परि० भूमिका, पृ० ४९-५२।

कृत 'ईश्वरवाद' से प्राप्त कुछ उद्धरणों को त्रिलोचन कृत 'न्याय मञ्जरी' से सम्बद्ध बताया है।[१] पाल हाकर ने यह स्वीकार करके कि 'चूंकि वाचस्पति ने 'न्याय-मञ्जरी' का उल्लेख किया है, इसलिये वह जयन्त से पहले के नहीं हो सकते'[२] भूल की है क्योंकि यह स्पष्ट है कि जिस 'न्याय-मञ्जरी' का उल्लेख वाचस्पति मिश्र करते हैं, वह जयन्त की नहीं, वरन् किसी अन्य लेखक की कृति है। एच० जी० नरहरि[३] एवं पाटर[४] ने यह स्वीकार किया है कि यह त्रिलोचन की कृति थी। पाटर ने यह स्वीकार किया है कि अनिरुद्ध जिसने 'न्याय-वार्त्तिक' और 'तात्पर्य टीका' पर व्याख्यायें लिखा, उसने जिस 'न्याय-मञ्जरी' का उल्लेख किया है, यह स्पष्ट नहीं है कि वह त्रिलोचन की कृति है या जयन्त भट्ट की।[५] हेमचन्द्र की 'प्रमाण मीमांसा' और रत्नकीर्त्ति की 'अपोहसिद्धि' में त्रिलोचन के सिद्धान्तों का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि त्रिलोचन ने विभिन्न ग्रंथों का प्रणयन अवश्य किया रहा होगा जो आज काल के गाल में समा चुके हैं।[६] कार्ल एच० पाटर ने 'Historical Resume' में लेखकों तथा ग्रंथों की सूची में जयन्त की 'न्याय-मञ्जरी' के अतिरिक्त त्रिलोचन द्वारा लिखा गया 'न्याय-मञ्जरी' नाम का एक अन्य ग्रंथ उल्लिखित किया है।[७]

इसलिये अन्तिम मत मान्य रह जाता है, वह यह कि वाचस्पति और जयन्त दोनों समकालिक थे और एक दूसरे से अनभिज्ञ थे।[८] इनमें से वाचस्पति जयन्त

---

१. Anant Lal Thakur, "Naiyayika Trilochan as a Teacher of Vachaspati", IC-14-1947, PP.-36-40.

२. Paul Hacker, "Jayanta--Bhatta and Vachaspati Mishra." F. W. S. Hamburg. 1951 PP. 160- 169.

३. H. G. Narahari, "Nyaya-Manjari of Guru Trilochan-a forgotten work"—Journal of Bihar and Orissa Research Socity, Patna, 41-1955, PP, 507-511.

४. Karl H. Potter, The Encyclopaedia of Indian Philosophies, Vol. II, P. 454.

५. वही, पृ० ५२१।

६. तर्कवागीश, न्या० प० (हिन्दी अनुवाद) पृ० ५०।

७. Karl H. Potter, the Encyclopeadia of Indian Pholosophies, Vol. II P. 9.

८. Gopinath Kaviraj, Gleenings from the History and Bibliography of Nyaya.—Vaisheshika Literature, P. 16

के ज्येष्ठ समसामयिक थे। 'राजतरङ्गिणी' से प्राप्त सामाजिक दुरवस्था सम्बन्धी साक्ष्य भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं। जयन्त ने 'न्याय-मञ्जरी' पुस्तक निर्जन कारागार में लिखा है, जहाँ उन्हें किसी भी मानवीय आकृति का साक्षात्कार नहीं होता था, उन्हें बाह्य उपकरण पुस्तकें आदि कुछ भी उपलब्ध न थे। पुस्तक-लेखन में उन्हें केवल अपनी स्मृति और वैदुष्य पर ही अवलम्बित रहना पड़ा। ऐसी स्थिति में वाचस्पति मिश्र के इतने महत्त्वहीन कालान्तर के होते हुये उनके लिये 'आचार्य' जैसा सम्मान तथा उनकी पुस्तक से उद्धरण सम्भव नहीं है। जयन्त ने 'न्याय-मञ्जरी' में वही उद्धरण दिया है जो अति प्रसिद्ध होने के कारण उन्हें कण्ठस्थ रहे होंगे। बन्दीगृह में बन्दी जयन्त का सुदूरदेशवर्ती वाचस्पति से परिचय कथमपि सम्भव नहीं है। बहुत सम्भव है कि उसके ही देश में उसके ग्रंथ का ज्ञान लोगों को तब तक न हुआ होगा जब तक उसके पुत्र अभिनन्द का ग्रंथ 'कादम्बरी कथासार' प्रकाश में न आ गया हो।[1] यह सत्य है कि वाचस्पति एक बौद्धिक दानव थे, ज्ञान की कोई कोर उनके लिये अस्पृष्ट न रह जाय, इसके लिये वे हर क्षण चिन्तित रहते थे, लेकिन कश्मीर की अशान्ति के कारण—समसामयिक कश्मीर में विद्या की प्रगति जानने की चेष्टा वाचस्पति मिश्र ने न की होगी। इसलिये जयन्त-भट्ट और वाचस्पति मिश्र लगभग एक ही काल में रहते हुये भी एक दूसरे के लिये सर्वथा अज्ञात थे।

जयन्त के काल-निर्धारण का निष्कर्ष :

उक्त समूची समीक्षा से यह निष्कर्ष निकला कि जयन्त का जन्म नवम सदी के मध्य में हुआ, जबकि अवन्तिवर्मा का शासनकाल प्रारम्भ होने को रहा होगा। यह निश्चित है कि जयन्त के जन्मकाल तक वाचस्पति मिश्र मिथिला में एक सुदृढ़ सत्ता एवं उद्‌भट विद्वान् के रूप में उभर चुके थे। अब तक उन्होंने कई टीकायें भी लिख डाली रही होंगी। अवन्तिवर्मा के शासनकाल में ही जयन्त ने विविध शास्त्रों का अध्ययन किया तथा इसी समय इन्होंने व्याकरण शास्त्र पर कोई पुस्तक लिखी रही होगी। नवम सदी के अन्तिम चतुर्थांश में शङ्करवर्मा ने सत्तारूढ़ होते ही जयन्त को दो मन्दिरों तथा तत्सम्बद्ध शिक्षालयों का प्रभारी बनाया तथा कुछ समय बाद ये बन्दी बना लिये गये। नवम सदी के अन्त तक इन्होंने 'न्याय-मञ्जरी' की रचना की। बन्दीगृह से मुक्त जयन्त नवम सदी के अन्त में ही शङ्करवर्मा के धार्मिक मामलों के सलाहकार भी नियुक्त किये गये रहे होंगे।

---

१. C. D. Bijalwan, Theory of Indian Knowledge. PP-18-20

'आगमडम्बर' नामक नाटक इन्होंने दशम सदी के प्रारम्भ में लिखा। सुगन्धादेवी के शासन काल तक जयन्त अवश्य जीवित रहे होंगे, लेकिन इसके बाद जयन्त जीवित थे इसके प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार दशम सदी के प्रथम या द्वितीय दशक में जयन्त ने अपना पार्थिव शरीर छोड़ दिया होगा।

न्याय दर्शन के काल-विभाजन की दृष्टि से जयन्त किस काल में आते हैं? इस प्रश्न पर भी विचार अपेक्षित है। महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण कृत काल-विभाजन (१) प्राचीन, (२) मध्यकालीन, (३) अर्वाचीन[१] में जयन्त को प्राचीन काल से सम्बद्ध किया जा सकता है, जबकि डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री कृत कालविभाजन (१) प्राग्-दिङ्नाग काल, (२) दिङ्नाग से संघर्ष का काल, (३) बौद्धोत्तरकाल[२] में जयन्त को द्वितीय काल से सम्बद्ध किया जा सकता है।

जयन्त-भट्ट की कृतियाँ :

(१) न्याय-मञ्जरी

जयन्त का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'न्याय-मञ्जरी' है। यह चुने हुए अक्षपाद सूत्रों की व्याख्या है। आचार्य गंगाधर शास्त्री ने 'न्याय-मञ्जरी' की भूमिका में इसे 'गौतमसूत्र-तात्पर्य-विवृति' कहा है।[३] बारह आह्निकों वाले इस ग्रंथ में न्याय-दर्शन द्वारा प्रतिपादित षोडश-पदार्थों का निरूपण हुआ है। प्रथम छः आहिनकों (भाग १) में प्रमाण पदार्थ का तथा शेष छः आह्निकों (भाग २) में प्रमेय से लेकर निग्रह स्थान पर्यन्त पन्द्रह पदार्थों का निरूपण हुआ है। इन पदार्थों के प्रति-पादन के सन्दर्भ में पूर्वपक्षी बौद्धों के विरुद्ध मुख्यतः जयन्त की लेखनी चली है, परन्तु प्रसङ्गागत कुमारिलभट्ट, प्रभाकर, भर्तृहरि एवं आनन्दवर्धन आदि के सिद्धान्तों का भी खण्डन-मण्डन किया गया है। 'न्याय-मञ्जरी' ग्रंथकर्त्ता के अपरिमित पाण्डित्य का परिचय देती है। जयन्त ने 'न्याय-मञ्जरी' में न्याय जैसे नीरस और शुष्क विषय को अत्यन्त रोचक शैली से प्रतिपादित किया है। ये न्याय-भाष्य-सम्प्रदाय के अतिसमर्पित विद्वान् हैं और एतदर्थ उन्होंने 'न्याय-भाष्य' और 'वार्त्तिक' के विरोध में उठाये गये आक्षेपों, विशेषतः दिङ्नाग सम्प्रदाय के बौद्धों और मीमांसकों के तर्कों का उत्तर देने के लिये 'न्याय-मञ्जरी' ग्रंथ लिखा। जयन्त ने

१. S. C. Vidyabhushan, History of Indian Logic.

२. D. N. Shastri, The Philosophy of Nyaya Vaisheshika and its Conflict with the Buddhistic Dinnag School, Page 11-12.

३. न्या० म० भाग १ (वि० सं० सी०) भूमिका, पृ० २।

अपने समय में प्रचलित समस्त न्याय ग्रंथों का गहनता से अध्ययन किया था—इस बात का परिचय 'न्याय-मञ्जरी' के प्रारम्भ के एक श्लोक से मिलता है।[१] इसके अतिरिक्त उन्हें वैशेषिक, बौद्ध, जैन, मीमांसा, सांख्य, प्रारंभिक वेदान्त तथा व्याकरण जैसे गम्भीर विषयों का पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने चार्वाक-दर्शन, मीमांसा वैदिक वाङ्मय एवं पुराणों का भी भलीभाँति अध्ययन किया था। उनके सार्वभौमिक ज्ञान तथा यथार्थ चित्रण की विशेषता ने 'न्याय-मञ्जरी' को ज्ञानकोश और विश्वासपात्र बना दिया। 'न्याय-मञ्जरी' सभी दर्शनों की एक साथ सर्वोत्तम प्रस्तुति का सफल मंच है। फिर भी कट्टर नैयायिक होने के कारण जयन्त ने 'न्याय-मञ्जरी' में न्याय-सिद्धान्तों का रक्षण किया और प्रारम्भ[२] तथा अन्त[३] में अक्षपाद ऋषि के प्रति अत्यधिक आभार व्यक्त किया। यद्यपि जयन्त शैव थे, परंतु उन्होंने शैवों के प्रत्यभिज्ञा दर्शन का अनुकरण 'न्याय-मञ्जरी' में नहीं किया, जबकि इसका उद्भव और विकास उनके अपने ही देश कश्मीर में हुआ था। उन्होंने 'न्याय-मञ्जरी' में न केवल न्याय-दर्शन के प्राचीन विद्वानों के समस्त विचारों को ही स्थान दिया, वरन् इसमें उन्होंने अपने मौलिक विचार भी रखे— जैसे 'सामग्रीकारणवाद' जिसका अनुकरण 'न्याय-भाष्य' के एक व्याख्याकार विश्वरूप ने किया,[४] तथा 'वाक्य में पदों का 'संहत्यकारितावाद' जिसका अनुकरण भोज ने अपने 'शृङ्गार-प्रकाश' में किया है।[५] चूँकि 'न्याय-मञ्जरी' में जयन्त ने किसी भी तार्किक क्षेत्र को अछूता नहीं रखा है, इसलिये 'न्याय-मञ्जरी' का सावधानी से किया गया अध्ययन महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी दे

---

१. न्यायौषधिवनेभ्योऽयमाहृतः परमो रसः।
इदमान्वीक्षिकीक्षीरान्नवनीतिमिवोद्धृतम्॥ —न्या० म० ७ वाँ श्लोक

२. अक्षपादमताम्भोधिपरिमर्षरसोत्सुकाम्।
विगाहन्तामिमां संतः प्रसरन्तीं सरस्वतीम्॥ —न्या० म० ५ वां श्लोक

३. प्राप्तोदारवरस्ततः स जयति ज्ञानामृतप्रार्थना।
नाम्नाऽनेकमहर्षिमस्तकवलत्पादोऽक्षपादो मुनिः॥
—अतिम श्लोक से पूर्व का श्लोक

४. A. Thakur, 'Vishwaroop the Naiyayika'—Journal of Oriental Research. Madras, Vol. 28, P. 29-30.

५. V. Raghwan, Bhoja's Sringar Prakasha — 1963, PP. 21 and 728-9.

सकता है ।[१] 'न्याय-मञ्जरी', जो वाचस्पति मिश्र के सम्बन्ध में अनजान है, में आये 'आचार्याः', 'व्याख्यातारः', 'गुरवः' आदि पदों का प्रयोग वात्स्यायन और जयन्त के बीच की ऐतिहासिक रिक्तता को पूर्ण करता है क्योंकि उक्त पदों का प्रयोग निश्चित ही न तो भाष्यकार के लिये है और न ही वार्त्तिककार के लिये ।[२]

'न्याय-मञ्जरी' के संस्करण

इतना विश्रुत और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ परवर्त्ती काल के विद्वानों और अध्येताओं के लिये दीर्घ काल तक अज्ञात था, यह हम देख चुके हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि उन्नीसवीं सदी के अंत में पण्डित गंगाधर शास्त्री को आर्थर वेनिस महोदय के सौजन्य से 'काशिक राजकीय संस्कृत पाठशाला' से १७९४ संवत् में लिखित पाण्डुलिपि प्राप्त हुई, जिसको उन्होंने भोजपत्रों में १३९४ शक संवत् में लिखी गयी पूना स्थित 'राजकीय-पुस्तकालय' से उपलब्ध पाण्डुलिपि से तुलना करते हुये संशोधित करके विजयनगरम् संस्कृत सीरीज से सन् १८९५ ई० में प्रकाशित किया। चक्रधर नाम के कश्मीरी विद्वान् ने 'न्याय-मञ्जरी' के कठिन अंशों पर १०वीं से १२वीं सदी के मध्य कभी 'न्याय-मञ्जरी-ग्रंथि-भङ्ग' नाम की टीका भी लिखी, जो एल० डी० इंस्टीट्यूट अहमदाबाद से १९७२ ई० में प्रकाशित हुई है। सन् १९३६ ई० में पं० सूर्य नारायण शुक्ल ने चौखम्भा संस्कृत सीरीज से 'न्याय-मञ्जरी' का दूसरा प्रकाशन किया। प्रसिद्ध न्यायविद् महामहोपाध्याय फणि-भूषण तर्कवागीश ने 'न्याय-मञ्जरी' का बङ्गला भाषा में अनुवाद किया जो १९३९ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसी बङ्गला अनुवाद के प्रारंभिक छः आह्निको का तर्कवागीश जी के पुत्र प्रो० जानकीवल्लभ भट्टाचार्य ने आङ्ग्लभाषा में अनुवाद किया है जो १९७८ ई० में मोतीलाल बनारसीदास-प्रकाशन से प्रकाशित हुआ है। 'न्याय-मञ्जरी' के प्रथम चार आह्निकों पर 'न्याय-सौरभ' नामक विशेष टिप्पणी सहित 'न्याय-मञ्जरी' प्रथम पुष्प का प्रकाशन प्राच्य विद्या संशोधनालय मैसूर से विद्वान् के० एस० वरदाचार्य ने १९७० में किया है। इसके अगले अंश भी शीघ्र प्रकाश्य हैं। 'न्याय-मञ्जरी' प्रकाश में आने के ८५ वर्षों में इतनी अधिक समादृत हुई, इससे उसके प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादन शैली का महत्त्व अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

---

१. वी० राघवन्, आगम० भूमिका, पृष्ठ ४ पर पाद टिप्पणी-४

२. वही, पृ० ५

जयन्त भट्ट की यह 'न्याय-मञ्जरी' उस 'न्याय-मञ्जरी' से सर्वथा भिन्न है जिसका उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने 'न्याय-कणिका' के प्रारम्भ में किया है।

२—न्याय-कलिका

'न्याय-कलिका' नाम का एक अन्य लघुकाय ग्रंथ, जिसका प्रकाशन सरस्वती भवन सीरीज–१७ से १९५२ ई० में हुआ है, भी जयन्त भट्ट ने लिखा। बाल व्युत्पत्ति के लिये जयन्त ने इस पुस्तक में षोडश पदार्थों का अति-संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है।[२] पं० गंगानाथ झा यह स्वीकार करते हैं कि यह जयन्त की कृति है।[३] महामहोपाध्याय उमेश मिश्र का कहना है कि इसमें जयन्त ने प्रथम न्यायसूत्र पर बहुत ही संक्षिप्त व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखा है।[४] कुछ लोग कहते हैं कि 'न्याय-कलिका' जयन्त भट्ट कृत 'न्याय-मञ्जरी' के चुने हुये वाक्यों का संकलन है जो किसी परवर्त्ती शिष्य द्वारा किया गया।[५] न्यायमञ्जरीकार जयन्त-भट्ट से न्यायकलिकाकार जयन्त का समीकरण एक समस्या है। गुणरत्न ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' की टीका में जयन्त को भासर्वज्ञ कृत 'न्यायसार' पर 'न्याय-कलिका' नाम की टीका का लेखक माना है।[६] गुणरत्न द्वारा उल्लिखित इस 'न्याय-कलिका' से उक्त 'न्याय-कलिका' का समीकरण सम्भव नहीं है। डा० व्यूलर ने 'कश्मीर रिपोर्ट' में जयन्त लेखक द्वारा लिखित 'न्याय-कलिका' नाम के ग्रंथ का उल्लेख किया है।[७] जब तक इस पुस्तक के प्रतिपाद्य का पता न चले, तब तक

---

१. वी० राघवन्, आगम०, भूमिका, पृ० ५

२. षोडशपदार्थतत्त्वं बालव्युत्पत्तये कथितम्।
अजातरसनिष्यन्दमनभिव्यक्तसौरभम् ।
न्यायस्य कलिकामात्रं जयन्तः पर्यदीदृशत ॥ —न्या० क०

३. Ganganath Jha, "Nyaya Manjari studies" P. O. 22/1-2, 1957 PP 77-88, 1959-PP 104-108, 26/3-4, 1961 PP 119-123.

४. History of Indian Philosophy, Vol. 2, P, 125

५. Brahmananda Gupta--'Die wahrnehmungslehre in der Nyaya-Manjari" Beitrage zur sprach used Kulturgeschichte des orentitb Walldorf Hessen 1963.

६. गोपीनाथ कविराज, Gleenings from the History and Bibliography of Nyaya-Vaisheshika. Literature P. 18

७. वही, पृ० १८

इस उपलब्ध 'न्याय-कलिका' से इसका समीकरण करना कठिन है। हमें यहाँ केवल यह देखना है कि जयन्त-भट्ट और 'न्याय-कलिका' के लेखक जयन्त दोनों एक हैं या नहीं। यह स्पष्ट है कि न्याय-कलिका' न तो जयन्त-भट्ट कृत 'न्याय-मञ्जरी' का सारांश है और न ही 'न्याय-मञ्जरी' के चुने हुये वाक्यों का संकलन है।

जयन्त भट्ट बौद्धों के बहुत बड़े आलोचक थे, परन्तु न्याय-कलिका के अभ्युपगम सिद्धान्त के अवसर पर बौद्ध-मान्यता का अनुकरण किया गया है।[1] जयन्त-भट्ट किसी विषय के सभी पक्षों की प्रस्तुति को अद्वितीय प्रतिभा का परिचायक मानते हैं जबकि जयन्त ने 'न्याय-कलिका' में इसकी उपेक्षा की है। ये तर्क उक्त समीकरण के विरोध में दिये जा सकते हैं। परन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो दोनों ही ग्रंथ एक ही लेखक की कृति सिद्ध होते हैं। 'न्याय-कलिका' जयन्त भट्ट की प्रारंभिक रचना होनी चाहिये जबकि वे अपने विचारों में अपरिपक्व रहे होंगे। इसीलिये उन्होंने इसमें केवल न्याय-सम्मत पदार्थों का परिचय मात्र दिया है, ऐसा स्वीकार कर लेने पर उक्त विरोध भी प्रभावी नहीं होगा। इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे तथ्य हैं जो दोनों लेखकों का अभेद सिद्ध करते हैं। 'न्याय-मञ्जरी' और 'न्याय-कलिका' की भाषा लगभग एक सी है। दोनों के प्रारम्भ में शिव की स्तुति की गयी है।[2] 'न्याय-कलिका' एवं 'न्याय-मञ्जरी' के तर्क की व्याख्या बिलकुल एक सी है। यद्यपि इस पुस्तक में न तो जयन्त-भट्ट के व्यक्तिगत जीवन या इनके परिवार के सम्बन्ध में कोई सूचना है और न ही समकालिक समाज का ही कोई चित्रण है, फिर भी इसमें जयन्त भट्ट की धुंधली मुहर वर्तमान है। जयन्त ने अपने अध्ययन काल में ही यह ग्रंथ न्याय के नौसिखियों के लिये लिखा। इसका कलेवर एवं प्रतिपाद्य बहुत संक्षिप्त है अतः यह अन्वर्थतः 'न्याय-कलिका' है।

३—न्याय-पल्लव

डॉ० वी० राघवन् का मत है कि जयन्त ने 'न्यायकलिका' और 'न्याय-मञ्जरी' के मध्य में गौतमीय - न्याय पर सीमित श्लोकों वाले 'न्याय-पल्लव'

---

१. अपरीक्षितोऽपि कश्चिदर्थो बुद्ध्यातिशयचिख्यापयिषया प्रौढ़वादिभिस्तथेत्यभ्युपगम्यमानोऽभ्युपगमसिद्धान्तः। न्याय-कलिका पृ० ५

२. 'न्याय-मञ्जरी' तथा 'न्याय-कलिका' दोनों के प्रारम्भ में शिव की स्तुतिपरक यह श्लोक प्राप्त होता है—

नमः शाश्वतिकानन्दज्ञानैश्वर्यमयात्मने।
सङ्कल्पसफलब्रह्मस्तम्भारम्भाय शम्भवे॥

नामक ग्रंथ की रचना की ।[१] इस ग्रंथ के कुछ उद्धरण वादिदेव के 'स्याद्वादरत्नाकर' नामक जैन ग्रंथ में देखे जा सकते हैं ।[२]

४—(ग्रन्थ नाम अज्ञात)

'न्याय-मञ्जरी' के अंत में जयन्त ने स्वीकार किया है कि उन्हें 'नववृत्तिकार' इस उपनाम से जाना जाता था ।[३] अभिनन्द ने भी स्वीकार किया है कि उनके पिता 'वृत्तिकार' इस इस उपनाम से प्रथित थे ।[४] डा० राघवन् का कहना है कि यहाँ आया 'वृत्ति' पद यह सूचित करता है कि जयन्त ने सबसे पहले पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' पर कोई वृत्ति लिखी थी ।[५] 'आगमडम्बर' के प्रारम्भ से ज्ञात होता है कि जयन्त भट्ट ने शैशव काल में व्याकरण में कोई विवरणात्मक पुस्तक लिखी थी ।[६] 'न्याय-मञ्जरी' में भी जयन्त की व्याकरण विषयक स्वाभाविक प्रतिभा का परिचय मिलता है, साथ ही 'आगमडम्बर' में भी जयन्त ने व्याकरण के सिद्धान्तों के गहन ज्ञान का परिचय दिया है ।[७] अतः स्पष्ट है कि डॉ० राघवन् का मत सारगर्भित है और व्याकरण पर जयन्त ने अवश्य कोई पुस्तक लिखी होगी । दुर्भाग्य से न तो यह ग्रंथ ही प्राप्त है और न ही हम इसके नाम से या अन्यत्र कहीं इसके उद्धरणों से परिचित हैं ।

५—आगमडम्बर

जयन्त की पांचवी कृति 'आगमडम्बर' नामक रूपक है । जयन्त ने इसकी रचना 'न्याय-मञ्जरी' की रचना के बाद की है ।[८] यह जयन्त की एक

---

१. वी० राघवन्, आगम०, भूमिका, पृ० ५

२. वी० राघवन्, "Works and Authors Cited in Srideva's Syadvada-ratnakara." Journal of the Kalinga Historical Research Sociaty, P. 258-259.

३. अन्वर्थो नववृत्तिकार इति यं संशन्ति नाम्ना बुधाः । न्या० म० अंतिम श्लोक

४. वृत्तिकार इति व्यक्तं द्वितीयं नाम बिभ्रतः । का० क० सा० १।११

५. (i) वी० राघवन्, आगम० भूमिका, पृ० ५
(ii)—"Why Jayanta was known as Vrittikara," P. K. Gode Commemoration Volume-3 Page 173-4.

६. आगम० पृ० २

७. आगम०, पृ० १४

८. वी० राघवन्, आगम०, भूमिका, पृ० २१

मात्र साहित्यिक कृति है। चार अंकों वाले इस रूपक को नाट्यशास्त्र सम्मत किसी भी रूपक विधा में नहीं रख सकते। यह एक नितान्त दार्शनिक नाटक है जिसमें छः दर्शनों—बौद्ध, आर्हत, चार्वाक, मीमांसा, शैव सहित न्याय, तथा आगम (मुख्यतः पांचरात्र) के आचार्यों का दार्शनिक वाद-विवाद प्रस्तुत किया गया है। छः दर्शनों से सम्बद्ध होने के कारण इसे 'षण्मतनाटक' भी कहा गया है।[१] 'आगमडम्बर' 'न्याय-मञ्जरी' से परवर्त्ती है क्योंकि 'न्याय-मञ्जरी' के कुछ श्लोक यहाँ ज्यों के त्यों प्राप्त होते हैं।[२] यद्यपि 'न्याय-मञ्जरी' ही हमें जयन्त के कवित्व वक्तृत्व आदि का परिचय देती है[३] और उनकी वाणी सरसा, सदलङ्कारा थी—यह अभिनंद भी बताते हैं,[४] परन्तु 'आगमडम्बर' साहित्यिक कृति होते हुये भी जयन्त की साहित्यिक प्रतिभा के पूर्ण विकास का अवसर नहीं प्रदान करता। डा० वी० राघवन् का कहना है कि यदि 'न्याय-मञ्जरी' में हम दार्शनिक जयन्त में कवि के दर्शन भी करते हैं, तो 'आगमडम्बर' में कवि जयन्त में दार्शनिक जयन्त का दर्शन होता है।[५] धार्मिक एवं दार्शनिक मतवादों के वाद-विवाद का प्रतिपादन करने के कारण यह नाटक समूचे संस्कृतवाङ्मय में अपने ढग का अकेला और नया है। 'आगमडम्बर' के प्रारम्भ में जयन्त स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि यह नाटक नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों के प्रतिकूल होने के कारण अशास्त्रीय है।[६]

इस अनूठे नाटक की पाण्डुलिपियाँ 'जैन भण्डार पाटन' से तथा 'भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान पूना' से प्राप्त करके डॉ० अनन्तकाल ठाकुर तथा डा० वी० राघवन् ने इस नाटक को १९३४ में 'मिथिला इंस्टीट्यूट दरभंगा' से प्रकाशित किया है।

६—धर्मशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें :

उक्त पाँच पुस्तकों के अतिरिक्त महामहिम पी० वी० काणे ने यह अनुमान

---

१. आगम०, भूमिका, पृ० २५
२. न्या० म० भाग १ पृ० २४४ का नानाविधैरागममार्गभेदैः इत्यादि श्लोक आगम० ४।२९ में उद्धृत है।
३. व्यक्ता कवित्ववक्तृत्वफला यस्य सरस्वती। —का० क० सा० १।१०
४. सरसाः सदलङ्काराः प्रसादमधुराः गिरः।
कान्तास्तातजयन्तस्य जयन्ति जगतां गुरोः॥ —का० क० सा० १।२
५. वी० राघवन्, आगम०, भूमिका, पृ० ८
६. तदिदमलौकिकमशास्त्रीयमप्रयुक्तपूर्वं कथं प्रयुञ्ज्महे ? —आगम० पृ० ३

लगाया है कि जयन्त ने धर्मशास्त्र पर कई पुस्तकें लिखीं जो काल के कराल गाल में समा गयीं ।[१]

जयन्त-भट्ट का व्यक्तित्व :

जयन्त-भट्ट पदवाक्यप्रमाणपारावारीण पण्डित हैं। वैदिक अवैदिक सभी दर्शनों में इनकी गति अप्रतिहत है। ये जैसे उच्चकोटि के शास्त्रार्थ कुशल वक्ता हैं, उसी प्रकार से उच्चकोटि के मधुरवाक् रससिद्ध कवि भी हैं।[२] ये अपनी यशः-प्रभा से समस्त दिङ्मण्डल को उद्भासित करने वाले महापण्डित चन्द्र के पुत्र थे। विद्वज्जन नववृत्तिकार कहकर इनकी प्रशंसा किया करते थे। शास्त्रार्थ सभाओं में सदैव विजय पाकर इन्होंने अपने जयन्त नाम को अन्वर्थ किया।[३] बौद्धों से वैचारिक लड़ाई लड़ने वाले प्राच्य नैयायिकों में ब्राह्मण तार्किक जयन्त का स्थान शीर्षस्थ है। जयन्त धर्म सहिष्णु थे और यह मानते थे कि धार्मिक अन्तर्द्वन्द्व विशेष महत्त्व का नहीं है क्योंकि सभी धर्मों का लक्ष्य एक है, और वह है मोक्ष। बौद्धदर्शन का गहन अध्येता होने के कारण जहाँ वे बौद्ध लेखकों से वैचारिकों साम्य रखते हैं, वहाँ इस बात का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। एस० मुखर्जी ने जयन्त भट्ट की बौद्ध आचार्य शान्त-रक्षित से इस बात में तुलना की है कि दोनों ही विद्वान् सहनशील थे और दोनों ही अपने काल की समस्त साहित्यिक विधाओं का विश्वजनीन ज्ञान रखते थे।[४] जैसा कि जयन्त की वन्दनाओं से स्पष्ट होता है, वे शैव धर्मोपासक थे तथा भासर्वज्ञ व अन्य शैव दार्शनिकों की तरह जयन्त भी शिव के रूप में देवत्व सर्वज्ञत्व आदि की कल्पना करते हैं।[५] जयन्त ने शिव में आत्मा के नौ विशेष गुणों में से तीन के स्थान पर पाँच विशेष गुण माना है। ज्ञान, इच्छा और कृति के अतिरिक्त वे शिव में सुख और धर्म नाम के दो अतिरिक्त गुण मानते हैं। फिर भी जयन्त वेदों पर विश्वास रखते हैं और बौद्धों पर वेद-निन्दक होने का आक्षेप

---

१. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १ (पूना १९३०)।

२. (i) व्यक्ता कवित्ववक्तृत्वफला यस्य सरस्वती। का० क० सा० १।१०

(ii) सरसा सदलङ्कारा: प्रसादमधुरा: गिर:।
कान्तास्तातजयन्तस्य जयन्ति जगतां गुरोः॥ —का० क० सा० १।२

३. वादेष्वाप्तजयो......इत्यादि न्या० म० का अन्तिम श्लोक।

४. Satkari Mookerjee—"Jayanta Bhatt the author of Nyaya-Manjari", Cultural Review 40, 1931, PP. 251-277.

५. न्यायमञ्जरी, भाग १, पृ० १८४।

करते हैं। वे न्यायशास्त्र का समर्थन सदा वेद से करते हैं।[1]

जयन्त ने भारतीय तर्क के छः सम्प्रदायों—न्याय, सांख्य, बौद्ध, जैन, चार्वाक और वैशेषिक का परिचय दिया है। यद्यपि 'न्याय-मञ्जरी', 'न्याय-कलिक' और 'आगमडम्बर' ये तीन ग्रंथ ही जयन्त क उपलब्ध हैं, परन्तु इन ग्रन्थों में जयन्त ने जिस सार्वभौम विद्वत्ता का परिचय दिया है, उससे उनका कृतित्व ज्ञान का कोश और विश्वास की परम भूमि बन गया है। इसके लिये उन्होने विद्या के विविध-प्रस्थानों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया था। यद्यपि चार्वाकों के संकुचित विचारों के प्रति उनका बहुत ही शिथिल आक्षेप है, फिर भी चार्वाक तत्त्वमीमांसा को समझने में जयन्त ने कोई भूल नहीं की। उन्होंने मीमांसा दर्शन के भाट्ट एवं प्राभाकर मतों का विधिवत् अध्ययन किया था और दोनों की गवेषणाओं के सूक्ष्म अन्तर को समझा था। व्याकरण के क्षेत्र में उन्होंने महाभाष्य तथा वाक्यपदीय जैसे प्रौढ़ ग्रन्थों तक का अच्छा अध्ययन किया था। नैयायिकों ने प्रायः वैदिक धर्म-ग्रन्थों और विशेषतः अथर्ववेद को उपेक्षित रखा है, परन्तु जयन्त एक उद्‌भट वैदिक विद्वान् थे। उनका वैदिक अध्ययन इतना विस्तृत था कि उन्होंने वैदिक पाठ्य-ग्रन्थों के सन्दर्भ में मीमांसकों के निष्कर्ष का पुनर्मूल्याङ्कन किया। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि जयन्त को न्याय के हर महत्त्वशाली या महत्त्वहीन विस्तार का ज्ञान था। दूसरे शब्दों में जयन्त एक घूमता पुस्तकालय है। हम यह जानते हैं कि जयन्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'न्याय-मञ्जरी' का प्रणयन उस समय किया जब वे निःशब्द जेल में बन्द थे,[2] उनका सम्बन्ध पुस्तकों, साहित्य एवं समाज-सबसे टूट चुका था। उनके पास सूचना या परामर्श के लिये जेल में कोई पुस्तक न थी। ऐसी स्थिति में ग्रन्थ प्रणयन हेतु उन्हें एक मात्र अपनी स्मृति और विद्वत्ता पर ही आश्रित रहना पड़ा। जयन्त के महत्त्व के सन्दर्भ में यह इतना महत्त्वशाली और दृढ़ प्रमाण है, जो भारतीय इतिहास में कभी ही कहीं देखने को मिला हो। हम 'न्याय-मञ्जरी' के साथ अन्याय करेंगे, यदि हम इसे केवल एक व्याख्या मात्र मानकर चुप हो जाते हैं। यह तो तर्क, अध्यात्म, नीति और धर्मशास्त्र का विश्वकोष है। यदि भारतीय दर्शन का इतिहासवेत्ता 'न्याय-मञ्जरी' से अपरिचित रह जाता है तो उसका ज्ञान सदा के लिये अधूरा रह जायेगा।

---

१. न्यायविस्तरस्तु मूलस्तम्भभूतः सर्वविद्यानां वेदे प्रामाण्यहेतुत्वात्।
—न्या० म० भाग १, पृ० ३

२. राज्ञा तु गह्वरेऽस्मिन्नशब्दके बन्धनेविनिहितोऽहम्।
ग्रन्थरचनाविनोदादिह हि मया वासरा गमिताः॥ —वही, पृ० ३६३

जयन्त एक प्रौढ़ नैयायिक थे। अपने ग्रन्थों में सर्वत्र ही उन्होंने न्यायपक्ष का समर्थन किया और इसके विरोध में हर महत्त्वशाली या महत्त्वहीन तथ्य का विरोध किया। हमें ज्ञात है कि जयन्त से पूर्व सदियों तक बौद्धों ने न्यायदर्शन का इतना उपहास किया कि उनके आक्षेपों का उत्तर देना कठिन हो गया था। लगभग दो शताब्दियों तक न्याय पक्ष में कोई भी ऐसा विद्वान् न हुआ जो बौद्धों के आक्षेपों का उत्तर दे सके। जयन्त और वाचस्पति मिश्र ने इस चिर प्रतीक्षित कार्य को पूरा किया। परन्तु वाचस्पति भी समर्पित नैयायिक न थे, वे एक टीकाकार से अतिरिक्त कुछ न सिद्ध हो सके क्योंकि उन्होंने न्याय पक्ष में प्रस्तुत अपने ही तर्कों एवं गवेषणाओं का विरोध स्वयं ही अन्य दर्शनों के मूल ग्रथों में टीकायें लिखते समय किया है। इसलिये पूर्ण स्वर से बौद्धों के विरोध में आवाज उठाने वाले जयन्त ही प्रथम नैयायिक हैं। जयन्त ने वेदान्त का भी खण्डन किया है।[१] जबकि वाचस्पति मिश्र, श्रीधर, उदयनाचार्य आदि उद्भट नैयायिक भी अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वेदान्त की ओर झुक गये थे, लेकिन जयन्त अपने स्थान पर अडिग बने रहे। नैयायिकों के पहले मीमांसकों ने नैयायिकों के प्रतिष्ठित स्थान को प्राप्त करने के उद्देश्य से बौद्धों के आक्षेपों का उत्तर दिया था, इसलिये जयन्त ने साथ-साथ मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत तर्कों का भी खण्डन करके सर्वत्र न्याय की धाक स्थापित कर दी। बौद्धों के दिङ्नाग सम्प्रदाय और न्यायवैशेषिक के मध्य चलने वाले वैचारिक संगर्ष में जयन्त के योगदान को जानकर ही हम न्याय-दर्शन के इतिहास में जयन्तभट्ट के योगदान को समझ सकते हैं। जयन्त अत्यधिक उदारमना तथा सहिष्णु हैं कि वे स्पष्टतः अपनी अक्षमता की घोषणा करते हुये कहते हैं कि हम नवीन बात कहने में कहाँ समर्थ है, हम तो सर्वथा अमौलिक बात कह रहे हैं।[२]

जयन्त की शैली रोचक और भाषा शक्तिशाली है। उनका शब्दचयन उदार है। भले ही वादविवाद का विषय लम्बा क्यों न हो, पर विषय की प्रस्तुति पाठक को अरुचिकर नहीं प्रतीत होती है। कलात्मक अभिव्यक्ति की वेदी पर वे विषय की परिशुद्धता एवं यथार्थ की बलि नहीं देते। उनका विश्लेषण अतिसूक्ष्म

---

१. न्या० म० भाग २, पृ० ९४-९८

२. कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम् ॥ —वही, भाग १, पृ० १
न हीयं कविभिः पूर्वैरदृष्टं सूक्ष्मदर्शिभिः।
शक्ता तृणमपि द्रष्टुं मतिर्मम तपस्विनी ॥ —वही, भाग १, पृ० ३६३

है। वे अपने आपको तर्क प्रहारों में व्यस्त नहीं होने देते। उनका ध्यान हमेशा विषय में केन्द्रित रहता है। उनका ज्ञान क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और निश्पक्ष है। विरोधियों के पक्ष को प्रस्तुत करते समय भी वे ईमानदारी का परिचय देते हैं। उन्हें अपनी कुशाग्र प्रज्ञा पर इतना भरोसा था कि विरोधी पक्ष को तोड़-मरोड़ करके अपने अनुकूल बनाने जैसी बुराई उनमें कहीं नहीं मिलती। जहाँ विरोधियों के तर्क उचित व उच्चस्तरीय होते हैं, वहाँ वह विरोधी पक्ष के तर्कों की सराहना करने से नहीं चूकते। वह अपने विरोधियों द्वारा प्रस्तुत किसी तथ्य की निन्दा नहीं करते। विषय प्रतिपादन एवं वैचारिक संघर्ष के सन्दर्भ में वे अपने विरोधियों में से किसी को भी छोड़ते नहीं, चाहे वह कितने ही कम महत्त्व का क्यों न हो। वह एक स्पष्ट वक्ता हैं और अपने स्पष्ट वक्तृत्व में कहीं भी वह संकोच का अनुभव नहीं करते। वह निर्भय होकर यह घोषणा करते हैं कि प्रभाकर ने अपने कृतित्व का अमुक-अमुक अंश बौद्धों से बिना उनको स्वीकृति के चुराया है।[१] यद्यपि जयन्त शब्द-चयन के प्रति अत्यन्त सावधान हैं, परन्तु फिर भी पूर्व लेखकों की लेखन शैली से प्रभावित होकर कभी-कभी वे मर्यादा का अतिक्रमण कर बैठते हैं और अपने कट्टर विरोधियों के प्रति अमर्यादित शब्दावली का प्रयोग कर बैठते हैं।[२] कहीं-कहीं वे विरोधियों के तर्कों का उपहास करते हैं और उनके विरुद्ध व्यङ्ग्यात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं।[३] यद्यपि बौद्धों के कटु आक्षेपों ने ही जयन्त को इस अमर्यादिता के लिये प्रेरित किया होगा, फिर भी जयन्त ने प्रायः अपने आप पर नियन्त्रण रखा और अपनी भाषा, अपने तर्क व परिवेश को विनय और शिष्टता से आच्छादित रखा। यह सारी विशेषतायें जयन्त के अद्वितीय व्यक्तित्व का संकेत करती हैं। प्रतिभा और विषय-प्रतिपादन के मञ्जुल समन्वय से पूरे भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में दूर-दूर तक उनका कहीं कोई समकक्ष नहीं दिखता। निःसन्देह जयन्त एक असाधारण नैयायिक हैं।

---

१. जा० व० भट्टाचार्य, न्या० म० (अंग्रजी अनुवाद) भूमिका, पृ० ३१

२. ये त्वीश्वरं निरपवाददृढप्रमाणसिद्धस्वरूपमपि नाभ्युपयन्ति मूढाः।
पापाय तैः सह कथापि वितन्यमाना जायेत नूनमिति युक्तमतो विरन्तुम् ॥
न्या० म० भाग १, पृ० १८७-८८

३, मीमांसकाः यशः पिवन्तु, पयः वा पिवन्तुः बुद्धिजाड्यापनयनाय ब्राह्मी घृतं वा पिवन्तु, वेदस्तु पुरुषप्रणीत एव नात्र भ्रान्तिः।
—न्या० म० भाग १, पृ० २१६

जयन्त की ये समस्त विशेषतायें उनके प्रभावी व्यवितत्व का संकेत करती हैं। उनके व्यक्तित्व एवं प्रतिभा से प्रभावित होकर शासक ने उन्हें अपना मंत्री बनाया था।[१] धैर्य और साहस उनमें इतना था कि वे अपनी विपत्ति का भी मजाक उड़ा सकते थे। कैद जैसी कठोर विपत्ति के समय में भी उन्होंने न्याय-दर्शन के कीर्त्तिस्तम्भ सदृश 'न्याय-मञ्जरी' ग्रंथ की रचना कर दी।[२] वस्तुतः न्यायदर्शन, तर्क, अध्यात्म, नीति और धर्मशास्त्र के लिये जयन्त की देन चिरस्थायी एवं चिरस्मरणीय है। उनका कृतित्व भाषा-सौष्ठव, अर्थगाम्भीर्य, विषय-चातुरस्र्य और प्रतिपादन-दाक्ष्य—इन सभी दृष्टियों से महनीय, अनुशीलनीय एवं अभ्यसनीय है। जयन्त की इन विशेषताओं ने भारतीय दर्शन के इतिहास में उनका स्थान अग्रपंक्ति में सुरक्षित कर दिया है।

—:०:—

१. मन्त्री शास्त्रमहाटबीविहरणाश्रान्तो जयन्तोऽप्यसौ। —आगम० पृ० ५४

२. न्या० म० भाग १; पृ० ३६१।

द्वितीय अध्याय

विषयावतरण

विद्या का स्वरूप :

ज्ञान या जानने की प्रक्रिया को विद्या कहते हैं। वेदन ही विद्या है। परन्तु घटादि के वेदन अर्थात् ज्ञान को विद्या नहीं कहेंगे बल्कि ऐसा वेदन विद्या कहा जायेगा, जब इसके द्वारा पुरुषार्थ साधनों का ज्ञान हो। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष--इन पुरुषार्थों के साधनों का ज्ञान ही विद्या है।[1]

विद्यास्थान और न्याय दर्शन का विद्यास्थानत्व :

पुरुषार्थ साधन के ज्ञान या विद्या के स्थान या आश्रय या उपाय को ही विद्यास्थान कहते हैं। ये विद्यास्थान १४ हैं — इनमें से चार वेद हैं जो साक्षात् पुरुषार्थ साधन का उपदेश करने से विद्यास्थान हैं। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' 'आत्मा ज्ञातव्यः' आदि श्रुतियों में पुरुषार्थ (मोक्ष) के साधनभूत अग्निहोत्र, आत्मसाक्षात्कार आदि का साक्षात् उपदेश किया गया है। ये चार वेद हैं—अथर्ववेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद। मनु आदि ऋषियों द्वारा उपनिबद्ध स्मृतिशास्त्र भी पुरुषार्थ साधनों का उपदेश करने के कारण विद्यास्थान है। इतिहास और पुराण भी विद्यास्थान हैं क्योंकि इनमें उपाख्यानादि के वर्णन के द्वारा वैदिक अर्थ का ही विस्तार किया गया है। वेदार्थ के लिये उपयोगी पद की व्युत्पत्ति आदि करने के कारण व्याकरण, कल्प, ज्योतिष्, शिक्षा, छन्द, निरुक्त—यह छहों अङ्ग भी विद्यास्थान हैं। तेरहवाँ विद्यास्थान है—मीमांसा शास्त्र। धर्म के इतिकर्तव्यता भाग का पूरण करने के कारण और व्यवस्थित वेदवाक्यार्थ के लिये आवश्यक विचार होने के कारण मीमांसाशास्त्र भी विद्यास्थान है। अन्तिम विद्यास्थान है—न्याय।

न्याय दर्शन विद्यास्थान क्यों है? न्यायशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है—वेदार्थ का संरक्षण। जैन, चार्वाक, बौद्ध आदि नास्तिकों के कुतर्कों से वेद का प्रामाण्य संदिग्ध हो जाता, अतः दृढ़तर तर्कों द्वारा उनके तर्कों का खण्डन करके न्यायशास्त्र

---

१. द्रष्टव्य : न्या० म० भाग १, पृ० ५

वेद के प्रामाण्य को स्थायी बनाता है, इसलिये न्यायशास्त्र विद्यास्थान है। न्याय तो वस्तुतः सभी विद्यास्थानों में मूल है। चूंकि सभी विद्यास्थानों का पर्यवसान वेदार्थ में होता है और न्यायशास्त्र उस वेदार्थ का संरक्षण करता है अतः इसकी विद्यास्थानता मूल है।

न्यायशास्त्र पढ़ना क्यों आवश्यक है ?

आचार्य जयन्त ने सभी पुरुषों को चार कोटियों में विभक्त किया है— अज्ञ, सन्दिग्ध, विपर्यस्त और निश्चितमति। निश्चितमति मुनि अक्षपाद अपने शास्त्रोपदेश से अज्ञ के अज्ञान को दूर करते हैं, संदिग्ध के संदेह को नष्ट करते हैं, विपर्यस्त के विरुद्ध ज्ञान को समाप्त करते हैं। इसलिये तपः प्रभाव या देवताराधन या शास्त्रान्तराभ्यास से प्राप्तज्ञान महर्षि द्वारा उपदिष्ट शास्त्र सर्वथा पठनीय है।[1] पुरुषार्थ साधन भूत वेद से उपलभ्यमान ज्ञान के प्रामाण्य के लिये भी न्यायशास्त्र का अध्ययन एक मात्र गति है।

ज्ञान की समस्या और जयन्त

ज्ञान की समस्या ने विश्व भर के विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया है। ज्ञान का स्वरूप क्या है? इसकी प्राप्ति के क्या साधन हैं? ज्ञान के प्रमात्व के आधार क्या हैं? संक्षेप में ये कुछ पक्ष हैं, जो तत्त्वविचार की विषयवस्तु को सूत्रित करते हैं और इन्हीं से आगे चलकर ज्ञानवाद का विकास हुआ। ज्ञान के स्वरूप के विषय में प्राच्य और प्रतीच्य सभी विद्वान् भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय यद्यपि इस विषय में अलग-अलग मत रखते हैं फिर भी चार्वाक जैसे भौतिकवादी दार्शनिक भी ज्ञान और इसके साधनों का विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं—इसलिये इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि ज्ञान-समस्या समाधान योग्य है।

जयन्त एक कट्टर नैयायिक थे, अतः उनका सम्बन्ध दार्शनिकों के उस सम्प्रदाय से था जिसमें ज्ञान की समस्या का सर्वाङ्ग विश्लेषण किया गया। यद्यपि जयन्त अपने पूर्वाचार्यों को बहुतायत में उद्धृत करने के कारण पूरी ज्ञान-मीमांसा के लिये पूर्णरूपेण उत्तरदायी तो नहीं है, फिर भी इस बात का श्रेय जयन्त को जाता है कि उन्होंने पहली बार ज्ञान-मीमांसा को एक ऐतिहासिक आधार दिया और अपने समय में प्रचलित सभी सम्प्रदायों के ज्ञान-मीमांसावादी विचारकों को

---

१. द्रष्टव्य : न्या० म० भाग १, पृ० ५

एक मंच पर खड़ा करके सबके मतों की गवेषणापूर्ण समीक्षा प्रस्तुत की। यही नहीं, जयन्त ने ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में स्थान-स्थान पर जिस मौलिकता का परिचय दिया है, वह न्यायदर्शन के इतिहास में अन्यत्र देखने को कम मिलती है। इस बात पर विचार करना आवश्यक नहीं है कि जयन्त ने गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर या अपने समकालिक पक्ष या विपक्ष के मतों से क्या और कितना ग्रहण किया, वरन् महत्त्व इस बात का है जयन्त की प्रस्तुति का ढंग इतना अनोखा और प्रभावपूर्ण है कि प्रत्येक तथ्य उनका निजी और मौलिक बन गया है।

न्याय-वैशेषिक तथा विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ज्ञान को आत्मा का एक गुण माना गया है। गौतम ने ज्ञान को बुद्धि कहा है तथा उपलब्धि और बुद्धि को ज्ञान का पर्याय माना है।[1] कणाद ने बुद्धि को गुणों में परिगणित किया है।[2] प्रशस्तदेव ने बुद्धि के पर्यायों की सूची में 'प्रत्यय' शब्दों को भी जोड़ दिया है।[3] न्यायसूत्रकार तथा वैशेषिक सूत्रकार ने तो केवल गुण का सामान्य लक्षण ही प्रस्तुत किया है। कणाद का कहना है कि गुण वह है जो किसी द्रव्य में समवेत होता है. गुण की स्वतंत्र सत्ता निराश्रित रूप में नहीं रह सकती। प्रशस्तपाद गुण का एक और वैशिष्ट्य बताते हैं, वह यह है कि गुण गुणत्व जाति से सम्बद्ध होता है। यह गुणत्व जाति पदार्थ में रहती है लेकिन द्रव्य और कर्म में नहीं रहती, साथ ही सामान्य, विशेष, समवाय अभाव में जाति रहती ही नहीं, अतः परिशेषानुमान से गुणत्व जाति के आश्रय के रूप में गुण पदार्थ की सिद्धि होती है। प्रशस्तपाद बुद्धि के दो स्वरूप स्वीकार करते हैं--विद्या और अविद्या। वात्स्यायन, उद्योतकर तथा वाचस्पतिमिश्र के मत केवल व्याख्यापरक हैं। ज्ञान के लक्षण में इनका कोई विशेष योगदान नहीं है।

जयन्त इस समस्या का विस्तृत विश्लेषण करते हैं। गौतमोक्त 'ज्ञान' और 'उपलब्धि' पदों के प्रयोग के विषय में जयन्त का कहना है कि ये बुद्धि के निश्चयार्थक पर्याय हैं जो बुद्धि के स्वरूप को समझने में सहायक हैं।[4] सांख्यों का मत है कि ज्ञान केवल बुद्धिवृत्ति है अतः ज्ञान, बुद्धि और उपलब्धि तीनों पद भिन्न अर्थों वाले हैं। परन्तु जयन्त इस सांख्य मत का खण्डन करते हैं। ज्ञान बहिरिन्द्रिय ग्राह्य भौतिक गुणों की तरह अन्तरिन्द्रिय मनस् द्वारा गृहीत होता है। ज्ञान

१. न्या० सू० १।१।१५
२. वै० सू० १।१।६
३. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्ययः इति पर्यायः। —प्र० पा० भा० पृ० १३६
४. पर्यायप्रयोगस्यैवं लक्षणक्षमत्वात्।—न्या० म० भाग २, पृ० ५८

अभौतिक द्रव्य आत्मा का गुण है। आत्मा को भौतिक पर्यावरण में अपने को प्रस्तुत करने के लिये इस गुण की आवश्यकता होती है। इसलिये बुद्धि को आत्मा का गुण कहा गया है। सांख्यमत से यदि गुण को प्रकृति स्वरूप मान लें तब तो ज्ञान भौतिक हो जायेगा, जबकि ज्ञान सर्वथा अभौतिक है। ज्ञान क्षणिक होता है, अतएव विनाशी होता विनाशी होता है। जयन्त का विचार है कि ज्ञान-आत्मा का एक गुण है और यह कभी भी किसी के प्रति करण नही होता क्योंकि बुद्धि ही ज्ञान है और बुद्धि कभी ज्ञान का करण नहीं होता। परबर्त्ती न्याय-वैशेषिक तार्किक इसी प्रकार का विचार रखते हैं। अन्नं भट्ट स्पष्टतया यह कहते हैं कि बुद्धि स्वयं ज्ञान है, ज्ञान का करण नहीं है।[1]

ज्ञान का वर्गीकरण :

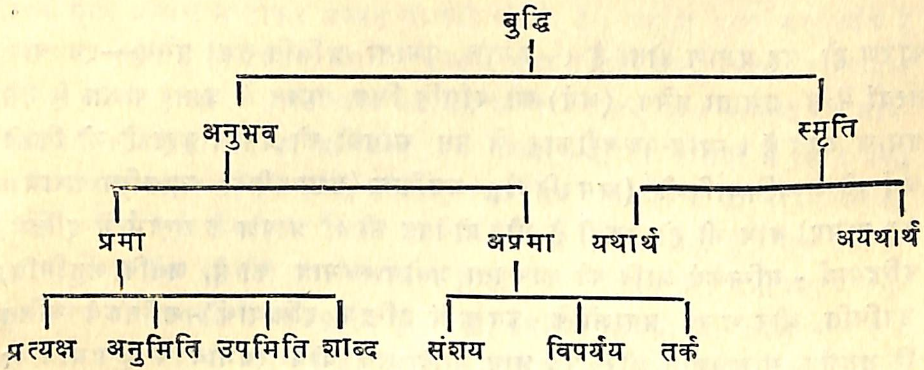
दर्शन में समस्त दार्शनिक विषयों का तत्त्वज्ञान आवश्यक माना जाता है, जिसकी ओर न्याय-सूत्रकार का संकेत है।[2] न्याय में तत्त्व का तात्पर्य है वास्तविकता या यथार्थ या सत्य।[3] ज्ञान बुद्धि का पर्याय है जिसका तात्पर्य है चेतना अर्थात् विषय के प्रति जागरूकता, या विषय-ग्रहण। तत्त्वज्ञान सदा निश्चय, अन्वेषण, विलक्षणता तथा वर्गीकरण पर आधारित है और इस तत्त्वज्ञान का प्रयोजन है समूचे ज्ञान क्षेत्र की समग्रता में प्रत्येक वस्तु के यथार्थ स्वरूप का पता लगाना। न्यायशास्त्र स्वभावतः इस नियम का अनुवर्तन करता है।

बुद्धि के वर्गीकरण के बारे में प्राच्य नैयायिकों एवं नव्य-नैयायिकों की मान्यता में भेद है। लेकिन जब हम न्याय-सम्मत ज्ञान के प्रकारों की बात करते हैं तब हमें नव्यनैयायिकों के मत को भी समन्वित करना अभीष्ट होता हैं। यह बात भी सही है कि नव्य-नैयायिकों द्वारा निर्धारित वर्गीकरण अद्यतन और अधिक औचित्यपूर्ण है। जयन्त ने 'न्यायमञ्जरी' में यद्यपि ज्ञान का कोई ऐसा व्यस्थित विभाजन नहीं प्रस्तुत किया जैसा कि शिवादित्य ने 'सप्तपदार्थी' में या अन्नंभट्ट ने 'तर्कसंग्रह' में प्रस्तुत किया है। परन्तु ज्ञान के वर्गीकरण के विषय में जयन्त का विश्लेषण व्यवस्थित न होते हुये भी नवीनतम और सर्वाङ्गपूर्ण है। पूरी 'न्याय-मञ्जरी' का अध्ययन यह सकेत देता है कि जयन्त को ज्ञान का जो वर्गीकरण अभीष्ट था, उसका यह स्वरूप होगा—

१, तर्क संग्रह, पृ० २१

२. प्रमाणप्रमेयसंशपप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वा - भासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।—न्या०सू० १।१।१

३. किं पुनस्तत्त्वम् ? सतश्च सद्भावः असतश्चासद्भावः। —न्या० म० पृ० ४



ज्ञान के वर्गीकरण में आंशिक भिन्नता प्राच्य और नव्य-न्याय के सभी विचारकों के मतों में दृष्टिगत होती है, लेकिन सभी नैयायिकों के मत में सब प्रकार के ज्ञान बुद्धि में ही अन्तर्भूत होते हैं। जहाँ तक यथार्थानुभव रूप प्रमा का प्रश्न है, इसके विभाजन के विषय में सभी नैयायिकों में ऐकमत्य है और उसका आधार है—कारण-भेद। प्रमा चूंकि चार प्रकार के कारणों से उत्पन्न होती है, इसलिये इसके चार ही भेद सभी नैयायिकों को अभिमत हैं।[1] इस प्रकार यदि हम यथार्थ और अयथार्थ दो कोटियों का ज्ञान स्वीकार करें तो संशय, विपर्यय, तर्क, स्मृति, स्वाप्नज्ञान, कल्पना आदि सब ज्ञान अयथार्थ कोटि में परिगणित होंगे और यथार्थ ज्ञान चार प्रकार के प्रमाणों से उत्पन्न होने के कारण चार प्रकार का होता है। जयन्त को स्वीकार्य शब्द-समीक्षा से पूर्व प्रमाण लक्षण और शब्देतर-प्रमाणों के स्वरूप का संक्षिप्त अध्ययन करना अपेक्षित है। अतः शब्द-समीक्षा के पूर्व प्रस्तुत अध्याय में इन तथ्यों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

प्रमाण-लक्षण

न्यायशास्त्र में विचारित षोडश पदार्थों में प्रथम प्रमाण पदार्थ है। प्रमाण का लक्षण भाष्यकार ने व्युत्पत्ति के द्वारा प्रस्तुत किया है। प्रमाण शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक मा धातु से करणे ल्युट् प्रत्यय लगने पर बनता है जिसका अर्थ होता है—उपलब्धि का साधन अर्थात् प्रमाण वह साधन है जिसके द्वारा उपलब्धि (सम्यग्ज्ञान) हो।[2] उपलब्धि का तात्पर्य प्रमा है और प्रमा का जो करण अर्थात् सातिशय

1. सप्तपदार्थी, पृ० २७, (मद्रास, १९३२)
2. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम्।
—न्या० भा०, पृ० १६

कारण हो, वह प्रमाण होता है।[1] प्रमाण, प्रमाता, प्रमिति तथा प्रमेय—इन चार तत्त्वों में से प्रमाता प्रमेय (अर्थ) की प्रमिति जिस साधन से प्राप्त करता है उसे प्रमाण कहते हैं। न्याय-मञ्जरीकार ने उस सामग्री को प्रमाण कहा है जो किसी अर्थ की अव्यभिचारिणी (भ्रमरहित), असंदिग्ध (संशयरहित) उपलब्धि करावे। यह सामग्री बोध भी हो सकती है और बोधेतर भी।[2] प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ - सन्निकर्ष आदि की कारणता अबोध स्वभाव की है, जबकि अनुमिति, उपमिति और शाब्द प्रमाओं के प्रसङ्ग में इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ - सन्निकर्ष वर्जित लिङ्गदर्शन, सादृश्यज्ञान और पद ज्ञान आदि सब बोध स्वभाव के हैं। बोध या अबोध स्वभाव वाला होना प्रमाण का स्वरूप है और अव्यभिचारिणी, असंदिग्ध, अर्थोपलब्धि प्रमा का स्वरूप है, जो प्रमाण का फल होती है। इस प्रमा का साधन होना ही प्रमाण का लक्षण है अतः यह लक्षण भी समाख्या समर्थित है।

जयन्त-भट्ट का सामग्री-प्रमाणवाद :

जयन्त-भट्ट के प्रमाण-लक्षण और प्रमाण की अवधारणा का शेष नैयायिकों की अवधारणा से यह भेद है कि जयन्त किसी कारण विशेष अर्थात् सातिशय कारण बनने वाले करण कारक मात्र को प्रमाण न मानकर समस्त सामग्री का प्रमा के प्रति करणत्व होने के कारण प्रमाण माना है। जिस तरह साधकतम होने से करण कारक प्रमाण होता है, उसी प्रकार सामग्री का भी प्रमाणत्व होता है।[3] कार्यभूत प्रमा के प्रति जितने भी कारण उपादेय हैं—वे सब मिलकर कारण, सामग्री कहलाते हैं और यही सामग्री प्रमा की उत्पत्ति में साधन होने से प्रमाण है। ऐसा जयन्त ने इसलिये स्वीकार किया है क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि कारण सामग्री में आने वाले कारकों में से केवल करण ही परिगणित होता हो, अपितु सामग्री तो कर्त्ता, कर्म, करण यदि कारकों का समुदित स्वरूप होती है। कार्यजनन-रूप अतिशयत्व केवल सामग्री में होता है न कि करणकारक मात्र में। अतः करण

---

१. प्रमाकरणं प्रमाणम्। तत्र च प्रमाणं लक्ष्यं प्रमाकरणं लक्षणम्।

—तर्कभाषा, पृ० १

२. अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणं, बोधाबोधस्वभावो हि तस्य स्वरूपम्, अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धि-साधनत्वं लक्षणम्।

—न्या० म० भाग १, पृ० १२

३. यत एव साधकतमं करणं करणसाधनश्च प्रमाण शब्द तत एव सामग्र्याः प्रमाणत्वं युक्तम्।

—न्या० म० भाग १, पृ० १२

कारक मात्र प्रमाण न होकर समस्त सामग्री प्रमाण है। प्रमाण शब्द करणार्थक है और प्रमा कहते हैं साधकतम को। साधकतम में लगा हुआ तमप् प्रत्यय सातिशयत्व द्योतित करता है और सातिशयत्व प्रदर्शित करने के लिये अन्य साधकों की आवश्यकता है। जब सामग्री का साधकत्व मान लिया गया तो सामग्री से भिन्न वस्तु का अभाव होगा, क्योंकि प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय सब सामग्री में ही परिगणित हो जायेंगे। अतः ऐसी स्थिति में किसी का अतिशयत्व सम्भव नहीं है। एक समस्या यह भी होगी कि सामग्री का प्रमाणत्व होगा किस विषय में? प्रमीयमाण कर्मभूत प्रमेय तो सामग्री में सङ्गृहीत हो गया, इसलिये सामग्री के करण मान लेने पर उक्त प्रमेय का भी करणत्व हो जायेगा और तब जो प्रमा होगी, उसका कोई आलम्बन नहीं होगा। इसलिये सभी प्रमितियाँ निराधार हो जायेंगी। इसी तरह प्रमाता भी सामग्री में परिगणित होगा और तब कौन सामग्रीभूत प्रमाण के द्वारा प्रमेय का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करेगा? और इस तरह प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति ये चार विधायें जो भाष्यकार के द्वारा अर्थज्ञान के लिये आवश्यक कही गयी है,[१] जयन्त की परिभाषा से बाधित हो जायेगी। लोक भी इस प्रकार का व्यवहार नहीं करता 'मैं सामग्री से देखता' हूँ, अपितु लोक प्रयोग तो होता है 'चक्षुरिन्द्रिय से देखता हूँ।' इसलिये सामग्री कारणवाद दोषपूर्ण हो सकता है।

चूँकि साधकतम करण होता है और प्रमाण शब्द करण साधन वाला है। इसलिये सामग्री का प्रमाणत्व उचित है, क्योंकि सामग्री के अतिरिक्त प्रत्येक कारक में कहीं भी तमप् के आतिशय्य अर्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती। जिसके होने पर कार्य हो, जिसके न होने पर कार्य न हो, वह साधकतम होता है। अनेक कारकों के समुदित होने पर भी कार्य उत्पन्न नहीं होता, परन्तु सभी कारकों के समुदित होने पर ही कार्य उत्पन्न होता है।[२] इसलिये कारक समूह का अपरपर्याय सामग्री ही करण है, यह उपपन्न है। प्रत्येक कारक प्रमा के प्रति कारण हो सकता है, परन्तु करण तो सामग्री ही है, अतः सामग्री ही प्रमाण होगी। कार्योत्पत्ति में अतिशय किसी एक कारक को नहीं दिया जाता, अपितु सभी कारकों के एक साथ

---

१. तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता, स येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्, योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयम्, यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः। चतसृषु चैवंविधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते। —न्या० भा० पृ० ४

२. अनेककारकसन्निधाने कार्यं घटमानमन्यतरव्यपगमे च विघटमानम्।
—न्या० म० भाग १, पृ० १२

समुदित होने पर कार्योत्पत्ति होने के कारण अतिशयत्व भी सामग्री का ही होता है किसी कारक विशेष का नहीं ।[1]

अतिशय का स्वरूप और सामग्री का सातिशयत्व :

यदि सहसा ही कार्य का उत्पन्न होना अतिशय है तो वह करण की तरह कभी कार्य में भी सम्भव है—जैसे वर्षाकालिक काली अँधेरी रात में अचानक बिजली के चमक जाने से कामिनी ज्ञान की उत्पत्ति के प्रति कामिनी का ज्ञान सातिशय हो जायेगा,[2] या प्रत्यक्ष हेतु सभी कारकों के समुपस्थित रहते हुये भी कर्म कामिनी के अभाव में उसका प्रत्यक्ष नहीं होता और उसके आ जाते ही हो जाता है, अतः यहाँ कामिनी कर्मकारक होती हुई भी सातिशय होती है इसलिये कर्ता और कर्म के ये दोनों उदाहरण सातिशय होने से करण हो जायेंगे । इसलिये इस आक्षेप से केवल तभी बचा जा सकता है जब कि अतिशय का स्वरूप केवल यह माना जाय कि अतिशयत्व केवल उसी का स्वीकरणीय है जो कार्य की उत्पत्ति का अविनाभावी हो, वह कार्यजनकत्व रूप अतिशय सामग्री के अन्तर्गत परिगणित कारकों में से किसी एक कारक में कदापि सम्भव नहीं है, जबकि सामग्री में कार्य-जनकत्व रूप अतिशय वर्तमान है, क्योंकि यदि सामग्री सन्निहित होगी तो कार्य-जनन होगा ही ।[3] इसलिये सामग्री ही अतिशय वाली होगी । इसलिये सामग्री ही प्रमाण होगी ।

इस पर यह शंका हो सकती है कि तब तो प्रमिति की दशा में प्रमुख भूमिका निभाने वाले प्रमाता और प्रमेय भी कार्य (प्रमिति) से अविनाभावी होने से अतिशय होंगे । प्रमाता का प्रमातृत्व और प्रमेय का प्रमेयत्व प्रमा रूप कार्यजनन के लिये ही है; अतः यह प्रमेय, प्रमाता भी सातिशय होने के कारण करण होकर प्रमाण हो जायेंगे और तब बड़ी अव्यवस्था हो जायेगी । जयन्त का उत्तर

---

१. कस्मै अतिशयं प्रयच्छेत्, न चातिशयः कार्यजन्मनि कस्यचिदवधार्यते, सर्वेषां तत्र व्याप्रियमाणत्वात् । न्या० म० भाग १, पृ० १२

२. अविरलजलधरधाराप्रबन्धबद्धान्धकारनिवहे बहुलनिशीथे सहसैव स्फुरता विद्युल्लतालोकेन कामिनीज्ञानमादधानेन तज्जन्मनि सातिशयत्वमवाप्यते ।
—न्या० म० भाग १, पृ० १२-१३

३. फलोत्पादाविनाभाविस्वभावत्वमवश्यतया कार्यजनकत्वमतिशयः, स च सामग्र्यन्तर्गतस्य कस्यचिदेकस्य कारकस्य कथयितुं पार्यते, सामग्र्यास्तु सोऽतिशयः सुवचः, सन्निहिता चेत्सामग्री सम्पन्नमेव फलमिति सैवातिशयवती ।
—वही, पृ० १३

है कि प्रमाता और प्रमेय के स्वरूप लाभ का मुख्य प्रयोजन कार्यजनन नहीं है वरन् यह प्रयोजन है—सामग्री की सामर्थ्य से प्राप्त प्रमा का सम्बन्ध-निबन्धनत्व। प्रमाता पद का अर्थ है प्रमिति का आश्रय होना। जब प्रमिति ही उत्पन्न नहीं हुई रहेगी, तब प्रमिति का आश्रयत्व स्वतः सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में पहले के आश्रयत्व के कारण भूतपूर्व गत्या गौणरूपेण प्रमातृत्व कहा जा सकता है। जैसे भोजन न पकाता हुआ भी देवदत्त पाचक कहा जाता है। सामग्री सन्निधान होने पर प्रमिति के अभाव में इस प्रकार का प्रमातृ-प्रमेय व्यवहार गौण होगा।[1] इस प्रकार सामग्री के बिना यदि प्रमिति की कल्पना की जाय तो व्यभिचार दोष होगा, परन्तु सामग्री की सन्निधि में प्रमिति का व्यभिचार न होगा, इसलिये सामग्री का ही सातिशयत्व है और सामग्री ही प्रमाण होगी।

जो यह कहा गया है कि सामग्री का करणत्व किसकी अपेक्षा से है—क्योंकि अपेक्षितत्व असम्भव होगा, वह भी ठीक नहीं। सामग्री के अन्तर्गत परिगणित कारकों की अपेक्षा के सामग्री का करणत्व है। समुदित सामग्री कारकों के स्वरूप की विरोधिनी नहीं होगी, कारकों का समुदाय विशेष ही सामग्री है। समुदायियों से भिन्न समुदाय की स्वतन्त्र निरपेक्ष सत्ता नहीं है अपितु तन्तुओं में समवेत पट की तरह समुदायियों में समवेत रहने वाला समुदायियों में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध से रहता हुआ उनके स्वरूप को नष्ट नहीं करता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सामग्री कारकों से भिन्न है या अभिन्न? क्योंकि यदि भिन्न है तो उसकी कारकों से पृथक् उपलब्धि क्यों नहीं होती और यदि अभिन्न है तो सामग्री के करण होने से सभी कारक फिर करण ही हो जायेंगे और तब कर्त्ता, कर्म आदि का व्यवहार निरर्थक हो जायेगा। इस विषय में जयन्त का उत्तर है कि समुदाय और समुदायियों अर्थात् सामग्री और कारकों का भेद तो है ही, क्योंकि कारकों के समुदाय की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। यदि सामग्री और कारकों का भेद पट और तन्तु के भेद की तरह होता तो उक्त दोष हो भी सकता था, परन्तु यहाँ वैसी स्थिति नहीं है। यहाँ अनेक सैनिकों में सेना या अनेक वृक्षों में वन की प्रतीति और तद्गत भेद की तरह का भेद वर्तमान है। उसी तरह से प्रत्येक की विवक्षा से कर्तृ, कर्म आदि कारकों की प्रतीति होती है और प्रमिति में भी इसका केवल कारकत्व है। समुदाय की अपेक्षा से इनमें सामग्री का बोध

१. साकल्यप्रसादलब्धप्रमितिसम्बन्धनिबन्धनः प्रमातृप्रमेययोर्मुख्यस्वरूपलाभः साकल्यापचये प्रमित्यभावाद् गौणे प्रमातृप्रमेये सम्पद्येते, एवञ्च साकल्यमन्तरेण प्रमितितमबर्थायोगात्तदेव करणम्। वही, पृ० १३

होता है जो प्रमिति का करण है अतएव प्रमाण है। इसलिये यह भी नहीं सोचना चाहिये कि यह सामग्री किस प्रमेय के विषय में करण होगी, क्योंकि समुदायियों के सामग्री की अवस्था में होने पर भी उनके अपने स्वरूप में कोई व्यवधान न आने से किसी समुदायी (कारक) विशेष (यथा कर्मकारक या प्रमेय) में सामग्री करण हो जायेगी और तब प्रमितियाँ निरालम्बन भी नहीं होंगी।[१]

इसी प्रकार कारकों की स्वरूप हानि न होने से प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति—यह विधा-चतुष्टय भी सङ्गत होगा।

लोक-प्रयोग को प्रमाण मानकर सामग्री में करणत्व के प्रयोग के अभाव सम्बन्धी आक्षेप के विषय में जयन्त का कहना है कि चूँकि सामग्री समूह का नाम है अतएव समूह से भिन्न सामग्री का किसी अन्य रूप में व्यवहार नहीं होता। तदतिरिक्त सामग्री नामक किसी अन्य पदार्थ का अभाव होने से 'मैं सामग्री से देखता हूँ', इस प्रकार का व्यपदेश लोक नहीं करता।[२] यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि तब सामग्री में से प्रत्येक कारण की करणता होने से जिस तरह 'चक्षुसे देखता हूँ' का व्यपदेश होता है वैसे ही 'घट से देखता हूँ', का प्रयोग भी होना चाहिये। तमप् का अर्थ है कार्यजनन का अविनाभावित्व रूप अतिशय। इस अतिशय का सीधा सम्बन्ध दीप या चक्षुरिन्द्रिय से होता है इसलिये 'दीपक से देखता हूँ' 'चक्षुरिन्द्रिय से देखता हूँ' ऐसा ही व्यपदेश लोक प्रचलित है।[३] करणस्वभाव वाली सामग्री ही अपने अन्तर्गत वर्तमान कारकों की अपेक्षा से प्रमाण कही जायेगी।[४]

---

१. समुदायिनां सामग्र्यवस्थायामपि स्वरूपानपायात् समुदायिविशेषे कर्मणि सामग्री करणम्, अतएव न प्रमितेर्निरालम्बनत्वम्। एतेन प्रमाता पृथगुपदर्शित इति विधाचतुष्टयमपि समाहितम्। —न्या० म० भाग १, पृ० १३

२. द्रष्टव्य—संहन्यमानहानेन संहतेरनुपग्रहात्।
सामग्र्यापश्यतीत्येवं व्यपदेशो न दृश्यते॥

स्याद्वादरत्नाकर पृ० ६२-६४ में जयन्तभट्ट का यह श्लोक छः अन्य श्लोकों के साथ उद्धृत हैं। परन्तु मुद्रित न्यायमञ्जरी में ये श्लोक उपलब्ध नहीं हैं। प्रस्तुत श्लोक उन सात में से चौथा है।

३. यस्तु दीपेन्द्रियाणां तृतीयानिर्देशः स फलोपजननाविनाभाविस्वभावत्वाख्य-सामग्रीसरूपसमारोपणनिबन्धनः। —वही, पृ० १३

४. अन्तर्गतकारकपेक्षया लब्धकरणभावा सामग्री प्रमाणम्। —वही, पृ० १३

प्रकारान्तर से करण-स्वरूप का निरूपण :

इस सामग्री - प्रमाणवाद को इस तरह भी समझा जा सकता है। कारकों के समूह को सामग्री कहते हैं। इन समुदायी कारकों के दो रूप हैं। अलग-अलग रहने पर यही कर्मादि कारक कहे जाते हैं और समुदित होते हुये प्रमाण बनते हैं। कर्त्ता, कर्म आदि से व्यतिरिक्त उस कारक को करण कहते हैं जो अव्यभिचारी, असन्दिग्ध अर्थोलब्धि का जनक हो।[1] उसी करण के लिये 'दीप से देखता हूँ' 'चक्षुरिन्द्रिय से देखता हूँ', 'लिङ्ग से जानता हूँ', 'शब्द से जानता हूँ' जैसे तृतीया व्यपदेश होते हैं। ज्ञान क्रिया के प्रति केवल कर्त्ता, कर्म और करण—तीन ही कारकों को सामग्री के अन्दर परिगणित किया जाता है। परन्तु पाकादि क्रियाओं के प्रति धारणादि उपकार भेद को दृष्टि में रखते हुये क्रिया के आश्रयभूत अधिकरण आदि कारकान्तर भी सामग्री में सङ्गृहीत होते हैं।[2] प्रमिति में मनस्, दीप, चक्षुष् आदि में कोई भेदकतत्त्व नहीं है, अतः सभी का करणत्व स्वीकार्य है।

इन मनस्, दीप और चक्षुष् आदि में तमप का वाच्यार्थ कौन सा होगा? कर्त्ता, कर्म कारकों से भिन्न कारक होने के कारण, करण की सजातीय वस्तु की अपेक्षा से और तमप् के अर्थ के उपादनीय होने से इन तीन में से तमप् का अर्थ कौन सा होगा—मनस्, दीप या चक्षुष्। अनुभव मात्र को साक्षी मामने वाला यह लोक भूल करके भी 'मैं मेरे द्वारा जानता हूँ' या 'घट घट के द्वारा जानता हूँ' इस प्रकार कर्त्ता, कर्म को उपेक्षित करके करण रूप में व्यपदेश नहीं करता। इसका तात्पर्य हुआ कि लोक कर्तृकर्मवैलेक्षण्य केवल चक्षुरादिकों में ही उपपन्न पाता है। यह विलक्षणता ही इनका अतिशय है[3] और इस नय से विधाचतुष्टयी भी सङ्गत होती है। इसलिये कर्तृ, कर्म आदि कारकों से विलक्षण, संशय-विपर्यय आदि अयथार्थ ज्ञान से रहित अर्थ-बोध को उत्पन्न करने वाली बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाण है—यह सिद्ध हुआ।[4]

---

१. कर्तृकर्मव्यतिरिक्तमव्यभिचारादिविशेषकार्थप्रमाजनकं कारकं करणमुच्यते।
—न्या० म० भाग १, पृ० १४

२. ननु त्रीण्येव कारकाणि अस्मिन् पक्षे भवेयुः ज्ञानक्रियायां तावदेवमेवैतद्यथा भवानाह, पाकादि क्रियासु……… भवत्वधिकरणादिकारकान्तरव्यवहारः।
—वही, पृ० १४

३. तद्वैलक्षण्यमेव च तेषामतिशयः।
—वही पृ० १४

४. तस्मात् कर्तृकर्मविलक्षणा संशयविपर्ययरहितार्थबोधविधायिनी बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणमिति युक्तम्।
—वही, पृ० १४

न्यायेतर शास्त्रों में स्वीकृत प्रमाण-लक्षणों की जयन्त-कृत आलोचना :

अपना प्रमाण-लक्षण प्रस्तुत कर जयन्त मुख्यतः बौद्धों, मीमांसकों और सांख्यों को अभिमत प्रमाण-लक्षण प्रस्तुत करते हुये उचित तर्कों द्वारा इन सब मतों का प्रतिवाद प्रस्तुत करते हैं।

बौद्ध लोग केवल ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं, ज्ञानेतर इन्द्रियादि को प्रमाण नहीं मानते। धर्मकीर्त्ति के मत में अविसंवादक अर्थात् अनुभव से बाधित न होने वाला ज्ञान प्रमाण है।[1] पुनश्च बौद्ध लोग प्रमाण शब्द को प्रमाकरण न मानकर प्रमाण शब्द का प्रयोग सर्वत्र प्रमा के पर्याय के रूप में करते हैं।[2] अविसंवादकत्व चूँकि केवल प्रत्यक्ष एवं अनुमान में सम्भव है इसलिये बौद्ध मान्यता में प्रत्यक्ष एवं अनुमान—दो ही प्रमाण स्वीकृत हैं।[3] जयन्त का प्रतिवाद यह है कि ज्ञान या बोध तो प्रमा का फल होता है, वह प्रमाण कैसे हो सकता है।[4] बौद्ध सम्मत प्रमाण लक्षण की चरितार्थता केवल प्रमा के स्वरूप से है। अविसवादक ज्ञान प्रमाण का फल हो सकता है, परन्तु प्रमाण कदापि नहीं हो सकता। प्रमाण-जन्य प्रमा में ही मन्दबुद्धि बौद्धों ने प्रमाण का व्यपदेश किया है। प्रमाण और प्रमा के मध्य साधनसाध्यभाव रूप भेदनियामकत्व न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा सांख्य दर्शन में स्वीकृत है[5] अतएव इस नियामकता की उपेक्षा कैसे की जा सकती है।

बौद्धों की तरह मीमांसक भी बोध को ही प्रमाण मानते हैं। किन्तु मीमांसक प्रमा और प्रमाण में भेद मानते हैं। इनके मत में प्रमा है 'ज्ञातता' या

---

१. (क) प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्। प्र० वा० पृ० ३
(ख) अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। —न्या० बि० टी०, पृ० १०
(ग) ज्ञानं प्रमाणं, नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादि। —प्र० वा० मनो०, पृ० ३

२. द्रष्टव्य—(क) प्र० वा० मनो० पृ० ३ (ख) न्या० बि० टी०, पृ० १०

३. अत एव एते नियतस्यार्थस्य प्रदर्शके। तेन ते प्रमाणे। नान्यद् विज्ञानम्। —न्या० बि० टी०, पृ० १२

४. न्या० म० भाग १, पृ० १४

५. (क) उपलब्धिहेतुं च प्रमाणं वदता...........हेतुग्रहणेन च सारूप्यशक्त्योः फलादभिन्नयोरपाकरणाद् हेतुहेतुमद्भावस्य तादात्म्येऽनुपपत्तिरिति। —न्या० वा० ता० टी०, पृ० २१
(ख) आत्मेन्द्रियार्थमनोऽर्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत्। —वै० सू० ३।१।१३
(ग) श्लो० वा०, प्रत्यक्ष सूत्र, श्लोक संख्या ७४-७५।

'दृष्टता'। चूंकि यह ज्ञातता रूप प्रमा बोध जन्य है इसलिये प्रमा का करण भी बोध ही होता है और वही प्रमाण होता है। ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति द्वारा या ज्ञातता-लिङ्गक अनुमान द्वारा यह अनुमिति होती है कि ज्ञातता किसी ज्ञान का फल है। ज्ञेय अर्थ में ज्ञाता का जो व्यापार है, वही ज्ञान शब्द से कहा जाता है। शबर-स्वामी के मत में ज्ञान एक क्रिया है और क्रिया का सदा फल से अनुमान किया जाता है, ज्ञानरूप चेतन क्रिया का ज्ञातता फल से अनुमान होता है।[1] कुमारिल यह मानते हैं कि हम ज्ञातता के द्वारा प्रमाण का ज्ञान अनुमान से नहीं वरन् अर्थापत्ति प्रमाण से करते हैं।[2] शालिकनाथ के अनुसार जो ज्ञान कारण के दोषों से रहित हो, तथा पूर्व में गृहीतवस्तु के ज्ञान से भिन्न हो, वह प्रमाण है।[3] जयन्त ने मीमांसकाभिमत इस बात का खण्डन किया है कि ज्ञान एक क्रिया है। यह ज्ञान न तो क्रिया है और न ही यह नित्य और परोक्ष हो सकता है।[4] ज्ञान तो फल है। कारकों के द्वारा फल ही निष्पन्न होता है, क्रिया नहीं। कारकों और फल के मध्य अप्रामाणिक क्रिया को स्वीकार करना उचित नहीं है। जिस ज्ञातता को लिङ्ग मानकर प्रमा रूप क्रिया का अनुमान किया जाता है, वह ज्ञातता ही विषय रूप में उपलब्ध नहीं होती, न ही इसका प्रत्यक्ष होता है; जबकि अनुमान में लिङ्ग का प्रत्यक्ष आवश्यक होता है। कुमारिल की मान्यता के विरुद्ध जयन्त का आक्षेप है कि अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ज्ञान की उपलब्धि मानने का कोई अवकाश नहीं है, क्योंकि ज्ञान के ठीक बाद अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान का ज्ञान होता है, अर्थापत्ति द्वारा नहीं।

सांख्य दर्शन में बुद्धि वृत्ति को प्रमाण माना गया है। बुद्धिवृत्ति का प्रति-संवेदी पुरुष को होने वाला पौरुष बोध इस प्रमाण का फल या प्रमा है।[5] जयन्त का इसके विरुद्ध आक्षेप है कि अचेतन बुद्धि को ज्ञान होना सम्भव नहीं है। दूसरा दोष अधिष्ठान-भेद का है। अर्थदर्शन पुरुष को होता है और अध्यवसाय बुद्धि

---

१. न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति।

—शाबरभाष्य १।१।५, पृ० ३९

२. नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टस्सन्नुपपद्यते।
ज्ञानं चेन्नेत्यतः पश्चात् प्रमाणमुपकल्प्यते ॥—श्लोक वा०, शून्यवाद, १८२।

३. प्रक० पञ्चि० पृ० ४२ पंक्ति १५

४. न्या० म० भाग १, पृ० १६ पंक्ति १९-२०

५. तच्च असंदिग्धार्थाविरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। बोधः च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणम्। सां० त० कौ० पृ० ७२

करती है। पुरुष में अध्यवसाय का अभाव है और प्रकृति में अर्थदर्शन असम्भव है।[1] साथ ही प्रकृति में पुरुष की चेतना का व्यपदेश और पुरुष में बुद्धि के अध्यवसाय का व्यपदेश काल्पनिक है, वास्तविक नहीं।

प्रमाण-लक्षण का उपसंहार :

सभी विरोधी सम्प्रदायों को अभिमत प्रमाण-लक्षणों को निराकृत करके जयन्त ने अपने सिद्धान्त की स्थापना की। संशय विपर्ययादि रहित यथार्थ प्रमा का करणभूत इन्द्रिय, अर्थ, आत्मा, मनस् और इनके सन्निकर्ष आदि सब कारण सामग्री को प्रमाण कहा गया है। जयन्त की एक और गवेषणा यह है कि प्रत्यक्ष-लक्षण[2] के कुछ विशेषणों को प्रमाण सामान्य के लक्षण में अध्याहृत समझा जाना चाहिये।[3] स्मृति, संशय, विपर्यय के जनकत्व के व्यवच्छेद के लिये प्रत्यक्षसूत्र से 'अर्थोत्पन्नम्' 'अव्यभिचारि' 'व्यवसायात्मकम्' का ग्रहण कर लेना चाहिये। फल विशेषण वाले अर्थोत्पन्न पद से स्मृतिजनक का, अव्यभिचारि पद से विपर्ययजनक का और व्यवसायात्मक पद से संशयजनक का प्रमाण से निरास हो जाता है। प्रमाण का प्रमाकरणत्व तो समाख्या-निर्वचन-सामर्थ्य से ही सिद्ध है। परन्तु प्रमा और प्रमाण के मध्य साध्य-साधनभाव के ग्रहण के लिये जयन्त ने उपमान लक्षक सूत्र[4] की ओर संकेत किया है। उपमान सूत्र से 'साध्यसाधनम्' पद का ग्रहण प्रमाण-सामान्य के लक्षण में कर लिया जाना चाहिये।[5] इस प्रकार अर्थ विषयक असंदिग्ध और अव्यभिचारी ज्ञान जिस साधन सामग्री से उत्पन्न होता है, वह सामग्री प्रमाण है।

प्रमाण-विभाग :

सूत्रकार ने चार प्रमाणों का उद्देश किया है। यद्यपि प्रमाण विभाग सूत्र में प्रमाणों की संख्या को द्योतित करने के लिये कोई संख्या वाचक पद नहीं

---

१. द्रष्टव्य—न्या० म० भाग १, पृ० २६

२. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। —न्या० सू० १।१।४

३. स्मृतिसंशयविपर्ययजनकव्यवच्छेदाय प्रत्यक्षसूत्रादर्थोत्पन्नमित्यव्यभिचारीति व्यवसायात्मकमिति च पदत्रयमाकृष्यते, तद्धि प्रमाणचतुष्टयसाधारणम्। न्या० म० भाग १, पृ० २५

४. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्। —न्या० सू० १।१।६

५. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानमिति च मध्ये साध्यसाधनग्रहणमुपाददानः सूत्रकारः सर्वप्रमाणसाधारणं रूपमिदं परिभाषते। —न्या० म० भाग १, पृ० २५

है,[१] फिर भी प्रमाण चार ही माने जाते हैं, क्योंकि सूत्रकार ने चार ही प्रमाणों का उद्देश किया है। जिस प्रकार से 'तीन गर्गों को भोजन कराओ' में तीन की वाचक संख्या का ग्रहण होने से संख्या निश्चित होती है, उसी प्रकार 'देवदत्त और यज्ञदत्त को बुलाओ' में बिना संख्या वाचक शब्द के ग्रहण के ही शब्दशक्ति के बल पर दो की संख्या का परिनिश्चय हो जाता है। इसी प्रकार प्रमाण-विभाग सूत्र में बिना चार की संख्या के ग्रहण के ही शब्दशक्ति की सामर्थ्य से चार की संख्या का ग्रहण हो जाता है। फिर स्वल्प अक्षरों वाले सूत्रों से विस्तृततम अर्थ का ज्ञान कराना ही सूत्र शैली की सफलता का द्योतक है, अतः ऐसे प्रसङ्गों में सूत्रकार को अधिकाधिक लाघव अभीष्ट होता है।[२]

प्रमाण-संख्या :

नैयायिकों को चार ही प्रमाण अभीष्ट हैं। परन्तु प्रमाण-लक्षण विषयक वैलक्षण्य की तरह विभिन्न दर्शनों में स्वीकृत प्रमाण-संख्या में भी मतभेद है।[३] यह संख्या एक से लेकर नौ तक है। मानसोल्लास में प्रमाणों के इस वैलक्षण्य को एकत्र करने का प्रयास किया गया है--

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतो पुनः।
अनुमानञ्च तच्चापि सांख्याः शब्दश्च तेऽपि च॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानञ्च केचन।
अर्थापत्तया सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टाः वेदान्तिनस्तथा।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण स्वीकार करते हैं।[४] वैशेषिकों को प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मान्य हैं।[५] ये ही दो प्रमाण बौद्धों को अभीष्ट हैं।[६] जैन

---

१. न संख्यावचनः शब्दः श्रूयते, नापि प्रत्यक्षादीन्येवेत्यवधारणश्रुतिरस्ति, तत्कुत इयत्तावगमः, शब्दशक्तिस्वभावादिति ब्रूमः। --न्या० म० भाग १, पृ० २५

२. अनेकार्थसूचनादेव सूत्रमुच्यते, एतदेवसूत्रकाराणां परं कौशलं यदेकेनैव वाक्येन स्वल्पैरेवाक्षरैरनेकवस्तुसमर्पणम्। --वही, पृ० २६

३. द्रष्टव्य--वही, पृ० २६

४. द्रष्टव्य--सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, ५।३३

५. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकाः। --न्या० म० भाग १, पृ० २६

६. प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति। --न्या० बि० १।३

दार्शनिक भी प्रमाणों का समावेश प्रत्यक्ष और परोक्ष नाम के दो प्रमाणों में करते हैं।[1] सांख्यदार्शनिक प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द से सभी प्रमाणों को सिद्ध करते हैं[2] तथा योगसूत्रकार पतञ्जलि का भी यही मन्तव्य है।[3] प्रसिद्ध कश्मीरी नैयायिक भासर्वज्ञ भी इन्हीं तीन प्रमाणों को स्वीकृति प्रदान करते हैं।[4] अक्षपाद और उनके सभी व्याख्याकार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण स्वीकार करते हैं।[5] मीमांसासूत्रकार जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों में तीन प्रमाण स्वीकृत किया है, परन्तु उनके टीकाकार प्रभाकर ने 'बृहती' में नैयायिकाभिमत चार प्रमाणों सहित अर्थापत्ति को भी प्रमाण स्वीकार किया है।[6] मीमांसकों के भाट्ट-सम्प्रदाय विशेषत: कुमारिल ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव—ये छः प्रमाण स्वीकृत किया है।[7] 'श्लोकवार्त्तिक' के टीकाकार पार्थसारथि ने भी छः ही प्रमाण स्वीकृत किया है।[8] भाट्ट-मीमांसकों को अभिमत छहों प्रमाण अद्वैत वेदान्तियों को व्यवहार में अभिमत हैं।[9] पौराणिक सम्भव और ऐतिह्य के साथ उक्त प्रमाण-षट्क स्वीकार करते हैं—ऐसा विभिन्न वादियों द्वारा परस्वीकृत प्रमाण खण्डनों को देखने से स्पष्ट होता है। माध्ववेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन ही प्रमाण मानते हैं।[10] रामानुज और उनके अनु-

---

१. द्रष्टव्य—प्रमाण-मीमांसा।

२. (क) दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। —सां० का० ४

(ख) सर्वैः प्रमाणैः प्रमातृभिः पतञ्जलिप्रभृतिभिः सिद्धत्वात् प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानीति स्वीकृतत्वादुपमानादिकं तु न, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
—सां० चन्द्रिका

३. प्रत्यक्षानुमानागमा प्रमाणानि। —यो० सू० १।७

४. त्रिविधं प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानमागमः इति। —न्या० भू०, पृ० १०२

५. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। —न्या० सू० १।१।३

६. द्रष्टव्यः शाबर भाष्य १।१।५ पर बृहती एवं प्रकरण-पञ्चिका।

७. (क) श्लोक वा० प्रत्यक्ष परिच्छेद से अभाव परिच्छेद तक।
(ख) श्लोक वा० पर न्यायरत्नाकर पृ० ५८ से ३४६ तक।

८. तस्मात् षडेव प्रमाणानि न न्यूनानि नाधिकानि वेति।—न्यायरत्नाकर

९. तानि च प्रमाणानि षट् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदात्।
—वे० परि० प्रत्यक्ष परिच्छेद पृ० २०

१०. T. P. Ramchandran, Philosophy of Dvait Vedanta.

याथियों ने भी उक्त तीन प्रमाण माना है ।[१] तान्त्रिकों ने उक्त आठ प्रमाणों के अतिरिक्त चेष्टा नाम का एक अतिरिक्त प्रमाण स्वीकार किया है ।

प्रमाण-संख्या की तालिका :

क्रम संख्या	प्रमाण संख्या	सम्प्रदाय	प्रमाण नाम
१.	१	चार्वाक	प्रत्यक्ष
२.	२	१. वैशेषिक २. बौद्ध	प्रत्यक्ष, अनुमान
३.	३	१. सांख्य २. याग ३. माध्व वेदान्त ४. रामानुज वेदान्त ५. न्यायैकदेशी (भासर्वज्ञ)	प्रत्यक्ष अनुमान आगम
४.	४	न्याय	प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द
५.	५	प्रभाकर मीमांसक	प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति
६.	६	१. भाट्ट मीमांसक २. अद्वैत वेदान्त	प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि
७.	८	पौराणिक	प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य
८	९	तान्त्रिक	प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य , चेष्टा,

१. (क) द्रष्टव्य—श्रीतत्त्वमुक्ताकलाप में बुद्धिसरः परिच्छेद ।

(ख) A critical study of the Philosophy of Ramanuj, Anima-dasgupta—Page 20.

प्रमाण सम्प्लव और प्रमाण व्यवस्था :

प्रमाण विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंश है, प्रमाण संप्लव और प्रमाण-व्यवस्था का विचार। इसका तात्पर्य है—प्रमेयों के आधार पर यह निर्धारित करना कि प्रमेय के स्वरूप के अनुरूप प्रमाणों की व्यवस्था है या प्रति प्रमेय का प्रत्येक प्रमाण से ज्ञान होता है। जयन्तभट्ट ने प्रमाण संख्या के प्रकरण में इस प्रश्न का सम्प्लव ढूँढने का प्रयास किया है। जयन्त न्याय-भाष्यकार[1] की तरह प्रमाण सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था—दोनो स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह है कि कुछ प्रमेयों के विषय में प्रमाण सम्प्लव है जबकि कुछ प्रमेयों के विषय में प्रमाण व्यवस्था है।

जयन्त ने बौद्धों को अभीष्ट केवल प्रमाण-व्यवस्थावाद का निषेध करके उनके द्वारा प्रमाण सम्प्लववाद के निराकरण का खण्डन किया है और प्रमाण सम्प्लववाद की पुनः स्थापना की है। यदि प्रमाण सम्प्लव को न स्वीकार करें तो अनुमान का प्रामाण्य सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुमान के विषय में व्याप्तिग्रहण और लिङ्गग्रहण के लिये प्रत्यक्ष की आवश्यकता तो पड़ती ही है। चूँकि बौद्ध भी अनुमान को प्रमाण मानते हैं, इसलिये उन्हें प्रमाण सम्प्लव भी मानना होगा।[2] प्रमाण सम्प्लव के उदाहरण के रूप में जयन्त ने भाष्यकार के ही उदाहरण का समर्थन किया है 'अत्र अग्निः' इस प्रकार आप्त पुरुष के कहने से शब्द प्रमाण से अग्नि का ज्ञान होता है, उसी अग्नि का धूमदर्शन से अनुमान होता है और उस स्थान तक जाकर इन्द्रियार्थसन्निकर्ष द्वारा अग्नि का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार एक ही प्रमेय अग्नि के विषय में तीन प्रमाण चरितार्थ हो रहे हैं।

किसी किसी प्रमेय के विषय में प्रमाण विशेष की व्यवस्था होती है, जहाँ तदतिरिक्त प्रमाण का प्रयोग सम्भव नहीं है। यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि का ज्ञान आगम प्रमाण से ही होता है, प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा नहीं। बादलों की गरज सुनकर उसके कारणभूत वायु-अभ्र-संयोग-विभाग का[3] ज्ञान

---

१. द्रष्टव्य—न्या० भा०, पृ० १६-१७।

२. अनुमानान्तराधीना सम्बन्धिग्रहपूर्विका।
सम्बन्धाधिगतिर्न स्यान्मन्वन्तरशतैरपि॥
तेन दूरेऽपि सम्बन्धग्राहकं लिङ्गलिङ्गिनोः।
प्रत्यक्षमुपमन्तव्यं तथा च सति सम्प्लवः॥—न्या० म० भाग १, पृ० ३१।

३. न्या० म० ग्रं० भ०, पृ० १९।

अनुमान द्वारा होता है, और आगम से नहीं। इसी प्रकार हाथ में रखी हुई वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष मात्र से होता है, अनुमान या शब्द से नहीं होता।

इस प्रकार जयन्त का एतद्विषयक निष्कर्ष यह है कि प्रायः सभी प्रमेयों के विषय में प्रमाणों का सम्प्लव है, परन्तु किसी विशेष प्रमेय के विषय में प्रमाण व्यवस्था भी देखी जाती है। इसलिये आचार्य जयन्त प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण व्यवस्था दोनों ही स्वीकार करते हैं।[१]

न्यायाभिमत चतुःप्रमाणवाद की विरोधी मान्यताओं पर जयन्त की प्रतिक्रिया :

प्रमाण संख्या के सन्दर्भ में जयन्त ने न्यायदर्शन की प्रमाण-चतुष्टय की मान्यता के विपरीत चार से कम या अधिक प्रमाण मानने वाले पक्षों को प्रस्तुत करते हुये स्वय न्याय पक्ष से उनका खण्डन किया है। इस प्रसंग में आचार्य जयन्त ने एक ओर जहाँ एक प्रमाण मानने वाले चार्वाक मत, दो प्रमाण मानने वाले बौद्ध सिद्धान्त और तीन प्रमाण मारने वाले सांख्य-सिद्धान्त का खण्डन किया है, वहीं दूसरो ओर चार से अधिक प्रमाण मानने वाली मान्यताओं में से भाट्टों और प्राभाकरों को अभिमत अर्थापत्ति प्रमाण, भाट्टों को अभिमत अनुपलब्धि प्रमाण और पौराणिकों को अभिमत सम्भव एव ऐतिह्य प्रमाणों के प्रमाणान्तरत्व का निषेध किया है।

प्रत्यक्ष मात्र को प्रमाण मानने वाले उद्भटसुशिक्षितचार्वाक के एक—प्रमाणवाद के विरोध में जयन्त की मान्यता है कि प्रत्यक्षैकचक्षुष्क चार्वाक अन्य प्रमाणों के अभाव में यही नहीं सिद्ध कर सकते कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों का अभाव है।[२] द्विप्रमाणवादी बौद्ध प्रत्यक्ष, अनुमान मात्र को प्रमाण मानते हैं। बौद्धों के अनुमार प्रमेयों के आधार पर प्रमाणों की व्यवस्था है।[३] स्वलक्षण और सामान्यलक्षण प्रमेयों का प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा ग्रहण हो जाने से[४] और द्विविध प्रमेयों से अतिरिक्त प्रमेयों का अभाव होने से उक्त दो प्रमाणों

---

१. द्रष्टव्य—न्या० म० भाग १, पृ० ३३

२. संख्याया नियमः प्रमाणविषये नास्तीत्यतो नास्तिकैः।
तत्सामर्थ्यविवेकशून्यमतिभिः मिथ्यैव विस्फूर्जितम्॥
—न्या० म० भाग १, पृ० ६०

३. मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः। —प्र० वा० २।१

४. प्र० वा० भा०, पृ० १६६।

से अतिरिक्त प्रमाण मानने का बौद्धों के अनुसार कोई औचित्य नहीं है। इस पर आचार्य जयन्त की यह आपत्ति है कि प्रमेयों का द्वैविध्य सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमान के विषयों से भिन्न भी बहुत से विषय होते हैं जिनका ग्रहण प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा कथमपि सम्भव नहीं है।[१] अपि च प्रत्यक्ष न तो अपने विषय की प्रत्यक्ष योग्यता का ज्ञान कराता है और न ही प्रत्यक्ष अपने विषय का ज्ञान कराने के साथ उसकी प्रत्यक्ष योग्यता का ही ज्ञान कराता है।[२] इस प्रकार बौद्धों का विषय-द्वैविध्य और प्रमाण-द्वैविध्य--दोनों ही असंगत है। इसी प्रकार सांख्यों की प्रमाणत्रयवादी मान्यता के विरुद्ध जयन्त का यह कहना है उपमान प्रमाण का विषय और फल सांख्यों द्वारा स्वीकृत तीन प्रमाणों के विषयों और फलों से स्पष्टतया भेद रखते हैं। इसलिये उपमान प्रमाण के प्रत्याख्यान को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[३]

मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों में अर्थापत्ति प्रमाण को पाँचवें प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया गया है।[४] जब कोई दृष्ट अथवा श्रुत अर्थ अन्य अर्थ की कल्पना के बिना सिद्ध न हो, तब वह अर्थापत्ति प्रमाण है।[५] उदाहरणार्थ 'जीवित देवदत्त घर में नहीं है' वाक्य की सिद्धि के लिये 'देवदत्त के बाहर है' इस अर्थान्तर की कल्पना करनी पड़ती है। यही अदृष्टार्थ-कल्पना ही अर्थापत्ति प्रमाण है। मीमांसा में स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकृत शक्ति पदार्थ अतीन्द्रिय होता है और उसका ग्रहण अर्थापत्ति प्रमाण से ही होता है। इसी प्रकार यज्ञादि से उत्पन्न अदृष्टसंस्कार जो स्वर्गादि फलों को कालान्तर में उपलब्ध कराने वाले होते हैं, अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही गृहीत हो सकते हैं। इसलिये अर्थापत्ति का प्रमाणान्तरत्व स्वीकृत है,

---

१. अन्य एव हि सामग्रीफले प्रत्यक्षलिङ्गयोः।
अन्य एव च सामग्रीफले शब्दोपमानयोः॥ —न्या० म० भाग १, पृ० ३०

२. विषये हि प्रवृत्तं प्रत्यक्षं विषयस्वरूपमेव परिच्छिनत्ति न पुनस्तस्य प्रत्यक्षतामपि। --वही, पृ० २९

३. एतेन त्रीणि प्रमाणानि इति सांख्यव्याख्यापि तत्संख्याप्रत्याख्याता, सामग्रीफलभेदेनोपमानस्य चतुर्थप्रमाणस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। —वही, पृ० ३०

४. तत्र पञ्चविधं मानं प्रत्यक्षानुमा तथा।
शास्त्र तथोपमानार्थापत्ती इति गुरोर्मतम्॥ --प्रक० पञ्चि०

५. दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना। शा० भा० १।१।५

क्योंकि न तो अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमानादि न्यायसम्मत प्रमाणों में होता है, और न ही कुमारिल को अभिमत अभाव प्रमाण में होता है। अर्थापत्ति प्रमाण की स्वीकार्यता के विरुद्ध जयन्त का कहना है कि अर्थापत्ति प्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न नहीं है। जिस अर्थान्तर कल्पना, शक्ति या अदृष्टादि अतीन्द्रिय पदार्थजात के अर्थापत्ति प्रमाण से ग्रहण की बात की गयी है, वह अयुक्त है, क्योंकि वह अर्थान्तर कल्पना तो अनुमान से गृहीत होती है।[१] अनुमान में अन्वय और व्यतिरेक लिङ्ग के धर्म होते हैं। अर्थापत्ति में जो अन्यथानुपपत्ति है, अनुमान का वही व्यतिरेकी लिङ्ग है। अर्थापत्ति में साध्य साधन के बीच व्याप्ति सम्बन्ध भी होता है। सामान्यतोदृष्ट लिङ्ग से ही अन्यथानुपपत्ति होती है। व्याप्तिग्रहण के बिना कोई भी अर्थ किसी भी अर्थान्तर का बोधक नहीं होता। जहाँ तक शक्ति की ग्राह्यता का प्रश्न है वह भी अयुक्त है, क्योंकि शक्ति का पदार्थान्तरत्व ही स्वीकार्य नहीं है, तब उसके ग्रहण के लिये अतिरिक्त प्रमाण का क्या औचित्य है। यों भी अतीन्द्रिय पदार्थों का अनुमान से ग्रहण सम्भव है,[२] अत शक्ति या अदृष्ट को अर्थापत्ति प्रमाण के बिना भी अनुमान से गृहीत किया जा सकता है।

अभाव पदार्थ का ग्रहण करने के लिये कुमारिल ने अनुपलब्धि या अभाव नामक छठा प्रमाण स्वीकृत किया है। जहाँ वस्तु के ज्ञान के लिये प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की उत्पत्ति नहीं होती, वहाँ वस्तु की सत्ता के बोध के लिये अभाव ही प्रमाण है।[३] जिस प्रकार से प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भावरूप प्रमेयों का ग्रहण होता है, उसी प्रकार अभाव पदार्थ के ग्रहण में अभाव प्रमाण का व्यापार होता है। अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये अभाव किसी भी प्रकार बाह्येन्द्रिय या अन्तरिन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं है। अभाव के किसी लिङ्ग के ग्रहण न होने के कारण अनुमान प्रमाण द्वारा भी अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। इसी प्रकार अभाव शब्द, उपमान या अर्थापत्ति प्रमाणों का भी विषय नहीं है। इन पाँचों

---

१. एषा विचार्यमाणा तु भिद्यते नानुमानतः।
प्रतिबन्धाद्विना वस्तु न वस्त्वन्तरबोधकम्॥ —न्या० म० भाग १, पृ० ३७

२. शक्तिरतीन्द्रिया अनुमानस्यैव विषयः। —वही पृ० ४०

३. अभावपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥ श्लो० वा० अभावपरिच्छेद १

४. प्रत्यक्षाद्यवतारस्तु भावांशो गृह्यते यदा।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षते॥ —वही, पृ० १७

प्रमाणों का अभावरूप जो अभाव प्रमाण है, उसी से अभाव प्रमेय का ग्रहण होता है।[१] अभाव के प्रमाणान्तरत्व के विरुद्ध जयन्त का कहना है कि न्यायवैशेषिक तन्त्र में अभिमत सात पदार्थों में से अभाव पदार्थ का प्रमेयत्व तो स्वीकृत है, परन्तु अभाव के ग्रहण के लिये अभाव या अनुपलब्धि जैसे अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अभाव के ग्रहण के सम्बन्ध में न्याय की मान्यता यह है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का भाव गृहीत होता है, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु का अभाव गृहीत होता है और इस प्रकार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष द्वारा यह अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत होता है। जयन्त का कहना है कि अभाव का ज्ञान चाक्षुष ज्ञान है।[२] यद्यपि अभाव अरूपी है किन्तु चाक्षुषत्व के लिये रूपी होने की अपेक्षा चक्षुर्जनित होना अधिक उपादेय है। अभाव आश्रयादि के माध्यम से चक्षुर्जनित होता है, इसलिये चाक्षुष होता है। जयन्त की मान्यता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये षट् प्रकार के सन्निकर्षों की आवश्यकता केवल भाव पदार्थों को दृष्टि में रखकर कही गयी है, परन्तु अभाव पदार्थ का जो प्रत्यक्ष होता है वह असम्बद्ध रूप से ही माना जा सकता है।[३] अभाव प्रमाण के प्रत्याख्यान में जयन्त की गवेषणा की अन्य मुख्य विशेषता यह है कि अभाव अवस्तु है, अतः उसके सम्बन्ध में इन्द्रियों के प्राप्यकारिक की बात नहीं की जा सकती और अभाव की प्रतीति आश्रय ग्रहण की अपेक्षा से होती है। अतः इन्द्रिय से असम्बद्ध भाव पदार्थों से अभाव पदार्थ का अन्तर भी है। जयन्त यह भी स्वीकार करते हैं कि अभाव के ग्रहण में संयुक्तविशेषणविशेष्य भाव नामक सन्निकर्ष भी स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण योग्य अभाव पदार्थ के ग्रहण करने की कुमारिल की मान्यता समीचीन नहीं है।

उक्त छः प्रमाणों के अतिरिक्त पौराणिकों ने सम्भव और ऐतिह्य नामक दो अन्य प्रमाण भी स्वीकृत किया है। जहाँ अविनाभावी अर्थों में से एक की सत्ता का ग्रहण होने पर अन्य की सत्ता का ग्रहण होता है या जहाँ समुदाय का ग्रहण होने पर समुदायी का ग्रहण होता है, वह सम्भव प्रमाण है। जैसे खारी के ग्रहण के द्वारा द्रोण का ग्रहण या सहस्र की संख्या के ग्रहण द्वारा सौ की संख्या का

---

१. तदेष भाष्यार्थः प्रत्यक्षाद्यभावो यो नास्तीत्यस्यार्थस्य बोधकः सोऽभावो नाम प्रमाणमिति। श्लोक वा० अभाव०-११—पर न्यायरत्नाकर

२. इह तु घटाभावमपरिम्लाननयनव्यापार एव पश्यतीति चाक्षुषभावज्ञानं तद्भावभावित्वविधानात्। —न्या० म० भाग १, पृ० ४८

३. षट्प्रकारसन्निकर्षवर्णनमपि भावाभिप्रायमेव, सम्बद्धं हि यद् गृह्यते तत् षण्णां सन्निकर्षाणामन्यतमेन सन्निकर्षेणेति। वही, पृ० ४९

ग्रहण।[1] जयन्त ने द्विविध सम्भव में से योग्यताकार सम्भव को निश्चयात्मक न होने से अप्रमाण कहा है और निश्चयाकार सम्भव को व्याप्ति ज्ञान सापेक्ष होने से अनुमान प्रमाण में अन्तर्भूत किया है।[2] इसी प्रकार से अनिर्दिष्ट वक्ता वाली और परम्परा से विश्वास की जाती हुई जनश्रुति को ऐतिह्य प्रमाण मानने के प्रश्न पर जयन्त का उत्तर है कि सामान्यतः ऐतिह्य यथार्थ प्रमाजनन में समर्थ ही नहीं होता अतः अप्रमाण होता है। परन्तु यदि किसी जनश्रुति का वक्ता आप्त हो और इस इस प्रकार आप्तोपदेश होने से वह प्रमाजनन में समर्थ हो तो उसका अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में हो जाता है।[3] इसलिये ऐतिह्य के प्रमाणान्तरत्व का प्रश्न नहीं उठता। इन प्रमाणों के अतिरिक्त कहीं चेष्टा, युक्ति, प्रतिभा तथा लिपि को भी प्रमाण माना गया है। परन्तु ये सभी मान्यतायें जयन्त से परवर्ती है, अतः इन पर जयन्त ने विचार नहीं किया। यह बात और है कि ये सभी न्याय की दृष्टि से प्रमाण नहीं कही जा सकती।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण

आचार्य जयन्त ने प्रमाण सामान्य का लक्षण और प्रमाण भेदों की न्याय-सम्मत अवधारणा का समर्थन करते हुये सभी प्रमाणों का विशेष लक्षण सूत्रकार का अनुसरण करते हुये प्रस्तुत किया है। प्रमाणों में से सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण विचारणीय है।

सूत्रकार के मत में इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होने पर जो शब्द-रहित, अव्यभिचारी तथा निश्चयात्मक ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है।[4] सूत्रकार के सूत्र से यह स्पष्ट नहीं होता है कि यह सूत्र प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण प्रस्तुत करता है या प्रमा का। सूत्र में प्रयुक्त पदों से केवल प्रत्यक्ष प्रमा का ही संकेत मिलता

---

१. सम्भवो नाम समुदायेन समुदायिनोऽवगमः, सम्भवति खार्यां द्रोणः, सम्भवति सहस्रे शतम्। न्या० म० भाग १, पृ० ५९

२. भिन्नः सम्भव एष न ह्यनुमितेराख्यापि खार्यामतो।
द्रोणः सम्भवति इति सेयमविनाभावान्मतिर्लैङ्गिकी॥ —वही, पृ० ५९

३. ऐतिह्यं तु न सत्यमत्र हि वटे यक्षोऽस्ति वा नेति वा।
सत्यमपि चागमात्पृथग्नैतिह्यमुपदेशरूपत्वात्॥ —वही, पृ० ५९

४. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। —न्या० सू० १।१।४

है। भाष्यकार और वार्तिककार भी इस विषय पर मौन हैं। परन्तु जयन्त[1] और बाचस्पतिमिश्र[2] ने इस समस्या की तह तक पहुँच कर समाधान स्वरूप प्रत्यक्ष लक्षक सूत्र को प्रत्यक्ष प्रमा से सम्बद्ध स्वीकार किया है। प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप प्राप्त करने के लिये सूत्र में 'यतः' और 'ततः' पदों की योजना करनी पड़ेगी जिससे इस प्रमा की कारण भूत बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रत्यक्ष प्रमाण होगी।

प्रत्यक्ष लक्षक सूत्र स्वरूप परक है, या सामग्री परक या फल परक ? कुछ नैयायिक इस सूत्र को सामग्री, प्रक्रिया, स्वरूप और फल-चारों ही अर्थों में उपपन्न स्वीकार करते हैं। परन्तु जयन्त इस लक्षण को न तो स्वरूप परक मानते हैं और न सामग्री परक, वरन् यह लक्षण प्रत्यक्ष-प्रमाण के स्वरूप या सामग्री का लक्षक न होकर तज्जन्य प्रमा का लक्षक है। सूत्र को स्वरूप-परक मानने में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों की आपत्ति होगी। स्वरूप-परक मानने पर लक्षण में शब्द रहित, संशय रहित, भ्रम रहित ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है, अतः ज्ञानेतर स्वभाव वाली इन्द्रियों और उक्त प्रकार के ज्ञानों से भिन्न प्रकार के ज्ञान की प्रमाणता संभव नहीं होगी, जबकि थे यथार्थं प्रमाजनक होने से प्रमाण है। अतः अव्याप्ति दोष होगा। इसी तरह स्मृति का जनक, संशय, विपर्यय को उत्पन्न करने वाला तथा संस्कार जन्य ज्ञान भी प्रमाण हो जायेगा, क्योंकि फल के विषय में उसकी कोई विशेषता नहीं है। अतः अतिव्याप्ति दोष है। इसी तरह लक्षण को सामग्रीपरक मानने पर भी दोष होंगे। यदि सामग्री परक लक्षण मान लें तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान---इतनी ही तो प्रत्यक्ष प्रमाण की सामग्री है। शेष अव्यपदेश्य आदि पदों का अर्थ तो इस सामग्री से जन्य है; अतः जनक के उपचार से ज्ञान की भी क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ेगी और ऐसी स्थिति में सभी सूत्रस्थ पदों की समुचित व व्यवस्थित योजना नहीं हो पायेगी। इसलिये सूत्र को फलपरक स्वीकार किया गया है। फलपरक मानने पर भी यह शंका हो सकती है कि प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष प्रमाण जो क्रमशः फल एवं करण के वाची हैं—में समानाधिकरण्य की प्रसक्ति होगी। प्रमाण तो करण रूप में होता है और प्रमा उस करण का फल होती है। अतः दोनों में समानाधिकरण्य कैसे

---

१. यत एव यद्विशेषणविशिष्टं ज्ञानाख्यं फलं भवति, तत्प्रत्यक्षमिति सूत्रार्थः।
—न्या० म० भाग, पृ० ६१

२. अत्र च यत् इत्यध्याहृत्य यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तत्प्रत्यक्षमिति प्रमाण-वाचि प्रत्यक्षपदं योजनीयम्। —न्या० वा० ता० टी०, पृ० ७०

उचित है ? परन्तु इस प्रश्न पर जयन्त का उत्तर है कि सूत्र में 'यतः' पद के अध्याहार द्वारा इस समस्या से मुक्ति मिल जायेगी। शब्दरहित, भ्रमरहित, संशय-रहित इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान तो फल का स्वरूप है। यह ज्ञान जिस कारण सामग्री से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण होगी। इस प्रकार करण और फल के लक्षणों का परस्पर व्यभिचार और समानाधिकरण्य कथमपि न होगा और तब इस सूत्रार्थ की संगति में न तो कोई क्लिष्ट कल्पना रह जाती है और न कोई दोष। इसलिये सूत्र को फल परक मानकर प्रमाण के लक्षण के लिये सूत्र में 'यतः' शब्द अपनी ओर से जोड़ देना चाहिये।[1] इस प्रकार आचार्य जयन्त ने प्रत्यक्ष लक्षक सूत्र में 'प्रत्यक्षम्' पद को लक्ष्य और शेष सभी पदों को लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।[2]

प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप और प्रक्रिया :

जब आत्मा से संयुक्त मन से संयोगवती इन्द्रिय अर्थ से सन्निकृष्ट होती है तो शब्द रहित, विपर्यय रहित तथा संशय रहित जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष प्रमा है और इन्द्रिय, अर्थ, सन्निकर्ष आदि सामग्री करण होने से प्रमाण हैं।[3] तथा जब इन्द्रियार्थ सन्निकर्षज यह प्रमा ही किसी परवर्त्ती ज्ञान का कारण हो जाय तो यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और पश्चाद्भावी हान, उपादान या उपेक्षा रूप ज्ञान इसके फल या प्रमा होते हैं। कुछ लोग यह शंका करते हैं कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न यह ज्ञान हानादि का कारण कैसे होता है, जबकि ज्ञान के बाद स्मृति होती है और स्मृति के बाद हानादि ज्ञान होते हैं। जैसे—कपित्थ को देखकर ज्ञान होता है कि 'यह कपित्थ है', फिर पूर्व ग्रहण के संस्कारों से उद्दीप्त स्मृति होती है 'कपित्थ सुख का साधन होता है', तब परामर्श होता है कि 'यह कपित्थ भी सुख का साधन होगा' और तब जाकर उपादान बुद्धि उत्पन्न होती है—'अस्तु इस कपित्थ का ग्रहण करना चाहिये।' इस प्रकार इन्द्रियार्थ-

---

१. द्रष्टव्य—न्या० म० भाग १, पृ० ६१ प० ६-३०

२. प्रत्यक्षमिति लक्ष्यनिर्देशः इतरल्लक्षणम्। —न्या० म० भाग १, पृ० ६१

३. प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते।
तस्य प्रमाणभावे तु फलहानादिबुद्धयः॥ —वही, पृ० ६२

अपि च, तस्मात्सुष्ठूक्तं यदा ज्ञानं प्रमाणं तदा हानादिबुद्धयः फलम्।

—वही, पृ० ६२

सन्निकर्षज ज्ञान और हानादि बुद्धि के मध्य सीधा कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जब तक हानादि बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, तब तक तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्षज ज्ञान — 'कपित्थ दर्शन' का नाममात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता, इसलिये वह हानादि ज्ञान का न तो कारण है और न ही प्रमाण।[1]

इस शंका के समाधान में जयन्त एक पूर्ववर्त्ती आचार्य का मत उद्‌धृत करते हैं।[2] हम यह देख चुके हैं कि इस आचार्य के अभिज्ञान में विद्वानों में बड़ा मतभेद हैं।[3] परन्तु न्यायमञ्जरीग्रन्थिभंगकार चक्रधर का मत यहाँ प्रामाणिक प्रतीत होता है। उनके मत में ये आचार्य 'रुचिकार' हैं।[4] इनके अनुसार ज्ञान का उक्त आशंकित क्रम ठीक है। ज्ञान से स्मृति उत्पन्न होती है, अतः स्मृति का जनक होने से ही ज्ञान की प्रमाणता बाधित हो जाती है। फिर स्मृति से अनुस्मृति होती है। यह अनुस्मृति परामर्श का जनक होने से प्रत्यक्ष-प्रमाण होगी क्योंकि परामर्श इन्द्रियार्थ सन्निकर्षज ज्ञान है, जो शब्द, सशय और भ्रम से रहित है, अतः अनुस्मृति प्रत्यक्ष प्रमाण होगी। फिर यह प्रत्यक्ष-प्रमा अनुमान प्रमाण बनती है, क्योंकि इससे अनुमिति होती है 'यह कपित्थ निश्चित ही सुख का साधन होगा।' कपित्थ के सुख - साधनत्व का यह निश्चय अनुमान से होता है। यह अनुमिति इन्द्रियार्थ सन्निकर्षज कपित्थ-दर्शन के साथ समुदित होकर उपादान बुद्धि के प्रति करण होने से प्रत्यक्ष-प्रमाण है। अतः इन्द्रियार्थ सन्निकर्षज ज्ञान (प्रत्यक्ष प्रमा) हानादि ज्ञानों के प्रति कारण होने से प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

---

१. द्रष्टव्य—न्या० म० भाग १, पृ० ६२ पं० ६-१४

२. आत्राचार्यास्तावदाचक्षते·········इत्यादि। —वही, पृ० ६२

३. द्रष्टव्य—इसी प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में 'जयन्त-भट्ट का कालनिर्धारण'।

४. इह च सर्वत्राऽऽचार्यशब्देन उद्योतकरविवृतिकृतो रुचिकारप्रभृतयो विवक्षिताः, व्याख्यातृशब्देन च भाष्यविवरणकृतः प्रवरप्रभृतयः इति।

—न्या० म० ग्रं० भ० पृ० ४४

५. एष कपित्थादिजातीयोऽर्थः सुखसाधनमिति बह्निमत् पर्वतप्रतीतिवत्तज्जातीयलिङ्गकमानुमानिकमिदं ज्ञानं, तदिदमनुमानफलमपि सुखसाधनत्वनिश्चयात्मकं ज्ञानमिन्द्रियविषये कपित्थादावुपादेयमिन्द्रियार्थसन्निकर्षेण सह जनयत्प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति। न्या० म० भाग १, पृ० ६३

प्रत्यक्ष लक्षक सूत्र में प्रयुक्त पदों का पदकृत्य

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' पद का पदकृत्य :

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। घ्राण, रसन, चक्षुः, त्वक्, श्रोत्र—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द अपनी अपनी जातियों के अधिष्ठान होकर विषय या अर्थ कहे जाते हैं। पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश इन विषयों के अधिकरण हैं। सख्यादि गुण और उत्क्षेपणादि कर्मों के ये विषय अधिष्ठान होते हैं, साथ ही अपने में समवेत जाति के भी आश्रय होते हैं। आचार्य जयन्त को अभाव नामक अतिरिक्त विषय या अर्थ भी अभिप्रेत है।

इन्द्रियों का अर्थ के साथ छः प्रकार का सन्निकर्ष होता है। द्रव्य का चक्षुष् या त्वक् आदि इन्द्रियों से सन्निकर्ष 'संयोग' होता है। द्रव्यगत गुण आदि का इन्द्रिय द्वारा 'संयुक्त-समवाय' सन्निकर्ष से ग्रहण होता है। गुणनिष्ठ रूपत्वादि जाति का ग्रहण इन्द्रिय द्वारा 'संयुक्त - समवेत - समवाय' सन्निकर्ष से होता है। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश-रूप श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा आकाश समवेत गुण-शब्द का 'समवाय' सन्निकर्ष से ग्रहण होता है तथा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही शब्दत्व जाति का ग्रहण 'समवेत - समवाय' सन्निकर्ष द्वारा होता है। 'भूतल में घट नही है' या 'भूतल घटाभाव विशिष्ट है' इत्याकारक अभाव का ग्रहण तत्तदिन्द्रिय द्वारा 'विशेषण-विशेष्य-भाव' नामक छठे सन्निकर्ष द्वारा होता है।[1]

सन्निकर्ष पद की आवश्यकता पर विचार करते हुये जयन्त कहते हैं कि यदि इन्द्रिय असन्निकृष्ट अर्थ का भी ग्रहण करने लगे तो व्यवहित-अर्थों का ग्रहण होने लगेगा, जबकि व्यवहित-अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है। अतः सन्निकर्ष को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यदि इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ही प्रत्यक्ष होगा तो ऐसा कोई प्रत्यक्ष उत्पन्न न हो सकेगा जिसका विषय सुख, दुःख आदि आत्म गुण हों—ऐसी आशंका के उत्तर में जयन्त का कहना है कि मनस् भी एक इन्द्रिय है, परन्तु यह अन्तरिन्द्रिय है। प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में विषय भेद के आधार पर चार, तीन या दो पदार्थों के मध्य सन्निकर्ष होते हैं। रूपादि बाह्य विषय के प्रत्यक्ष में चार पदार्थों के मध्य सन्निकर्ष होता है—अर्थ और इन्द्रिय का सन्निकर्ष, इन्द्रिय और मन का सन्निकर्ष,

---

१. द्रष्टव्य—न्या० म० भाग १, पृ० ६८-६९।

मन और आत्मा का सन्निकर्ष। इस प्रकार बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष में अर्थ, इन्द्रिय, मन और आत्मा—चार पदार्थ सन्निकृष्ट होते हैं, जबकि सुखादि आन्तर विषयों के प्रत्यक्ष में केवल इन्द्रिय, मन और आत्मा का सन्निकर्ष होता है, क्योंकि आन्तर विषयों में बहिरर्थग्राहक इन्द्रियों का व्यापार संभव नहीं है। योगियों को केवल दो पदार्थों आत्मा और मन के सन्निकर्ष द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि आत्मा और मन के अतिरिक्त ग्राह्य या ग्राहक बनने वाले तृतीय विषय का आत्म प्रत्यक्ष में अभाव होता है। इसलिये सुखादि का भी प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न होता है। अतः सुखादि के प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न विशेषण द्वारा अव्याप्ति नहीं होगी।

'ज्ञानम्' पद का पदकृत्य :

ज्ञान पद विशेष्य के निर्देश के लिये गृहीत हुआ है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न आदि सभी विशेषणवाची शब्द 'ज्ञान' पद के अभाव में किसके विशेषण होंगे ? इसलिये विशेष्य कथन के लिये 'ज्ञान' पद का ग्रहण हुआ है।

जयन्त ने न्याय वार्तिक[1] का अनुसरण करते हुये ज्ञान पद के ग्रहण का एक दूसरा भी प्रयोजन बताया है और वह है लक्षण के क्षेत्र से सुख-दुःख आदि की व्यावृत्ति। हम यह देख चुके हैं कि सुख, दुःख आदि भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होते हैं, अतः सुखादि का जनकभूत कारण समूह भी प्रत्यक्ष प्रमाण न हो जाय, इसलिये 'ज्ञान' पद का ग्रहण हुआ। चूँकि सुख-दुःख आदि ज्ञान नहीं है और केवल ज्ञान की कारण सामग्री ही प्रमाण होती है, अतः ज्ञान पद के ग्रहण से सुख एवं दुःख का निरास हो जाता है।

विज्ञानवादी बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने सुख आदि को भी ज्ञान-रूपात्मक माना है। इनके अनुसार विज्ञानोत्पत्ति के जो कारण हैं, वही कारण सुख की उत्पत्ति के भी हैं, अतः विज्ञान से अभिन्न हेतुओं द्वारा जनित होने के कारण सुख भी विज्ञान ही है।[2] बौद्धों की उक्त मान्यता अनुपपन्न है, क्योंकि सुखादि ज्ञान

---

१. द्रष्टव्य—न्या० वा० पृ० १०७ पं० ६।

२. तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः।
तत्सुखादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्॥ —प्र० वा० २।२५१

अपि च, तस्माज्ज्ञानरूपाः सुखादयः तदभिन्नहेतुजत्वादिति।

न्या० म० भाग १, पृ० ७०

से सर्वथा भिन्न हैं और किसी भी प्रकार इनकी ज्ञानरूपता सिद्ध नहीं की जा सकती। कोई भी व्यक्ति सुख-दुःख को ज्ञानस्वभाव का अनुभव नहीं करता। सुख, दुःख और ज्ञान—ये तीनों ही आत्मा के गुण हैं और इन सबका आश्रय एक ही आत्मा है। परन्तु इनमें कारण भेद है। सुख, दुःख के निमित्त कारण धर्माधर्म होते हैं, जबकि ज्ञान के लिये धर्माधर्म कभी कारण नहीं होते। अतः निमित्त कारण भेद से भी कार्य में भेद हो जायेगा। ज्ञान सर्वथा ज्ञानपूर्वक नहीं होता, जबकि सुख, दुःख किसी विषय के ज्ञान के बाद ही उत्पन्न होते हैं। ज्ञान स्वप्रकाश होता है, सुखादि स्वप्रकाश नहीं होते। इस प्रकार से सुख, दुःख कभी भी ज्ञान नहीं हो सकते।[1]

यहाँ 'ज्ञान' पद के ग्रहण के कारण यह शंका हो सकती है कि 'अव्यभिचारि' पद की क्या आवश्यकता है? क्योंकि अव्यभिचारी तो केवल ज्ञान ही होता है, और उसका ग्रहण 'ज्ञानम्' पद से हो गया है। जयन्त का उत्तर है कि अव्यभिचारि पद न रखने से सुख में इसकी अतिव्याप्ति होगी क्योंकि सुख तो अव्यभिचारी होता नहीं, उदाहरणार्थ परस्त्रीगमन से प्राप्त सुख मिथ्या है अतएव व्यभिचारी है।

कोई आक्षेपकर्त्ता यह कह सकता है कि तब 'व्यवसायात्मक' पद केवल ज्ञान में ही प्रयुक्त हो सकता है, सुख में नहीं। अतः 'व्यवसायात्मक' पद के ग्रहण द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति हो जायेगी, और तब ज्ञान पद का ग्रहण निरर्थक होगा। जयन्त उत्तर देते हैं कि यद्यपि यह ठीक है कि 'अव्यभिचारि' 'व्यवसायात्मक' पदों द्वारा ही ज्ञान पद के अर्थ का लाभ हो जाता है, परन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न अव्यभिचारी, व्यवसायात्मक आदि विशेषण किस पद के विशेषण होंगे, यदि हम ज्ञान पद का ग्रहण न करें? इसलिये विशेष्य का निर्देश करने के लिये सूत्रकार ने 'ज्ञानम्' पद का जो ग्रहण किया है, वह उचित है।

'अव्यपदेश्यम्' पद का पदकृत्य :

सूत्रकार ने प्रत्यक्ष के क्षेत्र से व्यपदेश्य ज्ञान के निरास के लिए अव्यपदेश्य पद का ग्रहण किया है। व्यपदेश्य का तात्पर्य है 'जिसको शब्दों के द्वारा कहा जा सके' अतः अव्यपदेश्य ज्ञान वह ज्ञान है जिसको शब्दों से नहीं

---

१. न बोधरूपाः सुखादयः अभिन्नहेतुजत्वादिति चायमसिद्धो हेतुः समवायिकारणस्यात्मनः असमवायिकारणस्यात्ममनः संयोगस्य अभेदेऽपि निमित्तकारणस्य सुखत्वज्ञानत्वादेर्भिन्नत्वात्। —न्या० म० भाग १, पृ० ७१

कहा जा सकता। महर्षि वात्स्यायन तथा उद्योतकर का मत है कि प्रत्यक्ष शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।[१] वस्तुतः अव्यपदेश्य पद के शब्दार्थ से प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में अव्यपदेश्य पद को ग्रहण करने का प्रयोजन स्पष्ट नहीं होता। जितने भी जागतिक पदार्थ हैं, उन सबका कोई न कोई वाचक शब्द अवश्य होता है अर्थात् प्रत्येक अर्थ का कोई नाम अवश्य होता है। हम अर्थ के साथ व्यवहार में शब्द का प्रयोग करते हैं, तब इस अर्थ के वाचक शब्द का भी ज्ञान क्या प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है? आचार्य जयन्त का मत है कि अर्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होने पर इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न इस ज्ञान में शब्द हमारी कोई सहायता नहीं करता, बाद में व्यवहार सामर्थ्य से अर्थ के अभिधान का हमें स्मरण होता है। इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा जब अर्थ का सविकल्पक ज्ञान होता है तो इस ज्ञान में हमें केवल अर्थगत धर्मों (गुणों) जैसे आकार-प्रकार, संख्या, वर्ण आदि का ज्ञान तथा अर्थ की जाति का ज्ञान ही होता है। अर्थ का अभिधान कि अमुक शब्द से अमुक अर्थ वाच्य है, स्मृति से जन्य है जिसका कारण व्यवहाररूप पूर्व अनुभव होता है, क्योंकि किसी विशिष्ट अर्थ में किसी शब्द विशेष का संकेतग्रह हो जाने के बाद उस अर्थ को उसी नाम से हम प्रयोग में लाते हैं। आचार्य वात्स्यायन का मत यह रहा है कि अर्थज्ञान काल में में हमें अर्थ के अभिधान का भी ज्ञान हो जाता है परन्तु जब तक हम अपने ज्ञान को दूसरे तक पहुँचाने के लिए शब्द का आश्रय नहीं लेते, तब तक समाख्या शब्द के ज्ञान मात्र से हम इन्द्रियार्थ सन्निकर्षज ज्ञान को शाब्द नहीं कहेंगे। जब इसी अर्थ को व्यवहृत किया जाता है तब उसके अभिधान का आश्रय लेने के कारण और शब्द प्रयोग के कारण हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान श्रोता के लिये शाब्द हो जाएगा। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा रेखा वहीं तक है जब तक हम अपने ज्ञान को शब्दों से व्यक्त नहीं करते। इसलिए आचार्य वात्स्यायन के अनुसार इस सीमा रेखा के बाद का जो व्यपदेश्य ज्ञान है, उसी के निरास के लिए सूत्रकार ने अव्यपदेश्य पद का ग्रहण किया है। यहाँ वात्स्यायन ने यह स्पष्ट नहीं किया कि अर्थज्ञान काल

---

१. अर्थज्ञानकाले स न समाख्या शब्दो व्याप्रियते, व्यवहारकाले तु व्याप्रियते।

—न्या० भा०, पृ० १९

अपि च, यदिदमनुपयुक्तशब्दार्थसम्बन्धस्य विषयभेदानुविधायि ज्ञानं तद् प्रत्यक्षम्। कृतशब्दार्थसंबन्धस्यापि तदुत्पत्तिकाले तादृगेव।

—न्या० वा० १।१।४

में हमें अर्थ की समाख्या का ज्ञान कैसे होता है और इस विषय में भाष्यकार भ्रान्त हैं कि समाख्या का ज्ञान भी प्रत्यक्ष जन्य है तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष की सीमा रेखा के अन्दर माना है।

आचार्य जयन्त ने इस विषय में अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है। अपना विचार रखने के पूर्व जयन्त ने अपने से पूर्ववर्त्ती विभिन्न न्यायाचार्यों के 'अव्यपदेश्य' सम्बन्धी मान्यताओं का परिचय दिया है। एक आचार्य के मत से इस पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि यह विशेषण शब्द प्रमाण से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाणजन्य ज्ञान की सीमा से अलग करता है। एक अन्य मत में अव्यपदेश्य पद का प्रयोग ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्ष की सीमा से बाहर करता है जो एक साथ श्रोत्रेन्द्रिय तथा अन्य किसी ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा गृहीत हो रहा हो, जैसे—पुरोऽवस्थित गाय के लिए कोई वृद्ध पुरुष किसी बालक से 'गौरयम्' कहता है। यहाँ बालक की चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष गाय से हो रहा है और प्रयोजक वृद्ध के वाक्य से भी उसे गाय पदार्थ का ज्ञान हो रहा है। इस तरह यह ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय तथा श्रवणेन्द्रिय दोनों से एक साथ जन्य है। यह मत दोषपूर्ण है क्योंकि ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः श्रवणेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है गाय अर्थ का नहीं और चक्षुरिन्द्रिय से अर्थ का ग्रहण होता है उसके अभिधान शब्द का नहीं। वस्तुतः अर्थ रूप गाय कभी श्राव्य नहीं हो सकती तथा शब्द रूप गाय कभी चाक्षुष नहीं हो सकती। इसलिए एक साथ जब दो इन्द्रियों से कोई ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता तो उसके निरास का प्रश्न ही नहीं उठता। एक अन्य आचार्य सविकल्पक ज्ञान को व्यपदेश योग्य होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं मानते। अतएव इनके मत में केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमा हैं और प्रत्यक्ष प्रमा से सविकल्पक ज्ञान का निरास करने के लिए अव्यपदेश्य पद का ग्रहण किया गया है। यह मत भी दोषपूर्ण है क्योंकि सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है और वह तब तक अव्यपदेश्य है जब तक उसको शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर दिया जाता।

वाचस्पति मिश्र अव्यपदेश्य पद से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का ग्रहण मानते हैं और व्यवसायात्मक पद से सविकल्पक प्रत्यक्ष का ग्रहण मानते हैं।[1] अव्यपदेश्य पद के ग्रहण के प्रयोजन के सम्बन्ध में आचार्य जयन्त ने त्रिलोचन द्वारा बतायी

---

१. द्वयी प्रत्यक्षजातिरविकल्पा सविकल्पा च।...... तत्राविकल्पिकायाः पदमव्यपदेश्यमिति सविकल्पिकायाश्च व्यवसायात्मकमिति।

—ता० टी० (न्या० चतुर्ग्रन्थिका, पृ० २२२)

गयी उस व्याख्या के अतिरिक्त जिसका परिचय वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में दिया है,[१] अन्य सभी पूर्व वर्णित मतों का परिचय देकर[२] अंत में अपना मत भी प्रस्तुत किया है। हम प्रारम्भ में यह देख चुके हैं कि सविकल्पक प्रत्यक्षकाल में अर्थ की सामाख्या की स्मृति के कारण हमारा ज्ञान समाख्या विशिष्ट भी हो जाता है।[३] आचार्य जयन्त का मत है कि स्मृतिजन्य इस समाख्या के निरास के लिए ही अव्यपदेश्य पद का ग्रहण हुआ है। इस तरह सविकल्पक प्रत्यक्ष की सीमा से स्मृति जन्य ज्ञान का अव्यपदेश्य पद से निरास हो जाता है और इसी के साथ साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ की समाख्या प्रत्यक्षजन्य न होकर शाब्द ज्ञान की स्मृति से उत्पन्न होती है।

'अव्यभिचारि' पद का पदकृत्य :

कुछ लोग यह मानते हैं कि सन्निकर्ष का आलम्बन कुछ और होता है, तथा ज्ञान किसी और वस्तु का होता है। जैसे—अतद् सूर्य की किरणों में तद् जल का ज्ञान होता है।[५] यह जल-प्रतिभास व्यभिचारी होता है और इसी के व्यवच्छेद के लिये 'अव्यभिचारि' पद का ग्रहण हुआ है।

जयन्त की यहाँ यह मान्यता है कि यद्यपि कुछ मानस विपर्यय ज्ञान भी होते हैं जो बाह्येन्द्रिय निरपेक्ष आत्ममनः सन्निकर्ष से जन्य होते हैं, परन्तु ऐसे

---

१. त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः ।
यथान्यायं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ।। —वही, पृ० २२६

२. इत्याचार्यमतानीहदर्शितानि यथाऽऽगमम् । —न्या० म० भाग १, पृ० ८२

३. शब्दानस्मृतिजत्वेऽपि न शाब्दं ज्ञानमीदृशम् ।
शब्दस्मृतिसहायः स्यादिन्द्रियस्य प्रदीपवत् ।। —वही, पृ० ८२

४. यत्तु शब्दानुवेधेन शाब्दत्वं सविकल्पके ।
कश्चिदाशङ्कते तस्य प्रतिशब्दोऽयमुच्यते ।। —वही, पृ० ८२

५. कैश्चिदालम्बनं तस्मिन्नुक्तं सूर्यमरीचयः ।
निगूहितनिजाकाराः सलिलाकारधारिणः ।।
अन्ये त्वालम्बनं प्राहुः पुरोऽवस्थितधर्मिणः ।
सादृश्यदर्शनोद्भूतस्मृत्युपस्थापितं पयः ।।
अन्यदालम्बनं चान्यत् प्रतिभातीति केचन ।
आलम्बनं दीधितयस्तोयं च प्रतिभासते ।। —न्या० म० भाग १, पृ० ८३

व्यभिचारी ज्ञानों का व्युदास 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' पद द्वारा ही हो जाता है क्योंकि इन स्थलों में बाह्येन्द्रियों का बाह्यार्थ से सन्निकर्ष नहीं होता।[1]

'व्यवसायात्मकम्' पद का पदकृत्य :

इन्द्रिय द्वारा किसी अर्थ के सन्निकृष्ट होने पर उस अर्थ के विशेष धर्मों का ग्रहण न कर पाने के कारण और केवल सामान्य धर्मों का ग्रहण होने से जो विमर्शात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे संशय कहते हैं। यह विमर्शात्मक ज्ञान भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न आदि होता है, अतः संशयज्ञान में प्रत्यक्ष लक्षण अतिव्याप्त होगा। प्रत्यक्ष के क्षेत्र से इस अतिव्याप्ति के निरास के लिये व्यवसायात्मक पद का ग्रहण हुआ है। सशय कभी भी व्यवसायात्मक नहीं होता। जैसे—सामने किसी अर्थ में आरोह परिणाह आदि सामान्य धर्म देखकर तथा कोटर विवरादि वृक्ष विशेष धर्मों का या हस्तपादादि पुरुष-विशेष धर्मों का ग्रहण न हो पाने से संशय होता है—कि 'यह स्थाणु है या पुरुष है।' ऐसे संशय ज्ञानों का प्रत्यक्ष ज्ञान से व्युदास व्यवसायात्मक पद द्वारा होता है[2] क्योंकि संशय ज्ञान सर्वदा अव्यवसायात्मक होता है।

यहाँ पूर्वपक्षी को शंका होती है कि संशय ज्ञान का एकमात्र कारण मनस् है अतः व्यवसायात्मक पद के ग्रहण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्न' पद से ही इसका निरास हो जाता है। जयन्त का उत्तर है कि जो संशय इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की अपेक्षा के बिना ही उत्पन्न होता है, उसका परिहार इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न पद से होने में कोई भी आपत्ति नहीं है, परन्तु कुछ ऐसे भी संशय होते हैं जो इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ही होते हैं जैसे—'स्थाणुर्वा पुरुषो वा', यह संशय। सूत्र में गृहीत व्यवसायात्मक पद इसी प्रकार के संशय के निरास के लिये है। यदि पूर्वपक्षी कहें कि संशय और भ्रान्ति दोनों समान प्रकारक ज्ञान है, अतः अव्यभिचारि पद से ही संशय का भी निरास हो जाना चाहिये, तो इसका उत्तर जयन्त यह देते हैं कि संशय और भ्रम—दोनों अलग प्रकार के ज्ञान हैं, संशय में ज्ञान उभयकोटिक होता है, जबकि भ्रान्ति में निश्चित कोटिक होता है।

---

१. यत्तु मानसा विभ्रमा बाह्येन्द्रियानपेक्षजन्मानस्तेषां सत्यमिष्यते एवेन्द्रियार्थसन्निकर्षपदेन पर्युदसनमिति, न तदर्थव्यभिचारिपदोपादानम्।—वही, पृ० ८३

२. पुरोऽवस्थितार्थविषयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेतिसंशयज्ञानमुपजायते, तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणमुक्तमपि न प्रत्यक्षफलम्, अतस्तद्व्यवच्छेदाय व्यवसायात्मकग्रहम्। —न्या० म० भाग १, पृ० ८४

इसलिये 'अव्यभिचारि' पद ही इष्ट है क्योंकि संशय उभयकोटिक होने से कभी भी व्यवसायात्मक नहीं हो सकता ।[१]

यहाँ प्रवर कहे जाने वाले कुछ दार्शनिकों का मत है कि चूँकि भ्रान्ति और संशय दोनों ही इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान हैं और केवल उसी ज्ञान का प्रत्यक्ष हो सकता है जो इन्द्रिय से उत्पन्न हों, इसलिये इन दोनों के निरास के लिये केवल 'अव्यपदेश्य' पद ही पर्याप्त है क्योंकि शाब्द ज्ञान की तरह संशय और विपर्यय भी व्यपदेश्य होते हैं। अतः 'व्यभिचारि' और 'व्यवसायात्मक' दोनों ही पद निरर्थक हैं। परन्तु जयन्त ने प्रवरपक्ष का निषेध करते हुये यह उत्तर दिया है कि संशय, विपर्यय शब्दोंल्लेख शून्य होते है, अतः अव्यपदेश्य पद से इनका निरास सम्भव नहीं है अतः 'अव्यभिचारि' और 'व्यवसायात्मक' आदि सभी पदों के ग्रहण में कोई अनौचित्य नहीं है।[३]

अनुमान-प्रमाण के लक्षण और स्वरूप

महर्षि अक्षपाद ने अनुमान प्रमाण के लक्षण में अधिक कुछ नहीं कहा है। उन्होंने अनुमान को प्रत्यक्षपूर्वक कहा है।[४] इसी अर्थ का अनुगमन भाष्यकार ने भी किया है, जिनके मत में मित अर्थात् लिङ्ग के द्वारा लिङ्गी अर्थात् अर्थ का पश्चात्कालिक ज्ञान अनुमान है।[५] जयन्त-भट्ट का अनुमान लक्षण है--पक्ष, सपक्ष आदि पाँच अङ्गों से युक्त लिङ्ग के व्याप्ति स्मरण सहकृत ग्रहण होने पर जो परोक्ष लिङ्गी विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अनुमान से उत्पन्न ज्ञान कहा गया है।[६] यहाँ लिङ्ग का ज्ञान या ज्ञान द्वारा विषयीकृत लिङ्ग व्याप्ति के स्मरण सहित प्रमाण है और इसका फल है परोक्ष लिङ्गी का ज्ञान। जब यह लिङ्गिज्ञान

१. द्रष्टव्य--न्या० म० भाग १, पृ० ८४-८५।
२. द्रष्टव्य--वही, पृ० ८५।
३. इति विगतकलङ्कमस्य धीमानकुरुत लक्षणमेतदक्षपादः। --वही, पृ० ८६
४. न्या० सू० १।१।५
५. तत्पूर्वकमिति अनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बद्धयते। लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसंबध्यते स्मृत्यालिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते। —न्या० भा०, १।१।५
६. पञ्चलक्षणकाल्लिङ्गाद् गृहीतान्नियमे सति।
परोक्षे लिङ्गिनि ज्ञानमुपमानं प्रचक्षते॥—न्या० म० भाग १, पृ० १०१

प्रमाण हो, तब तज्जन्य हान, उपादान या उपेक्षा का ज्ञान प्रमा होगा। लिङ्ग का तात्पर्य है ज्ञापक या हेतु जिससे परोक्ष अर्थ लिङ्गी का ज्ञान हो। इस लिङ्ग के पाँच लक्षण या विशेषण होते हैं।[1] अनुमिति का जनक होने के लिये लिये लिङ्ग को इन पाँचों लक्षणों से युक्त होना चाहिये। ये पाँच लक्षण हैं--(१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षव्यावृत्ति, (४) अबाधितविषयत्व और (५) असत्प्रतिपक्षत्व। साध्य विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं, जिसका धर्म है—साध्य का आश्रय होना। साध्य धर्म के साथ हेतु का सम्बन्ध जहाँ सिद्ध हो, उसे सपक्ष कहते हैं तथा जहाँ साध्य धर्म का निश्चित अभाव हो उसे विपक्ष कहते हैं। लिङ्ग को पक्ष में उपलब्ध होना चाहिये, सपक्ष में उपलब्ध होना चाहिये और विपक्ष में लिङ्ग का अभाव होना चाहिये। अनुमेय अर्थ का प्रत्यक्ष या आगम आदि अर्थों से बाध न हो, इसे अबाधित विषयत्व कहते हैं। संशय के बीजभूत अर्थ के द्वारा (अर्थात् साध्य विरोधी अर्थ को सिद्ध करने वाले) हेतु का अभाव होना असत्प्रतिपक्षत्व है जिसका प्रयोग अनुमेय अर्थ के विपरीत अर्थ को सिद्ध करने के लिये किया जा सके, ऐसे साध्यविरुद्ध साधक तुल्यबल हेत्वन्तर के के अभाव को असत्प्रतिपक्ष कहते हैं। अनुमान में लिङ्ग को इस लक्षण से भी विशिष्ट होना चाहिये।

धूम द्वारा अग्नि के अनुमान की यह प्रक्रिया है कि पर्वत में धूम देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। यहाँ धूम हेतु या लिङ्ग है तथा पर्वत का बह्निमत्त्व साध्य है। इस साध्य से युक्त पर्वत ही यहाँ पक्ष है। लिङ्ग धूम तथा साध्य अग्नि का जहाँ व्याप्यव्यापकभाव कभी बाधित न हो, ऐसा महानस सपक्ष है तथा जहाँ कभी साध्य अग्नि का संस्पर्श नहीं होता, ऐसा महासरोवर विपक्ष है। धूम लिङ्ग पक्ष पर्वत में उपलब्ध है, सपक्ष महानस में उसकी सत्ता होती है और विपक्ष महाह्रद में उसका अभाव है। अबाधितविषयत्व भी लिङ्ग में उपलब्ध है, क्योंकि धूम से अनुमित अग्नि का प्रत्यक्ष या आगम जैसे प्रमाणान्तर से बाध नहीं होता। अग्नि के विरोधी साध्य अग्न्यभाव को सिद्ध करने वाले किसी हेत्वन्तर का भी यहाँ अभाव है। अतः उक्त पाँचों लक्षणों से युक्त लिङ्ग धूम 'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है' इस अन्वयव्याप्ति तथा 'जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव होता है, वहाँ-वहाँ धूम का अभाव होता है' इस व्यतिरेक व्याप्तिरूप साहचर्य नियम के स्मरण से सहकृत होकर अग्नि का अनुमान कराता है।

१. परोक्षोऽर्थो लिङ्ग्यते गम्यतेऽनेनेति लिङ्गं तच्च पञ्चलक्षणम्।

—न्या० म० भाग १, पृ० १०१

यहाँ लिङ्ग को अनुमिति का करण बनने के लिये आवश्यक है कि वह कथित पाँचों लक्षणों से युक्त हो। यदि पाँच में से किसी भी लक्षण का इस लिङ्ग में अभाव हो तो यह हेतु नहीं बन सकता और न ही अनुमिति उत्पन्न कर सकता है। ऐसे लिङ्ग को न्याय में हेत्वाभास कहा गया है।[१] यह हेत्वाभास अनुमान का करण नही बन सकता, अतः अनुमान के स्थल में हेत्वाभासों का प्रयोग न होने पावे इसके लिये इनका भी ज्ञान आवश्यक है और इसीलिये सूत्रकार ने षोडश पदार्थों में हेत्वाभास का भी पदार्थत्वेन परिगणन किया है।[२]

जयन्त ने हेत्वाभासों के पाँच प्रकार स्वीकार किया है—(१) असिद्ध हेत्वाभास, (२) विरुद्ध हेत्वाभास, (३) अनैकान्तिक हेत्वाभास, (४) कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास और (५) प्रकरणसम हेत्वाभास।

जिस लिङ्ग में पहले लक्षण अर्थात् पक्षसत्ता का अभाव हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं जैसे—'चाक्षुष होने से शब्द नित्य है। यहाँ चाक्षुषत्व लिङ्ग का पक्ष-शब्द में अभाव है। साध्यविरुद्ध धर्मों से जो लिङ्ग व्याप्त हो, वह विरुद्ध हेत्वाभास है जैसे—'नित्यः शब्दः कृतकत्वात्।' यहाँ कृतकत्व लिङ्ग साध्य नित्यता के विरोधी धर्म अनित्यता को सिद्ध करता है, अतः यह लिङ्ग विरुद्ध हेत्वाभास है। जिस लिङ्ग की सपक्ष में सत्ता न हो, वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे—'नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्'। यहाँ लिङ्ग प्रमेयत्व का साध्य के सपक्ष व्योम आदि में अभाव है। अतः यह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। जिसका अबाधितविषयत्व न हो, वह लिङ्ग कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है। जैसे 'तेजोऽवयवी अनुष्ण है, कृतक होने के कारण, घट की तरह'। यहाँ 'कृतकत्व' लिङ्ग द्वारा साध्य 'तेजोऽवयवी का अनुष्णत्व' प्रत्यक्ष बाधित है क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा हम यह जानते हैं कि तेजोऽवयवी उष्ण होता है। अतः यह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास होता है। जिसमें पाँचवें लिङ्ग असत्प्रतिपक्षत्व का अभाव हो, वह प्रकरणसम हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द अनित्य है, नित्य धर्मों की उपलब्धि न होने से, घट की तरह'। यहाँ इसका विरोधी पक्ष भी उपलब्ध है। जैसे—शब्द नित्य है अनित्य धर्मों की उपलब्धि होने के कारण, आकाश की तरह। इसलिये यह लिङ्ग प्रकरणसम हेत्वाभास है।[३]

---

१. एतैः पञ्चभिर्लक्षणैरुपपन्नं लिङ्गमनुमापकं भवति, एतेषामेव लक्षणानामेकैकापायात्पञ्च हेत्वाभासा वक्ष्यन्ते। —न्या० म० भाग १, पृ० १०१

२. निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुद्दिष्टा हेत्वाभासा वादे चोदनीया भविष्यन्ति।
—न्या० भा०, १।१।१

३. द्रष्टव्य—न्या० म० भाग १, पृ० १०१

इस प्रकार यह स्पष्ट है इन कथित पाँचों लक्षणों से युक्त लिङ्ग ही अनुमिति कराता है। अतः इस प्रकार का पञ्चलक्षणक लिङ्ग का ज्ञान अनुमान प्रमाण बनता है।[१]

अनुमान-लक्षक सूत्रस्थ पदों का पदकृत्य

आचार्य जयन्त के मत में अनुमान लक्षक सूत्र में आया पद 'तत्पूर्वक' अनुमान का लक्षण है तथा अनुमान पद लक्ष्य है। अनुमान सामान्य का लक्षण करने के बाद आचार्य जयन्त में सूत्र की प्रतिपद व्याख्या प्रस्तुत किया है।

'तत्पूर्वकम्' पद का पद कृत्य :

यहाँ सामान्यतः तत्पूर्वक पद में तत् पद का अर्थ प्रत्यक्ष लिया जाता है अतः वह प्रत्यक्ष पूर्व है, या कारण है जिसका वह तत्पूर्वक हुआ। तत् पद का अर्थ यदि एक प्रत्यक्ष ज्ञान करें तो निर्णय और उपमान के स्थल में भी एक प्रत्यक्ष ज्ञान की कारणता होती है, अतः उक्त स्थलों में अतिव्याप्ति होने के कारण आचार्य जयन्त तत् पद में द्विवचन लगाकर विग्रह करते हैं। तात्पर्य यह है कि निर्णय और उपमान के प्रति केवल एक प्रत्यक्ष ज्ञान की कारणता होती है, परन्तु अनुमिति के प्रति दो प्रत्यक्षों की कारणता होती है। पहला प्रत्यक्ष लिङ्गलिङ्गी के अविनाभाव का प्रत्यक्ष तथा दूसरा प्रत्यक्ष है--अनुमेय स्थल (पक्ष) में लिङ्ग का दर्शन। अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्ति का प्रत्यक्ष स्मरण के द्वारा अनुमिति के प्रति कारण होता है और लिङ्गदर्शन स्वतः ही कारण होता है।[२] यहाँ जयन्तभट्ट का उद्योत कर तथा उन अन्य नैयायिकों से मतभेद है जो अनुमिति के पूर्व तीन प्रत्यक्ष मानते हैं। वार्तिककार के मत में अनुमिति के प्रति दो प्रत्यक्षों के उपरान्त होने वाला तीसरा प्रत्यक्ष जिसे परामर्शज्ञान भी कहा जाता है, वह कारण होता है।[३] यहाँ तीन प्रत्यक्ष होते हैं--(१) लिङ्गलिङ्गी के अविनाभाव का प्रत्यक्ष, (२) पक्ष में लिङ्ग का प्रत्यक्ष और (३) व्याप्तिस्मरणसहकृत लिङ्ग का अनुमेयस्थल पर प्रत्यक्ष।

---

१. सोऽयमेतेषु पञ्चसु लक्षणेष्वविनाभावो लिङ्स्य परिसमाप्यते।

—वही, पृ० १०१

२. द्रष्टव्य—न्या० म० भाग १, पृ० ११३, पं० २६-३१।

३. द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्य प्रत्यक्षस्य लिङ्गपरामर्शज्ञानस्य प्रत्यक्षफलस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षम्। —न्या० वा०, पृ० १५७

अपि च, लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्·········तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः।

—तर्कभाषा, पृ० ८०

उद्योतकर के मत में यही तृतीय लिङ्गदर्शन ही अनुमान प्रमाण है।[1]

इसके बाद जयन्त ने प्रत्यक्ष पूर्वकत्व के कारण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति आपत्तियों को आशंकित किया है। अतिव्याप्ति दोष यह हो सकता है कि स्मृति ज्ञान, आगम ज्ञान, संशय तथा विपर्यय--ये सभी ज्ञान प्रत्यक्षपूर्वक होंगे? साथ ही अव्याप्तिदोष यह है कि अनुमान आगम आदि के बाद होने वाला अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक न होने से अनुमान कैसे होगा? प्रथम दोष के निरास का उपाय यह है कि स्मृति, संशय और विपर्यय का निरास तो प्रमाण सामान्य के लक्षण द्वारा ही हो जाता है क्योंकि प्रत्यक्ष लक्षण के अर्थोत्पन्न, अव्यभिचारि, व्यवसायात्मक पदों का प्रमाण सामान्य के लक्षण में अध्याहार कर लिया गया है। आगम प्रमाण से अतिव्याप्ति के वारण का हेतु यह है कि शब्द और लिङ्ग दोनों का एक साथ व्यापार नहीं होता, शब्द और लिङ्ग दोनों ही ज्ञापक हैं, जबकि शाब्द ज्ञान और अनुमिति के पृथक्त्व के लिये अलग-अलग ज्ञापकत्व की अपेक्षा है। लिङ्ग की अपेक्षा अनुमिति को है तथा शाब्द ज्ञान को शब्द की अपेक्षा है। शब्द के ज्ञापकत्व के बिना शाब्द प्रमा का शाब्दत्व निर्धारण न होगा, और शब्द के साथ-साथ लिङ्ग की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि दो ज्ञान एक ही अधिकरण में एक साथ उत्पन्न नही हो सकते और न ही उनका एक साथ ग्रहण ही होगा। इसलिये आगम ज्ञान की पृथक् उत्पत्ति के अवसर में केवल शब्द की अपेक्षा है। अतः वहाँ भी अतिव्याप्ति न होगी।[2]

अव्याप्ति की प्रसक्ति के सम्बन्ध में जयन्त का कथन है कि पहले तो कुमारिलभट्ट सम्मत मार्ग से ही इस दोष का निराकरण हो जायेगा। कुमारिल का कहना है कि अनुमित लिङ्ग से लिङ्गी का जो ज्ञान होता है, वहाँ भी मौलिक रूप से लिङ्ग का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है।[3] अथवा जयन्त अलग से अपना एतद्विषयक मत भी प्रस्तुत करते हैं कि यहाँ 'तत्पूर्वक' पद की व्याख्या में 'प्रत्यक्ष' अर्थ तत् पद से प्राधान्येन ग्रहण किया जाता है, किन्तु ऐसी कोई बाध्यता नहीं

---

१. न्या० वा०, पृ० १४३, पं० ४-११।

२. द्वयोरपि च शब्दलिङ्गयोः ज्ञापकत्वेन स्वरूपग्रहणापेक्षत्वाज्ज्ञानायौगपद्येन च युगपद्ग्रहणासम्भवात्। —न्या० म० भाग १, पृ० ११४
अपि च, द्रष्टव्य—न्या० वा०, पृ० १३३।

३. यत्राप्यनुमिताल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ग्रहणं भवेत्।
तत्रापि मौलिकं लिङ्गं प्रत्यक्षादेव गम्यते॥
—श्लो० वा०, अनुमान० १७१ तथा न्या० म० भाग १, पृ० ११४ में उद्धत।

है। तत् शब्द के अर्थ के रूप में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीनों ही अभीष्ट हैं।[1]

'त्रिविधम्' पद का कृत्य :

त्रिविध पद पर विचार करते हुये जयन्त ने प्रशस्तदेवाचार्य और धर्मकीर्त्ति आदि बौद्ध तार्किकों के मत को प्रस्तुत किया है,[2] जो त्रिविध को लिङ्ग का विशेषण मानते हैं और पूरे अनुमान लक्षक सूत्र को ही अनुमान का लक्षण स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर सभी नैयायिकों की तरह जयन्त को भी तत्पूर्वक पद ही लक्षण के रूप में अभीष्ट है। त्रिविध पद अनुमान का भेद बताता है और 'पूर्ववत्' 'शेषवत्' तथा 'सामान्यतोदृष्ट' पद अनुमान के पृथक् भेदों का कथन करते हैं।

जयन्त का कहना है कि सूत्रस्थ सभी पदों की अनुमान के लक्षण में योजना करना सर्वथा असङ्गत है और यदि त्रिविध आदि पदों की योजना तीन प्रकार के लक्षणों से युक्त लिङ्ग के विशेषण के रूप में की जाती है तो सूत्रकार के अभिमत से भिन्न बात कही जायेगी।[3] यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने अपनी तात्पर्यटीका में विपक्ष व्यावृत्ति में 'असत्प्रतिपक्षत्व तथा अबाधित-विषयत्व', का सङ्ग्रह कर लिया है[4] और इस प्रकार लिङ्ग के पाँच लक्षण न मानकर तीन ही लक्षण माना है, परन्तु वाचस्पति मिश्र का यह मत जयन्त के विचार से भेद रखता है। जयन्त तो लिङ्ग को पाँच लक्षणों वाला ही मानते हैं। जयन्त ने 'त्रिविध' के 'विधा' अंश का अर्थ 'भेद' किया है। अन्यथा लिङ्ग का विशेषण मानने पर अनुमान प्रमाण में कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम हेत्वाभासों की प्रसक्ति होगी।[5] इसलिये केवल 'तत्पूर्वकम्' पद ही अनुमान का लक्षण है।

---

१. प्राधान्याभिप्रायेण प्रत्यक्षपूर्वकत्वमुच्यते, न नियमार्थमिति नाव्याप्तिः........
यद्यपि प्रत्यक्षमेव लक्ष्यत्वेन प्रस्तुतं तथाऽपि व्यवच्छेद्यतयानुमानादीनामपि प्रकृतत्वं न वार्यते। न्या० म० भाग १, पृ० ११४

२. यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥ —प्र० पा० भा०, पृ० १६३
अपि च, अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भानोऽस्ति नास्तिता। प्रमाणसमुच्चय—३।

३. तदेवं लक्षणे कश्चित् सर्वं सूत्रमयोजयत्।
एवं तु ख्यापितं न स्यात् सूत्रकारस्य कौशलम्॥—न्या० म० भाग १, पृ० ११५

४. न्या० वा० ता० टी०, १।१।५

५. त्रिरूपे तस्मिन् वर्ण्यमाने कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमयोः न व्यावर्त्तत इति तस्मात्तत्पूर्वकपदमेव लक्षणप्रतिपादनार्थमनवद्यम्।
—न्या० म० भाग १, पृ० ११५

इसलिये त्रिविध पद का अर्थ है—'अनुमान तीन प्रकार का होता है और अनुमान के तीनों भेद ही पूर्ववदनुमान, शेषवदनुमान और सामान्यतोदृष्टानुमान आदि हैं। यहाँ जयन्त ने भाष्यकार की तरह यह स्वीकार किया है कि न्यायशास्त्र के प्राणतत्त्व अनुमान प्रमाण का 'तत्पूर्वक' से कह देने से अनुमान के भेद कथन में सूत्रकार ने सूत्र-लाघव के प्रति किञ्चित् उदासीनता दिखाई है और त्रिविध पद तथा तीनों भेदों के वाचक पदों को एक साथ सूत्रकार ने रख दिया है।[1]

'पूर्ववत्' पद का पदकृत्य :

पूर्ववत् पद से पूर्ववदनुमान का कथन किया गया है जहाँ कारण के द्वारा कार्य का अनुमान किया जाता है। कार्य के अव्यवहितपूर्व होने वाली किसी दशा को देखकर उसके अप्रत्यक्ष कार्य का अनुमान होता है। जैसे बादल को देखकर अनुमान होता है कि वृष्टि होगी। यहाँ (कारण से कार्य के अनुमान में) तो बादल ही धर्मी है और नियतपश्चाद्भावी वृष्टि के द्वारा 'विशेष घटा रूप में दर्शन होना' आदि धर्म पूर्ववत् पद के अर्थ है। पूर्ववत् का तात्पर्य है 'पूर्वमस्यास्तीति' अर्थात् अर्थात् पूर्व या कारण वाला होना। जैसे—बादलगत उन्नतत्वादि धर्म ही पूर्ववत् हैं और कारणगत ये ही धर्म अनुमान में लिङ्ग होते हैं।[2] सामान्यतः उजले दिखने वाले बादलों से वृष्टि नहीं होती। परन्तु पर्वत कन्दराओं तक को हिला देने वाली गर्जना करने वाले, भौंरे, महिषश्रृंग, सर्प या तमाल आदि की कालिमा की तरह के काले-काले उठे, बिजली की कौंध से किञ्चित् पीतिमा को प्राप्त करने वाले बादल ही वृष्टि का अनुमान कराते हैं और अनुमिति रूप भावी वृष्टि के लिङ्ग बनने वाले ये कारणगतधर्म पूर्ववत् शब्द के अर्थ हैं, क्योंकि ये कारण (बादल) के अश्रित रहने के कारण पूर्व अर्थात् कारण वाले हैं। यद्यपि कभी कारण से कार्य की अनुमिति हो जाने पर कार्य की अनुपलब्धि रूप व्यभिचार भी हो तो यह दोष नहीं है, क्योंकि सामान्यतः धूम से अग्नि का अनुमान होता ही है। परन्तु धूमग्रहण के एक क्षण बाद अग्नि के नष्ट हो जाने पर अग्नि का अनुमान प्रवृत्ति के व्यभिचरित होने पर भी दोषयुक्त नहीं कहा जा सकता।[3] हमें कारणमात्र की हेतुता अभीष्ट

---

१. तत्पूर्वकपदोद्गीतनिमीलन्न्यायलक्षणः ।
परिम्लानादरोऽन्यत्र सूत्रकृद् वाक्यलाघवे ।।—न्या० म० भाग १, पृ० ११६

२. पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्—कारणगतमुन्नतत्वादिधर्मजातमुच्यते, तदेव लिङ्गमिति च ग्रन्थदोषोऽपि न कश्चित् । —वही, पृ० ११७

३. अनभ्युपगमे चैवमनुमानस्य जीवितम् ।
न स्याद् धूमविशेषाणामपि बोद्धुमशक्तितः ।। —वही, पृ० ११७

नहीं है, वरन् विशेष कारण ही हेतु रूप में अभिप्रेत है।[1]

'शेषवत्' पद का पदकृत्य :

शेषवत् पद द्वारा शेषवदनुमान का कथन किया गया है। जहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है, वहाँ शेषवदनुमान होता है। जैसे नदी में जल बढ़ाव के द्वारा यह अनुमान होता है कि 'ऊपर के प्रदेश में वृष्टि हुई है।' पूर्ववदनुमान की तरह इस स्थान में भी सिद्ध कारण में अनुमेयता असम्भव है, साथ ही खपुष्प की तरह असिद्ध कारण में भी अनुमेयता असम्भव है--आदि दूषणाभास आशंकित किये जा सकते हैं, जिनके परिहार के लिये जयन्त का कहना है कि यहाँ भी नदी के जल बढ़ाव का संसर्ग उच्च प्रदेश से है और यही जलबढ़ाव रूप नदी का धर्म पूर्णता आदि विशेषणों से युक्त होकर अनुमिति का हेतु होता है।[2] अनुमिति का स्वरूप होगा--'यह नदी वृष्टियुक्त उच्च प्रदेश से युक्त है, (प्रतिज्ञा), फेनिलत्व कलुषत्वादिविशिष्ट जलपूर्ति से युक्त होने के कारण (हेतु), इस प्रकार पहले उपलब्ध नदी के जल-बढ़ाव में उच्च प्रदेश में वृष्टि की कारणता की तरह (उदाहरण)।' इस प्रकार फेनिलत्वकलुषत्वादि विशेषताओं वाले नदीपूर रूप कार्य से वृष्टिरूप कारण का अनुमान होता है।

इस प्रकार पूर्ववदनुमान और शेषवदनुमान के प्रसङ्ग में जयन्तभट्ट का भाष्यकार से केवल इतना मतभेद है कि भाष्यकार कारण से कार्य और कार्य से कारण का अनुमान मानते हैं[3] जबकि जयन्त धर्मवत्त्व के कारण धर्मी का धर्मवान् के रूप में अनुमान स्वीकार करते हैं।[4] कोई भी धर्मी किसी धर्म विशेष के

---

१. न च कारणमात्रस्य हेतुत्वं ब्रूमः, येनास्य विधुरप्रत्ययोपनिपातादिकृतः व्यभिचारः स्यात्। अपि च विशिष्टमेव कारणं हेतुः।

—न्या० म० भाग १, पृ० ११७

२. अत्रापि वृष्टिमदुपरितनदेशसंसर्गलक्षणो नदीधर्मः तद्धर्मेणैव विशिष्टेन पूर्णतादिनाऽनुमीयते। वृष्टिमत्पृष्ठदेशसंसृष्टा इयं नदीफेनिलकलुषत्वादिविशिष्ट-पूरोपेतत्वात् पूर्वोपलब्धैवंविधधुनीवत्। —वही, पृ० ११८

३. पूर्ववदिति-यत्र कारणेन कार्यमनुमीयेते.........। शेषवत् तत् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते। —न्या० भा०, पृ० २१

४. परमार्थतस्तु नदीधर्मवत्त्वेन धर्मवाननुमीयत इति स्थितिः।

—न्या० म० भाग १, पृ० ११८

अपि च, द्रष्टव्य—कश्चिद्धर्मी केनचिद्धर्मेण किञ्चिद्धर्मवाननुमीयते इत्यर्थः।

—न्या० म० पर न्यायसौरभ, पृ० ३४२

द्वारा किसी धर्म विशेष से युक्त रूप में अनुमित होता है, जैसे —कार्य या कारण रूप धर्मी का विशिष्ट धर्मी के द्वारा धर्मवान् के रूप में अनुमान होता है। अतः जयन्त की मान्यता में केवल यह विशेष है कि यहाँ कार्य या कारण जो अनुमान प्रमाण होता है, वह अनुमित्यनुकूल अपने कुछ विशिष्ट धर्मों से युक्त धर्मी होता है।

'सामान्यतोदृष्टम्' पद का पदकृत्य :

कार्यकारणभाव शून्य लिङ्ग के द्वारा कार्यकारणभावशून्य लिङ्गी का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। जैसे कपित्थ के रूप दर्शन से कपित्थ के रस का अनुमान होता है।[1] कपित्थ के रूप और रस के मध्य किसी भी प्रकार कार्य-कारणभाव नहीं हो सकता क्योंकि रूप और रस दोनों ही गुणों का समवायिकारण एक ही द्रव्य कपित्थ है। बौद्ध लोग कार्य कारण के रूप में धर्मधर्मी आदि कुछ न मानकर केवल क्षणिक विज्ञान को ही मानते हैं, इसलिये उनके मत में रूपग्राहक क्षणिक विज्ञान और रसग्राहक क्षणिक विज्ञान दोनों में कार्यकारणभाव उपपन्न नहीं हो रहा, तब धर्म धर्मी मानने वाले सिद्धान्तियों के मत की क्या चर्चा की जाय? धर्मी कपित्थ में रूपवत्त्व के द्वारा रसवत्ता का अनुमान होता है। अतः असिद्ध आदिदोषों की प्रसक्ति नहीं होगी।

भाष्यकार ने सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण दिया है कि सूर्य में देशान्तर प्राप्ति के द्वारा परोक्षगति का अनुमान होता है।[2] परन्तु जयन्त इस उदाहरण को शेषवदनुमान मानते हैं क्योंकि शेषवदनुमान में कार्य के द्वारा कारण का अनुमान होता है और यहाँ भी देशान्तरप्राप्ति कार्य के द्वारा कारणभूत गति का अनुमान होता है।[3] इस तरह भाष्य में दिये गये उदाहरण को जयन्त दूषित करके अपना उदाहरण ही सब प्रकार से परिष्कृत समझा है।[4]

अनुमान के तीनों भेदों की प्रकारान्तर से उपपत्ति :

पूर्ववत् और शेषवत् पदों की उक्त व्युत्पत्ति 'मतुप्' प्रत्यय को आश्रय

---

१. सामान्यतोदृष्टं तु पदकार्यकरणभूतालिलङ्गात्तादृशस्यैव लिङ्गिनोऽनुमानम्—यथा कपित्थादौ रूपेण रसानुमानम्। —न्या० म० भाग १, पृ० ११९

२. द्रष्टव्य—सामान्यतोदृष्टम्—व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दर्शनमिति, तथा चादित्यस्य तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाप्यादित्यत्यस्य व्रज्येति। —न्या० भा०, पृ० २१-२२

३. यत्पुनर्भाष्यकारेण भास्करस्य देशान्तरप्राप्त्या कार्येण कारणानुमानं शेषवदेवं स्यात्। —न्या म० भाग १, पृ० ११९

४. तदेकभाष्यकारीयमुदाहरणमीदृशम्।
रूपाद्रसानुमानं तु तस्माद् युक्तमुदाहृतम्॥ —वही, पृ० १२१

बनाकर की गयी है। लेकिन सादृश्यवाचक वति[1] प्रत्यय से भी ये पद निष्पन्न माने जा सकते हैं। भाष्यकार ने भी तीनों अनुमानों की दो प्रकार से उपपत्ति प्रदर्शित की है।[2] आचार्य जयन्त भी दोनों प्रकार की उपपत्ति प्रदर्शित करते हैं।

पूर्ववदनुमान में यदि 'वति' प्रत्यय का आश्रय लिया जाय तो, अर्थ होगा—पहले की तरह। पहले व्याप्तिग्रहणकाल में लिङ्गलिङ्गी का स्वरूप और उनका नित्यसाहचर्य रूप व्याप्यव्यापकभाव जिस रूप में गृहीत होता है, पुनः उसी धर्म वाले लिङ्ग द्वारा उसी प्रकार का लिङ्गी अनुमित होता है। इसलिये पहले (व्याप्ति) के तुल्य होने से यह अनुमान पूर्ववदनुमान हुआ जैसे महानस में धूम और अग्नि का भूयःसहचार दर्शन देखकर पुनः अन्यत्र किसी पक्ष में धूम देखकर अग्नि का अनुमान होता है।

शेषवत् का अर्थ है–परिशेष। यह परिशेषानुमान किसी विषय के सभी विकल्पों में प्रसक्त होने पर एक-एक विकल्प का क्रमशः कारणपूर्वक प्रतिषेध करते हुये जो एक विकल्प बचा रहे वही प्रामाणिक ज्ञान अनुमिति होता है और उसका करण अनुमान प्रमाण होता है। जैसे कहीं किसी प्रदेश में धूम से अग्नि का अनुमान होने पर जिज्ञासा होती है, 'इस अग्नि का इन्धन क्या है?' यह इन्धन तृण, पत्ते, लकड़ी या उपले—कुछ भी हो सकता है। अतः इन चारों प्रसक्तों में से तृण, पत्ते और लकड़ी का प्रतिषेध होकर, इनके ज्वलनशील और धूमदायक न होने से 'उपला ही इस अग्नि का ईंधन है'—यह अनुमान होता है। अथवा शब्द कौन सा पदार्थ है? इस जिज्ञासा में सभी पदार्थों में प्रसक्ति होती है। शब्द के भावरूप होने से अभाव का प्रतिषेध होता है, शब्द में शब्दत्व जाति होती है, अतः सामान्य, विशेष समवाय नहीं हो सकते क्योंकि ये पदार्थ जाति के आश्रय नहीं होते। शब्द द्रव्य नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्य तो एक ही द्रव्य में समवेत हो नहीं सकता, द्रव्य के समवायि, असमवायि आदि अनेक कारण होते हैं, जबकि शब्द केवल एक ही द्रव्य आकाश में समवेत होता है। इसी तरह शब्द कर्म भी नहीं है क्योंकि कर्म सजातीय कर्मान्तर का जनक नहीं होता, परन्तु शब्द सजातीय शब्दान्तर को जन्म देते हैं। इसलिये प्रसक्त सात पदार्थों में छः का प्रतिषेध होने पर अवशिष्ट पदार्थ गुण बचता है, अतः अनुमिति होती है कि 'शब्द गुण है'। इसे परिशेषानुमान कहते हैं।

---

१. तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः।—अष्टा०, ५।१।११५

२. द्रष्टव्य—न्या० भा०, पृ० २१-२३

३. द्रष्टव्य—न्या० म० भाग १, पृ० १२०

सामान्यतोदृष्ट अनुमान की दूसरी उपपत्ति इस प्रकार की जा सकती है कि जहाँ व्याप्तिग्रहण काल में भी नित्य परोक्ष लिङ्गी का स्वरूप सामान्य रूप से से व्याप्ति के ग्रहण द्वारा ही अनुमित होता है--जैसे शब्दादि की उपलब्धि में श्रोत्रादि करण हैं। इन्द्रियों के अतीन्द्रिय होने से उनकी प्रत्यक्षगम्यता कथमपि सम्भव नहीं है। फिर भी इस अतीन्द्रिय और प्रत्यक्षायोग्य श्रोत्रेन्द्रिय[1] का शब्दोपलब्धि के करण के रूप में अनुमान होता है। 'छिदा के प्रति परसु की करणता होती है' इस व्याप्ति के बल पर 'हर क्रिया का करण होता है' यह निश्चय होता हैं और तब शब्द की उपलब्धि रूप क्रिया के प्रति किसकी करणता होगी ? इसके उत्तर के रूप में श्रोत्रेन्द्रिय का सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है।

अनुमान प्रमाण का त्रिकालविषयत्व :

प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसङ्ग में हमने देखा था कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय प्रायः वर्तमान कालिक होता है। योगज प्रत्यक्ष में योगियों के लिये प्रमेयों का त्रिकालविषयत्व होता है। प्रतिभा आदि के स्थल में लौकिक लोगों का प्रत्यक्ष भी त्रिकालविषयक होता है।[2] इसी प्रकार अनुमान के सम्बन्ध में भी यह देखना है कि इसका विषय एक ही काल से सम्बद्ध होता है या तीनों कालों से। आचार्य जयन्त ने इस प्रसङ्ग में भाष्यमत[3] का ही अनुसरण किया है। उनका कहना है कि अनुमान प्रमाण तीनों कालों से सम्बद्ध विषयों को अपना प्रमेय बनाता है। नदी में जल पूरण देखकर भूतकालिक वृष्टि का अनुमान होता है, बादलों के घिर आने पर भविष्यकालिक वृष्टि का अनुमान होता है और धूम से वर्तमानकालिक अग्नि का अनुमान होता है।[4]

इस सम्बन्ध में जयन्त ने मीमांसकों के मत का विरोध किया है। मीमांसकों के मत में केवल आगम प्रमाण तीनों कालों से सम्बद्ध सूक्ष्म और दूरस्थ विषयों का

---

१. यत्र सम्बन्धकालेऽपि लिङ्गिस्वरूपप्रत्यक्षं नित्यपरोक्षमेव सामान्यतो व्याप्तिग्रहणादनुमीयते। —न्या० म० भाग १, पृ० १२०

२. द्रष्टव्य--वही, पृ० ९९।

३. सद्विषयं प्रत्यक्षं सदसद्विषयं चानुमानमिति। कस्मात् ? त्रैकाल्यग्रहणात्। --न्या० भा०, पृ० २३

४. तदुच्यते—त्रिकालविषयमनुमानमिति। कस्मात् ? त्रैकाल्यग्रहणात्। त्रिकालयुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते। भूता नदीपूरेण वृष्टिरनुमीयते, सैव भविष्यन्ती मेघोन्नतया, धूमेन वर्त्तमानोऽग्निरिति। —न्या० म० भाग १, पृ० १२३

ज्ञान प्राप्त करा सकता है, अन्य प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण इन विषयों का ज्ञान नहीं करा सकते।[१] परन्तु मीमांसकों का यह मत इसी से अनुपपन्न है कि चोदना की तरह प्रत्यक्ष द्वारा योगज प्रत्यक्ष और प्रतिभा के स्थल में तथा उपमान प्रमाण में भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म-दूरस्थ आदि अर्थों का ग्रहणहोता है।[२]

उपमान प्रमाण का लक्षण और स्वरूप

सूत्रकार ने प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के बाद उपमान-प्रमाण का उद्देश किया है इसलिये प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के लक्षण और परीक्षा के बाद उपमान प्रमाण का लक्षण और परीक्षा की जानी चाहिये।

न्यायसूत्रकार के अनुसार प्रसिद्धसाधर्म्य के द्वारा साध्य का साधन उपमान प्रमाण होता है।[३] आचार्य जयन्त ने 'बृद्धनैयायिक' कहते हुये भाष्यकार के मत को उद्धृत किया है[४] और उद्योतकर के मत को 'अद्यतन' कहते हुये उद्धृत किया है।[५] इस प्रकार भाष्य और वार्त्तिक के मतोंके अन्तर को स्पष्ट करते हुये यद्यपि जयन्त ने भाष्यकार के मत में कोई आपत्ति नहीं उठाई, फिर भी स्वयं वार्त्तिककार के मत का अनुसरण किया है। उक्त दोनों आचार्यों के अनुसार उपमिति एवं उपमेय के विषय में कोई मतभेद नहीं है, परन्तु उपमिति के करण के विषय में मतभेद है।

वात्स्यायन का मत :

प्रसिद्ध अर्थ और अप्रसिद्ध अर्थ (गाय और गवय) के मध्य सारूप्य का प्रतिपादन करने वाला अतिदेश वाक्य उपमान-प्रमाण है और उसके द्वारा होने

---

१. चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितु नेन्द्रियम्। —शा० भा०, पृ० १५

अपि च, अतीतानागतेऽप्यर्थे सूक्ष्मे व्यवहितेऽपि च।
प्रत्यक्षं योगिनामिष्टं कैश्चित्……॥ —श्लो० वा०

२. द्रष्टव्य—न्या० म० भाग १, पृ० १२३।

३. प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्। —न्या० सू० १।१।६

४. अत्र वृद्धनैयायिकास्तावदेवमुपमानस्वरूपमाचक्षते। —न्या० म० भाग १, पृ० १२८

५. अद्यतनास्तु व्याचक्षते श्रुतातिदेशवाक्यस्येत्यादि०। —वही, पृ० १२९

वाली संज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्ध की प्रतीति उपमिति है।[1] गवय चाहने वाला कोई नगरवासी गवय को न जानता हुआ किसी आरण्यक से पूँछता है तो वह आरण्यक बताता है—'जैसी गाय होती है उसी प्रकार की गवय होती है।' यह वाक्य अतिदेश वाक्य है, गाय प्रसिद्ध अर्थ है तथा गवय अप्रसिद्ध अर्थ है। अतिदेश वाक्य का तात्पर्य है—'वह वाक्य जिसके द्वारा किसी प्रसिद्ध अर्थ के माध्यम से अप्रसिद्ध अर्थ का बोध हो सके।' इस अतिदेश वाक्य को जानता हुआ नगरनिवासी जब वन जाकर किसी अज्ञात गोसदृश पिण्डविशेष को देखकर अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करता हुआ ज्ञान करता है, कि 'यह गो सदृश पिण्डविशेष गवय शब्द का वाच्य है।' यही ज्ञान उपमिति है और इसका कारण है अतिदेश वाक्य, अतः वही उपमान प्रमाण है। यहाँ एक प्रश्न होता है कि यदि यह अतिदेश वाक्य ही उपमान-प्रमाण है तो यह भी आप्तोच्चरित होने से शब्द-प्रमाण[2] द्वारा गृहीत क्यों नहीं होता? अन्यथा शब्द में इसका अन्तर्भाव हो जाने पर एक अतिरिक्त प्रमाण नहीं स्वीकार किया जाना चाहिये। इसका समाधान यह हो सकता है कि इसकी प्रमा अन्य प्रमाओं से विलक्षण होती है, क्योंकि यह 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध' की प्रतीति कराती है। परन्तु यह समाधान ठीक नहीं, क्योंकि तब फल तो अनन्त रूप के हो सकते हैं, अतः अनन्त स्वरूपों वाले फलों को आधार मानकर अनन्त प्रमाणों की परिकल्पना नहीं की जायेगी। भिन्न-भिन्न फलों वाले लौकिक वैदिक वाक्य शाब्दत्व का परित्याग नहीं करते।[3]

जयन्त इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हैं कि जहाँ शब्द ज्ञान से तथा उसके वक्ता पुरुष के प्रत्यय से अर्थ का ज्ञान अन्य उपाय से निरपेक्ष रूप में होता है, वह आगम प्रमाण है, क्योंकि केवल शब्द से ही उसके अर्थ की प्रतीति होती है। परन्तु जहाँ वक्ता पुरुष प्रतीति का उपाय दूसरा बताता है, उसी उपाय से अर्थप्रतीति स्वीकार करता है, यह स्वीकार करता है कि शब्द का व्यापार केवल

---

१. प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानम्। ......यथा गौरेवं गवयः इत्युपमाने प्रयुक्ते गवासमानधर्ममर्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः सञ्ज्ञेति संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध प्रतिपद्यते। —न्या० भा०, पृ० २३-२४
अपि च, संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिफलं प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेश-वाक्यमेवोपमानम्। —न्या० म० भाग १, पृ० १२८

२. आप्तोपदेशः शब्दः। न्या० सू० १।१।७

३. न च संज्ञासंज्ञिसम्बन्धपरिच्छेदफलत्वेन प्रमाणान्तरता वक्तव्या, फलवैचित्र्येण प्रमाणानन्त्यप्रसङ्गात्। —न्या० म० भाग १, पृ० १२८

उपायमात्र के ज्ञान में होता है, वहाँ शब्द प्रमाण नहीं होता।[1] परार्थानुमान के प्रसङ्ग में वक्ता के प्रतिज्ञादि अवयवों की शाब्दता से श्रोता को अनुमिति नहीं होती वरन् लिङ्गदर्शन और व्याप्तिस्मरण से अनुमिति होती है। अतः इस अनुमिति को शाब्द नहीं मान लेते। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी उपमिति का उपाय 'प्रसिद्धसाधर्म्य' है न कि अतिदेश वाक्य की शाब्दता। पहले से जानी गयी गाय के सारूप्यग्रहण द्वारा ही गवय का ज्ञान होता है। अतः यह ज्ञान शाब्द नहीं, वरन् उपमिति है।[2] यह परार्थानुमान भी नहीं है, क्योंकि यहाँ सारूप्य लिङ्ग नहीं है। इसलिये उपमान का प्रमाणान्तरत्व असंदिग्ध है।

उद्योतकर का मत :

उद्योतकराचार्य तथा अन्य नैयायिक अतिदेश वाक्य को उपमान-प्रमाण नहीं मानते। उनका मत है कि जब गवय जानने का इच्छुक नागरिक पुरुष किसी आरण्यक से 'गाय के सदृश गवय होता है' यह अतिदेशवाक्य सुनकर अरण्य में एक पिण्ड विशेष को देखता है तथा दर्शन के बाद उस पिण्ड विशेष में जो गाय का सादृश्य देखता है, वह सादृश्य ज्ञान उस अतिदेश के स्मरण के साथ उपमान है तथा स्मरण के साथ अप्रसिद्ध पिण्ड में प्रसिद्ध पिण्ड का इन्द्रियजन्य सारूप्यज्ञान होता है। इस प्रकार अतिदेश वाक्य-स्मृति सापेक्ष सादृश्य का इन्द्रियजन्य ज्ञान उपमान प्रमाण होता है और यह 'पिण्ड गवय शब्द वाच्य है' यह संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान उपमिति रूप फल हैं, क्योंकि यह ज्ञान उपमान से जन्य है।[3] आचार्य उदयन ने ज्ञायमान सादृश्य को ही करण माना है, अतः वही उपमान प्रमाण है।[4] इस उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव न्यायसम्मत किसी अन्य प्रमाण में नहीं हो सकता। चूँकि वन में स्थित गवयरूप प्राणी के स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष है, अतः यह सादृश्य ज्ञान इन्द्रियजन्य होते हुये भी प्रत्यक्ष नहीं है। अनुमान भी यह हो नहीं सकता क्योंकि अनुमान में लिङ्गलिङ्गी का सम्बन्ध अनुमिति का हेतु होता है, जबकि यहाँ संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान उपमिति का स्वरूप है। चूँकि आरण्यक के वचन मात्र से गवय की

---

३. उपायमात्रावगमे तु शब्दव्यापारो यथा परार्थानुमाने।
—न्या० म० भाग १, पृ० १२८-२९

४. सारूप्यमुपायान्तरं तदवगतावसावुपदिष्टवानिति ततोऽवगतिर्भवन्ती न निह्नोतुं शक्यते इति न शाब्दी सा प्रतीतिरपित्वौपमानिकीति —वही, पृ० १२९

३. आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानम् उपमानम्। —न्या० वा०, १।१।६

४. ज्ञायमानस्य सादृश्यस्य करणत्वमाविष्कर्तुं तस्यान्यत्र अचरितार्थः फलानुगुणो व्यापारो दर्शित इति तात्पर्यार्थः। —परिशुद्धि, १।१।६

सिद्धि नहीं होती, अतः यह ज्ञान शाब्द भी नहीं है। इसलिये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से भिन्न उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है।[१]

आचार्य जयन्त भी उद्योतकराचार्य की ही तरह सादृश्यज्ञान को ही उपमान प्रमाण मानते हैं और भाष्यकार स्वीकृत अतिदेशवाक्य को उपमान प्रमाण स्वीकार नहीं करते, क्योंकि आतिदेश वाक्य पर शब्दत्वापत्ति का निराकरण जयन्त उपमान के स्वरूप में परिष्कार करते हुये करते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि उपमान सादृश्य ज्ञान है।[२]

—:•:—

३. द्रष्टव्य—न्या० म० भाग १, पृ० १२६, पं० १६-२४।

४. श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुरप्रसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियजं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम्,…………तदेतत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं तज्जन्यमित्युपमानफलम्। —वही, पृ० १२९

तृतीय अध्याय

शब्द का सामान्य स्वरूप

भारतीय-विचारणा में शब्द-विषयक अवधारणा का विकास :

भाषा और भाषायी व्यवहार मनुष्य के आविर्भाव के साथ- साथ उद्भूत हुआ होगा। भारतीय मनीषा की दृष्टि में भाषायी-व्यवहार की परम्परा अनादि है। भाषायी-व्यवहार की आधार-शिला शब्द है। शब्द के द्वारा अर्थाभिव्यक्ति वाग्व्यवहार का प्रयोजन है। शब्द और तदर्थ की मीमांसा वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गयी थी। वेद के संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भागों में इसके पर्याप्त बीज मिलते हैं। मानव संस्कृति के विकास में यदि वेद को प्राचीनतम लिखित साक्ष्य मानें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि तत्कालीन मानव ने भाषा के बारे में सोचना प्रारम्भ कर दिया था। 'ऋग्वेद' के एक वाक्सूक्त में यह स्वीकार किया गया है कि उदीरणा या वाणी ईश्वरकृत है जिसे उसने सर्वत्र प्रसृत कर दिया।[१] वैदिक ऋषियों का कहना है कि जब तक ब्रह्म की अवस्थिति है, तब तक वाक् की स्थिति है।[२] व्यक्ति का देखना, श्वास लेना और दूसरे की बातें सुनना—सब वाक् का ही प्रभाव है।[३] वैदिक वाङ्मय के ये साक्ष्य यह स्पष्ट करते हैं कि तत्कालीन लोगों ने वाक् के विशेष महत्त्व को पहिचाना था।

वाणी का महत्त्व कम नहीं है। इसका यथेष्ट सम्मान अपेक्षित है। अशुद्ध भाषा का प्रयोग करने वाले लोग अपमानित होते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति सदा इस बात पर ध्यान देता है कि वह क्या बोल रहा है।[४] वैदिक ऋषि का कहना है कि वाग्व्यवहार और अर्थबोध वाक् पर निर्भर है। व्यक्ति को सदा सार्थक शब्दों का

---

१. तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।

—ऋक्०, १०।१०।१२५।३

—वही, १०।१०।१४८।८

२. यावद् ब्रह्म विष्ठीतं तावती वाक्।

३. ऋग्वेद, १०।१०।१२५।४

४. बोली एक अमोल है जो कोई बोलै जानि।
हिये तराजू तौलि कै तब मुख बाहेर आनि।।

—रहीम

प्रयोग करना चाहिये। निरर्थक शब्द उस वृक्ष की तरह व्यर्थ है जो फलता-फूलता नहीं।[1] जो भाषा के सौन्दर्य को नहीं जानता, वह भाषा को देखते हुए भी नहीं देखता है और सुनते हुए भी नहीं सुनता है, जबकि वाणी अपने सौन्दर्य के पारखी व्यक्ति के लिये सभी रहस्य स्वयं उसी प्रकार खोल देती है, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत स्त्री अपने पति के लिये अपना शरीर अनावृत कर देती है।[2]

ऋग्वेद के एक सूक्त में बृहस्पति को वाक् का रक्षक कहा गया है। वहाँ उल्लेख है कि पणि नामक एक राक्षस ने देवराज इन्द्र की सब गायें चुराकर अज्ञान की गुफा में छिपा दिया था।[3] इन्द्र ने बृहस्पति से प्रार्थना की और बृहस्पति ने इन्द्र की गायें पणि से छीनकर उसे वापस कर दीं। इस कथानक का एक लाक्षणिक संकेत भी है। गायें ही वाणी हैं, जो अज्ञान में छिपी रहती है। जैसे ही वाणी का स्पष्ट स्वरूप व्यक्ति को प्रत्यक्ष होता है, यह पूरा विश्व उसके लिये वाणी से परिपूर्ण हो जाता है। मानव मस्तिष्क का अज्ञान दूर हो जाता है और ऐसे व्यक्ति के लिये अनुभव का संसार अपने रहस्य मुक्त कर देता है। ऋग्वेद की एक ऋचा[4] में वाणी के चार भाग बताये गये हैं। महाभाष्यकार ने इस ऋचा को उद्धृत करते हुये इसके चार भाग—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात स्वीकार किया है, जबकि नागेश भट्ट के अनुसार ये चार भाग परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी हैं।

ऋग्वेद के अलावा उदीरणा के गवेषित स्वरूप का परिचय 'शतपथब्राह्मण' 'ताण्डयमहाब्राह्मण', 'तैत्तिरीय-आरण्यक' आदि से भी मिलता है। उपनिषदें भी इस विषय में पीछे नहीं हैं।[5] 'तैत्तिरीय' संहिता में कहा गया है कि प्रारम्भ में वाणीः का

---

१. उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं चिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैषा शुश्रुयामफलामपुष्पाम्॥
—ऋक्, १०।६।७१।५

२. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
—वही, १०।६।७१।४

३. गुहां तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ। —वही, १०।५।६७

४. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहां त्रीणि निहता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति॥
—वही, १।१६४।४५

५. छान्दोग्योपनिषद्, ६।८

विश्लेषण नहीं हुआ था। एक बार देवताओं ने इन्द्र से इसके व्याकरण की प्रार्थना की और तब इन्द्र ने देवताओं के लिये वाणी को व्याकृत कर दिया।[१] इन्द्र को प्रथम वैयाकरण माना जाता है, जिसने सर्वप्रथम भाषा का विश्लेषण करके उसे व्याकरण से शासित किया।[२] इस प्रकार से भाषायी विश्लेषण का विधिवत् प्रारम्भ वैदिक वाङ्मय में दिखाई देता है, जिसका परवर्ती काल में व्याकरण और मीमांसा जैसे दर्शनों में पूर्ण विकास हुआ।

भाषा का शुद्धतम और सर्वोत्तम स्वरूप उपनिषदों में अधिक सूक्ष्मता के साथ विवेचित हुआ है। यह वाणी जिसका हम प्रयोग करते हैं, कभी भी अवाङ्-मनसगोचर परमतत्त्व (ब्रह्म) को प्राप्त नहीं कर सकती।[३] यदि वह अक्षर तत्त्व एक, शुद्ध और चेतन है तथा पूरा विश्व उसका विवर्त्त है, तो वाणी भी उसका विवर्त्त (अतात्त्विक) होने से उसे कैसे पा सकती है? उस तत्त्व का वर्णन तो निषेधमुखेन ही किया जा सका है। 'न इति' 'न इति' रूप में उपनिषदों में उसका निषेधशेष के रूप में वर्णन है। वस्तुतः वह तत्त्व मानव वाणी से परे है, फिर भी 'माण्डूक्योपनिषद्' में उसके लिये ओम् शब्द का प्रयोग किया गया है जिसकी—अकार, उकार, मकार—तीन मात्राओं से तीन पादों का बोध करना बताया गया है। उक्त तीनों मात्राओं से परे ॐ पद की एक तुरीय मात्रा भी होती है, जिसके द्वारा परमतत्त्व के तुरीयपाद का बोध स्वीकृत है।[४] भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' के प्रारम्भ में जिस अक्षर शब्द का उल्लेख किया है उससे ॐ पद ही अभिमत है।[५] हमारी वाणी सत्तत्त्व की असन्य अभिव्यक्ति है। वह सत्तत्त्व या परावाणी ही ॐ पद है और मनुष्य की वाणी इसी शब्द का प्रतिबिम्ब है और इसीलिये सार्थक भी है। अतः इससे स्पष्ट है कि शब्द से अर्थ की विचारणा की जड़ वेद में है।

सभी वेद शब्दरूप ही थे। लेखन शैली का विकास न होने से पूरा वैदिक

---

१. तैत्तिरीय, संहिता, ६।४।४७

२. महाभाष्य, १।१।१

३. यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। —तैत्ति० उप०, २।९

४. नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञम्। अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः। —मण्डूक्यो० १।७

५. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ —वाक्यपदीय १।१

वाङ्मय श्रवण परम्परा द्वारा जीवित था। वेद में अर्थ की अपेक्षा शब्द का प्राधान्य स्वीकार किया जाता है। वैदिक मन्त्रों में मन्त्रार्थ की अपेक्षा के बिना ही मन्त्रों का विनियोग किया जाता रहा। इससे वैदिक ऋचाओं का महत्त्व बढ़ता गया। धीर-धीरे वैदिक मन्त्रों में उच्चारण और अर्थ की कठिनाई को दूर करने के लिये वेदाङ्गों का विकास हुआ। शिक्षा नामक वेदाङ्ग ने वैदिक मन्त्रों की स्वर सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाया, प्रातिशाख्यों में वैदिक भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया। व्याकरण विद्या भाषा के गठन से सम्बद्ध थी, जिसका प्रमुख विषय था—भाषा का शुद्धतम रूप प्रस्तुत करना। निरुक्त ने शब्दों के अर्थ का विचार किया। निरुक्तकार यास्क ने वैदिक शब्दों का अर्थ भाव अथवा क्रिया से अन्वित रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार शिक्षा, प्रातिशाख्य, व्याकरण और निरुक्त ने वेदों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखा तथा वैदिक परम्पराओं एवं कर्मकाण्ड को व्यवहृत किया।

प्रातिशाख्यों की परम्परा बड़ी पुरानी है। यद्यपि उपलब्ध प्रातिशाख्य पर्याप्त बाद के हैं, सम्भवत: पाणिनि से भी उत्तरवर्ती, फिर भी उनमें प्रातिशाख्यों के मौलिक रूप का संकेत मिलता है। ऋक् प्रातिशाख्य का प्रारम्भिक वाक्य है-- 'पदप्रकृतिः संहिता' अर्थात् वाक्य पदों से मिलकर बना है--इस वाक्य पर आधारित वाक्य और वाक्यावयवभूत पदों के सम्बन्ध का प्रश्न बाद में न्याय, मीमांसा और व्याकरण जैसे भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा विस्तार से विवेचित किया गया। अन्विताभिधानवाद, अभिहितान्वयवाद और स्फोटवाद के सिद्धान्त मूलतः 'पदप्रकृतिः संहिता' पर ही आधृत हैं।

यास्क ने अपने निरुक्त में अपने से पूर्ववर्त्ती और समकालिक शब्दशास्त्रियों का उल्लेख किया है, उदाहरणार्थ—उपमन्यु, औदुम्बरायणि, शाकटायन, गार्ग्य आदि। शब्द-विज्ञान को यास्क की सबसे बड़ी देन यह है कि इन्होंने पद चार प्रकार के स्वीकृत किया है—नाम, आख्यान उपसर्ग और निपात। इन्होंने सभी संज्ञापदों को आख्यातज स्वीकार किया है। इनके मत में क्रियापद भावप्रधान होते हैं, और संज्ञापद-सत्त्वप्रधान होते हैं। यहाँ भारतीय शब्द दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम इतनी स्पष्टता से पदों का लक्षण प्रस्तुत किया गया। इसलिये यास्क को भाषायी वाक्य-रचना के तार्किक विश्लेषण का प्रवर्तक माना जा सकता है।

धीरे-धीरे वैदिक भाषा का प्रयोग में ह्रास होने लगा और उसका स्थान लौकिक संस्कृत भाषा लेती गयी। वेदों और वेदाङ्गों का अध्ययन प्राचीन काल विषयक हो गया। कर्मकाण्ड से समीपता बनाये रखने के लिये निरुक्त और प्रातिशाख्यों का अध्ययन होता रहा। व्याकरण से संवलित संस्कृत भाषा को साधुभाषा

कहा जाता था और कर्मकाण्ड में वैदिक भाषा के ही समान इसका भी प्रयोग होता था, परन्तु अन्य लौकिक भाषाओं की अपभ्रंशता के कारण कर्मकाण्ड में उनका प्रयोग नहीं होता था।

संस्कृत भाषा के लिये पाणिनि का अभ्युदय बड़ा महत्त्व रखता है। इन्होंने भाषा के अर्थ की अपेक्षा उसकी रचना, आकार एवं व्युत्पत्ति को महत्त्व दिया। पाणिनि ने शब्द और अर्थ के बीच संकेत सम्बन्ध और शब्द की नित्यता या अनित्यता जैसे प्रश्नों पर बिलकुल विचार नहीं किया। उन्होंने अपने समय पर बोली जाने वाली भाषा को वैज्ञानिक आधार देते हुये उसका संस्कार किया। यद्यपि पाणिनि ने उपनिषदों की तरह से कहीं भी भाषा के आध्यात्मिक हिस्से से सम्बन्धित चर्चा नहीं की, फिर भी इस विषय में उनका अपना निश्चित मन्तव्य अवश्य रहा होगा। पाणिनि के इन पूर्वाग्रहों पर पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में प्रकाश डाला है।

षड्दर्शन से सम्बद्ध प्रमुख सूत्रग्रंथों में से मीमांसा सूत्रों में मानव-कर्तव्यों पर विचार करना प्रारम्भ किया गया। जो व्यक्ति को किसी क्रिया के प्रति प्रेरित करे, उसे धर्म कहा गया है। इन्द्रियार्थसन्निकर्षज होने से प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म का स्वरूप निश्चित नहीं कर सकता। अनुमान, उपमान आदि प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होते हैं, अतः प्रेरकता में समर्थ नहीं हैं। लेकिन शब्दों में प्रत्यक्षयोग्यता तथा शब्दों को संकेतित करने की नित्य शक्ति होती है जिससे उच्चरित पदों को अर्थबोध के लिये अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। इसलिये प्रेरकत्व-विधान में केवल शब्द ही समर्थ है।[१] चूंकि शब्द से अर्थप्रतीति प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसलिये शब्द की नित्यता सिद्ध होती है।[२] शब्द और संकेतित अर्थ का सम्बन्ध अवैयक्तिक होता है। यह सम्बन्ध मनुष्यकृत नहीं है। यह सम्बन्ध स्वाभाविक है, पद और तत्संकेतित अर्थ के संकेत सम्बन्ध से अनभिज्ञ शिशु भी पदों से अर्थ का व्यवहार करता है। अतः शब्द का नियत अर्थ से नित्य सम्बन्ध होना इनका स्वभाव है।[३] अत एव मीमांसक की दृष्टि से धर्म के प्रकाशन में वेद ही एकमात्र नित्य और निरपेक्ष प्रमाण है।

वैशेषिक सूत्रकार कणाद का अभिमत है कि जिससे अभ्युदय (तत्त्वज्ञान) और निःश्रेयस् (आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति) हो, वह धर्म है। वेद धर्म का प्रतिपादक

१. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। —मी० सू०, १।१।५
२. नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्। —वही, १।१।१८
३. उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्। —वही, १।१।२९

है, इसीलिये वेद का प्रामाण्य है।[१] लेकिन कणाद न तो शब्द-नित्यता स्वीकार करते हैं और न ही शब्द और अर्थ के मध्य का सम्बन्ध स्वाभाविक ही मानते हैं।[२] शब्द उत्पादविनाशशाली होने से अनित्य है।[३] शब्द से संकेतित अर्थ व्यक्तिकृत होता है। चूंकि ईश्वर रूप पुरुष ने वेद को बनाया है, अतः वेद धर्म के स्रोत हैं।[४] शब्दविज्ञान के सम्बन्ध में न्यायसूत्रों ने मुख्यतः वैशेषिक मान्यता का ही अनुकरण किया है और एतद्विषयक कोई नवीन उद्भावना उत्प्रेक्षित नहीं की।

व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि के बाद कात्यायन और पतञ्जलि का उद्भव होता है। पतञ्जलि ग्रंथारम्भ में ही यह प्रतिज्ञा करते हैं कि शब्दानुशासन का उद्देश्य साधु शब्दों का बोध कराना है, क्योंकि साधुशब्द ही व्यवहार-योग्य होते हैं तथा इस लोक और परलोक में सिद्धिदायक होते हैं।[५] वैयाकरणों का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि भाषा का एक विशेष प्रयोग ही फलदायक है। सभी भाषाओं के सभी शब्द अर्थवान् हो भी जायँ तो वे साधु नहीं हो सकते। कोई शब्द असाधु होकर भी अर्थवान् हो सकता है,[६] पर असाधुशब्द फलदायी नहीं हो सकते। इस क्षेत्र में व्याकरण ने मीमांसा की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र एवं तार्किक गवेषणा प्रस्तुत की है।

पतञ्जलि और कात्यायन दोनों ने यह माना है कि पाणिनि को शब्द नित्यत्ववाद[७] तथा 'नित्यजातिपदार्थवाद' अभिमत थे। पतञ्जलि ने महाभाष्य में व्याडि एवं वाजप्यायन के पदार्थ-विषयक मत को उल्लिखित किया है। व्याडि के मत में पदार्थ व्यक्ति है और वाजप्यायन के मत में पदार्थ जाति है। जबकि पतञ्जलि के अनुसार स्वयं स्थिति के अनुकूल जाति और व्यक्ति दोनों पदार्थ हो सकते हैं।

---

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। —वै० सू० १।१।२
तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। —वही, १।१।३
२. सामयिकः शब्दार्थसम्प्रत्ययः। —वही, ७।२।२८
३. अनित्यश्चायं करणतः। —वही, २।२।२८
अपि च, संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः। —वही, २।२।३६
४. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। —वही, ६।१।१
५. एक शब्दः सुष्ठु प्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति। —महाभाष्य, १।१।१
६. एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशास्तद्यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, आचारे नियमः। —वही, १।१।१
७. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। —वही, १।१।१

ये सभी विद्वान् एक स्वर से यह मानते हैं कि भाषा विना जाति के व्यवहृत नहीं हो सकती। जातिविहीन व्यक्तिमात्र न तो ज्ञान का विषय हो सकता है और न व्यवहार का। बौद्धों ने जातिविषयक इस मान्यता का विरोध किया है। बौद्ध तार्किक के अनुसार जाति केवल काल्पनिक पदार्थ है, जिसकी बाह्य सत्ता नहीं है। क्षणिक विज्ञान ही सत् है और वह व्यक्ति है, उसे शब्दों से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, अतः वह अव्यवहार्य है। बौद्धों के मत से शब्द किसी तत्त्व अथवा भावरूपता का उद्देश नहीं करते, वरन् जो शब्द का अर्थ है वह तद्भिन्न सारे अर्थों से भिन्न है। इसी तद्भिन्नभिन्नत्व या अपोह को ही बौद्ध पद का अर्थ कहता है। नैयायिकों और मीमांसकों के विरुद्ध दिङ्नाग का तार्किक आक्षेप इसी आधार स्तम्भ पर अवलम्बित है। पदार्थ के स्वरूप के विषय में विभिन्न दर्शनों से सम्बद्ध जिन आचार्यों के मध्य दीर्घकाल तक विवाद चलता रहा, उनमें से प्रमुख हैं—दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्तभट्ट, कुमारिल एवं प्रभाकर।

लेकिन ये दार्शनिक केवल उस भाषा पर विचार करके सन्तुष्ट हो गये, जो लोगों के व्यवहार की भाषा है। इन लोगों ने वाणी के मुखरित स्वरूप-वैखरी पर ही विचार किया। उसके शेष रूपों--परा, पश्यन्ती और मध्यमा पर कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया। बोल-चाल की भाषा के अतिरिक्त भी वाणी का कोई रूप हो सकता है—इस बात का प्रयत्न किसी ने नहीं किया। इस महनीय आवश्यकता पर व्याडि, उपवर्ष, वसुरात्र एवं भर्तृहरि ने ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रसंग में व्याडि, उपवर्ष एवं वसुरात्र के नाममात्र से ही हम परिचित हैं, जबकि भर्तृहरि की मान्यताओं को प्रकाशित करने वाला उनका ग्रंथ 'वाक्यपदीय' उपलब्ध है। इस ग्रंथ से हमें शब्द के मोक्षदायक स्वरूप का ज्ञान होता है।

भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में उपनिषदों के अतिरिक्त अपने पूर्ववर्त्ती अनेक आचार्यों का नामोल्लेख किया है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भर्तृहरि को इस विषय में एक सुदीर्घ परम्परा प्राप्त थी। भर्तृहरि की मान्यता के अनुसार वे शब्द जिन्हें हम बोलते हैं, अक्षर शब्द तत्त्व के विवर्त्त हैं। उस अक्षर शब्द-तत्त्व में ही यह सारा शब्द जगत् और अर्थ जगत् विवर्त्त रूप में समाहित है।[१] भर्तृहरि शब्द की सबसे छोटी सार्थक इकाई वाक्य को मानते हैं। वाक्य में पदों का भेद और पदों में वर्णों का भेद अतात्त्विक है। जितना जो कुछ भी बोला जाता है, वह सब मिलाकर एक और अविभाज्य है। पदों

---

१ अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।
—वाक्यपदीय, १।१

और वाक्यों का अर्थ कोई व्यक्ति को मानता है, कोई जाति को, जबकि भर्तृहरि के मत में शब्द का तात्त्विक अर्थ न तो जाति है और न व्यक्ति। यह अर्थ है—'शुद्ध सत्ता'। हमारी उदीरणा का अर्थ परमसत्ता है जिसे भर्तृहरि शब्द-ब्रह्म कहता है। अर्थवान् तथा नित्य तात्त्विक शब्द परमसत्ता से नित्य सम्बन्ध रखते हैं। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध औत्पत्तिक नहीं हैं, वरन् स्वाभाविक है। शब्द स्वभावतः अर्थ का उद्‌भावक होता है। यदि कोई अर्थ ज्ञेय है तो वह बिना पदवाच्यता के स्थिर नहीं रह सकता। परमसत्ता अपने आपको पदों और पदार्थों के रूप में विवृत कर देती हैं। पद और पदार्थ में कोई भेद नहीं है और परमसत्ता स्वयं भी शब्दतत्त्व है। भर्तृहरि के मत में भाषा की न्यूनतम इकाई वाक्य है। उच्चार्यमाण वाक्य अतात्त्विक है और तात्त्विक वाक्य का विवर्त्त है। इस तात्त्विक शब्दतत्त्व को भर्तृहरि स्फोट कहते हैं। वस्तुतः शब्द-दर्शन के क्षेत्र में स्फोटवाद भर्तृहरि की अनोखी देन है। इस स्फोट ब्रह्म के साक्षात्कार के द्वारा दुःखों की आत्यन्तिक विमुक्ति तथा मोक्ष प्राप्त होता है। भर्तृहरि का यह स्फोट दर्शन वेदों तथा महाभाष्य पर अवलम्बित है। वस्तुतः भर्तृहरि ने पद-रचना से सम्बन्ध रखने वाले व्याकरण वेदाङ्ग को दर्शनों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया तथा परम-सत्तावादी शब्द दर्शन के क्षेत्र में भर्तृहरि प्रथम और अन्तिम मौलिक विचारक हैं। यही कारण है कि भर्तृहरि के आलोचक भी उनका ससम्मान स्मरण करते हैं।

भारतीय दर्शन के मध्ययुग में शब्द-दर्शन पर हमें तीन स्वतन्त्र मान्यतायें दृष्टिगत होती हैं। नैयायिक, मीमांसक तथा बौद्ध—ये सब पद पदार्थ के स्वरूप का विश्लेषण करने का प्रयत्न कर रहे थे। इन सबने परमसत्तावादियों का इस बात पर विरोध किया कि पद वाक्य का अवयव नहीं है और पदों से वाक्य की रचना नहीं होती। इनके मत में पद वास्तविक और वाक्य के घटक हैं।

इस काल में बौद्धों और जैनों के अलावा अन्य सभी दार्शनिक भाषा को साधुत्व से सम्बद्ध मानते रहे। भाषा का प्रयोग पवित्र माना जाता था और यह विश्वास किया जाता रहा कि शुद्ध भाषा का प्रयोग इहलोक और परलोक में पुण्यफल देने वाला है। जैन और बौद्ध लोग भाषा के साधु प्रयोग को प्रामाणिक नहीं मानते थे। भाषा के प्रयोग एवं भाषा के स्वरूप से सम्बद्ध इनके समस्त तर्क उनकी व्यक्तिगत आध्यात्मिक दृष्टि से प्रेरित हैं।

त्रयोदशाब्द के प्रारम्भ में गङ्गेश ने तर्कशास्त्र पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'तत्त्वचिन्तामणि' लिखी। यहाँ इन्होंने शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में सिद्ध किया है। शब्द का प्रामाण्य न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त

सबको अभिमत है। नास्तिकों को शब्द और वेद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं है। गङ्गेश भर्तृहरि के वाक्य रचना सम्बन्धी प्रश्नों का इस रीति से समाधान करते हैं, जो नैयायिकों की बाह्यार्थवादी मान्यता के अनुकूल है। शब्द-दर्शन के क्षेत्र में न्याय के जगदीश-तर्कालङ्कार और गदाधर तथा मीमांसा के गागाभट्ट और पार्थसारथि मिश्र परवर्तीकाल में उल्लेखनीय आचार्य हुये हैं।

परवर्ती शताब्दियों में भर्तृहरि और पतञ्जलि के दर्शन को भट्टोजि दीक्षित एवं नागेशभट्ट ने व्याख्यात किया। नागेश के 'वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा' में भाषाशास्त्र के सभी प्रश्नों पर विचार किया गया है। प्रायः सभी दर्शनों में ह्रास के समय तन्त्र का अभ्युदय हुआ। तान्त्रिकों ने मानब जीवन में मन्त्रों के महत्त्व पर बल दिया। मन्त्रों की शक्ति अक्षय है और उनसे मानव सब कुछ, यहाँ तक कि मोक्ष भी पा सकता है, परन्तु इनके लिये निश्चित प्रक्रिया में बताये गये मन्त्रों का अभ्यास आवश्यक है। तन्त्र की मान्यता है कि पूरा विश्व शब्दों से उद्‌भूत है और परमसत्ता 'शिव' अपनी 'शक्ति' से संवलित होकर इन शक्तिशाली मन्त्रों का अर्थ कहा जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषायी विचारधारा की परमसत्तावादी का जन्म उपनिषदों में और अन्त तन्त्र में होता है। अर्थात् अन्ततः साधना के मान्यता आध्यात्मिक क्षेत्र में भारत के सभी दार्शनिक एकमत हो गये अथवा यह कहें कि वैदिक दर्शन विविध सम्प्रदायों और मतवादों का चक्कर लगाकर अन्त मे तन्त्र में सिमट गया।

भारत की जीवन-पद्धति से सम्बद्ध अन्य विधाओं की तरह भाषा और शब्द का शास्त्र भी कभी भी दार्शनिक विचारणा से पृथक् नहीं रहा। इसने लोगों के जीवन पर स्थायी प्रभाव डाला। लोग परमसत्ता की उपेक्षा भाषा के क्षेत्र में भी नहीं कर पाये। विश्व की परिवर्तनधर्मिता के बावजूद अपरिवर्तित रहने वाली परमसत्ता को लोगों ने पहिचाना। आस्तिक लोग परमसत्ता के द्वारा कष्ट, दुःख और असफताओं के विरुद्ध शान्ति खोजने का प्रयास करते रहे। आज भी कोई भारतीय—विशेषतः हिन्दू जब किसी आपत्ति में होता है तो वह ईश्वर का नाम लेता हुआ विश्वास करता है कि नाम और नामी के अभेद सम्बन्ध वाला शब्द-ब्रह्म उसके सामने उपस्थित है जो अवश्य ही उसे विपत्ति से उबार लेगा। परिणामतः पूरी दार्शनिक पर्यालोचना में शब्द के व्यवहार और परमार्थ दोनों पक्षों का निरपवाद रूप से चिन्तन भारतीय शब्द-दर्शन की अजस्र उपलब्धि है।

शब्द का न्याय-सम्मत स्वरूप और उसका प्रमाणत्व

श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा समवाय सन्निकर्ष से शब्द नामक गुण का ग्रहण होता है।

श्रोत्रेन्द्रिव ग्राह्य शब्द-गुण आकाश मात्र द्रव्य में रहने वाला है। अब यह देखना है कि इस शब्द का स्वरूप क्या है?

शब्द आकाश का गुण है।[१] यह आकाश में ही उत्पन्न होता है और आकाश के ही एक विशेष रूप श्रवणेन्द्रिय द्वारा इसका ग्रहण होता है। शब्द क्षणिक होता है।[२] क्षणिक का तात्पर्य है तृतीयक्षण-विनाश-प्रतियोगी।[३] उत्पत्ति क्षण और स्थितिक्षण के बाद तीसरे क्षण में शब्द का विनाश हो जाता है। शब्द दो रूपों वाला होता है—ध्वनिरूप, वर्णरूप।[४] भेरी, मृदंग, मेघगर्जन या वंशोत्पाटनजन्य चट-चट रूप ध्वनि—ये सब ध्वन्यात्मक शब्द हैं और वे शब्द जो मुख गुहा के विभिन्न अवयव संस्थानों में प्राणवायु के टकराने से स्वरतंत्रियों द्वारा उत्पन्न होते हैं, वर्णात्मक कहे जाते हैं। संसार की जितनी भी बोलचाल, व्यवहार की भाषायें हैं वे सब वर्णात्मक शब्द हैं। वैशेषिक सूत्रकार कणाद तीन प्रकार से शब्द की उत्पत्ति को मानते हैं—संयोग द्वारा, विभाग द्वारा और शब्द द्वारा।[५] हाथ और मृदङ्ग के संयोग या भेरी और दण्ड के संयोग से संयोगज शब्द उत्पन्न होता है, बांस फाड़ने से उत्पन्न चट-चट की आवाज विभागज शब्द है तथा उत्पत्ति देश से सन्निहित देश में शब्द के तृतीय क्षणविनाश प्रतियोगी होने के कारण स्वसमान-जातीय शब्दान्तर की कदम्बमुकुलन्याय और वीचीतरङ्गन्याय से उत्पत्ति होती है। श्रोत्रदेशीय आकाश में उपलब्ध होने वाले इस शब्द को शब्दज शब्द कहते है। आचार्य अन्नभट्ट 'तर्कसंग्रह' की स्वोपज्ञटीका 'तर्कदीपिका' में शब्द के वैशेषिक सम्मत उक्त तीनों भेद, ध्वन्यात्मक और शब्दात्मक दोनों रूपों में स्वीकार करते

---

१. आकाशस्य तु गुणः शब्दः। —न्या० म० भाग २, पृ० ५६

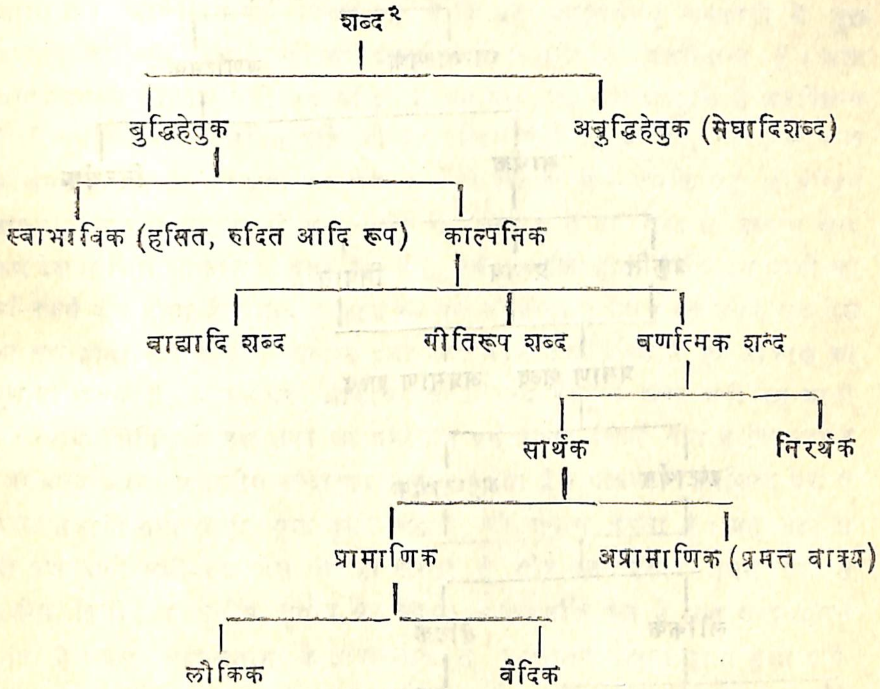
२. श्रोत्रेणाकाशगुणस्य शब्दस्य ग्रहणम्। —वही, पृ० ५७

३. शब्दस्य प्रत्यभिज्ञानवेलायामेव दृश्यते।
शब्दरूपस्य विध्वंस इति तन्नित्यता कुतः॥
...ध्वस्तः शब्दः इति तदैव प्रत्ययो जायते।
—न्य० म० भाग १, पृ० २०५

४. द्विविधो हि शब्दः वर्णो ध्वनिश्च। द्वयोरनुगतं शब्दत्वम्। वर्णत्वं ध्वनित्वं च तदवान्तरसामान्ये। वर्णविशेषाः गकारादयः, ध्वनिविशेषाः शङ्खघोषादयः। ध्वन्यात्मकः शब्दः वायुगुणः। —श्लो० वा० स्फोट०/३९ पर न्यायरत्नाकर

५. संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः। —वै० सू० २।२।३१

हैं।[1] इस प्रकार वह तीन प्रकार के ध्वन्यात्मक शब्द और तीन प्रकार के वर्णात्मक शब्द—सब मिलाकर शब्द को ६ प्रकार का सिद्ध करते हैं। तर्कसग्रह के सम्पादक बोडास महोदय के अनुसार शब्द का अधिक महत्त्वपूर्ण विभाग यह हो सकता है—



१. श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधो ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चेति। —तर्क सं०, पृ० २१

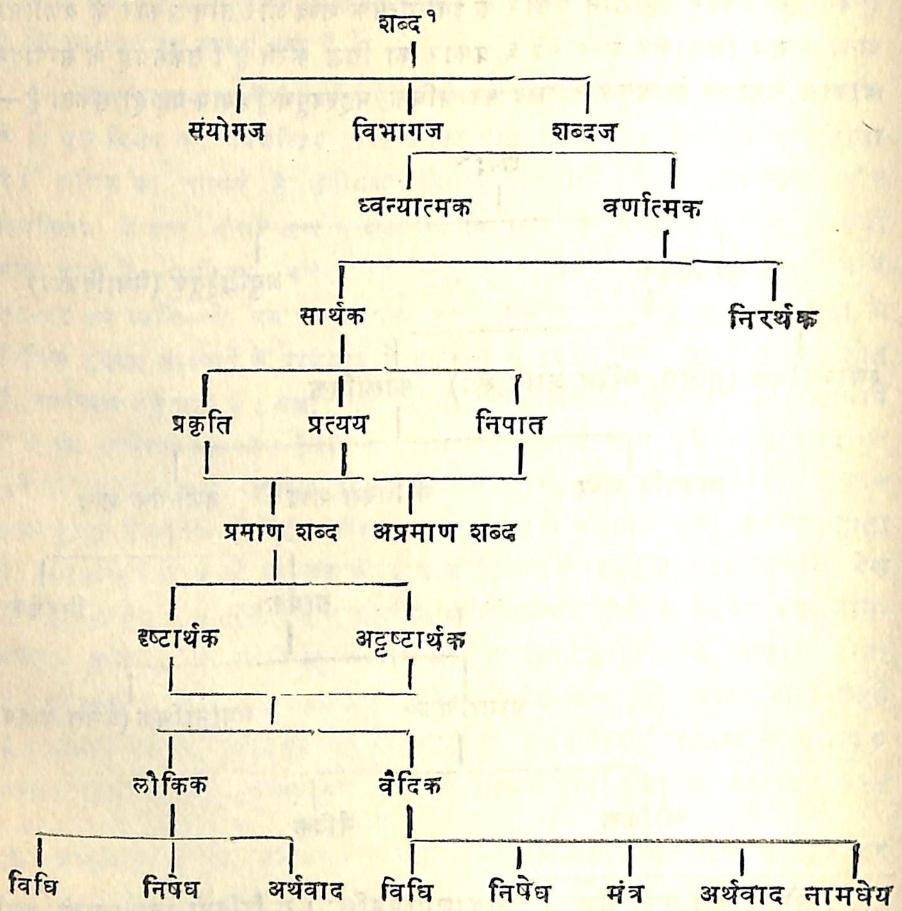
अपि च, शब्दस्त्रिविधो संयोगजो विभागजः शब्दजश्चेति।

—तर्कदीपिका, पृ० २१

अपि च, स त्रिविधः संयोगजो विभागजः शब्दजश्चेति। भेरीदण्डसंयोगजन्यो भाङ्कारादिशब्दः। हस्ताभिघातसंयोगजन्यो मृदङ्गादिशब्दः। वंशे पाट्यमाने दलद्वयविभागजश्चटचटादिशब्दः। शब्दोत्पत्तिदेशमारभ्य कर्णविवरपर्यन्तं वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा निमित्तपवनेन शब्दधारा जायन्ते। तत्रोत्तरशब्दे पूर्वशब्दः कारणम्। न्या० बो०, पृ० २१

२. द्रष्टव्य—तर्कसंग्रह पर बोडास के नोट्स पृ० १७१, तथा न्यायको०, पृ० ८६१

शब्द के स्वरूप को समझने के लिए शब्द का एक विभाजन इस प्रकार का भी हो सकता है।



संयोगज, विभागज और शब्दज तीनों ही प्रकार के शब्दों का यह भेद उत्पत्ति की भिन्नता के आधार पर है, अन्यथा उपलब्धि में सभी शब्द शब्दज ही होते हैं। संयोगज, विभागज शब्द भी शब्दान्तर रूप में उपलब्ध होते हैं। हमारी पाँचों ग्रहणेन्द्रियों, घ्राण, रसन, चक्षुः, त्वक्, श्रोत्र, में से घ्राण, रसन और त्वक् इन्द्रियाँ समीपवर्ती विषय से ही सन्निकृष्ट हो सकती है, दूरवर्ती विषय का ग्रहण नहीं करतीं। लेकिन चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय — ये दो ऐसी इन्द्रियाँ हैं, जो दूरवर्त्ती विषय का भी ग्रहण कर सकती हैं। इनमें से चक्षुरिन्द्रिय तो स्वयं विषय तक पहुँचकर सन्निकर्ष करती है, इसीलिए यह इन्द्रिय

1. द्रष्टव्य—न्या० को०, पृ० ८६२-६३।

सभी इन्द्रियों से तेज है और परमुखापेक्षी न होने से प्रधानेन्द्रिय है। इसके विपरीत श्रोत्रेन्द्रिय सुदूरवर्ती विषय का ग्रहण तो करती है, लेकिन यह स्वयं विषय तक नहीं जाती है। श्रोत्रेन्द्रिय का स्वरूप यह है कि यह धर्माधर्मरूप संस्कारों से युक्त आकाश का एक देश है जो कर्ण-शष्कुलिरूप उपाधि से अवच्छिन्न है। अतः श्रोत्रेन्द्रियस्थ आकाश तभी तक इन्द्रिय है जब तक यह कर्ण शष्कुलि से अवच्छिन्न है।[1] अवच्छिन्नत्व से रहित होते ही वह इन्द्रिय नहीं रह जायेगा, वरन् आकाश के अनुपहित स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। ऐसी स्थिति में—जबकि यह श्रोत्रेन्द्रिय बाहर गमन नहीं कर सकती और संयोग से, विभाग से या शब्द से उत्पन्न शब्द कर्ण देश से भिन्न आकाश के दूसरे देश में है, तब यह शंका होती है कि इन दोनों का सन्निकर्ष कैसे होता है ? शब्द आकाश का गुण तो होता है परन्तु यह उसके एक देश का गुण होता है। कोई भी उत्पन्न हुआ शब्द अपने उत्पत्तिदेश में ही आकाश का गुण हो सकता है, न कि पूरे आकाश का।[2] तब उपर्युक्त शंका बनी रह जाती है। न्याय-वैशेषिक में इस शंका का समाधान इस प्रकार किया गया है कि उत्पन्न हुआ शब्द अपना सजातीय शब्दान्तर उत्पन्न करता है। गत्वजाति विशिष्ट वर्ण ग केवल सजाति गत्व से ही युक्त दूसरे गकार को उत्पन्न करता है। यह उत्पत्ति भी वर्ण अपने समीपस्थ देश में ही करता है और इस प्रकार प्रथम शब्द से द्वितीय, द्वितीय से तृतीय, तृतीय से चतुर्थ—शब्दोत्पत्ति क्रम में यह शब्द-सतान बनता है। इस शब्द-सतान के द्वारा शब्द से शब्दान्तर उत्पन्न होता हुआ कर्ण-विवर से अवच्छिन्न आकाश तक पहुँचकर इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होकर अपनी उपलब्धि कराता है।[3] इस प्रकार केवल शब्दज शब्द का ही ग्रहण हो सकता है। संयोग और विभाग से उत्पन्न हुए शब्द भी शब्दान्तर सन्तान द्वारा ही श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होते हैं। दीवार आदि के व्यवधान आ जाने पर इस शब्द सतान का विराम क्यों हो जाता है ? इसका उत्तर यह है कि शब्दोत्पत्ति में व्यवधान रहित आकाश

---

१. शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं, शब्द गृह्णाति इति शब्दोपलब्धावसाधारणं करणं श्रोत्रम्, तच्चाकाशैकदेशत्वादनाश्रितमपि कर्णशष्कुल्यधिष्ठानमुच्यते।
—न्या० म० भाग २, पृ० ४८

२. आकाशस्य विशेषगुणः शब्दः स च अव्याप्यवृत्तिर्यदा किञ्चिदवच्छेदेन शब्दः उत्पद्यते तदान्यावच्छेदेन तदभावस्यापि सत्त्वात्। क्षणिकत्वञ्च तृतीयक्षण-वृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्।
—न्या० सि० मु०, पृ० ९८-९

३. तस्मात् सजातीयशब्दसन्तानारम्भपक्ष एव युक्त्यनुगुणः।
—न्या० म० भाग १, पृ० २०९

की ही समवायिकारणता होती है। दीवाल आदि व्यवधानों से रहित निरावरण आकाश शब्द का समवायिकरण होता है।[१] शब्द-सन्तान की क्या दिशा हो? इस विषय में दो मत हैं। जिस तरह जलाशय, नदी या समुद्र में उत्पन्न तरंग-सन्तान एक निश्चित दिशा में चलती हैं इसी प्रकार शब्द सन्तान एक निश्चित दिशा में प्रारम्भ होता है।[२] परन्तु यह मत अधिक ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द की उपलब्धि उसके उत्पत्ति-देश से भिन्न-भिन्न दिशाओं में एक काल में ही होती देखी जाती है। इसलिए अधिक परिष्कृत मत है—कदम्ब मुकुल-न्याय का। वैशेषिक लोग यद्यपि शब्द संतान में दिशा भेद वायु द्वारा मानते हैं, पर इस मत से वायु तिर्यग्गमन स्वभाव वाला होने से शब्द की उत्पत्ति देश से उर्ध्व दिशा या अधः दिशा में उपलब्धि न हो सकेगी।[३] इसलिए कदम्बमुकुल न्याय या कदम्ब गोलक न्याय द्वारा शब्द संतान की उत्पत्ति स्वीकार की गई है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कदम्ब के गोलक में चारों ओर को फूल एक साथ खिलते हैं, उसी प्रकार शब्द के उत्पत्ति देश से चारों ओर (सभी दिशाओं में) शब्दान्तरों की एक साथ उत्पत्ति होती है। भेरी-दण्ड-संयोग से उत्पन्न ध्वनि की उपलब्धि किसी नियत दिशा में नहीं होती, वरन् चतुर्दिक् होती है। इस प्रकार शब्दोत्पत्तिस्थानी आकाश से चारों ओर असंख्य शब्द-परम्पराएँ प्रारम्भ होती हैं, इन्हीं में से कोई जब श्रवणेन्द्रिय तक पहुँचती है तो इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष होता है, शब्द-प्रत्यक्ष होता है। शब्द प्रत्यक्ष में जयन्त यह परिष्कार करते हैं कि शब्द की उत्पत्ति के दूसरे क्षण उस शब्द से सभी दिशाओं में कदम्ब गोलकन्याय से अनन्त शब्दान्तर उत्पन्न होते हैं। तीसरे क्षण इन शब्दातरों में से प्रत्येक से पुनः नियत दिशा से द्वितीय, तृतीय आदि क्रम से वीचीतरङ्ग न्याय से शब्द सन्तान उत्पन्न होता है।[४] इन्द्रियार्थ-

१. यत्तु कुड्याद्व्यवधाने किमितिविरमति शब्दसन्तानारम्भ, इति नैषदोषः, निरावरणस्य हि व्योम्नः शब्दारम्भे समवायिकारणत्वं तथादर्शनात् कल्प्यते नाकाशमात्रस्येति। —न्या० म० भाग १, पृ० २१०

२. द्रष्टव्य—तर्कसंग्रह, पृ० २१ पर न्या० बो०।

३. अधोमुखप्रयुक्तोऽपि शब्दः ऊर्ध्वं प्रतीयते।
उत्तानवदनोक्तोऽपि नाधो न श्रूयते च सः॥—न्या० म० भाग १, पृ० २०६

४. कदम्बगोलकाकार शब्दारम्भो हि संभवेत्। —वही, पृ० २०९
अपि च, संयोगाद्विभागाद्वा शब्द उपजायते। जातश्चासौ तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वतोदिक्कानि कदम्बगोलकाकारेण सजातीयनिकटदेशानि शब्दान्तराण्यारभते, तान्यपि तथेत्येवं वीचीसन्तानवृत्त्यारम्भप्रबन्धप्राप्तोऽन्त्यः श्रोत्राकाशजन्मा शब्दस्तत्समवेतस्तेनैव गृह्यते। —वही, पृ० १९७

सन्निकर्ष के बाद शब्द द्वारा अर्थबोध की प्रक्रिया हम अगले अध्यायों में देखेंगे।

तान्त्रिकों ने वाणी के चार रूप माना है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परन्तु जयन्त से पूर्ववर्त्ती काल में वैयाकरण लोग वाणी के केवल तीन रूप पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी को ही प्रतिष्ठापित कर पाये थे। नैयायिक तो शब्द को अनित्य मानते हैं अतः वे लोग वाणी के केवल वैखरी रूप को ही सत्य मानते हैं। पश्यन्ती और मध्यमा का जयन्त ने खण्डन किया है। इनके अनुसार मध्यमा बुद्धिरूप है तथा पश्यन्ती निर्विकल्पक बुद्धि है।[1] व्यक्ति को जो भी बोध होता है, उसे वह वाणी के रूप में मुखरित करता है। ज्ञान का निर्विकल्पक स्वरूप ही प्रतिपक्षियों को पश्यन्ती के रूप में अभिमत है यथा सविकल्पक बुद्धिवृत्ति या सविकल्पक ज्ञान मध्यमा वाक् के रूप में अभिमत है।

वाणी का यह मुखरित स्वरूप जिसे आकाश का गुण कहा गया है, शब्द है और यही शब्द जब प्रमाता में शाब्दबोध उत्पन्न करता है तो शब्द प्रमाण बनता हैं। वर्ण, पद, वाक्य या भाषा—ये सब सार्थक शब्द के विभिन्न रूप हैं। नैयायिक लोग वर्ण को तो अनित्य मानते हैं अतः इनके मत में शब्द की न्यूनतम इकाई जिसके द्वारा अर्थ बोध हो सकता है, वह पद है। वाक्य पदों का एक विशेष समूह होता है जो एक, पूर्ण इकाई ज्ञान का कथन करता है या अर्थबोध कराता है। हम यह देख चुके हैं कि नैयायिकों ने यथार्थ ज्ञान के चार रूप स्वीकृत किये—प्रत्यक्षप्रमा, अनुमिति, उपमिति और शाब्द-बोध। इनमें से आद्य तीन प्रमाओं और उनके प्रमाणों पर हम विचार कर चुके हैं। चौथी प्रमा शाब्दी प्रमा या शाब्दबोध है। यह शाब्द-ज्ञान अन्य ज्ञानों से भिन्न स्वभाव का होता है, क्योंकि इसमें इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष द्वारा तो ध्वनि रूप शब्द का ग्रहण होता है, परन्तु उस शब्द के ग्रहण द्वारा संकेत-ग्रह के साहाय्य से जो ज्ञान होता है, उसका स्वभाव पदार्थ का होता है। जब वक्ता

---

१. अन्तः सङ्कल्पो वर्ण्यते मध्यमा वाक्,
सेयं बुद्ध्यात्मा नैष वाचः प्रभेदः।
बुद्धिर्वाच्यं वाचकं चोल्लिखन्ती,
रूपं नात्मीयं बोधभावं जहाति॥
पश्यन्तीति तु निर्विकल्पकमतेर्नामान्तरं कल्पितम्,
विज्ञानस्य हि न प्रकाशवपुषो वाग्रूपता शाश्वती।
जातेऽस्मिन् विषयावभासिनि ततः स्याद्वावमर्शो गिरो,
न स्याद्वापि न जातु वाग्विरहितो बोधो जडत्वं स्पृशेत्॥

—न्या० म० भाग १, पृ० ३५५

द्वारा उच्चारित सार्थक शब्द समूह श्रोता में एक, पूर्ण व निरपेक्ष बोध उत्पन्न करता है, तो इस बोध के करणभूत शब्द समूह को शब्द-प्रमाण कहा जाता है।

न्याय में आप्त के वाक्य को शब्द-प्रमाण कहा गया है। वाक्य शब्द का ही एक रूप है जो सर्वथा निरपेक्ष एक इकाई ज्ञान का कथन करता है या उसकी उत्पत्ति में कारण बनता है। आप्त इसलिये कहा गया है कि वक्ता द्वारा उच्चरित वाक्य श्रोता में स्मृति, विपर्यय, संशय आदि का कारण न बन सके।[1] यह प्रमाण बनने वाला शब्द लौकिक भी हो सकता है और वैदिक भी।[2] चूँकि वेद परमाप्त ईश्वर प्रणीत है, अतः सभी वैदिकवाक्य शब्द प्रमाण हैं। लोक में तो कोई ही पुरुष यथादृष्ट अर्थ का सत्य कथन करने के कारण, शाब्दबोध के कारण रूप शब्द का कथन करता है। अतः कोई-कोई ही लौकिक वाक्य शब्द प्रमाण होता है।

शब्द के प्रमाण्य के विषय में विद्वानों में मतभेद है। सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा और वेदान्त में शब्द को प्रमाण माना गया है, परन्तु चार्वाक, बौद्ध, जैन और वैशेषिक शब्द को प्रमाण नहीं मानते। यहाँ यह एक बहुत रोचक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जिन दर्शनों में शब्द का प्रमाणत्व स्वीकृत किया गया है, उनके अध्येताओं का मार्ग तो निष्कण्टक है, उनकी लोक यात्रा अक्लेशेन सम्पन्न हो जाएगी, परन्तु जिन दर्शनों में शब्द का प्रमाणत्व स्वीकृत नहीं है, उनके अध्येताओं की लोकयात्रा कैसे संभव होगी? जब शब्द को प्रमाण ही न स्वीकार किया जायेगा, शब्द में प्रमाजनन की क्षमता न होगी तो शब्द के प्रयोग की ही क्या सार्थकता होगी? शब्द सुनने पर भी जब उनसे किसी प्रमा का उदय संभव न होगा तो उसे श्रोत्रगम्य बनाने के लिए उसके उच्चारण का प्रयत्न कोई क्यों करेगा? जब शब्द सुनकर कोई भी अर्थोपलब्धि नहीं होती है तो उसे सुनने के लिए कोई उत्कर्ण क्यों होगा? फलतः शब्द का बोलना और सुनना दोनों ही निरर्थक होने से संसार अशाब्द हो जाएगा। ऐसी स्थिति में शब्द को अप्रमाण मानने वाले दार्शनिकों का अपने पक्ष तथा परपक्ष के व्यक्तियों के साथ सब प्रकार का शब्द व्यवहार लुप्त हो जाएगा।

वस्तुतः शब्द को अप्रमाण मानने का तात्पर्य यह नहीं है कि शब्द से किसी

---

१. आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः उपदेष्टा चेति। —न्या० भा०, १।१।६

अपि च, ऋष्यार्यम्लेच्छसामान्यं वक्तव्यं चाप्तलक्षणम्।

—न्या० म० भाग १, पृ० १३८

२. स द्विविधः दृष्टादृष्टार्थत्वात्। —न्या० सू०, १।१।८

प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती। वरन् शब्द से प्रमा की उत्पत्ति और शब्द व्यवहार तो मनुष्य मात्र को अभिप्रेत है। किन्तु शब्द को अप्रमाण कहने का तात्पर्य केवल यह है कि शब्द से जो प्रमा उत्पन्न होती है, वह उस सम्प्रदाय को अभिमत प्रमाणों से जन्य प्रमा से भिन्न स्वभाव की नहीं होती। शब्द जन्य प्रमा का उन प्रमाओं से स्वरूपतः कोई भेद नहीं होता। जैसे—चार्वाक शब्द जन्य प्रमा को प्रत्यक्ष मानते हैं और बौद्ध, जैन और वैशेषिक उसे अनुमिति से अभिन्न मानते हैं।

शब्द को प्रमाण न मानने पर भी शब्दमूलक लोक-व्यवहार के परिहारार्थ इस प्रकार की बातें नैयायिकों को अभिमत नहीं। उनका कहना है कि जब इन दार्शनिकों को शब्द द्वारा लोक-व्यवहार से अपेक्षणीय यथार्थबोध का उदय मानना ही है, तब शब्द को अप्रमाण कहने का क्या अर्थ रह जाता है? यह कहना—कि शब्द किसी ऐसे अर्थ की अवगति नहीं करा सकता जो अन्य प्रमाणों से गृहीत नहीं होता, अतः अप्रमाण है—भी ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द से उपस्थित होने वाले तत्तत् अर्थों के अलग-अलग प्रमाणान्तर से विदित होने पर भी श्रोता में उनका परस्पर सम्बन्ध तो शब्द के लिए नया ही होता है। जो शब्द-जन्य बोध से पूर्व प्रमाणान्तर से विदित नहीं रहता। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि चूंकि शब्दों से होने वाले लोक-व्यवहार का अपलाप नहीं किया जा सकता, अतः शब्दों से यथार्थ बोध के उदय का भी अपलाप नहीं किया जा सकता, और जब यथार्थ बोधात्मक प्रमा का जन्म शब्द द्वारा अभिमत है, तब इसके प्रमाणत्व का भी अपलाप नहीं किया जा सकता। इसलिये शब्द का प्रमाणत्व निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है।

शब्द के प्रामाण्य पर शङ्का—विविध पूर्वपक्ष :

चार्वाक या लोकायत मत के आचार्य प्रत्यक्ष मात्र को प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्षातिरिक्त अनुमानादि का प्रामाण्य उन्हें स्वीकार्य नहीं है।[1] अतः चार्वाक शब्द को भी प्रमाण नहीं मानते।

शब्द के प्रमाणत्व के विरुद्ध चार्वाकों का सबसे प्रमुख आक्षेप यह है कि शब्द विकल्पमूलक होते हैं। शब्द-प्रमाणवादी शब्द को इसलिये प्रमाण मानते हैं

---

१. तथा चाहुः प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानार्थनिश्चयोदुर्लभः।

—न्या० म० भाग १, पृ० १०८

तुलनीय—अथ प्रमाणस्यागौणत्वाद् अभ्रान्तत्वादनुमानस्य तु भ्रान्तत्वादप्रामाण्यमित्युच्यते। —कर्णगोभि टीका, पृ० २६

कि इससे अर्थ की प्रतीति होती है। परन्तु अर्थ तो यथार्थ तत्त्व है, जबकि शब्द कल्पनामूलक तत्त्व है, क्योंकि शब्द की उत्पत्ति विकल्प से होती है। अतः यह विकल्पमूलक शब्द किसी भी प्रकार से तात्त्विक अर्थ से सम्बद्ध नहीं हो सकता।[१] शब्द से होने वाला अर्थबोध बाह्यार्थ से किसी भी प्रकार समन्वय नहीं रख सकता। अतः अर्थ से असन्तुष्ट होना शब्दों का स्वभाव ही है। जैसे कोई कहे—अङ्गुलि की अगली कोर में सौ हाथी स्थित हैं। यहाँ इस वाक्य का बाह्यार्थ से कोई समन्वय नहीं है, क्योंकि अङ्गुलि की कोर में हाथी की एक पाव भी स्थित होना असम्भव है, सौ हाथी कैसे स्थित होंगे ? यदि शब्द प्रमाणवादी यह कहें कि शब्द से होने वाले अयथार्थ ज्ञान का कारण शब्द की विकल्पमूलकता नहीं वरन् वक्ता पुरुषगत दोष है, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि यदि अर्थ के समन्वय के अभाव के कारण पुरुषगत दोष मान लें, तो मूकादि पुरुष इन दोषों से युक्त होते हुए भी शब्दोच्चारण के अभाव में इस प्रकार के अनर्थ के हेतु न हो सकेंगे। दूसरी ओर कोई वक्ता जिसमें हृदय कालुष्य रञ्च मात्र भी न हो, परन्तु यदि वह 'अङ्गुलि की नोक में सौ हाथी है' यह वाक्य कहेगा तो अनर्थ उत्पन्न होगा ही। अतः शब्द का स्वभाव ही है कि वह अर्थ से सर्वदा असंस्पृष्ट होता है। नितान्त काल्पनिक शब्द किसी प्रकार वास्तविक बाह्यार्थ का बोध नहीं करा सकता है।

बौद्ध आचार्य भी विकल्पमूलक होने के कारण शब्द को प्रमाण नहीं मानते।[२] शब्द की उत्पत्ति विकल्प से होती है तथा विकल्प की उत्पत्ति शब्द से होती है। 'मैं इस अर्थ को प्रतिपादित करूँ' इस प्रकार के विकल्पात्मक अर्थ के प्रतिपादन में शब्द का प्रयोग होता है और 'इस अर्थ को मैंने शब्द से जाना' इस प्रकार का अर्थ उसी विकल्पमूलक शब्द से ही जाना जाता है। अतः विकल्प और शब्द में अन्योन्यथा सम्बन्ध होने के कारण शब्द का वास्तविक बाह्यार्थ से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता।

१. विकल्पमात्रमूलत्वान्नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यमी।—न्या० म० भाग १, पृ० १४३

२. विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः।
तेषामन्योऽन्यसम्बन्धे नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यमी॥

सम्भवतः यह प्रसिद्ध कारिका बौद्ध आचार्य दिङ्नाग की है, जिसे जयन्त (न्या० म० भाग १, पृ० १४५) की तरह अन्य आचार्यों ने भी उद्धृत किया है। जैसे—स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ७०१, सिद्धिविनिश्चय टीका, पृ० ४४९, ६२० तथा नयचक्रटीका, पृ० २४३।

शब्द प्रमाणवादी शब्द और अर्थ के मध्य किसी न किसी सम्बन्ध की सत्ता स्वीकार करते हैं, चाहे यह सम्बन्ध नित्य हो, या साङ्केतिक या तादात्म्य। शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव मानने वाले बौद्ध तार्किकों के मत में शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध होता है, जैसे विषय और ज्ञान के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध होता है। आन्तर अर्थ विवक्षा शब्द का सम्बन्ध है और विषय तथा ज्ञान के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध होता है, अतः शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध है।[1] कुछ आचार्य शब्द और अर्थ के मध्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध मानते हैं, क्योंकि शब्द और अर्थ के मध्य कारणकार्य सम्बन्ध होता है। न्याय-मत में शब्द और अर्थ के मध्य संकेत सम्बन्ध होता है,[2] तथा मीमांसक मत में यह सम्बन्ध स्वाभाविक होता है।[3]

चार्वाक दार्शनिक शब्द और अर्थ के मध्य किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का निषेध करते हैं। न तो यह सम्बन्ध तादात्म्य या तदुत्पत्ति है, न संकेत[4] और न स्वाभाविक,[5] वरन् शब्द और अर्थ के मध्य किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता और इसलिये शब्द का वाचकत्व भी सम्भव नहीं है, क्योंकि विना किसी सम्बन्ध के शब्द की वाचकता नहीं हो सकती।[6]

---

१. शब्दार्थयोः सम्बन्धव्यतिरेकात्। —तत्त्वो०, पृ० ११३
तुलनीय, सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।—विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० ९२

२. सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य। —न्या० सू०, २।१।५६

३. औत्पत्तिकस्तु शब्दार्थेन सम्बन्धः —मी० सू०, १।१।५
विशेष—शबरस्वामी ने लक्षणा द्वारा औत्पत्तिक शब्द का अर्थ स्वाभाविक माना है। औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया।
—शा० भा०, १।१।५

४. नापि सामयिकः शब्दार्थयोः सम्बन्धः, शब्दार्थव्यक्तीनामानन्त्यादभिन्नैक-निमित्तस्य चासम्भवात्। —तत्त्वो०, पृ० ११४

५. नाऽपि स्वाभाविकः शब्दार्थयोः सम्बन्धः तद्गत्याभावात्, न प्रत्यक्षेण नाप्यनुमानेन। —वही, पृ० ११४

६. एवञ्च सति सम्बन्धमन्तरेण पदानां वाचकत्वं न युज्यते।
तदवाचकत्वे च तत्पूर्वकस्य वाक्यस्यापि वाचकत्वं न लभ्यते॥
—वही, पृ० ११४

जयन्त द्वारा पूर्वपक्ष का खण्डन और शब्द के प्रमाणत्व का समर्थन :

जयन्त ने इस पूर्वपक्ष पर व्यापक स्तर पर विचार किया। पूरे चार आह्निकों अर्थात् न्यायमञ्जरी के एक तिहाई हिस्से में जयन्त ने शब्द के प्रामाण्य के समर्थन के लिए व्यापक गवेषणा प्रतुस्त की है। शब्द के प्रामाण्य का समर्थन करते हुए न्याय-मत द्वारा आगम प्रामाण्य की सिद्धि के लिए ईश्वर सिद्धि और वेद के प्रामाण्य की सिद्धि तथा शब्द और अर्थ के मध्य संकेत सम्बन्ध की सिद्धि द्वारा शब्द की वाचकता का समर्थन और वाक्यार्थ बोध की निजी सूझ--इन सभी पक्षों पर न्याय-दर्शन के इतिहास में पहली बार जयन्त ने अपनी 'न्याय-मञ्जरी' में इतनी विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है, जिसे हम आलोच्य विषय के तत्तद् अंशों में देखेंगे। यहाँ पर हम शब्द पर आशंकित अर्थासंस्पर्शित्व दोष पर विचार करके शब्द के प्रामाण्य का समर्थन करेंगे।

शब्द के अर्थासंस्पर्शित्व के विरोध में जयन्त का कहना है कि यदि कभी किसी भी दशा में शब्द यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ न होता तो यह स्वीकार भी किया जा सकता था कि शब्द का वास्तविक बाह्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु हम देखते हैं कि शब्द से बहुशः यथार्थ ज्ञान होता है, जैसे प्रमादप्रतारणादि से शून्य आप्तपुरुष कहता है कि 'नदी के किनारे फल हैं' और वक्ता के वाक्य-श्रवण से प्रवृत्त होकर श्रोता, वस्तुतः तथावत् बाह्यार्थ को उपलब्ध करता है, अतः शब्द अर्थ का वाचक होता है। शब्द अर्थ से संस्पृष्ट होता है,[1] संकेत-सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है।[2] यह भी नहीं कहा जा सकता कि आप्त-व्यक्ति 'अङ्गुलि कोर में सौ हाथी स्थित हैं' जैसे वाक्यों का प्रयोग करें तो ऐसे वाक्य से उपलब्ध अर्थ बाह्यार्थ से समन्वित मानना होगा, आप्तोच्चारित होने के कारण। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि आप्तपुरुष ऐसे अनर्गल वाक्यों का उच्चारण ही नहीं करता। इसलिए शब्द का सम्बन्ध विषय विवक्षा या कल्पना से न होकर बाह्यार्थ से होता है।[3]

---

१. भवति तु गुणवत्पुरुषभाषितान्नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वाक्यादतिरस्कृत-बाह्यार्थो यथार्थः प्रत्ययः ततः प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्तेः।

—न्या० म० भाग १, पृ० १४५

२. न च नित्यसम्बन्धाभावेऽपि शब्दस्यार्थास्पर्शित्वं समयबलेनार्थप्रत्ययस्याबाधितस्य सिद्धेरित्युक्तत्वात्।

—वही, पृ० २२५

३. न हि विवक्षा नाम शब्दस्य वाच्योविषयः किन्त्वर्थ एव तथा।

—वही, पृ० १४३

यद्यपि किसी को उपदेश देने की दृष्टि से आप्तपुरुष उक्तवाक्य का उच्चारण कर भी सकता है। उदाहरणार्थ-- आप 'अङ्गुलि कोर में सौ हाथी हैं', जैसे अतात्त्विक वाक्यों का उच्चारण न करें'--फिर भी 'ऐसे वाक्यों का उच्चारण न करें', इस निषेध वाक्य से उक्त निरर्थक वाक्य की एक-वाक्यता है, अतः इस यथार्थक प्रतिषेध-वाक्य से एकवाक्यता होने के कारण उक्त निरर्थक वाक्य के उच्चारण के कारण आप्त व्यक्ति में निरर्थक वाक्यों के उच्चारण की प्रवृत्ति की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि उक्त स्थल में उस वाक्य का प्रयोग आप्त व्यक्ति केवल दृष्टान्त के लिए करता है, अतः वहाँ पर निरर्थक वाक्य का दृष्टान्त देने की इच्छा से वह व्यक्ति किसी अर्थ की अपेक्षा में उक्त वाक्य का उच्चारण न करके केवल उसका अनुवाद मात्र करता है। यदि हम अनुवाद मात्र न मानकर वाक्य को अर्थपरक मान लें, तो निषेध वाक्य की निषेध-वाक्यता ही नहीं होगी, क्योंकि निषेध के लिए प्रयोग किया गया यह दृष्टान्त-भूत वाक्य स्वपरक न होकर निषेध्यसमर्पणपरक है। इसलिए आप्त वाक्यों में अयथार्थत्व के अभाव के कारण शब्द स्वभावतः अर्थ से असम्बद्ध नहीं हैं। वरन् अर्थ की अयथार्थता विषयक जो दोष अर्थ ग्रहण प्रक्रिया में आता है, वह पुरुषकृत है, शब्दकृत नहीं। जो शब्द अर्थ से समन्वय नहीं स्थापित कर पाते ऐसे वाक्यों का उच्चारण प्रमत्त व्यक्ति ही करेगा। अतः यहाँ पर दोष वक्तापुरुष का है न कि शब्द का। शब्द तो स्वभावतः अर्थ का वाचक है। संकेत-ग्रहयुक्त श्रोता में आप्तवक्ता द्वारा उच्चारित शब्द तात्त्विक अर्थबोध की उत्पत्ति करता ही है। इसलिये शब्द और अर्थ के वाचक-वाच्य सम्बन्ध का निषेध कथनीय नहीं किया जा सकता। बाह्यार्थ से शब्दार्थ के समन्वय न होने का कारण केवल पुरुषगत दोष या पुरुषकृत दोष है, शब्द नहीं। जयन्त एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति किसी पुरुष की बात सुनकर प्रवृत्त होता है और प्रवृत्ति साफल्य नहीं होता तो कहता है 'हाय, मुझे अमुक धूर्त ने, दुष्ट ने, ठग लिया' इस प्रकार पुरुष को ही प्रवृत्ति वैफल्य का दोष देता है, शब्द को नहीं। इसी प्रकार प्रवृत्ति साफल्य की स्थिति में कहता है 'अमुक सज्जन पुरुष ने ठीक उपदेश किया था।' यहाँ वह पुरुष को ही हेतु मानता है शब्द को नहीं। इस प्रकार पुरुष ही शब्द के अर्थ समन्वय में विप्लव या याथार्थ्य का कारण बनता है, शब्द नहीं।[१] इसलिये अयथार्थ ज्ञान या बाह्यार्थ से असम्बद्ध शब्दज ज्ञान में पुरुषगत दोष

१: पदार्थानां तु संसर्गमसमीक्ष्य प्रजल्पतः।
वक्तुरेव प्रमादोऽयं न शब्दोऽत्रापराध्यति ॥ —न्या० म० भाग १, पृ० १४६

की उपलब्धि होने से अर्थ से शब्द के सम्बन्ध में कोई आँच नहीं आती। हम देखते हैं कि व्यक्ति अपने ज्ञान को शब्दों द्वारा दूसरों के लिए प्रकाशित करता है। यदि व्यक्ति का मूल ज्ञान प्रमाणजन्य है तो शब्द ज्ञान भी प्रमा होगा और यदि वह अयथार्थ है तो शब्द-ज्ञान दुष्ट होगा, अप्रमा होगा। इसलिए आप्त पुरुष का मूल ज्ञान प्रमा होता है, अनाप्त का ज्ञान अप्रमा होता है। अतः शाब्द-बोध में अव्यवस्था का कारण शब्द नहीं वरन् पुरुष का मूल ज्ञान है। जो व्यक्ति बिना सही ज्ञान प्राप्त किये ही दूसरों को किसी अर्थ का उपदेश करता है, वहाँ भी शाब्द ज्ञान की अयथार्थता वक्ता के ज्ञान का दोष है, शब्द का नहीं। इस प्रकार शाब्द-ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में पुरुषगत गुण-दोषों के अन्वय-व्यतिरेक का साक्षात् सम्बन्ध है,[1] न कि शब्द के अर्थासंस्पर्शित्व का। अतः शब्द अर्थ से सम्बद्ध होते हुए भी वक्ता के दोषों के कारण अव्यवस्थित या अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न करता है।[2]

इस प्रकार शब्द के प्रामाण्य सम्बन्धी आक्षेपों का निराकरण हो जाने पर शब्द के प्रामाण्य पर कोई उँगली नहीं उठाई जा सकती।

शब्द की अनित्यता

शब्द के स्वभाव के विषय में विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों में मतभेद है। बाह्यार्थवादी नैयायिकों का बौद्ध आदि वैनाशिकों से प्रस्तुत प्रसङ्ग में जहाँ मत-साम्य है, वहीं मीमांसा और व्याकरण की मान्यताओं से न्याय का विरोध है। वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, जैन और बौद्ध—ये लोग कार्यशब्द अर्थात् शब्द की अनित्यता में विश्वास रखते हैं, जबकि वेदान्त, मीमांसा और व्याकरण में शब्द को नित्य माना गया है। शब्दनित्यत्वानित्यत्व के प्रसङ्ग में न्याय का मुख्य विरोध मीमांसकों और वैयाकरणों से है। न्याय और मीमांसा की अव-धारणाओं में इतना प्रबल विरोध अन्य प्रसङ्गों में नहीं है, जितना शब्द की नित्यता और अनित्यता के प्रसङ्ग में है। एक ओर जहाँ मीमांसा सूत्रकार अनेक तर्क देकर शब्द की नित्यता और अभिव्यक्ति की सिद्धि करते हैं; वहीं दूसरी ओर न्यायसूत्रकार महर्षि अक्षपाद मीमांसा के तर्कों का खण्डन करते

---

१. तस्मात्पुरुषगतगुणदोषान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् तत्कृते एव शाब्दयथार्थायथार्थत्वे।
—न्या० म० भाग १, पृ० १४६

२. तेनाभिधातृदौरात्म्यकृतेयमयथार्थता।
प्रत्ययस्येति शब्दानां नार्थासंस्पर्शिता स्वतः॥
—वही, पृ० १४६

हुये दृढ़तर तर्कों द्वारा शब्द की अनित्यता की सिद्धि करते हुये शब्द की कार्यता का समर्थन करते हैं। न्यायभाष्यकार तथा वार्त्तिककार ने न्याय की परम्परागत मान्यता शब्दानियत्व का समर्थन किया। मीमांसासूत्रों के भाष्यकार शबरस्वामी और वार्त्तिककार कुमारिल ने शब्द नित्यत्व का पूर्ण समर्थन किया। इस तरह न्याय और मीमांसा की शब्दनित्यत्वानित्यत्व विषयक अवधारणाओं में भेद बढ़ता ही गया। इसी परम्परा में आचार्य जयन्त ने न्यायपक्ष से मीमांसकों के शब्द-नित्यत्व तथा वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त का खण्डन करके नैयायिकाभिमत शब्दा-नियत्व पक्ष की स्थापना की। यहाँ हम पहले मीमांसक पक्ष प्रस्तुत करके उसका जयन्त-सम्मत खण्डन करेंगे।

मीमांसक सम्मत शब्द-नित्यत्ववाद :

मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और इसीलिये वे शब्द की उत्पत्ति का निषेध करके शब्द की अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। प्रयत्न, स्थानादि के द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होती है और अभिव्यक्ति के कारण शब्द अचिरस्थाई होता है और सुनाई नहीं देता। 'शब्दं करोति' आदि प्रयोगों में करोति का व्यपदेश केवल प्रयोग के लिये होता है, उससे सिद्धस्वरूप शब्द की कार्यता स्पष्ट नहीं होती है।[1] पवन के संयोगविभाग द्वारा चिरस्थाई शब्द विभिन्न देशों में अभिव्यक्त हो जाता है, परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति होती है। 'दध्यत्र' आदि प्रयोगों में इकारस्थान में यकारभाव उस प्रकार का विकार नहीं है जैसे क्षीर का विकार दधि होता है, वरन् प्रयत्न एवं स्थान साम्य के कारण यह सादृश्य दिखाई पड़ता है,[2] और सादृश्य दर्शन के बल पर नेत्र को कमलपुष्प का विकार नहीं माना जा सकता है। सामग्री में वृद्धि या अल्पता से वस्तुतः शब्द की अभिव्यक्ति में तारतम्य देखा जाता है, न कि शब्द के मौलिक स्वरूप में। शब्द तो नित्य है और अपरिवर्तनीय है।

शब्द व्यवहार का प्रयोजन होता है—शब्द द्वारा अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना, परन्तु यदि शब्द को अनित्य मान लिया जायगा तो शब्द से अर्थग्रह की उपपत्ति न होगी। अर्थग्रहण के लिये स्थायी शब्द की अपेक्षा होती है। यहाँ पर विकार्य—शब्दपक्ष में ये आक्षेप प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

---

१. यदपरं कारणमुक्तं शब्दं कुरु मा कार्षीरिति व्यवहर्त्तारः प्रयुञ्जते। यद्यसंशयं शब्दः नित्यः, शब्दप्रयोगं कुर्विति भविष्यति। —शा० भा०, १।१।६।१०

२. यद्विक्रियते तदनित्यम्। इकारसादृश्यं च यकारस्योपलभ्यते तेनापि तयोः प्रकृतिविकारभावो लक्ष्यते। —वही, १।१।६।१४

(१) यदि शब्द नश्वर है तो अर्थग्रहण के लिये आवश्यक शब्दार्थ सम्बन्ध का ग्रहण सभव नहीं होगा।

(२) यदि नश्वर शब्द से ही सम्बन्ध स्वीकार कर लें तो नष्ट होने वाले शब्द का सम्बन्ध ग्रहण न हो पाने पर उसके द्वारा उत्पाद्यमान अन्य अभिनव शब्द अर्थ प्रतिपत्ति के साधन कैसे होंगे ?

(३) यह स्वीकार करना भी ठीक नहीं है कि एक बार में उच्चरित शब्द से वक्तृनिष्ठ और श्रोतृनिष्ठ सभी अर्थग्रहण विषयक व्यापार सम्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि इतनी क्रियायें जो एक के बाद एक होती हैं, एक ही काल में एक साथ कैसे होंगी ?

(४) मूल वक्ता के सम्बन्ध सादृश्य का जहाँ सम्बन्ध ग्रहण संभव नहीं हो पाता, वहाँ ऐसे परवर्त्ती शब्दों के प्रसंग में उसका अनुवर्तन होता है। इसलिये मीमांसक यही मानते हैं कि शब्द नित्य है। प्रयोजक वृद्धद्वारा 'गामानय' कहे जाने पर प्रयोज्य वृद्ध में गो पदार्थ के आनयन विषयक व्यवहार को देखकर तटस्थ बालक गो शब्द से गाय अर्थ में सम्बन्ध का ग्रहण कर लेता है—कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ से सम्बन्ध है।

शब्द से अर्थ की प्रतीति में अर्थापत्ति प्रमाण है। अर्थापत्ति का स्वरूप यह है—'शब्द द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है, अन्यथा अनुपपत्ति होने से।' शब्द अर्थ—प्रतीति का साधन होता है और शब्द भिन्न अर्थ, अर्थप्रतीति में अनुपपन्न हैं।[1] इस लिये अर्थप्रतीति का हेतु होने से शब्द की नित्यता सिद्ध होती हैं। मीमांसक शब्द को निरवयव स्वीकार करते हैं। सावयव पदार्थों की अवयवविनाशजन्य अनित्यता (समवायिकरण नाश या असमवयिकारण नाश से) सिद्ध होती है। शब्द निरवयव है अतः नित्य है। शब्द का सावयवत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सावयव द्रव्यों के अवयवों का प्रत्यक्ष होता है, अथवा ये अवयव अनुमित किये जा सकते हैं, परन्तु पट के तन्तुओं की तरह वर्ण के अवयवों की प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्धि नहीं होती और प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान भी सभव नहीं है। यदि शब्द को आकाश के आश्रित मानें तो आश्रयभूत आकाश की नित्यता के कारण आश्रित धर्म शब्द भी विनष्ट नहीं होंगे। आकाश के अलावा शब्द का और कोई आश्रय नहीं हो सकता अतः निरवयवत्व के कारण शब्द नित्यता सिद्ध होती है।

मीमांसकों ने शब्द नित्यता का एक हेतु यह भी दिया है कि शब्द में संख्या का अभाव होता है। जिन द्रव्यों में संख्या के दर्शन होते हैं, वे अनित्य होते हैं।

---

१. तथैव तद्विशेषोऽपि विशिष्टग्रहणाद् भवेत्।
शब्दोत्पत्तेर्निषिद्धत्वाद् अन्यथानुपपत्तितः॥ —श्लो० वा० शब्द०, १२६
अपि च, नित्यतायां च सर्वेषामर्थापत्तेः प्रमाणता। —वही, ३०६

परन्तु संख्या रहित होने से शब्द नित्य है। यदि 'कृत्वसुच्' प्रत्यय के प्रयोग पञ्चकृत्वः अष्टकृत्वः आदि शब्दों में संख्या की उपलब्धि आक्षिप्त मानें तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलों में 'कृत्वसुच्' शब्द के एकत्व को ही सिद्ध करता है।[1] यदि कई गवर्णों में संख्या का प्रत्यक्ष कहा जाय तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुतः यहाँ एक ही गवर्ण की बार-बार 'प्रत्यभिज्ञा' होती है। इस प्रकार शब्द में संख्या की सिद्धि नहीं होती। जैसे काले बादलों से घिरी रात में भी उत्पन्न धीमी और क्षणिक प्रकाश की किरणों से किसी पदार्थ का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार लगातार संयोग या विभाग से जन्म लेने वाली क्षणिक वायु के द्वारा शब्द की प्रत्यभिज्ञा होती है।[2]

मीमांसक सम्मत शब्दाभिव्यक्ति पक्ष और तद्द्वारा शब्दकार्यत्व का निषेध :

मीमांसक शब्द को नित्य और विभु मानते हैं। उपलब्धि के अवसर पर शब्द की वायु द्वारा अभिव्यक्ति होती है। अतः नित्य होता हुआ भी शब्द अनभिव्यक्त होने के कारण सदा उपलब्ध नहीं होता। शब्द की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। मीमांसक नैयायिकों के विविध आक्षेपों का निषेध करके शब्दाभिव्यक्ति पक्ष[3] की स्थापना करते हैं। मीमांसक संस्कार पक्ष को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि करण का संस्कार होता है, करण अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय किसी विशेष वायु के उपघात रूप संस्कार से संस्कृत होकर विशेष शब्दों का ही ग्रहण करती है।[4] शब्दों की अभिव्यक्ति में श्रवणेन्द्रिय का सामर्थ्य नियम मीमांसकों को अभिप्रेत है, जैसे नैयायिक वायु के संयोग विभाग द्वारा ही श्रवण देश में शब्द की उत्पत्ति मानते हैं, उसी तरह मीमांसक यह मानते हैं कि वायु के संयोग विभाग के द्वारा ही शब्द की अभिव्यक्ति होती है।

अभिव्यक्ति में व्यञ्जकव्यङ्ग्यभाव की उपपत्ति के लिये ये एक दृष्टान्त

---

१. कृत्वसुच्चापि नैवायं व्यभिचारीति गम्यते।
यतः प्रयुज्यते चैकब्रह्मणत्वविवक्षया ॥—श्लो० वा० शब्दनित्य० ३७१

२. यथा निशीथे रोलम्बश्यामलाम्बुदडम्बरे।
प्रत्यभिज्ञायते किञ्चिदचिरद्युतिधामभिः ॥
तथाऽविरतसंयोगविभागक्रमजन्मभिः।
प्रत्यभिज्ञायते शब्दः क्षणिकैरपि मारुतैः ॥—न्या० म० भाग १, पृ० १९४

३. श्लो० वा० शब्दनित्य, २८-२९।

४. यथा घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते।
चक्षुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिः स्याच्छ्रोत्रसंस्कृतः ॥ —वही, ४२
अपि च, द्रष्टव्य—वही, ५१-५९।

देते हैं कि जिस प्रकार से गन्ध केवल पृथ्वी में उपलब्ध होती है और घ्राणेन्द्रिय से ही गृहीत होती है, परन्तु फिर भी विभिन्न व्यञ्जकों के परिप्रेक्ष्य में गन्ध की उपलब्धि कभी अग्नि संपर्क से, कभी सूर्य की किरणों के सम्पर्क से और कभी जल के सम्पर्क से गन्ध की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार शब्द की उपलब्धि में भी व्यञ्जकव्यङ्ग्यभाव है। सबके लिये सार्व पवनापनोदन मात्र ही करण का संस्कार नहीं है, अपितु यह संस्कार कई योग्यताओं से मिलकर बनता है जिनमें से प्रत्येक योग्यता एक विशिष्ट वर्ण को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है।

यदि नैयायिक यह कहें कि आकाश को श्रोत्रेन्द्रिय मान लेने पर सभी प्राणियों की श्रोत्रेन्द्रिय एक साथ संस्कृत हो जायेगी, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथमतः तो सबके श्रवण ही एक नहीं होते, दूसरे उनमें धर्माधर्म संस्कार नियामक होते हैं। श्रवणेन्द्रिय यद्यपि आकाश ही मानी जाती है. पर यह आकाश घटाकाश की तरह कर्णपटल से उपहित होता है और धर्माधर्म से युक्त होता है। इसीलिये श्रवण पटलावच्छिन्न आकाश के सर्वसुलभ होते हुये भी बधिर लोग श्रवणेन्द्रिय रहित होते हैं। भर्तृमित्र नामक प्रसिद्ध मीमांसक का मत यहाँ उल्लेखनीय है—पवनजन्य संस्कार वाला पक्ष ही श्रेयष्कर है, क्योंकि यह संस्कार नहीं स्वीकार किया जाना चाहिये, फिर भी जाति की तरह इसका संस्कार स्वीकर्तव्य है। जिस तरह से अपने सभी आश्रयों में रहने वाली जाति किसी पिण्ड विशेष में ही गृहीत होती है, उसी तरह निरवयव शब्द नाददेश में ही गृहीत होता है। जिस तरह पिण्ड जाति का अभिव्यञ्जक है, उसी प्रकार ध्वनि शब्द की अभिव्यञ्जक है।

शब्द के सर्वगतत्व और निरवयवत्व के कारण तीव्रत्व मन्दत्व आदि शब्द में ही रहते हुये प्रतीत होने वाले धर्म वस्तुतः इसी वर्णध्वनि के धर्म हैं। अतएव मीमांसक-सम्मत शब्दाभिव्यक्ति पक्ष ही स्वीकर्तव्य है, शब्दोत्पत्ति पक्ष नहीं।

उत्पत्ति पक्ष की अपेक्षा अभिव्यक्ति पक्ष में लाघव प्रदर्शन :

शब्दाभिव्यक्ति विषयक अपनी मान्यता के समर्थन में मीमांसक कल्पना लाघव की सिद्धि करते हैं। शब्दकार्यतावादी न्याय, वैशेषिक, सांख्य, जैन और बौद्धों के पक्षों को प्रस्तुत करके मीमांसक उनका खण्डन करते हुये शब्दाभिव्यक्ति पक्ष में लाघव प्रदर्शित करते हैं। न्याय-वैशेषिक शास्त्र में स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार संयोग या विभाग से उत्पन्न हुआ शब्द कदम्बगोलकन्याय से उत्पत्ति देश से सभी दिशाओं में तथा वीचीतरङ्गन्याय से नियत दिशाओं में स्वसमानजातीय शब्दान्तर को उत्पन्न करता है, इसके बाद यह शब्दान्तर अन्य शब्दान्तरों को जन्म देता है और इस प्रकार इन अनेक शब्द-सन्तानों में से कोई श्रवणावच्छिन्न

आकाश में पहुँच कर उसमें समवेत होता हुआ समवाय सन्निकर्ष से श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है। न्यायमत के विरोध में मीमांसकों का कहना है कि दो ज्ञानों के मध्य कार्यकारणभाव तो होता है पर दो शब्दों के मध्य कार्यकारणभाव कभी भी सम्भव नहीं है।[१] कोई शब्द अपने समीपवर्त्ती देश में तिर्यक्, ऊर्ध्व, अधः, क्षैतिज - सर्वत्र शब्दान्तरों की उत्पत्ति कैसे कर सकता है? साथ ही इन शब्द-सन्तानों को पुनः रोकता कौन है? इस शब्द-सन्तान में कुड्यादि का व्यवधान भी नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि आकाश तो सर्वगत है और कुड्यादि सर्वगत आकाश के बीच ही स्थित हैं।[२] शब्द में वीचीसन्तान का दृष्टान्त घटित नहीं होता; क्योंकि तरङ्ग में तो मूर्तिमत्ता, क्रिया, गति आदि होती हैं, जबकि शब्द में इन सबका अभाव होता है। शब्द-शब्दान्तर का जनक कदापि नहीं हो सकता क्योंकि श्रोत्रस्थ शब्द शब्दान्तर को उत्पन्न नहीं करता।[३]

सांख्यों की यह अवधारणा है कि शब्दोत्पत्ति देश तक बुद्धि श्रोत्रेन्द्रिय प्रणालिका के द्वारा पहुँचती है और शब्दाकाराकारित होकर शब्दार्थ सम्बन्ध के द्वारा अर्थ को प्रस्तुत करती है। इस मत में मीमांसकों का यह आक्षेप है कि निकटवर्ती शब्द को बुद्धि वृत्ति प्राप्त करता है, दूरस्थ शब्द को नहीं—इस विषय में कोई नियामक नहीं है और नियम के अभाव में कान्यकुब्ज में प्रयुक्त गो शब्द को गौरमूलकदेश स्थित व्यक्ति भी क्यों नहीं सुनेगा? दूसरा आक्षेप यह है कि अमूर्त्त श्रोत्रवृत्ति कुड्यादि से व्यवहित शब्द का भी प्रत्यक्ष क्यों नहीं करेगी?[४]

शब्द नित्यत्वानित्यत्व के सम्बन्ध में जैन तार्किकों का मत है कि शब्द-पुद्गलों से बना हुआ शब्द - अवयवी अपने उत्पत्ति देश से श्रोता के कर्ण देश तक

---

१. ज्ञानसन्तानवच्चैषां सन्तानो नावकल्पते।
वेगवत्सक्रियत्वाभ्यां तरङ्गाणां तु युज्यते॥ —श्लो० वा० शब्दनित्य०, ९५

२. आरम्भप्रतिबन्धोऽस्य न च कुड्यादिभिर्भवेत्॥
न ह्यमूर्त्तस्य सद्भावो मूर्त्तमध्ये विहन्यते।
न च कुड्यादिभिर्व्योम नाश्यते सार्यतेऽपि वा॥
न तिरोधीयते तस्मात् कुड्यमध्येऽपि तद्ध्रुवम्। —वही, ९६-९८

३. शब्दं नारभते शब्दः शब्दत्वादन्त्यशब्दवत्। —वही, १०५

४. कालश्चैको विभुर्नित्यः प्रविभक्तोऽपि गम्यते।
वर्णवत् सर्वभावेषु व्यज्यते केनचित् क्वचिद्॥ —वही, ३०३

पहुँचता है और तब श्रवण होता है। इस पर मीमांसकों का यह आक्षेप है कि यदि शब्द के अवयव वर्ण और वर्ण के अवयव सूक्ष्म पुद्गलों को मान लिया जाय तो वर्ण भी अवयवी हो जायेगा जिसका पुद्गलों से जन्म होगा। इन शब्द-पुद्गलों का कभी भी ग्रहण नहीं होता है, अतः इन अगृहीत अदृश्य पुद्गलों से किसी वर्ण की उत्पत्ति बकवास नहीं तो क्या है? यदि अवयवों से मिलकर वर्ण बनता है तो बहुत शिथिल होने से प्रतिघाती हवाओं द्वारा रोक दिया जाना चाहिये और वृक्ष, पर्वत आदि से टकराकर इसे पुनः अवयवों में विभाजित हो जाना चाहिये। इसलिये जैनों का शब्दोत्पत्ति पक्ष अत्यन्त हास्यास्पद अतएव त्याज्य है।

प्रायः सभी बौद्धों की यह मान्यता है कि श्रवण किया जाने वाला शब्द श्रवणेन्द्रिय से सम्बद्ध नहीं होता, अप्राप्त ही शब्द श्रवणेन्द्रिय की विशेष शक्ति से गृहीत होता है। मीमांसकों का कहना है कि यदि अप्राप्त शब्द का ही ग्रहण मानना है तो दूरस्थ शब्द और व्यवहित शब्द भी अप्राप्त होते हैं, फिर उनका ग्रहण क्यों नहीं होता? शब्द तो श्रवण व्यापार का कर्म होता है, अतः इसे प्राप्यकारिता से अवश्य ही सम्बद्ध होना चाहिये, न कि यह अप्राप्त होता है।[1]

शब्दोत्पत्ति वादियों पर इस प्रकार आक्षेप करते हुये मीमांसक अपना अभिव्यक्ति पक्ष प्रस्तुत करते हैं।[2] उनकी मान्यता है कि जब कोई वक्ता कुछ कहने की इच्छा करता है तो विवक्षाजन्य प्रयत्न से प्रेर्यमाण होकर कौष्ठ्य वायु वेग और क्रिया से युक्त होकर बाहर निकलती है, क्योंकि मुख के सामने हाथ रखने पर पवन का प्रत्यक्ष मानने वाले उसका स्पर्श कर सकते हैं और जो लोग हवा को अनुमेय मानते हैं, वे मुख के सामने रखी हुई रुई में क्रिया उत्पन्न हो जाने से हवा का अनुमान कर सकते हैं। अन्दर से निकलने वाली कौष्ठ्य वायु सभी दिशाओं में फैलती है, और स्तब्ध हवा में नोदन उत्पन्न करती है, कर्णाकाश स्थित हवा में उत्पन्न नोदन ही शब्द को अभिव्यक्त करता है। यह वायु कर्ण शष्कुल्यवच्छिन्न आकाश तक पहुँचती है और शब्द को अभिव्यक्ति कर देती है जिससे शब्द का श्रवण होता है। वक्ता का मानसिक प्रयत्न या तो छोटा होगा या बड़ा और इसी के अनुरूप वायु अधिक या कम निःसृत होगी। इस निःसृत वायु की मात्रा से शब्द के तीव्र-

---

१. श्लो० वा० शब्दनित्यता०, ४२४-२६।

२. शब्दो यथा पौद्गलिको निषिद्धः, स्थाद्वायवीयस्य स एव मार्गः।
तस्मादनिर्धारितहेतुमार्गः, सर्वत्र साक्षाद् भवतीति नित्यः॥

—वही, ४४४

मन्दविभाग का नियमन होता है। वायु तो वस्तुतः मूर्त्त होती है, अतः प्रसृत होती हुई यह वायु जब अन्य मूर्त्त द्रव्यों के सम्पर्क में आती है तो इससे प्रतिरोध या वृद्धि दोनों ही सम्भव है। यदि वायु दीवाल से रोक ली जायेगी, तो इसका श्रवण सम्भव नहीं है। यह वायु जिस दिशा से वेगपूर्वक आती हुई उपलब्ध होती हैं, श्रोता शब्द को उसी दिशा से आया हुआ समझता है। जब शंखादि से निकली हुई वायु कर्ण देश तक पहुँचती है, तब श्रोता उसकी ध्वनि सुनता है, अतः प्रेर्यमाण वायु शब्द की अभिव्यक्ति का कारण होती है। अथवा उस अभिव्यक्त शब्द में कर्ण यद्यपि वर्ण के रूप में कुछ भी ग्रहण नहीं करता, फिर भी शब्दत्व जाति का ग्रहण तो करता ही है। मीमांसक अपने द्वारा स्वीकृत कर्णसंस्कार में अर्थापत्ति प्रमाण मानते हैं। अभिव्यक्ति पक्ष में मीमांसकों को केवल यह सिद्ध करना पड़ा है कि नित्य शब्द का सर्वकालिक ग्रहण क्यों नहीं होता और अभिव्यक्ति पक्ष में सभी वर्णों का युगपद् ग्रहण कैसे नहीं होता ? वस्तुतः एक बार में केवल एक ही वर्ण का ग्रहण होता है, इसी वर्ण की बार-बार प्रत्यभिज्ञा होने से यह सिद्ध होता है कि शब्द नित्य है। शब्दोत्पत्ति पक्ष की अपेक्षा मीमांसक इस प्रकार अपने शब्दाभिव्यक्ति पक्ष में कल्पनालाघव सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार मीमांसक प्रत्यभिज्ञा और कार्यार्थापत्ति प्रमाणों के बल पर यह सिद्ध करते हैं कि शब्द नित्य होता है और उसके उपलब्धिकाल में वायुसंस्कृत श्रवणावच्छिन्नाकाश में शब्द की अभिव्यक्ति होती है। चूंकि वेदवाक्य नित्य हैं, और इन वेद-वाक्यों का अर्थ असंगत नहीं होता, इस लिङ्ग दर्शन से यह अनुमान किया जा सकता है कि लिङ्गी शब्द नित्य होगा।

मीमांसक सम्मत शब्द-नित्यत्व का खण्डन :

न्याय दर्शन में मीमांसक सम्मत शब्दनित्यता के सहकारी प्रत्यभिज्ञा और अर्थापत्ति प्रमाणों का निषेध किया गया है।[१] अर्थापत्ति में मीमांसक यह मानते हैं कि शाब्दबोध शब्दनित्यत्व के अभाव में सम्भव नहीं है, जबकि नैयायिक शब्दार्थ बोध की अन्य प्रकार से भी उपपत्ति कर लेते हैं, अतः उक्त अर्थापत्ति दूषित हो गयी। इसी तरह मीमांसक अभिव्यक्तिकाल के शब्द भेद से शब्दानित्यत्व की आशंका से बचने के लिये परवर्ती समान ध्वनियों को एक ही वर्ण की प्रत्यभिज्ञा के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ पर मीमांसकों ने न्याय-मान्यता

---

१. न खलु भवदभिहितमेतत्प्रमाणद्वयमपि शब्दनित्यतां प्रसाधयितुमर्हति।

—न्या० म० भाग १, पृ० २००

को ठीक से समझने की भूल की है। यदि गत्वादि जाति स्वीकार कर ली जायँ तो पद और पदार्थ सम्बन्ध और तज्जन्य ज्ञान—जैसी सभी शब्द विषयक समस्यायें सुलझ जायेंगी। यद्यपि मीमांसक वर्णनिष्ठ गत्वादि जाति का निषेध करते हैं, फिर भी नैयायिक इस मत का विरोध करते हैं क्योंकि वर्ण में समवेत जाति वाग्व्यवहार का मूल है, अतः इसको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। यदि इस गत्व जाति को न स्वीकार करें तो शब्द से किसी भी प्रकार अर्थ की उपपत्ति सम्भव नहीं है। जातिहीन किसी भी पदार्थ का ग्रहण सम्भव नहीं है, चूँकि शब्द का ग्रहण होता है, अतः शब्द में जाति का समवेतत्व तो मानना ही होगा, और यदि गत्व जाति को स्वीकार कर लिया गया तो शब्द से अर्थ की उपपत्ति हो जाने पर मीमांसक सम्मत शब्दाभिव्यक्ति पक्ष भी खण्डित हो जाता है। इसलिये नैयायिकों ने शब्द अनित्यता की सिद्धि के लिये सर्वाधिक प्रयत्न यह सिद्ध करने में किया कि शब्द में जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है।

गत्वादि जाति की सिद्धि :

नैयायिक वर्णनिष्ठ गत्वादि जाति की सिद्धि के लिये सर्वप्रथम वर्ण भेद की सिद्धि करते हैं। वे दो ग वर्णों की उपलब्धि में भेद मानते हैं। गकारों के भेद का यह ज्ञान या तो व्यञ्जक भेद कृत होगा जैसा कि मीमांसक मानते हैं, या वर्णभेद के कारण होगा, जैसा नैयायिक स्वीकार करते हैं। नैयायिक दो ग वर्णों में भेद मानते हैं और इसी वर्ण भेद से वर्ण ज्ञान की भिन्नता की उपपत्ति करते हैं।[1] व्यञ्जक भेद मानने में यह दोष है कि तब य्, व्, र्, ल् आदि वर्णों का भेद भी पुनः व्यञ्जकभेद कृत क्यों नहीं है? यदि य्, व्, र्, ल् आदि ध्वनियों का भेद भी व्यञ्जक भेद से स्वीकार करें तो इसका तात्पर्य यह है कि फिर मीमांसक वैयाकरणों के अक्षर शब्द-तत्त्व को ही स्वीकार कर ले रहे हैं जो अक्षर होते हुये भी स्फोट रूप में व्यञ्जक भेद से भिन्न-भिन्न वर्णों पदों और वाक्यों की परस्पर भिन्नता का हेतु होता है।[2] यद्यपि मीमांसक एक मनुष्यवक्ता की भिन्न-भिन्न ध्वनियों य्, व्, र्, ल् आदि के इतरेतर भेद ज्ञान और भिन्न वक्ताओं मनुष्य, शुक, सारिका आदि द्वारा उच्चरित वर्णों में भेद ज्ञान का कारण व्यञ्जक भेद को किसी प्रकार सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, लेकिन एक वक्ता के सदृश वर्णों

---

१. वर्णभेदविषयत्वे तु तद्भेदसिद्धेरभेदप्रत्ययस्य विषयो मृग्य इति तद्ग्राह्यमपरिहार्यं गत्वसामान्यम्।

—वही, पृ० २००

२. ततश्च सकलवर्णविकल्पातीतमेकमनवयवं शब्दतत्त्वं वैयाकरणवदभ्युपगन्तव्यम्।

—न्या० म० भाग १, पृ० २००

के भेद का कोई कारण मीमांसकों के अभिव्यक्ति पक्ष में नही हो सकता, क्योंकि उनके द्वारा स्वीकृत व्यञ्जक भेद का भी यहां अभाव है। यदि मीमांसक इस स्थल में भी मुख भेद न होने पर उच्चारण में प्रयुक्त वायु के भेद को व्यञ्जक मानकर समान वर्णो में भेद प्रत्यय की उपपत्ति करें, तो य्, व्, र्, ल् आदि असमान वर्णों के उच्चारण में भी यह वायु तो भिन्न-भिन्न है, अतएव इसे ही व्यञ्जक मानते हुये य्, व्, र्, ल् आदि ध्वनियों में सदृश वर्ण-बोध होना चाहिये।

गगन आदि शब्दों में मीमांसक दृष्टि से प्रथम ग का दूसरे ग से कोई भेद नहीं होगा, परन्तु न्याय मत से दोनों ग वर्णों के मध्य वास्तविक भेद है और उस भेद का कारण गकारनिष्ठ गत्व जाति है।[1] भ्रमणादि कर्म अनेक क्रियाओं का समूह होते हैं; यद्यपि उनमें सूक्ष्म विशेषों का ज्ञान नहीं होता, परन्तु उनके मध्य भेद का ज्ञान तो होता है। चूंकि स्वर वर्ण उच्चारण भेद में तीन सोपानों में उदात्तादि क्रम से उच्चरित होकर अनेकता सिद्ध करते हैं, अतः वर्णभेद और वर्ण नानात्व मानना ही श्रेयष्कर है।[2]

वर्ण भेद का ज्ञान हमें स्पष्ट रूप से होता है, अन्यथा दिगज-दिग्गज, समद-सम्मद, पट-पट्ट, आसन-आसन्न, मलः, मल्लः, अविकः-अविक्कः, पतिः-पत्तिः, पतन-पत्तन आदि वर्णों में भेद का ज्ञान कैसे होता ? इन पदों में वर्णभेद के कारण ही अर्थ में भी भेद की उपलब्धि होती है—न कि उच्चारण भेद के कारण।[3] यदि उच्चारण-भेद से अर्थ भेद मान लें तो बार-बार गो शब्द के उच्चारण द्वारा गाय के सास्नादिमत्त्व अर्थ से भिन्न अर्थ का ग्रहण होना चाहिये।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि गो, गुरु, गिरि, गेह आदि में प्रारम्भिक गकार में कोई भेद नहीं है, केवल स्वर का भेद है, अतः एक ही गकार सभी में उपलब्ध है, तो ठीक नहीं। नैयायिक यहाँ भिन्न-भिन्न गवर्ण स्वीकार करते हैं, दिग्गज जैसे शब्द में जहाँ प्रथम गकार में कोई स्वर नहीं है, दोनों गवर्णो के पारस्परिक भेद का कारण वर्ण भेद है, अर्थात् यहाँ दो ग वर्ण हैं, एक नहीं। यह गकारादि वर्ण भी जात्याश्रय होते हैं। गकार में गत्व जाति की सत्ता अनुमेय है। जिस तरह से गोत्व

---

१. एवमिहाप्येष गकारविशेष इति प्रतिभासाभावेऽपि विच्छेदग्रहणाद् गकार-नानात्वम्। —न्या० म० भाग १, पृ० २०१

२. यथा बुद्धीनां घटपटादिविषयविशेषशून्यानामसंवेदनात्प्रतिविषयं नानात्वं तथा वर्णानामपि प्रत्युदात्तादिविशेषं नानात्वम्। —वही, पृ० २०१

३. द्रष्टव्य—वही, पृ० २०२।

जात्याश्रय दो गाय व्यक्तियों का पारस्परिक भेद विशेष इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष द्वारा जाना जाता है, उसी प्रकार गत्व जाति के आश्रय दो ग व्यक्तियों का ग्रहण श्रवणेन्द्रिय से समवायसन्निकर्ष के द्वारा सामान्यतः होता है, परन्तु गङ्गा, गगन पदों में प्रयुक्त इन विभिन्न गकारों में समवायसन्निकर्ष द्वारा किसी विशेष का ग्रहण नहीं होता, परन्तु विशेष इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष द्वारा दोनों ग वर्णों में भेद का ज्ञान हो सकता है।[1]

अत्व जाति की उपपत्ति :

जिस प्रकार विभिन्न गवर्णों में पारस्परिक भेद का कारण गत्व जाति होती है, उसी प्रकार ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि भेद से परस्पर भिन्न अवर्णों में भी रहने वाली अत्व जाति को स्वीकार किया जाता है। यह अत्व जाति सभी अवर्णों और उनके अठारहों प्रकारों के अकारों में पारस्परिक भिन्नता का हेतु है। गत्व आदि वर्ण-निष्ठ जाति द्वारा अर्थभेद की उपपत्ति हो जाने से सभी वर्ण व्यक्तियों में भिन्नता सिद्ध हो जाती है और वर्ण की उत्पत्ति होती है—यह भी सिद्ध हो जाता है। अतः मीमांसक सम्मत वर्ण नित्यत्ववाद का सिद्धान्त बाधित होता है।[2]

इसी प्रकार न्याय-मत में ब्राह्मणत्वादि जातियाँ भी सिद्ध होती हैं, क्योंकि सभी ब्राह्मण व्यक्तियों में उपदेश साहाय्यरूप सदृशप्रत्यय की प्राप्ति होती है।[3] पैठीनसि, पैप्पलादि प्रभृति ब्राह्मणत्व का प्रत्यय औपाधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपाधि का ग्रहण नहीं होता और यदि उक्त को उपाधि मान लें तो गोत्व जाति के प्रसङ्ग में भी उपाधि की गम्यता के कारण गोत्व जाति के निषेध का प्रसङ्ग आ जायेगा।

मीमांसकों को अभिप्रेत शब्दनित्यत्व समर्थक युक्तियों का परिहार :

यदि वर्ण समवेत गत्वादि जातियों की सत्ता स्वीकार कर ली जाय तो शब्द से अर्थग्रह की समस्या अपने आप सुलझ जाती है। मीमांसक यह मानते हैं

---

१. तत्रापि प्रथमश्रोत्रव्यापारवेलायामनवगतव्यञ्जकविभागस्यापि गगनगङ्गादौ गकारभेदः प्रतिभासते एवेत्यलं प्रसङ्गेन। —न्य० म० भाग १, पृ० २०३

२. उदात्तानुदात्तस्वरितसंवृतविवृतादिभेदोऽपि शब्दविदां प्रत्यक्ष एव गीतज्ञानामिव भाषाविभागः, तस्मादष्टादशभेदमकारमाचक्षते, अत्वं च तत्सामान्यमवर्णकुल-शब्देन व्यवहरन्ति। वही, पृ० २०३

३. एतेन ब्राह्मणत्वादिसामान्यं समर्थितं वेदितव्यम् उपदेशसहायकप्रत्यक्षगम्यत्वात्। —वही, पृ० २०४

कि शब्द एक निश्चित अर्थ को दूसरों तक पहुँचाने के लिये उच्चरित होता है, परन्तु शब्द का अवयव वर्ण यदि क्षणिक मान लिया जाय तो अपना अर्थग्रह कराने के पूर्व ही यह नष्ट हो जायेगा। अतः अर्थग्रह के व्यवहार की उपपत्ति के लिये ही मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं।[१] मीमांसक शब्द नित्यत्व के साथ यह भी मानते हैं कि कोई भी शब्द उच्चरित होने पर सभी व्यक्तियों का युगपद् बोध कराता है। अतः पद का अर्थ आकृति होता है, तथा पद और पदार्थ आकृति के मध्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।[२] अतः सभी व्यक्तियों का युगपद् बोध कराने के कारण भी शब्द नित्य है।[३] मीमांसकों की इस मान्यता का जयन्त समूल प्रतिषेध करते हैं और कहते हैं कि पद-पदार्थ सम्बन्ध की स्थापना केवल तभी हो सकती है, जब यह स्वीकार किया जाय कि पद के अवयव वर्णों में जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है।

इसी तरह कृत्वसुच् प्रयोग द्वारा शब्द-अनेकत्व के बचाव पक्ष के प्रति जयन्त का आक्षेप है कि इसके द्वारा मीमांसक अपने शब्द-नित्यत्व का समर्थन नहीं कर सकते क्योंकि कृत्वसुच् की मीमांसक सम्मत व्याख्या व्यभिचरित होती है। उदाहरण के लिये अधोलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

"कृतं कान्तस्य तन्वङ्ग्या त्रिरपाङ्गविलोकनम्।
चतुरालिङ्गनं गाढमष्टकृत्वश्च चुम्बनम्॥"

अर्थात् तन्वङ्गी ने कान्त पर तीन बार कटाक्षपात किया, चार बार गाढालिङ्गन किया और आठ बार चुम्बन लिया। अतः यहाँ पर कटाक्षपात, गाढालिङ्गन, चुम्बन आदि क्रियाओं में से प्रत्येक का अभ्यास कार्य बहुत्व का बोध कराता है। इस प्रकार कृत्वसुच् प्रत्यय का ऐसे स्थलों में भी प्रयोग होता है जहाँ उसका अर्थ किसी एक ही क्रिया की पुनरावृत्ति नहीं होती, वरन् अनेक क्रियायें होती हैं। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति पाँच ब्राह्मणों को भोजन कराता है, तब भी वह 'पञ्चकृत्वः ब्राह्मणाः भुक्तवन्तः' ऐसा कृत्वसुच् प्रयोग करता है। यहाँ पाँचों ब्राह्मण भिन्न-भिन्न और अनेक हैं, न कि एक ब्राह्मण की पुनरावृत्तिमात्र। इसलिये कृत्वसुच् प्रत्यय एकत्व की सिद्धि नहीं करता वरन् अनेकत्व की सिद्धि करता है।

---

१. नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्। —मी० सू०, १।१।६

२. गोशब्द उच्चरिते सर्वगवीषु युगपत् प्रत्ययो भवति, अत आकृतिवचनः शब्दः। न चाकृत्या शब्दस्य सम्बन्धः शक्यते कर्तुम्। —शा० भा०, पृ० १०४

३. सर्वत्र यौगपद्यात्। —मी० सू०, १।१।१९

किसी कवि की कविता में अनेक गकारों का दर्शन होता है और वहाँ लोक ने अनेक गकारों का व्यवहार किया है। अनेक गकारों में गकार भेद से बचने के लिये मीमांसक ने जो गकार-प्रत्यभिज्ञा स्वीकार किया है, वह भी ठीक नहीं क्योंकि यदि ग वर्णों की प्रत्यभिज्ञा स्वीकार भी की जायेगी, तो वह वर्णभेद की ही साधक है, वर्णैकत्व की साधक नहीं। यहाँ प्रत्यभिज्ञा वस्तुतः वर्ण की न होकर वर्णगत जाति की होती है। गत्व की प्रत्यभिज्ञा से गकार भेद की असिद्धि नहीं होती। नृत्य, अभिनय, चेष्टा आदि विभिन्न क्रियाओं की प्रत्यभिज्ञा करते समय प्रत्यभिज्ञा के विषय में भेद अवश्य रहता है, पर प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप में कोई परिवर्तन या अन्तर नहीं आता। शब्द की प्रत्यभिज्ञा काल में ही हम यह जान जाते हैं कि वर्ण नष्ट हो चुका है, क्योंकि यह क्षणिक है, अतः शब्द नित्यता किसी प्रकार स्वीकरणीय नहीं है।

यद्यपि बौद्धों के क्षणभङ्गवाद के विरुद्ध आक्षेप करते समय नैयायिक प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, परन्तु क्षणभङ्ग-विरोधी पक्ष में अभिप्रेत प्रत्यभिज्ञेय स्तम्भ की प्रत्यभिज्ञा और वर्ण की प्रत्यभिज्ञा में भेद है। यह भेद यह है कि यहाँ प्रत्यभिज्ञाकाल में ही 'शब्द नष्ट हो गया' यह ज्ञान हो जाता है, अतः प्रत्यभिज्ञेय के तिरोहित हो जाने पर भी जो यह प्रत्यभिज्ञा होती है, वह कभी भी प्रामाणिक नहीं हो सकती। यद्यपि हम वर्ण का त्रिक्षणावस्थायित्व मानते हैं, परन्तु तीन क्षण में वर्ण प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रथम क्षण में वर्णउत्पन्न होता है, दूसरे क्षण वर्ण का ज्ञान होता है, तीसरे क्षण वर्ण नष्ट हो जाता है। यदि हम प्रत्यभिज्ञा स्वीकार करें तो हमें मानना होगा कि प्रथम क्षण में शब्द उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण शब्द का श्रवण होता है, क्योंकि वर्ण श्रवण के बिना व्यवहार सम्भव नहीं है, तीसरे क्षण शब्द का ज्ञान होता है, यह शब्द ज्ञान शब्द श्रवण से भिन्न है, चौथे क्षण में संस्कार का ज्ञान होगा, पाँचवें क्षण संस्कार की स्मृति होगी और छठे क्षण में स्मृति से सहकृत श्रोत्र उस शब्द की प्रत्यभिज्ञा करेगा। इस प्रकार शब्द की प्रत्यभिज्ञा के इस दीर्घकाल तक शब्द का स्थायित्व कैसे होगा? यदि यह कहें कि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही शब्द के इस स्थायित्व का ज्ञान होता है, तो ठीक नहीं है क्योंकि तीसरे क्षण में वर्णनाश के बाद चतुर्थ क्षण में वर्णनाश ज्ञान हो जाता है। फिर शब्द का केवल सामान्य ज्ञान न होकर 'यह गो शब्द है', 'यह अश्व शब्द है' आदि रूपों में विशिष्ट ज्ञान होता है।

कुछ तार्किकों ने प्रत्यभिज्ञा की यह परिभाषा की है—'यह ऐसा ज्ञान है जो स्मर्यमाण विषय का और उसके अनुभूयमान समानाधिकरण्य का ग्रहण करता

है।' कुछ अन्य तार्किक 'संस्कार सहकृत इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है' यह स्वीकार करते हैं। अन्य लोग यह मानते हैं कि स्मरण किये जाते हुये पूर्वज्ञान से विशेषित अर्थ का ग्रहण करने के कारण तथा प्रत्यभिज्ञा और उसके विशेषण अर्थ की बाह्येन्द्रियग्राह्यता के सम्भव न होने से स्तम्भादि की प्रत्यभिज्ञा भी मानसिक होती है।

जयन्त प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप के बारे में आपेक्ष नहीं करना चाहते, उनका कहना है कि प्रत्यभिज्ञा उन्हें भी अभिमत है और उसका जो स्वरूप जिसे अभीष्ट हो, वह उसे स्वीकार करे, परन्तु वह तो केवल इतना सिद्ध करना चाहते हैं कि इस प्रत्यभिज्ञा से कथमपि शब्दनित्यत्व की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि हमें शब्द के विनाश का ज्ञान शब्द की प्रत्यभिज्ञा के पूर्व ही हो जाता है। शब्द की होने वाली प्रत्यभिज्ञा को जयन्त इस रूप में स्वीकार करते हैं कि प्रत्यभिज्ञा से सादृश्य हेतुक अभ्यास प्रत्यय के कारणभूत गत्वादि जाति का ग्रहण होता है, न कि गकारादि वर्णों का। किसी वस्तु का अभाव उस विषय की सापेक्षता नहीं स्वीकार करता, परन्तु प्रत्यभिज्ञा तो सदा उस विषय के सापेक्ष होती है, इसलिये विनष्ट हुये वर्ण के प्रसङ्ग में सापेक्षता न बन पाने से यह प्रत्यभिज्ञा ही बाधित हो जायेगी।[1] चूंकि शब्द विनाश का ज्ञान प्रमाणजन्य होने से यथार्थ है, अतः प्रत्यभिज्ञा समर्थित मीमांसक-सम्मत शब्द-नित्यत्व विषयक मत स्वतः निरुद्ध हो जाता है। यद्यपि कर्म आदि की प्रत्यभिज्ञा होती है, परन्तु कर्मादि नित्य सिद्ध नहीं होते, अतः प्रत्यभिज्ञा समर्थित होने पर भी शब्द-नित्यता का सिद्धान्त कथमपि स्वीकरणीय नहीं है।

शब्दाभिव्यक्ति पक्ष का खण्डन :

मीमांसक शब्द-नित्यता के अपने मत की उपपत्ति के लिये शब्दाभिव्यक्ति की उपपत्ति प्रदर्शित करते हुये श्रोत्रसंस्कार, विषय संस्कार और उभय संस्कार की कल्पना करते हैं, परन्तु आचार्य जयन्त का कहना है कि मीमांसकों का यह प्रयास केवल वञ्चना मात्र है, क्योंकि समान इन्द्रियों से ग्राह्य और समान देशस्थ शब्दों में व्यञ्जक-व्यङ्ग्यभाव निश्चित नहीं है। यहाँ जो गन्धों का उदाहरण मीमांसकों ने दिया है, वे गन्ध सामनेन्द्रिय ग्राह्य तो होते हैं पर समानदेशीय नहीं होते। पृथ्वी मात्र को आश्रय मानकर गन्ध को यदि समानदेशस्थ स्वीकार करें तब फिर एक भूमि के आश्रय वाले हिमालय और विन्ध्य पर्वत भी एक देशीय

---

१. प्रत्यभिज्ञा च सापेक्षा निरपेक्षा त्वभाववधीः।
तेनैवमादौ विषये प्रत्यभिज्ञैव बाध्यते ॥—न्या० म० भाग १, पृ० २०६

हो जायेंगे। पृथ्वी के एकत्व के होते हुये भी पार्थिव पदार्थ पृथक् प्रतीत होते हैं, और उन पदार्थों के आश्रित गन्ध पृथक्-पृथक् अभिव्यक्त होते हैं। इसी तरह यदि आकाश आश्रय वाले शब्दों का स्थान भेद मान लें तो आकाश के भेद न हो सकने के कारण शब्द का आकाशाश्रितत्व ही बाधित हो जायेगा। यदि आकाश के भागों की कल्पना के द्वारा शब्दों में भिन्न देशता की उपपत्ति करके व्यञ्जक व्यङ्ग्यभाव को नियत स्वीकार किया जाय तो ठीक नहीं है, क्योंकि जिस वक्तृनिष्ठ मुखाकाश या श्रोतृनिष्ठ श्रोत्राकाश में गो शब्द उपलब्ध हुआ था, उसी आकाश देश में इस समय अश्व शब्द का ग्रहण हो रहा है, अतः नियत शब्द नियत देश में उपलब्ध होता है, यह बात असिद्ध हो जायेगी। जो गन्ध माधवी लता के पुष्प में प्राप्त होती है, वही गन्ध बन्धूक के पुष्प में प्राप्त होती है, अतः समानदेशत्व के अभाव में व्यञ्जक व्यङ्ग्य भाव की उपपत्ति नहीं होती।

जयन्त का मीमांसकों पर यह भी आक्षेप है कि चूँकि सभी वर्ण एक ही देश में उपलब्ध होते हैं अतः यह तो सिद्ध ही नहीं किया सकता कि पृथक् शब्द पृथक् व्यञ्जक द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। यदि मीमांसक विषय-वर्ण या इन्द्रिय-श्रोत्र या दोनों का ही संस्कार स्वीकार करें कि ये व्यञ्जक ध्वनि द्वारा संस्कृत होते हैं, तो भी वे व्यञ्जकव्यङ्ग्यभाव में व्यवस्था की उपपत्ति नहीं कर सकते। स्मित हवा के चलने को ही श्रोत्रसंस्कार नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी वर्ण एक साथ श्रुत होने लगेंगे और इसका पूर्वपक्ष के पास कोई समाधान नहीं है। यदि मीमांसक यह स्वीकार करें कि यह संस्कार स्थिर होता है, तब अभिव्यक्त गो शब्द के श्रवण का भी प्रसङ्ग आ जायेगा। अतः ग्रहण के हेतु संस्कार की स्थिरता को स्वीकार नहीं किया जा सकता और यदि संस्कार को ही मीमांसक क्षणिक मानते हैं तो इससे अच्छा है कि शब्द को ही क्षणिक मान लिया जाय।[१]

भर्तृमित्र नामक मीमांसक श्रवणेन्द्रिय को ही संस्कार स्वीकार करता है, जिसका जयन्त ने यह कहकर खण्डन किया है कि संस्कार्य इन्द्रिय का संस्कार होता है, न कि संस्कार ही इन्द्रिय है, क्योंकि संस्कार की इन्द्रियरूपता लोक और आगम दोनों की विरोधिनी है। भर्तृमित्र के पक्ष की तो कुमारिल ने स्वयं हँसी

१. न च स्मितपवनापनयनव्यतिरिक्तः कश्चन श्रोत्रसंस्कारो विद्यते.........
तत्क्षणिकत्वे तु शब्दक्षणिकत्वैव साध्वी प्रतीयमानत्वात्।
—न्या० म० भाग १, पृ० २०७

उड़ाई है ।[1] भर्तृमित्र का कुमारिल ने यह समाधान किया है कि संस्कार इन्द्रिय नहीं वरन् श्रोत्रेन्द्रिय दिशायें होती हैं ।[2]

जयन्त भर्तृमित्र के मत में कुमारिल के द्वारा किये गये संशोधन को भी स्वीकार नहीं करते । दिशा को श्रोत्र मानना तो केवल आहोपुरुषिका मात्र है । इन्द्रियाँ भौतिक होती हैं, जबकि दिशायें अभौतिक हैं । दिशायें अमूर्त्त होने से भी इन्द्रियप्रकृतिक नहीं हो सकतीं । यदि आकाश की तरह व्यापक होने से दिशाओं को इन्द्रिय स्वीकार करें तो काल और आत्मा जैसे विभु द्रव्यों में इन्द्रियत्व की प्रसक्ति होगी । आगम से समर्थन की कुमारिल की उक्ति भी ठीक नहीं है क्योंकि आगम इसका विरोध करता है। 'सूर्यं चक्षुर्गमयतात्' से तेज चक्षुर्प्रकृतित्व का कथन किया गया है । जहाँ 'दिशः श्रोत्रम्' और 'अन्तरिक्षमसून्' आदि पाठ हुआ है, वहाँ दिशा और अन्तरिक्ष श्रोत्र और प्राणों की प्रकृति नहीं है । प्राण पवनात्मक होने से अन्तरिक्ष प्रकृतिक नहीं हो सकते, तब समानपाठत्वात् दिशा को श्रोत्र की प्रकृति कैसे कह सकते हैं । शब्दनिमित्तोपभोगप्रापक धर्म और अधर्म से युक्त कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश देश ही श्रोत्रेन्द्रिय है ।

जयन्त का अभिव्यक्ति पक्ष पर अगला आक्षेप यह है कि शब्द की अभिव्यक्ति मानते हैं तो शब्द में तीव्र मन्द विभाग कैसे होगा ? तीव्रतादि वर्ण के धर्म होंगे या ध्वनि के ? यदि वर्ण के धर्म माने तो तीव्र गकार से अन्य मन्द वर्ण का भेद नहीं हो सकता है, परन्तु यह पक्ष नैयायिकों का है, इसलिये तीव्रता आदि को वर्ण का धर्म मानने पर अभिव्यक्ति पक्ष में अर्थान्तर दोष होगा । यदि ध्वनि का धर्म माने तो इसका श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण कैसे होता है ? ध्वन्यात्मकता तो आप वायु का गुण मानते हैं[3] और वायुगत ध्वनि को यदि श्रवण गृहीत कर सकता है, तब वायु के अन्य गुण जैसे वेग आदि का भी श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होना चाहिये। न आप ध्वनि को वर्णात्मा मानते हैं और ध्वनि वर्ण से उत्पन्न होती है और न ही ध्वनि में शब्दत्व जाति रहती है, तब ध्वनि का ग्रहण कैसे होता है ?

---

१. कुमारिल ने श्लो० वा० में 'केचित्तु पण्डितम्मन्याः' आदि कहकर भर्तृमित्र की हँसी उड़ायी है ।

२. यदि त्ववश्यं वक्तव्यः तार्किकोक्तिविपर्ययः ।
ततो वेदानुसारेण कार्या दिक्श्रोत्रता मतिः ॥ —श्लो० वा०, १।१।६।१४९

३. द्विविधो हि शब्दः वर्णो ध्वनिश्च । द्वयोरनुगतं शब्दत्वम् । वर्णत्वं ध्वनित्वं च तदवान्तरसामान्ये । वर्णविशेषाः गकारादयः, ध्वनिविशेषाः शङ्खघोषादयः । ध्वन्यात्मकश्च शब्दः वायुगुणः । —श्लो० वा०, १।१।५।३६ पर न्या० रत्ना०

यदि आप कृशत्व स्थूलत्वादि व्यक्तिधर्मों की जाति में उपलब्धि का आक्षेप करें तो कुछ दूर तक उचित भी हो सकता है, क्योंकि व्यक्ति, व्यक्तिधर्म और जाति तीनों का ग्रहण एक ही इन्द्रिय द्वारा होता है, परन्तु यहाँ पवन या तो स्पर्शग्राह्य है या अतीन्द्रिय है, लेकिन वायु के धर्म श्रवण-ग्राह्य शब्द में गृहीत हों, यह ठीक नहीं ।[१]

यदि यह कहा जाय कि बुद्धि ही तीव्रमन्दत्ववती होती है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि में भेद विषय-भेद होने पर होता है । परन्तु यहाँ आप श्रवण के विषय शब्द को एक और अभिन्न मानते हैं अतः उससे सम्बद्ध धर्मो का द्विविध ज्ञान कैसे हो सकता है ? यदि ध्वनि की तरह ज्ञान को भी नित्य परोक्ष माना जाय, तो उसके ग्रहण होने पर तत्स्थ तीव्रमन्दत्वादि धर्मों का ग्रहण सम्भव नहीं है ।[२] इस प्रकार आचार्य जयन्त मीमांसक सम्मत शब्दाभिव्यक्ति के समर्थन में प्रस्तुत सभी तर्कों का खण्डन करके अभिव्यक्ति पक्ष को निराकृत कर देते हैं ।

अभिव्यङ्ग्य शब्द की अपेक्षा कार्यशब्द पक्ष में लाघव प्रदर्शन :

मीमांसक यह स्वीकार करते हैं कि वायुगुण ध्वनि द्वारा अभिव्यक्त हुआ शब्द श्रोत्रदेश में उपलब्ध होता है और यह मत नैयायिकों के कार्यशब्द पक्ष से अधिक आसान है । जयन्त मीमांसकों की इस मान्यता का निषेध करके न्याय-वैशेषिक सम्मत शब्द के कार्यत्व का समर्थन करते हैं ।

मीमांसक मत में मुख से निकलने वाली कौष्ठ्य वायु सभी दिशाओं में स्मित वायु का अपसरण कर देती है । परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है । न्यायमत में वायु का गमन तिर्यक् होता है[३] अतः कौष्ठ्य वायु सभी दिशाओं में प्रसृत नहीं हो सकती । तिर्यग्गमन स्वभाव होने के कारण इसका ऊर्ध्व दिशा और अधः दिशा में गमन नहीं हो सकता, इसलिये ऊर्ध्व और अधः दिशाओं में शब्द का श्रवण उपपन्न नहीं होगा । शब्द सन्तान की गति कदम्ब के फूल की तरह सभी

---

१. इह तु स्पर्शनग्राह्यः पवनोऽतीन्द्रियोऽथ वा ।
तद्धर्माः श्रावणे शब्दे गृह्यन्त इति विस्मयः ।।

—न्या० म० भाग १, पृ० २०८

२. किञ्च नित्यपरोक्षा ते बुद्धिरेवं च नादवत् ।
तदग्रहणान्न तीव्रादितद्धर्मग्रहसम्भवः ।। —वही, पृ० २०८

३. अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमणुमनसोश्चाद्यं कर्मेत्यदृष्टकारितानि ।

—वै० सू०, ५।२।१४

दिशाओं के प्रति होती है, परन्तु लोक में वायु की गति सभी दिशाओं की ओर न होकर केवल नियत दिशाओं की ओर होती है। फिर मुख से निकली हुई कौष्ठच वायु द्वारा बाह्य स्थिर वायु में अपसरण भी सम्भव नहीं है। कुडचादि व्यवधान के आ जाने पर शब्द की गति बाधित हो जाती है। कुडचादि व्यवधान द्वारा वायु की गति में प्रतिरोध तो मीमांसकों को भी अभिप्रेत ही है।[१] कौष्ठच वायु शब्द की अभिव्यक्ति भी नहीं कर सकती। सभी द्वारों के सब प्रकार से बन्द रहने पर भी जठराग्नि का गुरगुरा शब्द सुना जाता है। यहाँ व्यञ्जक कौष्ठच वायु कैसे सम्भव है ? यदि जठराग्निस्थ शब्द के श्रवण की उपपत्ति के लिये वायु का निःसरण रोमकूपों से स्वीकार करें, तो सूक्ष्म रोमकूपों से निकलने वाली वायु बाह्य स्थिर वायु को अपसृत नहीं कर सकती और फिर बाह्य वायु के चलने पर कोई शब्द सुनाई नहीं पड़ता, तो कौष्ठच वायु से अपसृत वायु ही शब्द की अभिव्यञ्जक कैसे होगी ? दुर्बल भी बाह्य वायु प्रबलतम कौष्ठच वायु से अधिक शक्तिशाली होगी, तब इस कौष्ठच वायु से बाह्य वायु का अपसरण ही नहीं किया जा सकता। यदि यह कहें कि शब्द को अभिव्यक्त करने वाली वायु सूक्ष्म होती है जो इस स्थूल वायु से भिन्न होती है, परन्तु इस विशेष ज्ञान में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये न्याय-वैशेषिक मत कि संयोग और विभाग जन्य शब्द से स्वसमान-जातीय शब्दसन्तान की उत्पत्ति होती है, ही स्वीकर्तव्य है और अदोष है। रूपादि गुण सजातीय गुणान्तरों के आरम्भक होते हैं तो शब्द भी स्वसमान जातीयशब्दान्तर को उत्पन्नि करता है—इसमें कोई दोष नहीं। धीरे-धीरे क्षीण वृत्ति होते-होते मन्द वर्ण की उत्पत्ति होती है। वीचीसन्तान का दृष्टान्त आंशिक साम्य के कारण दिया गया है, इससे शब्द में वेगादि की प्रसक्ति नहीं होती। आकाश-मात्र शब्द का समवायि कारण नहीं होता, वरन् कुडचादि आवरणों से विशिष्ट आकाश ही शब्द का समवायिकरण होता है। इस प्रकार आकाश के शब्दगुणत्व में कोई दोष नहीं है।

इस प्रकार जयन्त शब्दोत्पत्ति पक्ष की वरीयता प्रतिपादित करके मीमांसक सम्मत शब्दनित्यत्वाद का निषेध करते हुये शब्द की अनित्यता सिद्ध करते हैं।

वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त द्वारा शब्द-नित्यता की सिद्धि

अर्थ का वाचक कौन सा शब्द हो ? और शब्द से अर्थ की प्रतीति कैसे हो ? इस प्रश्न का उत्तर वैयाकरणों ने सभी दार्शनिकों से भिन्न प्रकार से दिया

---

१. आरम्भप्रतिबन्धोऽस्य न च कुडचादिभिर्भवेत्। —श्लो० वा०, १।१।६।१६

है। एतदर्थ वैयाकरण वर्ण, पद या वाक्य इन सबसे भिन्न अक्षर शब्द तत्त्व की दार्शनिक अवधारणा की सिद्धि करते हैं—जिसे वे स्फोट कहते हैं।[१] इस अवधारणा का व्यवस्थितीकरण सर्वप्रथम भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में किया, लेकिन इसके पूर्व के वैयाकरणों को भी स्फोट सम्बन्धी अवधारणाओं का ज्ञान था। उपलब्ध व्याकरण साहित्य में पहली बार 'स्फोट' पद पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में व्याख्यात हुआ है।[२] स्फोट शब्द √स्फुट् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है 'विकसन'।[३] भट्टोजि दीक्षित तथा नागेश भट्ट ने स्फोट की परिभाषा की है। वह तत्त्व जिससे अर्थ की प्रतीति विना किसी अन्य उपकरण की सहायता के हो जाय, स्फोट कहा जाता है।[४] चूंकि अभिव्यंजक नादों के द्वारा इसे स्फुट किया जाता है, या स्पष्टता को प्राप्त कराया जाता है, अतः इसे स्फोट कहते हैं।[५]

स्फोट की मान्यता का आधार है अर्थ-प्रत्यायकता। मीमांसक अर्थ प्रतीति के लिए शब्द को ही नित्य मानते हैं परन्तु वैयाकरण उच्चरित होने वाले नाद-रूप वर्ण, पद, वाक्य आदि रूपों वाले शब्द से भिन्न निरवयव अक्षर अनादि अनन्त शब्द-तत्त्व को स्वीकार करते हैं। इसे भर्तृहरि ने शब्द-ब्रह्म कहा है। इसी स्फोटाख्य शब्द-ब्रह्म से ही सभी अर्थों की प्रतीति होती है। उच्चरित होने वाले

---

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

२. वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात्। अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्त्या समुदायाभावात् एकस्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादौ अर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नानाभिव्यङ्ग्यो वाचकः।

—महा० प्रथम, पृ० १६

३. स्फुट विकसने। धातुपाठ २६० पृ० ८।
विकसनम्-अवयव विभागः। —धात्वर्थप्रकाशिका, पृ० ८

४. स्फुटति प्रकाशतेऽर्थोऽस्मादिति स्फोटः। —स्फोटवाद, पृ० ६
स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः। —शब्दकौस्तुभ, पृ० १२

५. अभिव्यञ्जकैर्नादैः स्फुटीक्रियते व्यक्तिं नीयत इति स्फोट इति नाम्ना व्यपदेशः।

—न्या० म० ग्रं० भ०, पृ० १५८

अपि च, स्फुटचते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्य स्फुटति, स्फुटीभवत्यस्मादर्थ इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोटशब्दमुभयथा निराहुः।

—सर्वदर्शन, पृ० ३००

वर्ण, पद, वाक्य आदि केवल इस स्फोटाख्य शब्द तत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र करते हैं।

नैयायिकों के मत में अर्थ की प्रतीति पद से और वाक्य से होती है। पद वर्णों का समूह होता है। पद के अवयव भूत वर्ण क्षणिक और क्रम से उच्चरित होते हैं। परन्तु वैयाकरण इस मत में दोष दिखाते हैं कि न तो वर्णों का समूह पद ही सिद्ध होता है और न पद समूहभूत वाक्य। यह वर्ण या तो अकेले पदार्थ का बोध करायेगा या पद के अवयव अन्य वर्णों के साथ मिलकर पदार्थ का ज्ञान करायेगा। परन्तु यदि प्रथम विकल्प स्वीकार करें तो एक ही वर्ण से अर्थोपलब्धि के कारण अन्य वर्णों के उच्चारण की निरर्थकता प्राप्त होगी। दूसरे पक्ष में यह दोष है कि क्रमिक वर्णों का एक साथ समूह रूप में मिलना कभी सम्भव नहीं है। पद के स्वरूप के असिद्ध हो जाने पर पदसमूहभूत वाक्य भी वाक्यार्थ का बोध न करा पायेगा।[१] अतः वर्णों द्वारा अर्थ प्रतीति न हो सकने से अर्थ प्रतीति के कारण के रूप में वर्णों से भिन्न और वर्णों द्वारा अभिव्यङ्ग्य स्फोट की सत्ता स्वीकार की गयी है।[२] यह स्फोट वर्णों द्वारा धीरे-धीरे अभिव्यक्त होता है। जब कोई पद विशेष उच्चरित होता है, तो उस पद का स्फोट अभिव्यक्त हो जाता है जो उस पद के अर्थ को साक्षात् प्रस्तुत करता है। भाष्यकार पतञ्जलि स्फोट को शब्द का नित्य धर्म मानते हैं और उसकी अभिव्यञ्जक ध्वनि को शब्द का क्षणिक गुण मानते हैं।[३] अतः स्फोट का तात्पर्य दोहरा है—एक तो वर्णों के द्वारा अभिव्यङ्ग्य और दूसरा अर्थ का बोधक। पतञ्जलि ने स्पष्ट प्रश्न उठाया है कि 'गौः' यह शब्द क्या है ?' और इसका उत्तर दिया है कि जिस साधन विशेष के द्वारा सास्नालाङ्गूल ककुदखुर और विषाण से युक्त पशु विशेष की प्रतिपत्ति होती है, वही गो शब्द है।[४] वैयाकरण नाद या वर्ण द्वारा स्फोट की अभिव्यक्ति स्वीकार

---

१. प्रत्येकमत्यायकत्वात् साहित्याभावात् नियतक्रमवर्तिनामयौगपद्येन सम्भूयकारित्वानुपपत्तेः, नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यश्च प्रत्ययादर्शनात् क्रमविपर्यये यौगपद्ये च। तस्माद् वर्णव्यतिरेकी वर्णेभ्योऽसम्भवन्नर्थप्रत्ययः स्वनिमित्तमुपकल्पयति।
—स्फोटसिद्धिः, पृ० २८

२. वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदन्ति। —सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३००

३. स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः। —महाभाष्य अह्निकः १, पृ० ११

४. अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति, स शब्दः। —महाभाष्य, पृ० १

करते हैं। क्रमिक उच्चारणीय वर्णों द्वारा स्फोट की क्रमशः अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार वैदिक मन्त्र प्रथम पाठ में स्पष्ट नहीं होते, लेकिन धीरे-धीरे स्वाध्याय से स्पष्ट और स्पष्टतर होते जाते हैं या रत्न परीक्षा में प्रथम बार रत्न दर्शन हो जाने पर रत्न की शुद्धता जानने के लिए बार-बार रत्न दर्शन किया जाता है, उसी प्रकार स्फोट प्रथमादि वर्णों के क्रम से पहले आंशिक[1] रूप से अभिव्यक्त होता है तथा बाद में धीरे-धीरे अधिक स्फुट होता जाता है तथा अन्त्य वर्ण के श्रवण काल में पूर्ण रूप से स्फुट होकर स्फोट शब्द के अर्थ को तत्काल प्रस्तुत कर देता है।[2] कुछ वैयाकरणों ने ध्वनियों से स्फोट की अभिव्यक्ति माना है।[3] इस निरवयव शब्द तत्त्व को भर्तृहरि ने अद्वय ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया है। सभी जागतिक व्यवहार इस शब्दतत्त्व से इस प्रकार योजित होते हैं कि सभी अर्थ विवर्त्त के रूप में शब्द ब्रह्म में प्राप्त होते हैं। यह स्फोट अर्थ रूप विश्व की उत्पत्ति और विनाश की शक्ति से युक्त होता है। वाग्योगी वैदिक ऋषियों ने इसी शब्द तत्त्व को शब्द वृषभ कहा है[4]—

चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥[5]

अम्बककर्त्रीकार ने इस ऋचा में शब्दवृषभत्व की योजना इस प्रकार की है—इस अलौकिक शब्द वृषभ के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात अथवा परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये चार सींग हैं। भूत, भविष्य तथा वर्तमान—ये तीन काल उसके तीन पाद हैं, क्योंकि इन्हीं तीनों से शब्द वृषभ प्रतिष्ठित होता

---

१. यथा रत्नपरीक्षकाणां प्रथमदर्शने रत्नरूपममलमप्रकाशमानमपि पुनः-पुनः परीक्षमाणानां चरमे चेतसि चकास्ति निरवद्यं रत्नतत्त्वम्, एवमिहापि प्रथम-वर्णश्रुत्या व्यक्तेऽपि स्फोटे स्फुटतरप्रतीत्यै वर्णान्तराणि प्रयोक्ष्यन्ते।

—न्या० म० प्रथम, पृ० ३४०

२. नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥ —वा० प० १/८४

३. अपरे तु वदन्ति ध्वनय एव स्फोटस्य च व्यञ्जकः।

—न्या० म० प्रथम, पृ० ३४०

४. प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः सर्वेश्वरः सर्वशक्तिर्महान् शब्दवृषभः, तस्मिन् खलु वाग्योगविदो विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीनत्यन्तविनिर्भागेण संसृज्यते।

—वा० प० प्रकाश, पृ० २२६

५. ऋग्वेद, १।१६४।४५।

है। नित्य और कार्य यह शब्द का द्विविध विभाग उसके दोशीर्ष हैं। प्रथमा, द्वितीया आदि सात विभक्तियाँ इसके सात हाथ हैं, उरः प्रदेश, कण्ठ और सिर तीन स्थानों से उच्चार्यमाण होने के कारण तीन स्थानों से बाँधा गया कहा जाता है। चूँकि यह वक्ता और श्रोता दोनों में इष्ट की वर्षा करता है, अतः इसे वृषभ कहा गया है, ऐसा स्वप्रकाश तथा चिद्रूप यह शब्द वृषभ मर्त्यों अर्थात् मरणधर्मा मनुष्यों में प्रविष्ट हो गया है।[१] वैयाकरण लोग स्फोट का अभिव्यञ्जक ध्वनि को मानते हैं।[२] इसी ध्वनि को साहित्यशास्त्र में आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों ने उत्तम काव्य के रूप में स्वीकार किया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने 'वाक्यार्थ को दबा सकने में समर्थ व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करने वाले' शब्द तथा अर्थ के लिए 'ध्वनि' पद का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया।[३]

वैयाकरणों ने स्फोट के आठ प्रकार स्वीकार किया है—वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदस्फोट, अखण्डवाक्यस्फोट, वर्णजाति-स्फोट, पदजाति स्फोट तथा वाक्यजातिस्फोट। भर्तृहरि अखण्डवाक्यस्फोट को वास्तविक स्फोट के रूप में स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। इनके मत में वर्ण या ध्वनि से अभिव्यक्त पदस्फोट तो केवल व्यवहार के लिए हैं अन्यथा परमार्थ में निरवयव वाक्य ही वास्तविक स्फोट है। वाक्य भाषा की न्यूततम इकाई है तथा वाक्यार्थ न्यूनतम अर्थस्वरूप। वाक्य के अंश नहीं होते अन्यथा उन अंशों के भी अंश स्वीकार करने से अनवस्थादोष की आपत्ति होगी। अतः निरवयव वाक्य से निरवयव वाक्यस्फोट द्वारा निरवयव वाक्यार्थ की प्रस्तुति होती है।[४]

---

१. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, पृ० २२६-२७ पर अम्बककर्त्री।

२. प्रतीतिपदार्थको लोके 'ध्वनिः' शब्द इत्युच्यते तद्यथा शब्दं मा कुरु, मा शब्दं कार्षी, शब्दकार्ययं माणवक इति। ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः। —महाभाष्य १.१

३. इदमुत्तमतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। —का० प्र०, १.४

४. अवयवकल्पानायां हि यथा वाक्यस्यावयवाः पदानि, पदानामवयवाः वर्णाः, एवं वर्णानामप्यवयवैर्भवितव्यम्, तदवयवानामप्यवयवान्तरैरित्यानन्त्यात् का व्यवस्था स्यात्। —न्या० म० भाग १, पृ० ३४१

अपि च, विप्रलब्धबुद्धिं भवद्विधं बोधयितुं पदस्फोट एव निरवयवोऽस्यामदर्शितः परमार्थतस्तु पदस्फोटो वाक्यावयवभूतो नास्त्येव। निरवयवमेव वाक्यं निरवयस्यैव वाक्यार्थस्य बोधकम्। —वही, पृ० ३४१

स्फोट की सिद्धि में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण :

वर्णों की अर्थबोधकता की अनुपपत्ति से न्याय और मीमांसा दोनों मतों की अनुपपत्ति हो जाने से तथा अन्यथा अर्थप्रत्यय की उपपत्ति सम्भव न होने से स्फोट द्वारा ही अर्थप्रत्ययाकता की सिद्धि होती है। इस स्फोट का ग्रहण वैयाकरण प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों से करते हैं।

सर्वदर्शन सग्रह[1] तथा स्फोटसिद्धि[2] में यह कहा गया है कि स्फोट का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। जैसे गौः पद से एकत्व का बोध सभी लोग करते हैं जबकि इसमें ग, औ तथा विसर्ग वर्ण हैं अतः पद तथा पद के अर्थ में एकत्व की प्रतीति नहीं होनी चाहिए, परन्तु सबको प्रत्यक्ष अनुभव से 'गौः' पद और उसके अर्थ 'गाय' में एकत्व का ज्ञान होता है, अतः इसका कारण स्फोट है। स्फोट के प्रत्यक्ष द्वारा ही प्रमाता को उक्त प्रकाशक ज्ञान होता है। पद के अवयव वर्णों के श्रवणकाल में निरवयव वर्ग का हम स्फोट के रूप में ही प्रत्यक्ष करते हैं। यही स्थिति पद और वाक्य की भी होती है। इन सबका ज्ञान स्फोट के रूप में ही होता है। ध्वनि या वर्णों से अभिव्यक्त होने वाली इस एकाकार प्रतीति में इन भिन्न वर्णों को आलम्बन नहीं बनाया जा सकता। अतः निरवयव स्फोट ही इसका आलम्बन होता है।[3]

चूँकि तार्किक लोग अनुमान का आश्रय अधिक ग्रहण करते हैं अतः वैयाकरण अनुमान प्रमाण द्वारा भी अनुमान की सिद्धि करते हैं।[4] यह सिद्ध किया जा चुका है कि वर्ण किसी भी प्रकार से अर्थ के वाचक नहीं हो सकते और उच्चरित शब्द से नियमतः अर्थावगति होती है। चूँकि यह प्रतीति कारण के अभाव में नहीं हो सकती, अतः इसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार कार्यानुमान से या परिशेषानुमान से स्फोट की सिद्धि होती है। इसी प्रकार अन्यथा उपपत्ति के अभाव के द्वारा अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा भी स्फोट की सिद्धि हो सकती

---

१. अत्रोच्यते। प्रत्यक्षमेवात्र प्रमाणम्। गौरित्येकं पदमिति नानावर्णातिरिक्तैकपादावगतेः सर्वजनीनत्वात्।
—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ५९३

२. स्फोटात्मा तु प्रत्यक्षवेदनीयः। —स्फोटसिद्धि, पृ० १७

३. शब्दस्त्वेको निरवयवः प्रतीयते, तथा च पदमिति वाक्यमित्येकाकारप्रतीतिरस्ति, न च भिन्नाः वर्णास्तस्यामालम्बनीभवन्ति।
—न्या० म० भाग १, पृ० ३४०

४. अपि च, तार्किकाणामनुमानप्रियत्वात्परितोषायेदमनुमानमभ्यधायि।
—वही, पृ० ३४०

है।[1] यदि वर्णों के लिए 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया जाय तो विभक्तियों के अभाव में शब्द से विभक्त्यर्थ की उपपत्ति नहीं होगी, परन्तु स्फोट के लिए 'शब्द' शब्द के प्रयोग द्वारा प्रातिपादित और विभक्ति दोनों का अर्थ उपपन्न हो जायेगा। अतः स्फोट द्वारा ही अर्थप्रतिपत्ति होती है, यह अनुमान प्रमाण द्वारा भी सिद्ध होता है।

इस प्रकार यह निरवयव अक्षर शब्दतत्त्व स्फोट भी न्याय के शब्दानित्यत्व पक्ष की विरोधिनी मान्यता है, अतः शब्द की अनित्यता के लिए स्फोट सिद्धान्त का दूषण भी आचार्य जयन्त को अभीष्ट है।

जयन्त द्वारा स्फोट सिद्धान्त की आलोचना

शब्द की अनित्यत्ता विरोधी वैयाकरणों की निरवयव नित्य स्फोट की मान्यता का जयन्त ने खण्डन किया है। एतदर्थ जयन्त ने वैयाकरणों द्वारा वर्ण-भेदवादी नैयायिकों के मत के विरुद्ध आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत करते हुए स्फोट की सिद्धि सम्बन्धी वैयाकरण सम्मत मत का खण्डन किया है। जयन्त का आक्षेप है कि प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा स्फोट की सिद्धि नहीं की जा सकती। वर्णों द्वारा अर्थ की उपपत्ति न होना और शब्दार्थ प्रत्यय की अन्यथा उपपत्ति होना— ये दोनों कारण हैं जिनके द्वारा अर्थ प्रत्ययाकता के कारण के रूप में स्फोट का अनुमान होता है। परन्तु नैयायिक तो वर्णों को ही वाचक मानते हैं।

वर्णों की वाचकता का जयन्त द्वारा समर्थन :

वैयाकरणों का आक्षेप है कि वर्ण न तो व्यस्त रूप से और न समस्त रूप से अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ होंगे। नैयायिक वर्ण के समूह से ही वाचकत्व की उपपत्ति करते हैं। वर्ण समूह पद और पद समूह वाक्य अर्थ के प्रत्यायक होते हैं। वर्ण चूँकि क्रम में उत्पन्न हो सकते हैं अतः इनका सामस्त्य सम्भव नहीं है—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि क्रम से उत्पन्न होना और समूह होना (एकत्व का बोधक होना) इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। अपितु पूर्व पूर्व उच्चारित वर्णों के संस्कार से सहकृत श्रोत्र, पद के अन्त्य वर्ण के श्रवण काल में पद के सभी वर्णों की स्मृति के द्वारा श्रोता पूरे पद का समूह रूप से ज्ञान करता है और इसी पद ज्ञान के द्वारा जिस प्रकार

---

१. तदस्याः करणं स्फोटः इति, कार्यानुमानमिदमस्तु परिशेषानुमानं वा, अर्थापत्तिर्वा सर्वथार्थप्रतीतिलक्षणकार्यवशात्कल्प्यमानं तत्करणं स्फोट इत्युच्यते।

—न्या० म० भाग १, पृ० ३३८

से पाकादि क्रिया के लिए तीन प्रस्तरखण्डों के ऊपर एक बर्तन रखा जाता है, या जिस प्रकार से भोजन काल में क्रम-भावी विभिन्न ग्रास मिलकर समस्त रूप में तृप्ति रूप कार्य के प्रति कारण होते हैं, जबकि न तो एक ग्रास से तृप्ति हो सकती है और न ही समकाल में सभी ग्रासों का युगपत् ग्रहण सम्भव है। वैदिक क्रिया कलापों में भी क्रमभावी क्रियाओं द्वारा एक फल की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है—जैसे सोमयाग के समय विभिन्न अनुवाकों का निश्चित संख्या में पाठ होता होता है। यह पाठ युगपत् सम्भव नहीं है, फिर भी एक फल की उपलब्धि होती है, अतः क्रमभावी वर्णों द्वारा अर्थ की प्रतीति होने में कोई अनौचित्य नहीं है।[१]

स्फोट की अनुमानगम्यता का निषेध :

इस प्रकार वर्णों द्वारा अर्थ प्रत्यायकता की सिद्धि हो जाने से स्फोट के अनुमान का कोई हेतु नहीं बच रहता। यदि वैयाकरण यह आक्षेप करें कि भोजन के ग्रास से क्रमशः तृप्ति रूप कार्य भी आंशिक रूप से उत्पन्न होता जाता है या आग्नेयादि याज्ञिक क्रियाओं का फल अवान्तर अपूर्व साथ-साथ होता चलता है, अतः इनकी मिलकर सोमयाग के फल परमापूर्व कार्य के प्रति कारणता नहीं होगी और इसी प्रकार क्रमिक वर्णों की भी मिलकर अर्थप्रत्यायकता नहीं हो सकती। जयन्त इसका उत्तर देते हैं कि आग्नेय याग एक व्यापार है। यह अनेक अवयवभूत क्रमभावी क्रियाओं का समूह है। ये अवयवभूत क्रमभावी क्रियायें किसी भी तरह अलग-अलग अवान्तरापूर्व की उत्पत्ति नहीं कर सकतीं, अतः यही मानना होगा कि ये अवयव क्रियायें मिलकर ही आग्नेय याग के फल अवान्तर अपूर्व को उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार वर्ण भी क्रमभावी होते हुए भी मिलकर अर्थ प्रत्यायक होते हैं।

स्फोटवादी नैयायिकों पर पुनः आक्षेप करते हैं कि मुख्य अपूर्व और अवान्तर अपूर्व के मध्य अवयव और अवयवी का सम्बन्ध नहीं है। जबकि पद और उसके अवयव वर्णों के मध्य वाक्य और उसके अवयव पदों के मध्य और वाक्यार्थ तथा तदवयव पदार्थों के मध्य अवयवावयवी का व्यवहार होता है। जयन्त का उत्तर है कि यद्यपि ग्रासों से प्राप्त होने वाली क्रमिक तृप्ति या आग्नेय याग से प्राप्त होने वाले अवान्तरापूर्व द्वारा क्रमिक मुख्यापूर्व की सिद्धि की तरह वर्णों से क्रमिक अर्थबोध नहीं होता, क्योंकि न तो क्रमशः उच्चरित होने वाले वर्णों के उच्चारण काल में सभी वर्ण उपलब्ध होते हैं और न उनसे पदार्थ की

---

१. नायं विरोधः सामस्त्यं च क्रमभावित्वं चेति, एवं क्रमवर्तिनोऽपि वर्णा एवार्था-भिधायिनो भविष्यन्ति। — न्या० म० भाग १, पृ० ३४४-४५

प्रतिपत्ति ही होती है, तथापि ये वर्ण अपने उपलब्धि काल में श्रोता में अपना संस्कार उत्पन्न करते हैं। चूंकि संस्करादि कार्य के प्रति इनकी कारणता होती है, अतः इन वर्णों के सामस्त्य और क्रमभावित्व में विरोध नहीं होता। वर्ण समूह में से पूर्व उच्चरित वर्ण नष्ट होकर भी संस्कार के द्वारा अर्थप्रतीति में सहायक होते हैं और अन्त्य वर्ण तो वर्तमान रहता हुआ ही अर्थप्रतीति कराता है, इसलिए वर्णों द्वारा अर्थप्रतीति की सिद्धि में कोई अनौचित्य नहीं है।

स्फोट की अभिव्यक्ति का निषेध :

वैयाकरणों ने रत्न के परीक्षण का दृष्टान्त देते हुए यह सिद्ध किया है कि वर्ण या ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। उच्चरित ध्वनियाँ केवल स्फोट को अभिव्यक्त कर देती हैं। पद से अर्थबोध तो स्फोट ही कराता है। नैयायिकों का वैयाकरणो की इस मान्यता के विरोध में यह आक्षेप है कि यदि वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं तो वे सभी दोष स्फोट की अभिव्यक्ति पक्ष में आ जायेंगे, जिन्हें वे नैयायिकों के सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षिप्त करते हैं। कुमारिल भट्ट का भी यही मत है।[२] कुछ वैयाकरण वर्णाभिव्यक्ति पक्ष में इन दोषों की आशंका के कारण स्फोट की अभिव्यक्ति ध्वनियों से स्वीकार करते हैं। वैयाकरणों का यह पक्ष भी सदोष है। यदि ध्वनियाँ धीरे-धीरे उच्चारित होंगी, तो इनका प्रत्यक्ष वर्णों के रूप में ही होगा और तब ये वर्ण रूप ध्वनियाँ स्फोट को अभिव्यक्त कर नहीं सकतीं। यदि ध्वनियों का उच्चारण शीघ्रता से किया जाय कि वर्णों का पृथग्ग्रहण ही न हो सके, तब हम किसी भी अर्थ का ग्रहण नहीं कर पाते, क्योंकि ऐसी स्थिति में किसी भी वर्ण का ग्रहण ही नहीं होता। अतः यदि ध्वनियों में स्फोट की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य होती, तो सभी ध्वनियों को चाहे वह धीरे-धीरे उच्चरित हों या शीघ्रता से, स्फोट की अभिव्यक्ति करनी चाहिए और ऐसी स्थिति में हमें अर्थ का ग्रहण होना चाहिए, जबकि प्रत्यक्ष से यह सिद्ध है कि शीघ्रता से उच्चरित ध्वनियों का अर्थग्रहण नहीं हो पाता। यदि वैयाकरण मीमांसकों की तरह यह मान ले कि वर्ण उपलब्धि के बाद भी स्थायी होते हैं और उन्हीं से अर्थ प्रतीति होती है, तो भी यह ठीक नहीं है, क्योंकि क्षणिक एवं अनित्य वर्ण की उपलब्धि के बाद सत्ता ही नहीं रहती।

---

१. स्फोटव्यक्तावपि इदानीं वर्णानां क्व गतास्ते व्यस्तसमस्तविकल्पाः।
—न्या० म० भाग १, पृ० ३३९

२. यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः।
सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवानेन विमुच्यते ॥ —श्लो० वा० स्फोटवाद, १०

वैयाकरण यदि यह कहें कि यदि वर्णों को अर्थ प्रत्यायक मानें तो पद में वर्णों के क्रम से भिन्न उच्चारण कर देने पर भी शब्द से अर्थ बोध होना चाहिए अथवा क्रम से उच्चारण करने पर ही अर्थ बोध होता है—यदि यह मानें तो क्रम ही स्फोट हो जायेगा। वैयाकरणों की यह मान्यता भी ठीक नहीं है, क्रम वस्तुतः कालभेद का दूसरा नाम है और काल कभी भी स्फोट रूप में अभिप्रेत नहीं होगा। क्रम भी स्वतन्त्र रूप से अर्थ का प्रतिपादक नहीं है, अन्यथा वर्ण भिन्न विषयों का क्रम भी अर्थ प्रत्यायक हो जायेगा, इसलिए केवल वर्णों से सम्बद्ध क्रम ही अर्थ प्रतिपादक होता है। इसलिए अर्थावगति वर्णों द्वारा ही होती है, स्फोट द्वारा नहीं। अतः कार्यानुमान या मीमांसक सम्मत प्रमाणों की दृष्टि से अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा स्फोट की सिद्धि नहीं की जा सकती।

स्फोट की प्रत्यक्षगम्यता का निषेध :

वैयाकरण यह कहते हैं कि जब हम शब्द से अर्थ की प्रतीति करते हैं, तब स्फोट की साक्षिता की सिद्धि होती है। वर्ण आदि किसी अन्य साधन से अर्थ प्रतीति हो नहीं सकती। साक्षी केवल प्रत्यक्ष का विषय ही हो सकता है। अतः स्फोट की प्रत्यक्षगम्यता सिद्ध होती है। जयन्त इस मत का भी खण्डन करते हैं। हम यह देख चुके हैं कि वर्णों के द्वारा अर्थावगति की उपपत्ति हो जाती है, अतः स्फोट की अतिरिक्त मान्यता निरर्थक है। स्फोटवादी अपने पक्ष के समर्थन में कहते हैं कि 'शब्द' शब्द के द्वारा संस्कार का कथन नहीं हो सकता, क्योंकि संस्कार ही सिद्धान्त पक्ष को वाचक के रूप में अभिप्रेत है और उसकी उपपत्ति असम्भव है। संस्कार तो व्यापक होता है फिर भी एक व्यक्ति से सम्बद्ध संस्कार दूसरे व्यक्ति के ज्ञान का वाचक नहीं हो सकता। यदि न्यायपक्ष शब्द को वर्णों के लिए प्रयुक्त समझें तो उसे यह बताना चाहिए कि शब्द का तात्पर्य पदनिष्ठ प्रत्येक वर्ण हैं या सभी वर्णों का समूह है? 'शब्द' शब्द का प्रयोग प्रत्येक वर्ण के लिए नहीं हो सकता क्योंकि एक ही वर्ण वाचक नहीं हो सकता। इसी तरह सभी वर्णों के लिए भी 'शब्द' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि यह जातिवाचक शब्द है। एक वचनान्त जातिवाचक शब्द कभी भी द्विवचनान्त या बहुवचनान्त शब्दों के साथ नहीं प्रयुक्त हो सकता। पद के सभी वर्ण द्विवचन या बहुवचन में होंगे, जबकि 'शब्द' शब्द एक वचन में होगा। कभी भी 'देवदत्तयज्ञदत्तौ' का विशेषण 'पुरुषः' नहीं हो सकता या 'धवखदिरपलाशाः' के साथ 'वृक्षः' का प्रयोग नहीं होता। वन शब्द की तरह 'शब्द' शब्द समुदायवाची भी नहीं हो सकता।

क्योंकि वन के प्रसङ्ग में समुदायवाची शब्द 'वन' से भिन्न 'आम्राणां वनम्' 'कपित्थानां वनम्' इत्यादि में आम्र या कपित्थ आदि शब्दों का अलग से निर्देश होता है, लेकिन 'गकारादीनां शब्दः' ऐसा कोई प्रयोग नहीं मिलता।

जयन्त का उत्तर है कि 'शब्द' शब्द की उपपत्ति या अनुपपत्ति से कोई लाभ नहीं है। लोक व्यपदेश के द्वारा वस्तुस्थिति का नियमन नहीं होता। जिस स्फोट के विषय में अस्मत् स्वीकृत अनुमान और प्रत्यक्ष जैसे प्रमाणों की भी गति नहीं, उसके लिए लोक व्यवहार को प्रमाण मान रहे हैं और फिर वर्ण के द्वारा अर्थ प्रत्यायकता में ही लोक-व्यवहार भी सङ्गत होता है। वर्णवाचकता पक्ष में एक वचनान्त 'शब्द' शब्द का प्रयोग पूर्व वर्णों द्वारा जनित संस्कार से युक्त अन्त्य वर्ण के वाचक मानने पर पद के अवयव सभी वर्णों के समूह के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए गौः पद ग, औ तथा विसर्ग का समूह है, इन्हीं ग, औ तथा विसर्ग वर्णों का समूह गौः ही अर्थ का वाचक है और इसी के लिए 'शब्द' का प्रयोग होता है। अतः शब्द से अर्थ प्रतीति होती है, यह लोक प्रयोग भी वर्ण वाचकता पक्ष में ही उपपन्न होता है, स्फोट पक्ष में उपपन्न नहीं होगा। 'शब्द' शब्द कभी 'स्फोट' अर्थ नहीं देता अर्थात् शब्द का अर्थ कभी स्फोट नहीं होता। यदि 'शब्द' का प्रयोग स्फोट के लिए स्वीकार कर लिया जायेगा तो श्रोत्रग्राह्य शब्द की तरह स्फोट का भी श्रोत्र ग्रहण स्वीकार करना चाहिये, जबकि स्फोट का श्रोत्रग्रहण नहीं होता। अतः स्फोट के श्रोत्र-ग्राह्यत्व के अभाव में वर्णवाचकत्व पक्ष में ही 'शब्द' की योजना हो सकती है। यदि वैयाकरण कहें कि जो 'शब्द' का ज्ञान है, वही स्फोट का ज्ञान है तब जयन्त का आक्षेप है कि क्या शब्दत्व जाति ही स्फोट है? वैयाकरणों का उत्तर 'हाँ' नहीं हो सकता। 'स्फोट' शब्द से भिन्न हैं। यह शब्दत्व सामान्य से अभिन्न नहीं हो सकता। सामान्य में सदृश प्रत्यय के कारण एक व्यक्ति देखने पर अन्य व्यक्तियों का स्मरण हो जाता है, परन्तु यहाँ गकार का ग्रहण करने पर औकार का स्मरण नहीं होता। अतः शब्दत्व कभी जाति नहीं हो सकता। इसलिए स्फोट और कुछ नहीं, केवल शब्द है। अपि च वैयाकरण लोग चूंकि शब्द विवर्त्तवाद स्वीकार करते हैं, इसलिए उनके यहाँ शब्द और उसके अर्थ में अभेद हो सकता है, परन्तु नैयायिक मान्यता में शब्द और अर्थ दोनों दो भिन्न तत्त्व हैं। चूंकि नैयायिक विवर्त्तवाद को स्वीकार ही नहीं करते, अतः विवर्त्तवाद के द्वारा स्फोट से अर्थप्रत्यायकता को स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार स्फोट का प्रत्यक्ष द्वारा भी कथमपि ग्रहण सम्भव नहीं है।

शब्द के निरवयत्व का निषेध :

जयन्त ने वैयाकरण-सम्मत शब्द-निरवयवत्व का भी निषेध किया है। उनके मत में शब्द सावयव होता है। वाणी की न्यूनतम इकाई वाक्य नहीं है, क्योंकि पदों का भी अर्थ होता है। अतः वाक्य में वाक्य से भिन्न पद की सत्ता सिद्ध होती है। इसलिए वाक्य का निरवयवत्व सम्भव नहीं। अनवस्था का दोष भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि घट के अवयव स्वीकार किये जाते हैं, किन्तु अवयवनिष्ठ अवयवी की सिद्धि करने वाले इस न्याय से परमाणुओं के भी अवयव की अनवस्था नहीं स्वीकृत की गयी। इसी तरह वाक्य के अवयव पद तथा पद के अवयव वर्ण होते है। वर्ण निरवयव होता है। अतः अनवस्था नहीं होगी।

इस प्रकार जयन्त ने वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त और उसके द्वारा आक्षिप्त शब्द नित्यता का निषेध करके शब्द की अनित्यता, सावयववत्व, कार्यत्व और गुणत्व का समर्थन किया है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द का प्रयोजन है अर्थप्रत्यायकता। परन्तु सभी शब्दों से सभी अर्थों का बोध नहीं होता, वरन् सामान्यतः नियत शब्दों से नियत अर्थों का बोध होता है। शब्द को व्यवहार का कारण मानने वाले सभी दार्शनिक इस वस्तु स्थिति को स्वीकार करते हैं। प्रायः बाह्यार्थवाद सभी दार्शनिक-सम्प्रदाय शब्द और अर्थ के मध्य किसी सम्बन्ध का अनुसन्धान करते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि सभी अर्थ सब पदों से वाच्य नहीं होते क्योंकि यह सम्बन्ध निश्चित पद और निश्चित अर्थ के मध्य होता है। अतः यह स्वीकार किया जाता है कि जो अर्थ जिस पद से सम्बद्ध होता है, उस अर्थ का बोध उसी पद से होता है,[1] अन्य असम्बद्ध अर्थ का बोध कथमपि नहीं होता। किन्तु शब्द और तद्वाच्य अर्थ के मध्य स्थित सम्बन्ध के स्वरूप के विषय में विचारकों के मध्य बहुत मतभेद है।

शब्द और अर्थ के मध्य संयोग सम्बन्ध उपपन्न नहीं है, क्योंकि संयोग सम्बन्ध केवल मूर्त्त द्रव्यों में ही हो सकता है, जैसे कुण्ड और बेर का सम्बन्ध। यह सम्बन्ध समवाय नहीं हो सकता क्योंकि तन्तु और पट के मध्य का जैसा कोई

---

१. शब्दादर्थप्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनादनुमीयते अस्ति शब्दार्थसम्बन्धो व्यवस्थाकारणम्। —न्या० भा०, २.१.५४

अपि च, शब्दो सम्बद्धमर्थं प्रतिपादयति प्रत्ययनियमहेतुत्वात् प्रदीपवत्। —न्या० वा०

सम्बन्ध शब्द और अर्थ के मध्य प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत नहीं होता। संयोग और समवाय सम्बन्धों पर आश्रित अन्य कोई सम्बन्ध भी नहीं हो सकते; क्योंकि संयोग और समवाय सम्बन्धों में दोनों सम्बन्धी एक ही देश में उपलब्ध होते हैं; जबकि शब्द मुख में उपलब्ध होता है और अर्थ भूमि में उपलब्ध होता है। क्षुर, मोदक आदि शब्दों के उच्चारण द्वारा मुख में पाटन या पूरण जैसा कोई कर्म रूप अर्थ उपलब्ध नहीं होता, अतः शब्द का अर्थ से सम्बन्ध अनुमेय भी नहीं है। शब्दोच्चारण में स्थान, करण और प्रयत्न जो शब्दोच्चारण के कारण होते हैं, घटादि अर्थ के देश, भूमि आदि में उपलब्ध नहीं होते। अतः शब्द और अर्थ की एकत्र उपलब्धि असम्भव है।[1]

शब्द और अर्थ के मध्य का सम्बन्ध बीज और अङ्कुर के मध्य वर्तमान कार्यकारण सम्बन्ध, तन्तुवाय और पट के मध्य वर्तमान निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध या कुण्ड और बेर के मध्य वर्तमान आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता।[2] साथ ही ऐसा भी नहीं है कि शब्द और अर्थ के मध्य कोई सम्बन्ध ही न हो, क्योंकि ऐसी स्थिति में शब्द से अर्थ की व्यवस्था न रह जायेगी, जबकि शब्द में अर्थ की व्यवस्था तो देखी ही जाती है।[3] तब शब्द और अर्थ के मध्य कौन सा सम्बन्ध है? इस प्रश्न पर वैयाकरणों, आलङ्कारिकों, मीमांसकों तथा नैयायिकों ने अपने-अपने प्रस्थान पर आवृत समाधान प्रस्तुत किया है।

वैयाकरणों ने पद और पदार्थ के सम्बन्ध की समस्या पर विस्तार से विचार किया है। व्याडि से लेकर नागेश तक के सभी वैयाकरणों ने इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किया है। वैयाकरणों में भर्तृहरि शब्द और अर्थ के दार्शनिक विश्लेषण के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रौढ़ विचार प्रस्तुत करते हैं। इन्होंने शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में अनेकत्व होते हुए भी एकत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। ये शब्द और अर्थ के मध्य अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। इनके मत में अर्थ शब्द से भिन्न भी होता है और अभिन्न भी होता है। जो अर्थ जिस शब्द से भिन्नाभिन्नात्मक होता है, उस शब्द से उसी अर्थ का बोध होता है। सब अर्थ सब शब्दों से भिन्नाभिन्नात्मक नहीं हो सकते, अर्थात् सब अर्थों और शब्दों के मध्य तादात्म्य नहीं होता, अतः सब शब्दों से सब अर्थों का बोध नहीं होता।

---

१. द्रष्टव्य—न्या० म०, पृ० २२०-२१

२. संश्लेषसम्बन्धमभिप्रेत्योच्यते कार्यकारणनिमित्तनैमित्तिकाश्रयाश्रय्यादयः सम्बन्धाः शब्दस्यार्थेनानुपपन्ना एवेति। —शा० भा०, १।१।४

३. शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः। —न्या० सू०, २।१।५४

अद्वैत वेदान्त को अभिमत कार्यकारण सिद्धान्त विवर्त्तवाद को वैयाकरणों ने शब्द द्वारा अर्थ प्रत्यय का आधार मान लिया है।[१] वैयाकरणों के इस मत को आलङ्कारिकों ने भी स्वीकार किया है। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' के आदि में वाणी और अर्थ के मध्य वर्तमान इसी तादात्म्य सम्बन्ध की ओर इंगित किया है।[२]

जयन्त मीमासकों की तरह वैयाकरणों को अभिप्रेत तादात्म्य सम्बन्ध का निषेध करते हैं। शब्द और अर्थ की चूंकि अलग उपलब्धि होती है। अतः इनके मध्य कभी भी किसी प्रकार एकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती। इस स्थल पर जयन्त वैयाकरणों के मत में विस्तारपूर्वक विचार नहीं करते, वरन् वे मीमासकों का सिद्धान्त विस्तार से खण्डित करते हैं क्योंकि मुख्य प्रतिरोधी सिद्धान्त मीमासकों का था। अब हम पहले शब्द और अर्थ के मध्य मीमासकों को अभिमत सम्बन्ध पर विचार करके न्याय सिद्धान्त पर मीमांसकों के आक्षेप प्रस्तुत करते हुए जयन्त द्वारा मीमांसक मत का खण्डन प्रस्तुत करेंगे।

मीमांसक मत और मीमांसकों द्वारा न्याय-मत पर आक्षेप :

शब्द और अर्थ के मध्य मीमांसक स्वाभाविक और नित्य वाचक वाच्य भाव सम्बन्ध की सत्ता स्वीकार करते हैं। यद्यपि मीमांसक भी नैयायिकों की तरह यह स्वीकार करते हैं कि सामान्यतया तटस्थ व्यक्ति संकेतग्रह उत्तम वृद्ध द्वारा प्रयुक्त शब्द से तथैव क्रिया देखने से प्राप्त करता है, इस प्रकार बालक अपने वृद्धों से शक्ति का ग्रहण करता है, और वे वृद्ध भी अपने वृद्धों से शब्दार्थ सम्बन्ध रूप इस शक्ति का ग्रहण किये होंगे लेकिन इस परम्परा में अनवस्थादोष होने से आदि वृद्ध को खोज पाना असम्भव है, इसलिए मीमांसक शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को अनादि और नित्य मानते हैं। इनका मत है कि शब्द में अर्थ प्रकाशन की स्वाभाविक शक्ति होती है। शब्द उच्चरित होते ही श्रोता में शक्ति के द्वारा अपने अर्थ को प्रकाशित कर देता है।

---

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ —वा० प०, १।१

अपि च, शब्द उच्चरिते शब्दाकारतया प्रथमं बुद्धिर्विवर्त्तते, सा तथा विवृत्ता सती ततोऽर्थाकारतया विपरिणमते, तस्यां च तथाभूतायां बुद्धौ शब्दस्वरूपमेवार्थाकारतया निर्वृत्तमवगम्यत इत्यादि युक्त्युपन्यासपूर्वकं शब्दार्थयोरभेदमाहुः शाब्दाः। —न्या० म० ग्र० भङ्गः० पृ० ९७

२. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। —रघुवंश, १।१

नैयायिक भी संकेतग्रह परम्परा से मानते हैं, परन्तु उनके मत में यह परम्परा अनादि नहीं है वरन् इसका प्रारम्भ ईश्वर से हुआ है। जिस प्रकार ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से सृष्टि का निमित्त कारण बनता है, उसी प्रकार ईश्वर ने सृष्टि के आदि में सभी शब्दों में अर्थ प्रत्यायकता की सामर्थ्य जिसे शक्ति कहा गया है, उत्पन्न किया। जिस प्रकार हम अपनी इच्छा से अपनी किसी वस्तु का कुछ नाम रखते हैं 'हमारी अमुक वस्तु अमुक नाम से जानी जानी जाय' या 'अमुक शब्द का अमुक अर्थ हो' यह शक्ति कल्पित करते हैं और इसी शक्ति के ग्रह के कारण तत्तद् शब्दों से तत्तदर्थों का बोध करते हैं, उसी प्रकार ईश्वर ने सृष्टि के आदि में सभी अर्थों के लिए शब्दों में अर्थ प्रकाशन की शक्ति उत्पन्न किया। इसलिए नैयायिक शब्दार्थ सम्बन्ध को समय या सङ्केत कहते हैं। नैयायिकों को अभिमत यह समय नित्य नहीं वरन् पुरुषेच्छाधीन है। न्याय मत पर मीमांसकों के ये आक्षेप हैं—

(१) मीमांसक नित्य सम्बन्ध की सिद्धि के लिए न्याय-मत का खण्डन करते हैं। मीमांसकों का यह कहना है कि नैयायिकों की तरह यह मानना युक्तिसङ्गत नहीं कि कोई ऐसा समय था जब शब्द का व्यवहार ही न रहा हो ताकि सर्वप्रथम ईश्वर संकेत का निर्माण करे। वरन् शब्द में अर्थ वहन करने की स्वाभाविक शक्ति होती है जिसे कोई उत्पन्न नहीं करता, यह शक्ति ही शब्द से अर्थ का प्रत्यय कराती है, जिस प्रकार दीपक से अर्थ का प्रकाश होता है। शब्द में शक्ति समवाय सम्बन्ध से रहती है, जिस प्रकार अग्नि में ज्वाला समवेत होती है।[1]

(२) यदि यह स्वीकार किया जाय कि शब्दार्थ सम्बन्ध व्यक्तिकृत होता है और व्यक्ति की इच्छा के अधीन होता है तो यह ठीक नहीं नहीं क्योंकि की इच्छा के अधीन होता है तो यह ठीक नहीं क्योंकि व्यक्ति की इच्छा उच्छृङ्खल होती है।[2] अतः इसके द्वारा शब्दार्थ प्रत्यायकता में व्यवस्था का होना आवश्यक नहीं होगा। अर्थ व्यवस्था व्यक्ति की इच्छा से नियमित नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति को जल की आवश्यकता है, अग्नि की नहीं, परन्तु धूमदर्शन से वह अग्नि का ही अनुमान करता है, जल का नहीं।[3] यहाँ धूम और अग्नि के मध्य

---

१. चित्रभानोरिव दहनशक्तिः शब्दस्य नैसर्गिकी वाचक शक्तिः।
—न्या० म०, भाग १, पृ० २२०

२. स हि पुरुषकृतः सङ्केतो, न च पुरुषेच्छाया वस्तुनियमोऽवकल्पते तदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वात्।
—वही, पृ० २२१

३. न हि दहनमनिच्छन्नपि पुरुषो धूमान्न तं प्रत्येति जलं वा तत इच्छन्नपि-प्रतिपद्यते।
—वही, पृ० २२१

अविनाभाव नामक स्वाभाविक सम्बन्ध होता है, फिर भी अग्नि के ज्ञान के लिए धूम का भूयोदर्शन निमित्तान्तर अपेक्षित है, उसी प्रकार स्वाभाविक सम्बन्ध के होने पर भी, शब्द द्वारा अर्थ ग्रहण के लिए वृद्ध-व्यवहार के द्वारा सिद्ध संकेत रूप निमित्तान्तर का आश्रय लेना पड़ता है।

(३) मीमांसक यह मानते हैं कि नैयायिकों को अभिमत अभिधानाभिधेय-नियम रूप समय एक प्रकार का ज्ञान है। यह ऐसा ज्ञान है जिसमें अभिधान द्वारा अभिधेय का प्रकाशन होता है। ज्ञान होने से यह आत्मा का एक गुण होगा। न तो यह शब्द से ही सम्बद्ध होगा और न ही शब्द के द्वारा वाच्य किसी अर्थ से ही सम्बद्ध होगा।

(४) नैयायिक यह स्वीकार करते हैं कि यह समय ईश्वरकृत होता है, तब क्या प्रत्येक व्यक्ति के उच्चारण के लिए ईश्वर यह संकेत करता है अथवा सर्ग के आदि में सभी के लिए एक साथ? यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करें, तब यह संकेत प्रत्येक उच्चारण के लिए नया रहेगा या पुराना? यदि यह मानें कि हर बार नया सकेत उत्पन्न किया जाता है, तब हम यह कैसे जानते है कि संकेत अर्थग्रह में सहायता करता है? और यदि यह मान भी ले कि शब्द से अर्थावगति होती है तब इस संकेत की आवश्यकता ही क्या रह जायेगी? जो वस्तु एक बार उत्पन्न की जा चुकी है उसी संकेत की पुनरुक्ति का क्या औचित्य है? यदि इस सकेत की केवल एक बार उत्पत्ति मानें तो विभिन्न वक्ताओं के लिए इसका उपयोग सम्भव नहीं है।

(५) यदि हम शब्द की अर्थ प्रत्यायकता का हेतु केवल समय को ही स्वीकार करें शक्ति को नहीं; तो शब्द से प्राप्त अर्थ का अक्षिनिकोच, हस्तसंज्ञा आदि संकेतों से जन्य अर्थ से भेद कैसे होगा? यदि तब भी हम शब्द में शक्ति को न मानकर समय से अर्थवाच्यता स्वीकार करें, तो शब्द कोड़े के अभिघात या अङ्कुश के प्रतिघात आदि की तरह होगा और तब 'शब्द का अर्थ जानता हूँ' इस प्रसिद्ध सिद्धान्त का भी विरोध होगा क्योंकि तब ज्ञान होगा कि 'समय से अर्थ जानता हूँ।' समय से अर्थग्रह में एक दोष यह भी है कि सभी शब्दों से सब अर्थ वाच्य हो जायेगे, जबकि केवल यदृच्छा शब्द ही विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो सकते हैं; परन्तु जाति, आकृति, क्रियावाची शब्दों का अर्थ नियत होता है।

(६) नैयायिकों का मीमांसकमत पर यह आक्षेप है कि चूंकि कोई शब्द सभी देशों में एक ही अर्थ नहीं प्रदान करता जैसे—चोरवाचक 'चोर' शब्द दाक्षिणात्यों

के द्वारा 'चावल' अर्थ में प्रयुक्त होता है—अतः शक्ति के द्वारा किसी एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ सम्भव नहीं हैं, जबकि समय पक्ष में समय की पुरुषेच्छाधीनता के कारण यह उपपन्न हो सकता है। मीमांसक इस बात का भी खण्डन करते हैं। शब्द श्रवण के अनन्तर श्रोता में सभी अर्थों के विषय में शब्द विशेष का व्यवहार होता है। अतः मीमांसक मत में कोई दोष नहीं है।

नैयायिकों के आक्षेप का उत्तर देने के लिए मीमांसक यह भी स्वीकार करते हैं कि शब्द के अनेक अर्थों के सम्भाव्य न होने पर भी उसी अर्थ की वाच्यता स्वीकार की जाती है, जिस अर्थ में उस शब्द का आर्य लोग प्रयोग करते हैं।

(७) मीमांसक इस नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध के पक्ष में तीन प्रमाण मानते हैं। पहला प्रमाण प्रत्यक्ष है, जैसे वृद्ध द्वारा प्रयुक्त शब्द और अर्थ को बालक प्रत्यक्षतः देखता है, दूसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण है—वक्ता की चेष्टा आदि के द्वारा श्रोता के अर्थ ग्रहण का द्रष्टा बालक अनुमान करता है। तीसरा प्रमाण अर्थापत्ति प्रमाण है, वह इस प्रकार से कि शब्द में अर्थ की वाचक शक्ति होती है। इस शक्ति का ज्ञान शब्द द्वारा अर्थप्रत्यायकता की अन्यथा अनुपपत्ति से होता है।[१]

इस प्रकार न्याय पक्ष पर इन आक्षेपों के द्वारा मीमांसक समय या सङ्केत नामक अनित्य सम्बन्ध पर दोष दिखा करके नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध की सिद्धि करते हैं।

जयन्त द्वारा मीमांसकों के आक्षेपों का उत्तर और न्याय-पक्ष का समर्थन :

जयन्त ने मीमांसक मत के विरोध में महत्त्वपूर्ण आक्षेप प्रत्याक्षेप प्रस्तुत किया है। यह कहना कि पद और पदार्थ का सम्बन्ध नित्य होता है, ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ जिन प्रमाणों से गम्य हैं, उन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से शब्द और अर्थ के मध्य का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।[२] जयन्त ने मीमांसकों के आक्षेपों का इस प्रकार उत्तर प्रस्तुत किया है—

---

१. न ह्यसौ ज्ञातसामर्थ्यो विनान्यैर्व्यवहर्तृभिः।
शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ॥
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया।
अन्यथाऽनुपपत्त्या च बुध्येच्छक्तिद्वयाश्रितम् ॥
अर्थापत्त्यावबुध्यन्ते सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम्।
—श्लोक वार्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहारः १४०-४२

२. न नित्यः सम्बन्धः उपपद्यते, शब्दवदर्थवच्च तृतीयस्य तस्य प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनाप्रतीयमानत्वात्। —न्या० म० भाग १, पृ० २२२

(१) शक्ति पक्ष के विरुद्ध जयन्त का कहना है कि शक्ति की सत्ता ही स्वीकार्य नहीं है। कारण के अपने स्वरूप और सहकारी कारणों से भिन्न शक्ति की सत्ता किसी पदार्थान्तर के रूप में नैयायिकों को अभीष्ट नहीं है। इस शक्ति का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि प्रत्यय की तरह शक्ति का प्रत्यक्ष नहीं होता। शक्ति अनुमेय भी नहीं है। यह सत्य है कि शेषवदनुमान में कार्य से कारण का अनुमान होता है। लेकिन कार्य की उपपत्ति शक्ति को स्वीकार किये बिना भी हो सकती है। यदि हम शक्ति को स्वीकार भी करें तो भी समय को अपरिहार्यतः स्वीकार करना पड़ेगा।[1] यदि शब्दार्थ बोध के लिए समय को स्वीकार कर लिया गया तो पुनः शक्ति को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि अर्थग्रह समय से ही उपपन्न हो जायेगा।[2]

(२) समय की पुरुषेच्छाधीनता विषयक मीमांसक आक्षेप के उत्तर में जयन्त का कहना है कि शक्ति के अभाव में शब्द ही अर्थ के वाचक के रूप में हमें अभिप्रेत है। मीमांसक यदि पूछें कि शक्ति के अस्वीकृत कर देने पर शब्द की वाचक योग्यता कैसे हो सकती है, तो जयन्त का उत्तर है कि गत्व औत्व आदि जातियों से युक्त क्रमभावी वर्णों का समूह पद वाचक होता है तथा तद्भिन्न द्रव्यादि रूप अर्थ वाच्य होता है। स्पष्ट है कि पद ही वाचक होता है और अर्थ वाच्य होता है। उदाहरण के लिए अनेक द्रव्यों में से केवल वे द्रव्य ही चटाई के निर्माण के प्रति कारण होते हैं जिनमें वीरणत्व जाति रहती है, भले ही वीरण की तरह की घासें क्यों न हों, परन्तु वीरणत्व जाति के अभाव के कारण उनमें चटाई की कारणता नही होती, उसी प्रकार गत्वादि जाति वाले वर्ण ही अर्थ के वाचक होते हैं। वीरणत्व सामान्य युक्त द्रव्य कारण होते हैं, जबकि उनमें कार्यजनन की कोई सामर्थ्य या शक्ति जैसा कोई द्रव्यान्तर समवेत नहीं रहता। इसलिए शब्द और अर्थ के मध्य का सम्बन्ध वाचक शक्ति से भिन्न कोई अन्य सम्बन्ध ही हो सकता है। उसी सम्बन्ध को नैयायिक समय या सङ्केत कहते हैं।

शब्द और अर्थ के मध्य का यह सम्बन्ध धूम और अग्नि के मध्य स्थित नित्य साहचर्य (अविनाभाव) का सम्बन्ध भी नहीं होता। जब भी धूम का ज्ञान होता है, तभी यह ज्ञान भी होता है कि धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता परन्तु

---

१ कल्पयित्वा च शक्तिमपरिहार्यः समयः समयमन्तरेणार्थाप्रतिपत्तेरसिद्धेः।
—न्या० म० भाग १, पृ० २२२

२. सिद्धे च समये तत एवार्थसिद्धेः किं नित्यसम्बन्धाश्रयणेन। —वही, पृ० २२२

शब्द और अर्थ के मध्य वाचकता सम्बन्ध का ज्ञान होता है, तब हमें यह ज्ञात होता है कि हम इस कार्य को इस शब्द से जान रहे हैं। शाब्द बोध अनुमिति से हमेशा भिन्न होता है, क्योंकि शाब्द ज्ञान के पूर्व वाचकता का सम्बन्ध जिसे नैयायिक समय कहते हैं, ही शब्द से अर्थ वाच्यता का नियमन करता है। यदि मीमांसक सम्मत शक्ति को शब्दों में समवेत स्वीकार करें तब तो शब्द को उस स्थिति में भी अर्थ को प्रकाशित करना चाहिए जबकि वे गलत उच्चारित हो रहे हैं, जैसे कि एक नया दीप भी अर्थ का प्रकाशन करता ही है।[1]

जयन्त मीमांसकों की इस स्वीकृति को भी निरस्त कर देते हैं कि शब्द में प्रकाशकत्व की स्वाभाविक शक्ति होने पर भी शब्द के अर्थ का प्रकाशन तभी होता है, जब शब्द और अर्थ के मध्य का सम्बन्ध धूम और अग्नि के सम्बन्ध की तरह जाना जाता है। जयन्त कहते हैं कि दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के अनुकूल नहीं है। धूम में अग्नि समवेत नहीं रहती वरन् धूम का केवल अग्नि से अविनाभाव सम्बन्ध रहता है, परन्तु शब्द में शक्ति समवेत होती है और शब्द में अर्थ की यह सामर्थ्य स्वाभाविक होती है। इसलिए अर्थ प्रत्यायकता की उपपत्ति के लिए शब्द में स्वाभाविक शक्ति नहीं सिद्ध होती।

(३) मीमांसकों के इस आक्षेप के विरुद्ध कि 'समय ज्ञानात्मक होने से आत्मा का गुण होगा, जयन्त का उत्तर है कि समय ज्ञान नहीं होता क्योंकि समय शब्द और अर्थ के आश्रित होता है जबकि ज्ञान आत्मा के आश्रित होता है, वरन् यह शब्द और अर्थ दोनों ही ज्ञान के विषय बनते हैं।[2]

(४) समय मात्र को सम्बन्ध रूप में स्वीकार करने पर 'इस शब्द से यह अर्थ वाच्य है' इस लोकसिद्ध व्यपदेश का विरोध होगा—इस मीमांसक आक्षेप का यह उत्तर देते हैं कि स्वाभाविक शक्ति पक्ष में भी 'शक्ति से अर्थ जानता हूँ' ऐसा व्यपदेश होगा, 'शब्द से अर्थ जानता हूँ' ऐसा व्यपदेश नहीं होगा। या अग्नि और धूम के प्रसङ्ग में व्यपदेश होगा—'अविनाभाव से अग्नि जानता हूँ—धूम से नहीं', जबकि यह अभीष्ट नहीं है। 'धूम के अङ्ग होने के कारण अविनाभाव के प्रसङ्ग में ऐसा व्यपदेश होता है, शब्द पक्ष में ऐसा व्यपदेश न होगा' यदि मीमांसक यह कहें तो हमारे भी पक्ष में यह उपपत्ति इसी तरह सिद्ध की जा सकती है।

---

१. प्रकाशकत्वमपि शब्दस्य समयप्रसादोपनतमेव, न स्वाभाविकम्। सांसिद्धिके हि तथात्वे भ्रमित्वादि प्रयुक्तादन्यतो वा यतः कुतश्चिदभिनवादपि दीपादिव शब्दार्थप्रतीतिः स्यात्। —न्या० म० भाग १, पृ० २२३

२. तदाश्रयत्वाभावेऽपि ज्ञानस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः —वही, पृ० २२३

धूम के प्रसङ्ग में व्याप्ति की कारणता होती है और शब्द के प्रसङ्ग में समय की कारणता होती है, धूम और शब्द दोनों में से प्रत्येक के कारणत्व का ह्रास इस पूर्वापेक्षा (करण की नियतपूर्ववर्तिता) में नहीं होता।[१]

समय पक्ष में ही किसी प्रकार लोक-व्यवहार उपपन्न भी हो सकता है 'अमुक शब्द से अमुक अर्थ प्राप्त करो' ऐसा व्यपदेश लोक करता है। अतः शब्द और अर्थ के मध्य का समय सम्बन्ध ही श्रेयान् है।

(५) नैयायिक यह मानते हैं कि समय के कारण ही भिन्न देशों में एक ही शब्द की अर्थभिन्नता उपपन्न होती है। एक ही शब्द से दो देशों में जो अर्थभिन्नता देखी जाती है, उसका कारण दोनों देशों का सङ्केत भेद है।[२]

मीमांसक जो सभी शब्दों में सभी अर्थों के प्रकाशन की सामर्थ्य स्वीकार करके किसी देश विशेष में शब्द विशेष का अर्थ विशेष में व्यवहार स्वीकार करते हैं, वह भी जयन्त के मत में ठीक नहीं। शक्तियों के स्वरूप में कथमपि भेद स्वीकार्य नहीं हो सकता। शब्द में समवेत होने के कारण शक्तियाँ शब्द स्वरूप से पृथक् नहीं हैं, क्योंकि शब्द से भिन्न इनकी प्रतीति नहीं होती। शक्ति से अभेद होने के कारण एक शब्द से एक ही अर्थ प्रकाशित होगा। इस प्रकार शक्ति भेद सिद्ध न होने से शब्द में अर्थभेद न होगा। इसी प्रकार देशभेद होने पर भी अर्थभेद न होगा, क्योंकि शक्ति की एकरूपता सिद्ध है। यदि कार्यभेद से शक्ति-भेद स्वीकार करें तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यभेद की उपपत्ति शक्ति से भिन्न समय भेद आदि के द्वारा भी हो सकती है। यदि यह मानें कि प्रत्येक शब्द में सभी शक्तियाँ समवेत हैं, तो फिर सभी शब्दों से सभी अर्थों के वाचकत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा। यदि मीमांसक समयग्रह को शक्ति का नियामक मानें तो जयन्त का यह आक्षेप है कि तब समय को ही अर्थवाच्यता का हेतु क्यों न मान लें, शक्ति को मानने की आवश्यकता ही नहीं है।[३]

यदि मीमांसक शब्द श्रवण होने पर सभी अर्थों के विषय में सन्देह उत्पन्न होने के कारण सभी अर्थों में शब्द की शक्ति स्वीकार करें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इस सन्देह का का कारण शक्ति नहीं होती, वरन् वर्णों में समवेत रहने

---

१. धूमे हि व्याप्तिपूर्वत्वं शब्दे समयपूर्वता।
नानयोस्तदपेक्षायां करणत्वं विहन्यते॥—न्या॰ म॰ भाग १, पृ॰ २२१

२. अतश्चैनं देशान्तरे सङ्केतवशेन तत एव शब्दादर्थान्तरप्रतिपत्तिः।
—वही, पृ॰ २२३

३. समयोपयोगो नियामक इति चेत्, स एवास्तु किं शक्तिभिः?—वही, पृ॰ २२४

वाली गत्वादि जातियाँ हैं। सन्देह का स्वरूप यह होता है—'ये अमुक, अमुक जाति वाले वर्ण किस अर्थ के वाचक होंगे ?' अतः गत्वादि जाति युक्त वर्णों की अर्थ में वाचकता होती है।

मीमांसक अपने बचाव पक्ष में यह तर्क देते हैं कि शब्दों से अनेक अर्थों की प्रकाश्यता होने पर भी नियत अर्थ की प्रतीति इसलिए होती है, क्योंकि आर्य लोगों ने उस शब्द का उस अर्थ में प्रयोग किया है। म्लेच्छों द्वारा प्रयुक्त प्रसिद्ध अर्थ स्वीकार्य नहीं होता। जयन्त इसके विरोध में कहते हैं कि म्लेच्छ-देश में क्या शब्द का कोई अर्थ ही नहीं होता। अथवा म्लेच्छ लोग जिस धर्म में जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, वह न तो विपर्यय उत्पन्न करता है, न संशय उत्पन्न करता है।

यदि मीमांसक यह कहें कि हम केवल यह मानते हैं आर्य-प्रसिद्ध-अर्थ म्लेच्छ-प्रसिद्ध-अर्थ का (अर्थ भेद होने पर) बाधक होता है। तब आर्य-प्रसिद्धि की म्लेच्छ-प्रसिद्धि बाधिका क्यों नहीं है ? ऐसा भी नहीं है कि शब्द के अर्थों में विकल्प न हों, जैसे कि अक्ष शब्द का अर्थ विभीतक, द्यूतविशेष और इन्द्रिय होता है। इन तीनों विकल्पों में से प्रकरण आदि के नियामक होने के कारण किसी एक ही अर्थ में अक्ष शब्द की प्रवृत्ति होती है।[1] पिकनेमाधिकरण में पिक, नेम, तामरस आदि म्लेच्छ प्रसिद्ध शब्दों की वाचकता मीमांसक भी स्वीकार करते हैं।[2] अवेष्टयधिकरण में राजशब्द को मीमांसकों ने आन्ध्र प्रसिद्ध क्षत्रिय-अर्थ में वर्णित किया है।[3] इसलिए मीमांसक मत सर्वथा अयुक्त है और समय पक्ष ही श्रेयान् है।

---

१. यदा विभीतकादित्रयवाचिनो अक्षशब्दस्य युगपत् त्रयवाचित्वासम्भवात् विकल्पेन त्रयवाचित्वेऽपि प्रकरणादिवशात् क्वचिदेव व्यवस्थिते नियते विषये वृत्तिः। एवं देशान्तरेऽपि अन्यस्मिन्नन्यस्मिन् स्वार्थे प्रयुक्तानां शब्दानां विकल्पेनानेकार्थवाचित्वेऽपि देशवशान्नियतपदार्थे वृत्तिर्भविष्यति।

—न्या० म० ग्र० भ०, पृ० ६००

२. पिकनेमाधिकरणे (१-३-५) अविरोधे सति म्लेच्छप्रसिद्धिरपि ग्राह्येति सिद्धान्तितम्।

—न्याय सौरभ, पृ० ६००

अपि च द्रष्टव्य—'पिक इति कोकिलो ग्राह्यः नेमोऽर्द्धं, तामरसं पद्म, सत इति दारुमयं पात्रं, परिमण्डलं शतच्छिद्रम्।

—शा० भा०, १।३।५

३. जनपदपुरपरिरक्षणवृत्तिमनुपजीवत्यपि क्षत्रिये राजशब्दं आन्ध्राःप्रयुञ्जते। आन्ध्राणां प्रयोगो न विरोत्स्यते।

—वही, पृ० २।३।३

समय पक्ष पर मीमांसकों के आक्षेप का उत्तर देने के लिए जयन्त यह कहते हैं कि समय का परिनिश्चयन सृष्टि के आदि में केवल एक ही बार में हुआ है, अतः सभी शब्द अनेकार्थक नहीं होंगे; इसलिए सभी शब्द यदृच्छा शब्दों की तुल्यता नहीं प्राप्त करेंगे।

(६) मीमांसक अपने शक्ति सम्बन्ध की तीन प्रमाणों से सिद्धि करते हैं, लेकिन यह ठीक नहीं है। शब्द और अर्थ के मध्य स्थित सम्बन्ध का वृद्ध व्यवहार में प्रत्यक्ष तथा सांकेतिक भाषा में अनुमान द्वारा सम्बन्ध ज्ञान तो नैयायिकों को भी अभीष्ट है। परन्तु तीसरा अर्थापत्ति प्रमाण नैयायिक स्वीकार नहीं करते। अर्थापत्ति का ग्रहण शब्द से वाच्यता की अन्यथानुपपत्ति द्वारा होने से शक्ति की सिद्धि स्वीकार की जाती है, परन्तु शब्द से अर्थ-वाच्यत्व शक्ति के अभावों में अन्यथा भी उपपन्न हो सकता है। समय से इसकी उपपत्ति की जाती है। अतः सम्बन्ध का निश्चय केवल प्रत्यक्ष और अनुमान से होता है, तीन प्रमाणों से नहीं। अतः शब्द और अर्थ में स्वाभाविक शक्त्यात्मक सम्बन्ध के अभाव के कारण यह समय सम्बन्ध, सृष्टि के आदि में ईश्वर द्वारा किये जाने से अनादि नहीं, वरन् सादि है।[1]

(७) 'ईश्वर समय को विरचित करता है' इस न्याय पक्ष पर मीमांसकों के आक्षेपों का उत्तर देते हुए जयन्त कहते हैं कि मीमांसकों के आक्षेप सारगर्भित हो सकते थे, यदि हम जैसे अल्पज्ञ प्राणी संकेत करते, परन्तु संकेत का परिनिश्चय तो सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा होता है। ईश्वर के साथ अलौकिक तर्क और शक्ति है, जो अस्मद्विध प्राणियों के मस्तिष्क की कल्पनासीमा से परे हैं। इसी पूर्व सामर्थ्य द्वारा वह सङ्केत उत्पन्न करता है। जिस ईश्वर ने अचिन्त्य रचना रूप जगत् की रचना अपनी इच्छामात्र से कर डाली, उसके सङ्केत तथा व्यवहार की रचना भी उसने इच्छामात्र से कर डाली, उसके सङ्केत तथा व्यवहार की रचना भी उसकी इच्छा मात्र से ही हो जाती है।[2] जयन्त मीमांसकों की हँसी उड़ाते हुए कहते हैं यद्यपि

---

१. तस्माद् द्विप्रमाणकः सम्बन्धनिश्चयो न त्रिमाणकः, तदेवं शब्दस्य नैसर्गिक-शक्त्यात्मकसम्बन्धाभावादीश्वरविरचित समय-निबन्धनः शब्दार्थव्यवहारो नानादिः। —न्या० म०, भाग १, पृ० २२५

२. अस्त्रमायुष्मता ज्ञातं विषयस्तु न लक्षितः।
अस्मदादिषु दोषोऽयमीश्वरे तु न उच्यते॥
नानाकर्मफलस्थानमिच्छयैवेदृशं जगत्।
स्रष्टुं प्रभवतस्तस्य कौशलं को विकल्पते॥ —वही, पृ० २२५

मीमांसकों ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त साक्ष्य एकत्र किया, लेकिन वे अपने उद्देश्य से ही बहक गये। ईश्वरकृत सङ्केत पर जितने भी आक्षेप उन्होंने प्रस्तुत किया वे सभी मनुष्यकृत सङ्केत पर लागू होते हैं। ईश्वरकृत सङ्केत पर नहीं।

इस प्रकार जयन्त मीमांसकों को अभिमत नित्य-स्वाभाविक सम्बन्ध का खण्डन करते हुए तथा समय पक्ष के विरुद्ध मीमांसकों के आक्षेपों का समुचित समाधान प्रस्तुत करके नैयायिकाभिमत समय पक्ष का परिपोषण करते हैं। न्याय के इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द और अर्थ के मध्य वर्तमान समय या सङ्केत सम्बन्ध नित्य या अनादि नहीं, वरन् यह सृष्टि के आदि में प्रारम्भ हुआ और प्रारम्भ में ईश्वर द्वारा उत्पन्न किया गया है। ईश्वर विरचित इस समय सम्बन्ध के ज्ञान का उपाय है वृद्ध-व्यवहार। वृद्धों के व्यवहार से सम्बन्ध न जानने वाला बालक भी सम्बन्ध जान लेता है। शब्द और उसके प्रकाश्य अर्थ के मध्य इस सम्बन्ध को परवर्त्ती नैयायिक ईश्वरेच्छाजन्य होने की ही तरह पुरुषेच्छाजन्य भी मानते हैं।[१] जगदीश तर्कालङ्कार का मत है कि जब यह सम्बन्ध ईश्वरेच्छा से से निर्मित होता है तब यह नित्य होता है और इसे 'अभिधा' या 'शक्ति' कहते हैं, परन्तु जब यह मनुष्य की इच्छा से स्थापित होता है तब इसे 'परिभाषा' कहते हैं।

⊙

१. ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्तु इच्छैव तेनाधुनिकसङ्केतितेऽपि शक्तिरहित एवेत्याहुः।
—न्या० सू० वृ०, पृ० २६६

चतुर्थ अध्याय

शब्द प्रमाण का लक्षण, पृथक्त्व एवं उसका परतः प्रामाण्य

शब्द प्रमाण का लक्षण और स्वरूप

शब्द के विश्लेषण के बाद शब्द प्रमाण के लक्षण और स्वरूप के विषय में विचार करना चाहिये। जयन्त का शब्द प्रमाण-विषयक मत मुख्यतः अक्षपाद सूत्र १।१।७ का विश्लेषण है।[1]

जब किसी ज्ञान का कारण शब्द या वाक्य होता है, तब वह ज्ञान शाब्द ज्ञान होता है और उसका कारणभूत शब्द ही शब्द प्रमाण होता है। पागल, भ्रान्त, या संशयित व्यक्ति के शब्द से प्रमा उत्पन्न नहीं होती, अतः केवल वह शब्द शब्द-प्रमाण है, जो प्रमा का जनक है। इसलिये शब्द के प्रमाणत्व का निर्धारण न्यायसूत्रकार ने आप्तोपदेशत्व से किया। सूत्र का 'शब्दः' पद लक्ष्य है तथा 'आप्तोपदेशः' पद लक्षण है।[2] आप्तोपदेश पद का समास विग्रह दो प्रकार से हो सकता है—आप्त का उपदेश और आप्त उपदेश। प्रथम विग्रह में आप्तत्व वक्ता का विशेषण है तथा द्वितीय में उपदेश का। न्यायवार्त्तिककार ने आप्तपद को उपदेश का विशेषण स्वीकार किया है।[3] आप्तपद का भाष्यकार के अनुसार अर्थ यह है कि वह उपदेष्टा जो यथाप्रमित अर्थ का श्रोता के लिए ज्ञान कराने की इच्छा से उपदेश करे, आप्त कहा जाएगा।[4] अर्थ की उपलब्धि आप्ति है, अतः जो अर्थ का (किसी प्रमाण के माध्यम से) साक्षात्कार कर चुका हो वह आप्त होता है। यह

---

१. आप्तोपदेशः शब्दः। —न्या० सू०, १।१।७

२. अत्र शब्द इति लक्ष्यपदम्। आप्तोपदेश इति लक्षणम्। —ता० टी०, १।१।७

३. तस्माद् आप्तश्चासावुपदेशश्चेति युक्तम्, नाप्तस्योपदेश इति। नैषः दोषः। —न्या० वार्त्तिक, १।१।७

४. आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः उपदेष्टा। —न्या० भा०, १।१।७

अपि च, साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया सह वर्त्तत इत्याप्तः। —न्या० वा०, १।१।७

आप्त ऋषि, आर्य, म्लेच्छ कोई भी हो सकता है, परन्तु उनका आवश्यक धर्म अर्थ की उपलब्धि करना है। किसी अर्थ विशेष के स्वरूप को जानता हुआ व्यक्ति भी उस स्वरूप का यदि अन्यथा प्रकाशन करता है तो वह आप्त नहीं होगा। सम्भवतः इसीलिये वार्त्तिककार आप्त को उपदेश का विशेषण मानते हैं। आप्तपद के ग्रहण की चारितार्थता की ओर जयन्त का संकेत है कि यदि केवल 'उपदेशः शब्दः' मात्र शब्द प्रमाण का लक्षण होता, तो उपदेश और शब्द दोनों पद एक दूसरे के पर्याय हो जाएँगे और तब लक्ष्य-लक्षण भाव की उपपत्ति न होगी। दूसरा दोष यह होगा कि लक्षण में अतिव्याप्ति दोष हो जाएगा क्योंकि तब ऐसा उपदेश भी शब्द प्रमाण हो जाएगा जो शाब्दी प्रमा को उत्पन्न करने में असमर्थ नहीं है, अतः आप्तपद का ग्रहण आवश्यक है।[१]

शब्द लक्षण के प्रसंग में जयन्त ने नैयायिकों की विभिन्न मान्यताओं का उल्लेख किया है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि शब्द - लक्षण के निर्धारण के सम्बन्ध में सूत्रकार के बाद जयन्तभट्ट तक के काल में बौद्धों के साथ वाक्-संघर्ष के फलस्वरूप नैयायिकों में कई मत चल पड़े थे। जयन्त ने यहाँ किसी मत विशेष का खण्डन-मण्डन नहीं किया, लेकिन उनका अपना समर्थन विभिन्न पदों के अध्याहार पक्ष को है, क्योंकि अन्यत्र भी इन्होंने इन पदों के अध्याहार को आवश्यक समझा है।

जयन्त का मत :

हमने यह देखा है कि प्रत्यक्ष लक्षक सूत्र[२] के कुछ पदों को जयन्त ने प्रमाण-लक्षण के संदर्भ में अध्याहृत किया है, अतः वे पद यहाँ भी अध्याहरणीय हैं। 'उपदेशः शब्दः' में उपदेश पद शब्द का पर्याय मात्र है जिसकी प्रसक्ति बोध के कारक न होने वाले शब्द में भी होगी अतः जयन्त इसके लिए उपमान लक्षक सूत्र[३] से साध्यसाधन पद का अध्याहार करते हैं। तात्पर्य यह है कि केवल वह शब्द शब्द-प्रमाण होगा जो किसी साध्य का साधन हो अर्थात् कारण हो। तब भी उत्तरवर्त्ती शब्द का कारण होने के कारण पूर्ववर्त्ती शब्द प्रमाण की प्रसक्ति से मुक्त नहीं होगा, अतः प्रत्यक्ष सूत्र से 'ज्ञान' पद का अध्याहार होना चाहिए। यह ज्ञान स्मृति विपर्यय संशय रूप का भी हो सकता है, जो प्रमा नहीं है, अतः इनके निरास

१. उपदेशः शब्दः इत्युच्यमाने पर्यायमात्रोच्चारणादकारके शब्दमात्रे प्रसक्तिः।
—न्या० म०, भाग १, पृ० १३७

२. न्या० सू०, १।१।४

३. वही, १।१।६

के लिये प्रत्यक्ष-सूत्र से ही 'अर्थ' 'अव्याभिचारि' और 'व्यवसायात्मक' पदों की अनुवृत्ति भी आवश्यक है। इस प्रकार अव्यभिचारादि विशेषणों से युक्त यथार्थ ज्ञान का जनक जो उपदेश होगा, उसे ही शब्द प्रमाण कहेंगे।[1] इस मत के अनुसार पूर्वसूत्रों से अध्याहृत आवश्यक पदों से विशिष्ट उपदेश पद ही शब्द प्रमाण का लक्षण है। आप्तपद का यहाँ कुछ भिन्न प्रयोजन है। आप्त पद शब्द-प्रमाण के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ, वरन् लक्षण के निश्चय के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] लक्षण विनिश्चय का तात्पर्य यह है कि अव्याभिचारादि विशेषणों वाले यथार्थ ज्ञान का कारणभूत उपदेश शब्द प्रमाण होता है—यह प्रमाण का लक्षण किया गया। दृष्ट विषयों में प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों की गति होने से लक्षण का निश्चय हो जायेगा। जैसे किसी ने कहा—'यह नदी एक कोस तक टेढ़ी है', इसे हम प्रत्यक्ष द्वारा देखकर यह कह सकते हैं कि वक्ता का उपदेश प्रमाण का जनक था। परन्तु अदृष्ट विषयों में जहाँ अस्मद्विध लौकिक प्राणियों की कोई गति ही नहीं और न ही प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान आदि प्रमाणान्तरों की गति है, उनके विषय में प्रमाण के प्रामाण्य का निर्धारण कैसे होगा? इसलिये सूत्रकार ने आप्तपद का ग्रहण किया है।[3] आप्त पुरुष का उपदेश दृष्ट विषयों में अव्यभिचारादि विशेषित प्रमा का जनक देखा जाता है, अतः इसी प्रकार अदृष्ट विषयों में भी आप्त का उपदेश अव्यभिचारादि विशिष्ट प्रमा का जनक होगा। लक्षण विनिश्चय का यही तरीका सूत्रकार ने इन्द्रिय लक्षण[4] के प्रसंग में अपनाया है। इन्द्रियाँ अपने नियत विषय से सम्बद्ध ज्ञान का जनक होती है। इस बात का निर्धारण हम कैसे करेंगे?

१. तद्विनिवृत्तये पूर्वसूत्रात् साध्यसाधनपदमाकृष्यते। तथाऽपि शब्दान्तरजनके प्रसक्तिरिति प्रत्यक्षसूत्रात् ज्ञानपदस्य स्मृतिजनकस्य व्यवच्छेदार्थं चार्थग्रहणस्य संशयविपर्ययजनकनिराकरणाय च व्यवसायात्मकाव्यभिचारिपदयोरनुवृत्तिरित्येवमव्यभिचारादिविशेषणार्थप्रतीतिजनक उपदेशः शब्द इत्युक्तं भवति।
—न्या० म० (मैं० प्र०) प्रथम पुष्प, पृ० ३९६

२. आप्तग्रहणं च लक्षणविनिश्चयार्थमाहुः। —न्या० म० भाग १, पृ० १३७

३. अव्यभिचारादिविशिष्टार्थोपलब्धिजनकत्वं प्रमाणलक्षणम्। तद्दृष्टे विषय उपदेशस्य प्रमाणान्तरसंवादसम्भवान्निश्चीयेतापि, अदृष्टे तु विषये प्रमाणान्तरसंवादासंभवात् कथं तद्विनिश्चय इति तदर्थमाप्तग्रहणम्। आप्तस्योपदेशो दृष्टे विषयेऽव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिजनकत्वेन दृष्टः, अदृष्टेऽप्याप्तोपदेशरूपत्वात् तथाविधो भवत्येवेति। —न्या० म० ग्रं० भ०, पृ० ७१

४. घ्राणरसनचक्षुः त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। —न्या० सू०, १।१।१२

इसके लिए सूत्रकार ने 'भूतेभ्यः' पद का ग्रहण किया है।[१] इन्द्रियाँ चूंकि भूत-प्रकृतिक होती हैं और भूतों के गुण नियत होते हैं, अतः इन्द्रियाँ नियत गन्धादि अर्थों के ज्ञान के प्रति कारण होती हैं। यदि इन्द्रियाँ भूतों से उत्पन्न न होतीं तो इनके लक्षण—'स्वविषयोपलब्धिजनकत्व' का निर्वाह नहीं हो सकता था।[२] इसलिये 'भूत' पद का ग्रहण लक्षण के निश्चय के लिये हुआ, इसी प्रकार लक्षण के निश्चय के लिए ही प्रस्तुत में आप्तपद का ग्रहण हुआ है। 'यहाँ वटवृक्ष में यक्ष निवास करता है', इस रूप का ऐतिह्य प्रमाण भी पौराणिकों द्वारा माना गया है; जिसका अन्तर्भाव नैयायिक—यदि ऐतिह्य किसी प्रमा का जनक है—तो शब्द प्रमाण में करते हैं। यहाँ शब्द प्रमाण की इस मीमांसा में जयन्त का कहना है कि चूंकि ऐतिह्य भी उपदेश रूप होता है अतः 'उपदेशः शब्दः' इस लक्षण के अनुसार ही ऐतिह्य प्रमाण का अर्न्तभाव शब्द-प्रमाण में होगा। अन्यथा यदि 'आप्तोपदेशः शब्दः' इसे शब्द-प्रमाण का लक्षण माने तो ऐतिह्य जो भले ही प्रमा का जनक होने के कारण प्रमाण हो, परन्तु उसके मूल वक्ता के ज्ञात न होने से[३] और प्रस्तुत वक्ता की आप्तता का सन्देह होने से ऐतिह्य की आप्तोपदेशता सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में ऐतिह्य का शब्द में अन्तर्भाव न हो पाने से प्रमाणान्तरत्व की आपत्ति होगी जबकि सूत्रकार ने सूत्र में केवल चार प्रमाणों का ही संकीर्तन किया है, इसलिये सूत्रकार का उद्देश्य आप्तपद के ग्रहण के लिये लक्षणविनिश्चय ही रहा होगा। अतः आप्तपद लक्षण का घटक नहीं है।[४]

---

१. यथानियतगन्धाद्युपलब्धिजनकत्वं लक्षणं घ्राणादीनां कथं विनिश्चीयेतेति तद्विनिश्चयार्थं भूतेभ्यः इति पदम्। विशिष्टभूतप्रकृतिकत्वात् भवति नियतार्थोपलब्धिजनकत्वं लक्षणमिति। —न्या० म० ग्र० भ०, पृ० ७१

अपि च, भूतेभ्य इति। नानाप्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमः नैकप्रकृतीनाम्। सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवति। —न्या० भा०, १।१।१२

२. भूतेभ्यः इति किमर्थम्? उक्तं हीन्द्रियाणां स्वविषयग्रहणं भूतप्रकृतित्वे सति-निर्वहन्ति नान्यथेति तद्विनिश्चयार्थं यथाप्तोपदेशः शब्द इत्याप्तग्रहणम्। विषयोपलब्धिलक्षणत्वं हि इन्द्रियाणां भूतप्रकृतित्वे सति निर्वहति, नान्यथेति। —न्या० म० भाग २, पृ० ४८

३. इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्।—न्या० भा०, २।२।१

४. अन्यथा ऐतिह्यस्य अज्ञातप्रवक्तृकत्वेन आप्तोपदेशरूपत्वाभावात् अतिरिक्त-प्रमाणतापत्तिः। सूत्रे तु चत्वार्येव प्रमाणानि निर्दिष्टानि, तेन गम्यते आप्तपदं न लक्षणघटकमभिमतं सूत्रकर्तुः। न्या० सौरभ, पृ० ३९७

द्वितीय मत :

नैयायिकों का एक देश यह मानता है कि 'आप्तोपदेशः शब्दः' यही परिभाषा युक्तियुक्त है और इसके निश्चिय के लिये आप्तपद का ग्रहण भी ठीक है, परन्तु पूर्वसूत्रों से अव्यभिचारादि विशेषण पदों की अनुवृत्ति ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि यहाँ केवल शब्द प्रमाण का लक्षण देना अभीष्ट है। प्रमाण के सामान्य लक्षण से ही स्मृति, संशय, विपर्यय आदि का निषेध हो गया है, अतः यहाँ शब्द-प्रमाण के प्रमाणत्वनिर्धारण के लिये सामान्य-लक्षण आवश्यक नहीं हैं, वरन् सजातीय प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यवच्छेद ही यहाँ अभीष्ट है और इसके लिए 'उपदेश' पद पर्याप्त है।[१] जो 'उपदेश' और 'शब्द' पदों की पर्यायिता का प्रश्न है, तो पर्याय-पद रखने की यह प्रवृत्ति तो सूत्रों में अन्यत्र भी देखी जा सकती है।[२] बुद्धि का लक्षण 'उपलब्धि' दिया है[३] जो बुद्धि का ही पर्याय है, फिर भी वह सजातीय व्यवच्छेदक है, अतः पर्यायता होना कोई दोष नहीं है।[४] अतः पर्यायता के निराकरण के लिए भी अव्यभिचारादि विशेष पदों की अनुवृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं है।

तृतीय मत :

नैयायिकों का एक तीसरा भी पक्ष है जो न तो उक्त वर्णित प्रथम पक्ष की तरह ज्ञानादि पूर्वोपात्त सूत्रों की अनुवृत्ति को आवश्यक मानता है, और न ही द्वितीय पक्ष की तरह शब्द प्रमाण लक्षण के लिये सामान्य-लक्षण और विशेष-लक्षण की गवेषणा को आवश्यक मानता है, वरन् इस मत में 'आप्तोपदेशः शब्दः' यह शब्द-प्रमाण का पूर्ण लक्षण है। ऐसे शब्द के द्वारा किसी वस्तु का उपदेश ही नहीं किया जा सकता जो न तो किसी कार्य का कारण हो, न शब्दान्तर का कारण हो, न स्मृति का कारण हो, न संशय का कारण हो। यदि किसी शब्द के उच्चारण से उक्त कोई प्रसंग आता है, तो उसके उच्चारण को उपदेश ही नहीं कह सकते। अतः शब्द प्रमाण का लक्षण 'उपदेश' शब्द के ही निर्वचन पर आधृत है। उपदेश पद के निर्वचन द्वारा उक्त अतिप्रसंगों की निवृत्ति हो जाती है। 'रथ्यापुरुष' आदि विपरीतार्थक वचन

---

१. द्रष्टव्य—न्या० म० भाग १, पृ० १३७ पं० १२-१५

२. तत्र च पर्यायतापर्याप्तमुपदेशपदमेव बुद्ध्यादिपदवदिति किं विशेषणानुवृत्ति-क्लेशेन। —वही, पृ० १३७

३. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। —न्या० सू०, १।१।१५

४. यथा 'बुद्धिरुपलब्धिः' इत्यत्र पर्यायाणामेवरु लक्षणमुक्तम्। —न्या० म० ग्रं० भ०, पृ० ७१

उपदेश होंगे और इसमें उक्त प्रसंग भी आपतित न होंगे, अतः विपरीत प्रतीति के कारणभूत 'रथ्यापुरुष' जैसे पदों के शब्द प्रमाण से निरास के लिए सूत्रकार ने आप्तपद को ग्रहण किया है। विपर्यय ज्ञान के कारणभूत वाक्य कभी भी आप्तपुरुष के उपदेश नहीं हो सकते। शब्द प्रमाण में ऐतिह्य प्रमाण के अन्तर्भाव के विषय में इनका मत है कि यदि कोई ऐतिह्य यथार्थ ज्ञान का कारण है तो उसका अन्तर्भाव शब्द में हो जायेगा[1], क्योंकि उपदेश वह होता ही है और आप्तो-च्चारणत्व का अनुमान प्रमाण से ज्ञान हो जाता है।[2] अतः ऐतिह्य प्रमाण के प्रमाणान्तरत्व की प्रसक्ति भी न होगी। इसलिए 'आप्तोपदेशः शब्दः' यही शब्द-प्रमाण का लक्षण होना चाहिए।

उपदेश का अर्थ :

उपदेश पद का सामान्य अर्थ कथन या अभिधानक्रिया किया जाता है। फिर यह अभिधानक्रिया क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में जयन्त ने पूर्वपक्ष की ओर से चार विकल्प प्रस्तुत करके सिद्धान्त में अभिधान-क्रिया के अर्थ का प्रकाशन किया है।

(१) यदि यह मानें कि अभिधानक्रिया वह साधन है, जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है, तो चक्षुरादि भी प्रतीति का कारण होते हैं, अतः चक्षुरादि में भी उपदेशत्व का प्रसंग होगा।

(२) यदि यह स्वीकार करें कि प्रतीति का वह कारण अभिधानक्रिया शब्द है जो ज्ञात होता हुआ प्रतीति का कारण होता है, अतः शब्द ज्ञात होकर प्रतीति कारण होने से अभिधानक्रिया होगा, जबकि इन्द्रियाँ अज्ञायमान ही प्रतीति में कारण होती हैं तो इसमें यह दोष आ जायेगा कि धूमादि जो ज्ञायमान ही अनु-मिति आदि के कारण होते हैं; उपदेशत्व से युक्त हो जायेंगे।

(३) यदि यह कहें कि अभिधानक्रिया अपने सदृश प्रतीति का करण होती है, क्योंकि धूमादि स्वविसदृश वह्नि आदि का ज्ञान कराते हैं, जबकि शब्द में जिस विषय वाला बोध होता है, उसी विषय वाला शब्द होता है। इस पक्ष में यह दोष है कि बिम्ब अपने सदृश प्रतीति का हेतु होने से उपदेश हो जाएगा क्योंकि पैर आदि का प्रतिबिम्ब बिम्ब सदृश होता है। दूसरी ओर शब्द स्वसदृश

---

१. ऐतिह्ये यथार्थप्रतीतिहेतावाप्तानुमानान्न प्रमाणान्तरत्वम्।

—न्या० म० भाग १, पृ० १३७

२. ऐतिह्येऽपि यथार्थे सामान्यतः आप्तमूलकत्वानुमानाल्लक्षणोपपत्तिः। अयथार्थस्य तु न लक्ष्यतैवेति शेषः। —न्या० सौ०, पृ० ३९८

प्रत्यय का हेतु नहीं बनता क्योंकि शब्द तो आकृत्यादि से रहित होता है जबकि उससे आकृत्यादि से संयुक्त अर्थ का ज्ञान होता है, अतः शब्द में अनुपदेशत्व का प्रसंग होगा।

(४) यदि यह कहें कि यह शब्द से अवच्छिन्न प्रतीति का हेतु होता है तो कर्ण भी शब्दावच्छिन्न होने से उपदेशत्व से प्रसक्त होगा और दूसरी ओर शब्द अपने अवच्छेद से युक्त प्रतीति उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः शब्द अनुपदेशत्व प्रसंग से युक्त होगा।

(५) यदि यह कहें कि अभिधान क्रिया ऐसी प्रतीति है जिसका करण शब्द हो, तब भी उचित नहीं है, क्योंकि अभिधान-क्रिया के प्रति भी शब्द से उपदेशत्व प्रसंग होगा तथा आकाशानुमान में शब्द का आश्रय होने के कारण शब्द उसका कारण होगा, अतः यहाँ भी शब्द में उपदेशत्व का प्रसङ्ग होगा, जबकि यहाँ अनुमान होता है। इस प्रकार उपदेश को यदि अभिधान-क्रिया माने तो अभिधान-क्रिया का अपना स्वरूप ही निश्चित नहीं है, तब उससे उपदेश का अर्थ कैसे ग्रहण करेंगे ?

सिद्धान्त पक्ष में जयन्त अभिधान क्रिया का पूर्ववर्णित सभी विकल्पों से भिन्न अर्थ प्रस्तुत करते हैं। अभिधानक्रिया श्रोत्रग्राह्य वस्तु (शब्द) से उत्पन्न होने वाली तथा श्रोत्रग्राह्य वस्तु (शब्द) के अर्थ का ज्ञान होती है। लोक में अभिधान-क्रिया का इसी अर्थ में व्यवहार होता है।[१] जो अर्थ उक्त या अभिहित है वही लोक में व्यपदिष्ट होता है क्योंकि वह व्यपदिष्ट होने वाला अर्थ उसी रूप की प्रतीति का विषय होता है। यहाँ जयन्त ने वैयाकरणों के इस मत का खण्डन किया है कि अर्थ प्रतीति वर्णों से नहीं वरन् वर्णों से अभिव्यक्त स्फोट से होती है।[२] जयन्त का कहना है कि श्रोत्र से ग्रहण होने वाला विषय शब्द होता है और वर्ण राशि रूप यह शब्द ही शाब्द ज्ञान का कारण है। श्रोत्रज ज्ञान ही वर्ण का स्वरूप है। यदि यह मानें कि जिससे अर्थ प्रतीति हो, वही शब्द है, तब धूमादि द्वारा अग्नि आदि का अनुमान होने के कारण धूमादि भी शब्द हो जाएँगे, अतः श्रोत्र से ग्राह्य वर्ण राशि से जन्य ज्ञान का जो कारण होता है वह शब्द है। अतः शब्द द्वारा अर्थ प्रतीति तभी सम्भव है जब वह श्रोत्रगृहीत हो और तभी शब्द का शब्दत्व है। शब्द किसी अर्थ की प्रतीति कराता हुआ ही शब्द कहा जाएगा। यदि शब्द और अर्थप्रतीति का कोई सम्बन्ध न माने तो शब्द का

---

१. श्रोत्रग्राह्यवस्तुकरणिका तदर्थप्रतीतिरभिधानक्रिया, इत्थं लोके व्यवहारात्।

—न्या० म० भाग १, पृ० १३८

२. द्रष्टव्य—महाभाष्य, पृ० १६।

शब्दत्व समाप्त हो जायेगा। यदि यह कहें कि प्रतीति तो संविदात्मक होती ही है, अतः अभिधानक्रिया कोई नया ज्ञान भेद है और इस प्रतीति का जो कारण हो वही उपदेश है, तो अतिव्याप्ति दोष आ जाता है, क्योंकि प्रतीति का करण न केवल अभिधानक्रिया होती है वरन् इन्द्रियादि अर्थ, धूमादिलिङ्ग एवं इनका ज्ञान, सादृश्य ज्ञान आदि होते हैं। अतः इन सबमें उपदेशत्व की प्रसक्ति होगी। जयन्त इस प्रश्न का भी समाधान प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि प्रतीति सदा संविदात्मक ही होती है, लेकिन करण भेद से भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली हुआ करती है। चक्षुरादि से उत्पन्न प्रतीति प्रत्यक्ष होती है, धूमादि लिङ्ग से उत्पन्न प्रतीति अनुमिति होती है, श्रोत्रग्राह्य वस्तु (शब्द या वर्णराशि) से उत्पन्न प्रतीति शाब्द होती है। अतः प्रतीति की सार्वता होते हूए भी उसकी भिन्न-रूपता का निषेध नहीं किया जा सकता। दृश्यते, अनुमीयते, अभिधीयते—ये शब्द एक दूसरे के पर्याय नहीं है, वरन् इनमें अर्थ भेद है।[1] इसलिये एक विशेष प्रकार की प्रतीति को उत्पन्न करने में जो करण बने, वह उपदेश होता है और उस प्रतीति विशेष का स्वरूप श्रोत्रग्राह्य वस्तु जन्य प्रतीति होगा, जो अन्य प्रत्यक्ष अनुमित्यादि प्रतीतियों से भिन्न स्वभाव की होगी। आकाशानुमान में शब्द की लिङ्गता तो होती है परन्तु शब्द लिङ्ग जन्य आकाशानुमिति रूप प्रतीति शाब्द नहीं होती है, अतः यहाँ भी अभिधानक्रिया की अतिव्याप्ति न होगी। इसलिये जयन्त ने यह निर्विवाद रूप से सिद्ध किया है कि उपदेश वह अभिधानक्रिया है जो श्रोत्रग्राह्य वस्तु से जन्य है और श्रोत्रग्राह्य वस्तु से उत्पन्न प्रतीति रूप है।[2]

आप्त का अर्थ :

जयन्त ने सामान्यतया भाष्यकार द्वारा किये गये आप्त लक्षण[3] की मीमांसा प्रस्तुत किया। स्वयं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से किसी विषय का प्रमाता यथादृष्ट उस प्रमेय अर्थ का ख्यापन करने की इच्छा से प्रवृत्त होकर जब उपदेश करता है, तब उसे आप्त कहते हैं। अतः आप्तता के लिये ४ बातें आवश्यक हैं।

---

१. सा चक्षुरादिकरणिका प्रत्यक्षफलम्, लिङ्गकरणिकाऽनुमानफलम्, श्रोत्रग्राह्यकरणिका शब्दफलम्। न हि, दृश्यते, अनुमीयते, अभिधीयते इति पर्यायशब्दाः।
—न्या० म० (मै० प्र०) भाग १, पृ० ३९९

२. तत्प्रतीतिविशेष जनने च शब्दस्योपदेशत्वमुच्यते।
—न्या० म० भाग १, पृ० १३८

३. आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः उपदेष्टा।
—न्या० भा०, १।१।७

(१) उपदेष्टा उपदेष्टव्य विषय के बारे में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान या शब्द में से किसी भी प्रमाण द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर चुका हो।

(२) उपदेष्टा जिस साक्षात्कृत अर्थ का उपदेश कर रहा है, उसका वैसा ही उपदेश हो जैसा कि उसने अपने साक्षात्कार के द्वारा जाना है, विषय का अतिशयोक्तिपूर्ण या अपूर्ण या पक्षपातपूर्ण उपदेश न हो।

(३) वक्ता वीतराग हो। यह हो सकता है कि स्वयं साक्षात्कृतधर्मा होने पर भी वक्ता का किसी पक्ष विशेष के प्रति विशेष राग या द्वेष हो, जिससे वह यथादृष्ट अर्थ का उपदेश तोड़-मरोड़ कर भिन्न प्रकार से करे, अतः उसकी आप्तता संदिग्ध हो जाएगी। ऐसी स्थिति के निवारण के लिए ही 'चिख्यापयिषया प्रयुक्तः' पद का ग्रहण हुआ है।

(४) आप्तता के लिए आवश्यक है कि वक्ता में प्रतिपादन कौशल हो, अर्थात् वह दृष्ट अर्थ का तथैव उपदेश कर सके। किसी विषय का साक्षात्कृतधर्मा वीतराग मूक प्रमाता प्रतिपादन कौशल के अभाव में उपदेष्टा नहीं होगा।

इस प्रकार वीतरागता युक्त इच्छा और प्रतिपादन-कौशल—ये दोनों धर्म विशेषतः आप्तता के प्रयोजक हैं, क्योंकि वीतराग भी मूक उपदेश देने में असमर्थ होने के कारण आप्त नहीं होता और बोलने में समर्थ भी साक्षात्कृतधर्मा वीतराग न होने के कारण या तो उपदेश ही नहीं करेगा या तद्भिन्न उपदेश करेगा, अतः आप्त नहीं कहा जायेगा।[१] चूंकि सर्वथा वीतरागत्व बहुत कम लोगों में होता है, अतः बिरले ही लोग आप्त होते हैं।[२]

इन विशेषणों वाले ऋषि, आर्य और म्लेच्छ सभी आप्त हो सकते हैं। ऋषि लोग चूंकि वीतराग होते हैं, अतः सभी आप्त होते हैं। परन्तु आर्यों एवं म्लेच्छों में से कोई विरला ही आप्तता के उक्त लक्षणों वाला होता है, अतः विरला ही कोई आप्त होता है।

जयन्त ने सांख्य शास्त्र के विचारक माठर की मान्यता की ओर संकेत करते हुए कहा है कि जिन लोगों ने दोषक्षय को आप्ति कहा है,[३] उनके मत में इतना परिष्कार आवश्यक है कि वे केवल प्रतिपाद्य अर्थों के विषय में प्रतिपाद्य

---

१. वीतरागोऽपि मूकादिरुपदेष्टुमशक्तः किं कुर्यात्? वक्तुं शक्तोऽपि साक्षात्कृतधर्माऽप्यवीतरागो न वक्ति, तूष्णीमास्त इति।—न्या० म० भाग १, पृ० १३८

२. तस्य च प्रतिपाद्येऽर्थे वीतरागत्वमिष्यते।
सर्वथा वीतरागस्तु पुरुषः कुत्र लभ्यते॥ —वही, पृ० १३८

३. आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्॥ —माठरवृत्ति, ५

अर्थ विषयक पक्षपात आदि रूपों वाले दोषों का क्षय स्वीकार करें, अन्यथा उनका आप्त का लक्षण दोष पूर्ण हो जाएगा, क्योंकि ऐसा न मानने पर लोक व्यवहार में आने वाली आप्तता की अवधारणा बाधित हो जायेगी, क्योंकि प्रतिपाद्य अर्थ में अपूर्णत्वादि दोषों का राहित्य वहाँ उपलब्ध न होगा।

जयन्त का कहना है कि आप्त के ये सभी विशेषण ईश्वर में घटित होते हैं। धर्म चूंकि ईश्वर को प्रत्यक्षगोचर होता है, अतः वह साक्षात्कृतधर्मा है। परम-कारुणिक ईश्वर ने वेद के रूप में यथादृष्ट अर्थ का उपदेश किया है, अतएव ईश्वर परमाप्त है और परमाप्त ईश्वर के उपदेश होने से वेद शब्द-प्रमाण हैं, जिन्हें आगम-प्रमाण भी कहा जाता है।

शब्द का पृथक्-प्रामाण्य :

हम यह जानते हैं कि नैयायिक शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं किन्तु बौद्ध और वैशेषिक शब्द से शाब्द-बोध की उपपत्ति तो मानते हैं, परन्तु शब्द को अनुमान प्रमाण से भिन्न प्रकार का प्रमाण न मानकर शब्द का अनुमान में तर्क-पूर्वक अन्तर्भाव करते हैं।

शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव—पूर्वपक्ष :

कणाद ने वैशेषिक सूत्रों में शब्द जन्य ज्ञान को अनुमिति में अन्तर्भूत किया है।[२] आचार्य प्रशस्तदेव का मत है कि जिस प्रकार व्याप्ति ज्ञान के बल पर अनुमान की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार शब्दादिकों की भी प्रक्रिया होती है।[३] व्योमवतीकार ने अनुमान तथा शब्द में समान प्रक्रिया तथा समान कारण सामग्री के कारण अविशेष स्वीकृत किया है।[४]

वैशेषिकों की तरह बौद्ध लोग भी शब्द का पृथक् प्रामाण्य स्वीकार न करके उसका अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं।[५] दोनों की मान्यताओं में केवल इतना अन्तर है कि जहाँ वैशेषिक शब्द का साहचर्य से सम्बन्ध स्वीकार करते हुए उसका

---

१. आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्॥ —माठर वृ० ५

२. एतेन शाब्दं व्याख्यातम्। —वै० सू०, ९।२।३

३. शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्। —प्र० पा० भा०, पृ०

४. अन्तर्भावव्यवहारे च समानविधित्वात् समानलक्षणयोगित्वादिति हेतूपन्यासः। —व्योमवती, पृ० ५७७

५. वचेभ्यो निखिलेभ्योऽपि विवक्षैषाऽनुमीयते।
—तत्त्व० सं० भाग १, कारिका १५१४

अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं, वहीं बौद्ध लोग शब्द का सम्बन्ध वक्तुरिच्छा रूप विवक्षा से मानकर उसे अनुमान से अपृथक् मानते हैं। बौद्ध तर्क में द्विविध प्रमेयों (स्वलक्षण और सामान्य लक्षण) के ज्ञान के लिए दो ही प्रकार के प्रमाण आवश्यक माने जाते हैं—पहला प्रत्यक्ष जिससे स्वलक्षण का ग्रहण होता है; दूसरा अनुमान जिससे सामान्य लक्षण का ग्रहण होता है।[1] प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि इन दोनों प्रमाणों द्वारा ग्राह्य प्रमेयों से भिन्न प्रमेयों का ही अभाव है।[2] बौद्धों का यह भी कहना है कि शब्द प्रमाण पृथक् प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि शब्द प्रमाण या तो स्वलक्षण का ज्ञान करायेगा या सामान्य लक्षण का, अतः इन दो प्रमेयों से भिन्न प्रमेय का ज्ञान कराने में असमर्थ होने के कारण शब्द का पृथक् प्रामाण्य नहीं है।[3] अब हम क्रमशः उन कारणों पर विचार करेंगे जिनके द्वारा पूर्वपक्ष शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव करता है।

(१) वैशेषिक और बौद्धों का पूर्वपक्षी मत समान कारण सामग्री से उद्भूत होने के कारण शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव मानता है। जिस प्रकार से अनुमान

---

१. मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्। —प्र० वा०, २।१

अपि च,

(क) द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्। प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति। —न्या० बि० १।२-३

(ख) तस्य विषयः स्वलक्षणम् (तस्य चतुर्विधस्य प्रत्यक्षस्य।

—न्या० बि० टी०, पृ० ६९

(ग) अन्यत् सामान्यलक्षणम्। सोऽनुमानविषयः। —न्या० बि०, १।१६-१७

(घ) द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य-ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति। अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः।—न्या० बि० टी०, पृ० ७०

(ङ) वस्तुस्वलक्षणं तावत् प्रत्यक्षेणैव मुद्रितम्।

ततोऽन्यदनुमानेन सम्बन्धापेक्षवृत्तिना ॥—न्या० म० भाग १, पृ० २८

२. न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः।

तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥ —प्र० वा०, ३।६३

द्रष्टव्य—ते हि प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणं द्विविधं जगुः।

नान्यः प्रमाणभेदस्य हेतुर्विषयभेदतः ॥—न्या० म०, प्र० भाग, पृ० २७

३. प्रमाणद्वयसिद्धे च विषयद्वयवेदने।

वद कस्यानुरोधेन तृतीयं मानमिष्यताम्। —वही, पृ० २८

के प्रसङ्ग में हेतु धूम तथा साध्य वह्नि के व्याप्ति ग्रहण के अनन्तर व्याप्तिस्मरण-सहकृत लिङ्ग दर्शन से अनुमिति होती है, उसी प्रकार शब्द ज्ञान के प्रसङ्ग में शक्ति-ग्रह के बाद वाक्य-श्रवण से पदार्थ स्मृति द्वारा वाक्यार्थ बोध होता है। धूम से वह्नि की अनुमिति के लिए व्याप्तिग्रह तथा व्याप्ति स्मरण के अलावा परामर्श ज्ञान की कारणता स्वीकार की गयी है, उसी प्रकार शब्द में भी शब्द श्रवण से वृत्तिज्ञान जन्य अर्थ का अनुसरण होने पर परामर्श ज्ञान होता है। शब्द और अनुमान दोनों में होने वाला व्याप्तिग्रह सामान्य का होता है, विशेष का नहीं। अविनाभाव व संकेतग्रह (ज्ञाप्यज्ञापक सम्बन्ध) ये दोनों सम्बन्ध—अन्वयव्यतिरेकी होते हैं।[१] जिस प्रकार धूम और अग्नि का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है, उसी प्रकार से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी अन्वय-व्यतिरेकी है।

(२) शब्द तथा अनुमान में परोक्ष विषयत्व तथा सामान्य विषयत्व—दोनों प्रकार से विषय की समानता है।[२] दोनों में प्रवृत्ति अदृष्ट या परोक्ष अर्थ में होती है, अतः दोनों का विषय परोक्ष होता है। अनुमान में लिङ्ग दर्शन द्वारा पहले न देखे गये परोक्ष वह्नि का अनुमान किया जाता है, इसी प्रकार शब्द में शब्द श्रवण के द्वारा पहले न देखे गये अर्थों का या परोक्ष अर्थों का ज्ञान होता है।[३] इसी प्रकार शब्द और अनुमान दोनों का सामान्य विषय व्याप्ति सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है, अतः दोनों ही में सामान्य विषयत्व भी समान हैं।

(३) अनुमिति के प्रसङ्ग में हेतु, पक्ष और व्याप्तिग्रह आवश्यक हैं। उसी प्रकार शब्द द्वारा अर्थबोध के प्रसङ्ग में शब्दत्व हेतु है; धर्मविशिष्ट धर्मी की तरह अर्थविशिष्ट शब्द पक्ष है तथा ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध भी उपलब्ध होता है जिससे शब्द श्रवण के अनन्तर शब्दत्व के कारण उसके अर्थ का अनुमान होता है। अनुमान का स्वरूप होगा 'गोशब्दः अर्थवान् शब्दत्वात् घटादिशब्दवत्, यो यः शब्दः स सोऽथवान् यथा घटादिशब्दः तथा चाय तस्मात्तथा।'

(४) शब्द और अनुमान में कुछ आंशिक वैलक्षण्य पूर्वपक्ष भी स्वीकार करता है, परन्तु यह विलक्षणता अनुमान से शब्द के पृथक्त्व का हेतु नहीं है। अपि च ये भेदक तत्त्व विचार करने पर अनुमान में भी उपलब्ध हो जाते हैं। शब्द के अर्थनिश्चय के लिए यह जानना भी आवश्यक होता है कि वक्ता आप्त हो, जबकि

१. अन्वयव्यतिरेकौ च भवतोऽत्रापि लिङ्गवत्।
यो यत्र दृश्यते शब्दः स तस्यार्थस्य वाचकः॥—न्या० म०, प्र० भाग, पृ० १३८

२. शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात्। —न्या० सू०, २।१।५०

३. परोक्षविषयत्वं हि तुल्यं तावद्द्वयोरपि। —न्या० म०, प्रथम भाग, पृ० १३६

अनुमान में ऐसी आवश्यकता नहीं है। साथ ही शब्द के निश्चितार्थ के लिए श्रोता को वक्ता के अभिप्राय-कथित, हस्त, संज्ञा आदि संकेतों तथा काकु आदि का भी ध्यान रखना पड़ता है, परन्तु अनुमान में इन सबकी आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु अनुमानान्तर्भावपक्षी की मान्यता है कि वस्तुतः उक्त तीनों धर्म अनुमान के प्रसङ्ग में भी उपलब्ध होते हैं, अतः अनुमान से शब्द के अन्यत्व में उक्त वैलक्षण्य हेतु नहीं बन सकते।

उपदेश हेतु वक्ता की आप्तता के लिए आवश्यक है कि वह अर्थ का साक्षात् द्रष्टा हो तथा अर्थ व उसके वाचक शब्द के संबंध का ज्ञाता हो, उसी प्रकार अनुमान में भी आवश्यक है कि साध्य और साधन के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान हो। जिस प्रकार से शाब्दबोध के प्रसङ्ग में वक्ता के अभिप्राय और विवक्षा का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार अनुमान में 'वह्नि का अनुमान करता हूँ' इस प्रकार की सिषाधयिषा रहती है। बह्नि सिद्ध करने की इच्छा वाला व्यक्ति ही धूम देखकर बह्नि की सिद्धि कर सकता है। अतः उक्त हेतु अनुमान से शब्द का पृथक्त्व सिद्ध नहीं करते।

शब्द से सदैव निश्चित बाह्यार्थ की प्रस्तुति तो होती नहीं। यदि शब्द से जन्य ज्ञान वक्ता के अभिप्राय से अभिन्न है[1], तभी शब्द की ज्ञान के प्रति कारणता या लिङ्गत्व होगा और ऐसी स्थिति में जिस प्रकार अनुमान में लिङ्ग दर्शन अनुमिति का करण बनता है, उसी प्रकार शब्द के प्रसङ्ग में आप्त पुरुष द्वारा उच्चरित होना करण या लिङ्ग होता है।[2] जैसे धूम सामान्य से अग्नि सामान्य का ज्ञान

---

१. नार्थसिद्धिस्ततस्ते वक्त्रभिप्रायसूचकाः।
आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानता ॥ —प्र० वा० ३।२१४
अपि च,—नान्तरीयकताया अविनाभावस्याभावाद् वस्तुभिः सह शब्दानाम्, ततः शब्देभ्यो नार्थस्य सिद्धिनिश्चयः। किं तर्हि तेभ्यो गम्यते ? इत्याह वक्तुरभिप्रायस्य विवक्षायास्ते शब्दाः सूचकाः तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद्।
—प्र० वा० मनोरथनन्दि०, पृ० ३२३

२. अतएव हि मन्यन्ते शब्दस्यापि विपश्चितः।
आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानताम् ॥ —न्या० म० भाग १, पृ० १४०
तुलनीय—आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानता।
बुद्धेरगत्याभिहिता निषिद्धाप्यस्य गोचरे॥ —प्र० वा०, ३।२१७
द्रष्टव्य—तस्यैवम्भूतस्याप्तवादस्य दृष्टव्यभिचारस्याविसंवादसामान्यात् प्रत्यक्षानुमानागम्येऽप्यर्थे उत्पन्नाया बुद्धेरविसंवादादनुमानता चाचार्यदिङ्नागेनाभिहिताऽगत्या। —प्र० वा० मनोरथ नं० दि०, पृ० ३२४

होता है, उसी प्रकार आप्तोक्तत्व सामान्य के द्वारा अविसंवादित्व सामान्य का निश्चय होता है। व्याप्ति का स्वरूप होगा— जो-जो आप्त वचन है, वह वह अविसंवादी है। अतः शब्द अनुमान में ही अन्तर्भूत होता है।[1]

शब्द प्रमाण का अनुमान से पृथक्त्व : जयन्त का उत्तर :

आचार्य जयन्त ने वैशेषिकों तथा बौद्धों को अभिमत शब्दानुमानान्तर्भाव पक्ष का खण्डन करके शब्द का पृथक् प्रमाणत्व सिद्ध किया है। यदि शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव कर लें तो स्वर्गादि अनेक अर्थों की सिद्धि लिङ्ग दर्शन के अभाव में अनुमान द्वारा न हो पायेगी, जिनकी सिद्धि केवल आगम प्रमाण से ही होती है।

जिस कारण सामग्री से अनुमान उत्पन्न होता है, उसी से शब्द बोध की उपपत्ति कथमपि सम्भव नहीं है। अनुमान की कारणसामग्री है—लिङ्ग की पक्षधर्मता, सपक्षसत्ता और विपक्षव्यावृत्ति, जबकि यह सामग्री शब्द में सम्भव नहीं है, क्योंकि अर्थ के अनुमान में शब्द पक्ष नहीं हो सकता। जो शब्द हेतु होता है, वही पक्ष नहीं हो सकता। अनुमान की तरह शब्द और अर्थ में अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध उन्हीं वस्तुओं में होता है जो एक देश और एक काल से सम्बद्ध हों, जैसे अनुमान मे हेतु और साध्य एकाधिकरणक हैं। इसके विपरीत शब्द और अर्थ का अधिकरण एक नहीं होता। शब्द का अधिकरण आकाश है जबकि घटादि अर्थ आकाशभिन्न पृथ्वी पर आधृत हैं।[2] आवापोद्वाप के द्वारा शब्द और अर्थ में यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसे किसी भी सम्बन्ध की किसी भी प्रमाण से उपलब्धि नहीं होती।[3]

अनुमानान्तर्भाव पक्ष यह स्वीकार करता है कि शब्द और अर्थ में कारण-कार्य सम्बन्ध है। परन्तु वस्तुतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कारणकार्य सम्बन्ध

---

१. यथा धूमसामान्यादग्निसामान्यनिश्चय एवमाप्तवादसामान्यादविसंवादित्व-सामान्यनिश्चय इत्यर्थः। आप्तवादानां वा अविसंवादः सामान्यं रूपम्, यो य आप्तवादः स सोऽविसंवादीत्यर्थः। —न्या० म० ग्रं० भ०, पृ० ७२

२. अन्वयव्यतिरेकावपि तस्य दुरुपपादौ देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात्।
—न्या० म० भाग १, पृ० १४१

३. ननु आवापोद्वापद्वारेण शब्दार्थसम्बन्धे निश्चीयमाने उपयुज्येते एवान्वयव्यति-रेकौ। —वही, पृ० १४२

न होकर संकेतसम्बन्ध होता है। 'इस शब्द का यह अर्थ हो' या 'इस अर्थजात का यह शब्द वाचक हो' इस प्रकार का अभिधानाभिधेय नियम या वाच्यवाचक सम्बन्ध अर्थ और शब्द के मध्य होता है और इसे ही सङ्केत सम्बन्ध कहा जाता है।[1] परन्तु अनुमान के हेतु तथा साध्य के मध्य के सम्बन्ध से शब्द और अर्थ के मध्य का यह सम्बन्ध बहुत भिन्न होता है। अग्नि का अनुमान धूम शब्द से नहीं अपितु धूम अर्थ के लिङ्ग रूप में प्रत्यक्ष से होता है अर्थात् अनुमान के प्रसङ्ग अर्थ का अर्थ से सम्बन्ध है। इसके विपरीत शाब्दबोध में अकेला अर्थमात्र पर्याप्त नहीं है, वरन् उस अर्थ के वाचक शब्द का उच्चारण आवश्यक है और इस उच्चरित ध्वनि रूप शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष शाब्दबोध का कारण होता है।[2] अनुमान के साध्य-साधन के मध्य वर्तमान अविनाभाव सम्बन्ध से शब्द और अर्थ के बीच का संकेत सम्बन्ध भिन्न है। अतः शब्द का अनुमान से पार्थक्य है।[3]

आचार्य जयन्त-भट्ट ने शब्द का द्विविध स्वरूप स्वीकार किया है—पद और वाक्य।[4] अनुमान का शब्द से इसलिए भी भेद है कि पद और लिङ्ग के विषय भिन्न-भिन्न होते हैं।[5] उक्त द्विविध शब्द में वाक्य अपने वाक्यार्थ बोध के लिए वाक्य और वाक्यार्थ के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि पद-पदार्थ सम्बन्ध ज्ञान द्वारा ही वाक्यार्थबोध हो जाता है। उदाहरणार्थ अभिनव श्लोक का श्रवण करने पर भी वाक्य और वाक्यार्थ के मध्य के सम्बन्ध को न जानते हुए भी उसका ज्ञान हो जाता है। फलतः शाब्द बोध के प्रसङ्ग में सम्बन्ध पद और पदार्थ के बीच होता है और ज्ञान वाक्यार्थ का होता है। जब कि अनुमान में भी ज्ञान तो वाक्यार्थ का होता है पर सम्बन्ध (साध्यसाधन भाव) भी वाक्यार्थ का वाक्यार्थ से होता है, पद का पदार्थ से नहीं।[6]

---

१. अभिधानाभिधेयनियमनियोगः समय उच्यते।—न्या० म० भाग १, पृ० २२१

२. धूमादिभ्यः प्रतीतिश्च नैवावगतिपूर्विका।
इहावगतिपूर्वैव शब्दादुत्पद्यते मतिः॥ —वही, पृ० १४२

३. तस्मादन्यो लिङ्गलिङ्गिनोरविनाभावाद्वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः प्रतीत्यङ्गम्। वही, पृ० १४२

४. द्विविधः शब्दः पदात्मा वाक्यात्मा चेति। —वही, पृ० १४०

५. विषयस्तावद्विसदृश एव पदलिङ्गयोः···अनुमान तु वाक्यार्थविषयम् अत्राग्निमान् पर्वत इति प्रतिपत्तेः। —वही, पृ० १४०

६. वाक्यमनवगतसम्बन्धमेव वाक्यार्थमवगमयितुमलम्··· ···सम्बन्धाधिगममूलप्रवृत्तिनाऽनुमानेन तस्य कथं साम्यसम्भावना, पदस्य तु सम्बन्धाधिगमसापेक्षत्वे सत्यपि सामग्रीभेदाद्विषयभेदाच्चानुमानाद् भिन्नत्वम्। विषयस्तावद्विसदृश एव पदलिङ्गयोः, तद्वन्मात्र पदस्यार्थः। वही, पृ० १४०

इसके अतिरिक्त अनुमान तथा शब्द में विशेष्य ज्ञान तथा विशेषण ज्ञान की पूर्वता का भी भेद है। अनुमान में धूम हेतु के द्वारा बह्नि की सिद्धि करने में पक्ष पर्वत ज्ञान होने पर ही पक्ष में बह्नि का अनुमान होता है इसलिए अनुमान में विशेष्य का ज्ञान होने पर ही विशेषण का ज्ञान होता है। यहाँ पर पक्षपर्वत विशेष्य है तथा अग्नि विशेषण है। इसके विपरीत शब्द में पहले विशेष्य का ज्ञान न होकर विशेषण का ज्ञान होता है, तत्पश्चात् विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ 'गोमान्' पद से पहले विशेषण गो का ही बोध होता है। जब तक गो पद का अर्थ बोध नहीं होता तब तक विशेष्य गोमान् ('वह व्यक्ति जिसको गाय है') का अर्थ बोध नहीं हो सकता। इसलिए भी शब्द का अनुमान से पार्थक्य है।[१]

शब्द द्वारा अर्थ के अनुमान-प्रयोग में दोष :

शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव करने वाले जिस पद पक्षक और पदार्थ-पक्षक अनुमान का प्रयोग करते हैं, नैयायिक जयन्त उसमें दोष दिखाकर शब्द प्रमाण का पृथक्त्व सिद्ध करते हैं। अनुमान प्रयोग के हेतु व पक्ष दोनों में ही ये दोष उद्भावित किये गये हैं—

(१) शब्द की हेतुता पर आधारित अनुमान में पदार्थ को पक्ष नहीं बनाया जा सकता। अन्यथा हेतु में व्यभिचार आ जायेगा।

(२) पद को पक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुमान के हेतु (धूम दर्शन आदि) ज्ञात हेतु होते हैं, जबकि वाक्यार्थ के हेतु (आसत्ति आदि) ज्ञात नहीं रहते वरन् स्वरूप सत् अर्थात् सत्ता मात्र से हेतु होते हैं।

(३) शब्द को पक्ष मानने पर यह दोष भी होगा कि पक्षभूत शब्द अपने अर्थ के ज्ञान के प्रति कारण होगा जबकि अनुमान में पक्ष कभी भी हेतु नहीं बनता।[२] फलतः शब्द भी यदि पक्ष नहीं बन सकेगा तो शब्द से अर्थ के अनुमान में पक्ष का अभाव होगा।

(४) शब्द को पक्ष मानकर शब्दत्व जाति को अर्थ के अनुमान में हेतु नहीं माना जा सकता क्योंकि उस स्थिति में अनुमान का स्वरूप होगा—'गोशब्दाःएवार्थवत्वेन साध्यताम् गोशब्दत्वात्' और इस स्थिति में पक्ष और हेतु पुनः अभिन्न हो जायेंगे।

---

१. अपि च पर्वतादिविशेष्यप्रतिपत्तिपूर्विका पावकादिविशेषणावगतिर्लिङ्गादुदेति, पदात्तु विशेषणावगतिपूर्विका विशेष्यावगतिरिति विषयभेदः।

—न्या० म० भाग १, पृ० १४०

२. अर्थविशिष्टः शब्दः साध्यो भवतु, मैवम्, शब्दस्य हेतुत्वात्, न च हेतुरेव पक्षो भवितुमर्हति।

—वही, पृ० १४०

(५) पक्ष को कम से कम अनुमिति के उदयकाल तक स्थायी रहना चाहिये, अन्यथा आलम्बन के अभाव में अनुमिति का उदय ही नहीं होगा। इस प्रसङ्ग में यदि तृतीयक्षण विनाश प्रतियोगी शब्द को पक्ष मान भी लें तो पक्ष में हेतु प्रत्यक्ष, व्याप्ति स्मरण, पुन: शब्दपरामर्श और तब अनुमिति का उदय—इस अनुमान प्रक्रिया के पूरी होने के पूर्व ही पक्ष का अभाव हो जायेगा।

(६) शब्द द्वारा अर्थ के अनुमान में अर्थ को पक्ष नहीं बनाया जा सकता क्योंकि अनुमान में लिङ्ग प्रत्यक्ष के पूर्व पक्ष की सत्ता रहती है, किन्तु शब्द के क्षेत्र में शब्द प्रत्यक्ष के पूर्व अर्थ का ज्ञान स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शब्द और अनुमान के वैलक्षण्य के सम्बन्ध में जयन्त का उत्तर :

जयन्त का यहाँ केवल इतना कथन है कि पूर्वपक्ष स्वयं अनुमान और शब्द में इन अन्तरों को स्वीकार करता है, तब हमें उसके लिए कुछ कथनीय शेष ही नहीं।[१]

आप्तवादाविसंवादित्व तथा विवक्षाविषयत्व का खण्डन :

यदि यह कहा जाय कि आप्तोक्तत्व सामान्य के द्वारा अविसंवादित्व सामान्य का निश्चय होने से शब्द की अनुमान से एकरूपता है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि आप्तवादत्व से शब्दार्थ बुद्धि उत्पन्न होती है।[२] अत: अर्थबोध आप्तवादत्व से निर्धारित होता है। अत: विषय भेद के कारण शब्द का अनुमान से वैलक्षण्य है क्योंकि शब्द श्रवण से शाब्द बोध तो उत्पन्न होगा ही, भले ही वह आप्तोक्त न हो। इसलिए आप्तवादत्व से शाब्द बोध उत्पन्न ही नहीं होता, तब आप्तवादासंवादित्व हेतु विवक्षा को बताया है, वह भी ठीक नहीं, शब्द का वाच्य तो अर्थ होता है न कि विवक्षा।[३] शाब्दबोध तो अर्थरूप होता है और उसमें विवक्षा की हेतुता भी सम्भव नहीं है, क्योंकि शब्द-श्रवण से श्रोता में अर्थबोध उत्पन्न होता है। जयन्त का कहना है कि जिस प्रकार आकाश की सिद्धि में शब्द लिङ्ग होता है, उसी प्रकार विवक्षा की सिद्धि में भी शब्द के बाद विवक्षा उत्पन्न होती है। अनेकार्थक शब्दों से पहले अनेक अर्थों का बोध उत्पन्न होता है, तब वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान तात्पर्य नामक अभिधाभिन्न शक्ति से होता है। अत: विवक्षा शब्द का वाच्य नहीं हो सकती।

---

१. यत्तुपूर्ववर्णक्रमापेक्षणादिवैलक्षण्यमाशङ्क्य दूषितम्-कस्तत्र फलगुप्राये निर्बन्धः।
—न्या० म०, भाग १, पृ० १४२

२. विषयभेदात्। आप्तवादत्वहेतुना शब्दार्थबुद्धेः प्रामाण्यं साध्यते, न तु सैव जन्यते।
—वही, पृ० १४३

३. न हि विवक्षा नाम शब्दस्य वाच्यो विषयः किन्त्वर्थ एव तथा।—वही पृ० १४३

और इस प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनों को ही पूर्वपक्षी द्वारा उपन्यस्त अनुमान में पक्ष नहीं बनाया जा सकता। इस सम्पूर्ण विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द और अनुमान का विषय भिन्न है, कारण सामग्री भिन्न है। शब्द कथमपि अनुमान में अन्तर्भूत नहीं हो सकता। वह प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह से अनुमान से भिन्न एक पृथक् एवं स्वतंत्र प्रमाण है।[1]

शब्द का परतः प्रामाण्य :

शब्द प्रमाण के लक्षण तथा उसके पृथक्-प्रामाण्य की सिद्धि के बाद जयन्त भट्ट ने शब्द प्रमाण का परतः प्रामाण्य सिद्ध किया है। प्रमाण-विषयक अवधारणा तथा ज्ञानमीमांसा की एक प्रमुख समस्या यह है कि प्रामाण्य का ग्रहण स्वतः होता है, या परतः ? जयन्त न्यायमत से सभी प्रमाणों का परतः प्रामाण्य स्थापित करते हैं और इस प्रकार सभी प्रमाणों के परतः प्रामाण्य की सिद्धि करके शब्द प्रमाण के परतः प्रामाण्य की सिद्धि करते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में परतः प्रामाण्य या स्वतः प्रामाण्य के खण्डन-मण्डन के पूर्व यह आवश्यक है कि हम पहले प्रामाण्यवाद के सामान्य स्वरूप को समझ लें। अतः पहले प्रामाण्यवाद की समस्या पर विचार प्रस्तुत करना अपेक्षित हैं।

प्रमाणवाद की समस्या

ज्ञानमीमांसा पर विमर्श करने वाले भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय प्रमाण विषयक अवधारणा के साथ उसके प्रामाण्य के स्वतस्त्व अथवा परतस्त्व पर अवश्य विचार करते हैं। उपयुक्त कारणसामग्रीसन्निधान होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। प्रकृष्ट ज्ञान ही प्रमा है और उसकी कारण सामग्री प्रमाण कही जाती है, प्रमा भिन्न सारे ज्ञान अप्रमा होते हैं और उनकी कारण सामग्री अप्रमाण होती है। प्रमा-प्रमात्मक इस ज्ञान की ज्ञानरूपता के अतिरिक्त उसका एक अन्य विशिष्ट असाधारण धर्म होता है। यही धर्म प्रामाण्य या अप्रामाण्य होता है। जिस शीर्षक के अन्तर्गत प्रामाण्य या अप्रामाण्य के स्वरूप, इसकी ग्राहक सामग्री तथा ज्ञान-ग्राहक सामग्री के सापेक्ष इसका स्वतस्त्व या परतस्त्व पर विचार किया गया है, उसे प्रामाण्यवाद कहा जाता है।

---

१. एवं विद्यविषयभेदात् सामग्रीभेदाच्च प्रत्यक्षवदनुमानादन्यः शब्द इति सिद्धम्।
—न्या० म० भाग १, पृ० १४२

प्रामाण्य का स्वरूप क्या है ?

प्रमा और प्रमाण से सम्बद्ध प्रामाण्य तथा अप्रमा और अप्रमाण से सम्बद्ध अप्रामाण्य का स्वरूप क्या है ? चक्षुरिन्द्रियसन्निकर्ष होने पर हमें घट का ज्ञान होता है—'यह घट है'। हमारा यह घट ज्ञान प्रमा भी हो सकता है और अप्रमा भी। ज्ञाता को ऐसी स्थिति में यह इच्छा होना स्वाभाविक है कि वह अपने ज्ञान के सम्बन्ध में यह जानकारी प्राप्त करे कि उसका घट ज्ञान प्रमा है या नहीं। दूसरे शब्दों में प्रमा के याथार्थ्य और प्रमाण के सत्यत्व का परिनिश्चय करने की इच्छा होती है। ज्ञान का यही याथार्थ्य और तद्द्वारा प्रमाण का सत्यत्व निश्चय ही प्रामाण्य है। याथार्थ्य का विरोधी पक्ष अप्रामाण्य का होता है। यदि ज्ञान यथार्थ नहीं है, तब वह अप्रमा होगा तथा उसका करण अप्रमाण कहा जायेगा। इस अप्रमा के अप्रमात्व तथा अप्रमाण के असत्यत्व को अप्रामाण्य कहा जाता है। सामने किसी विषय को देखकर जलाशय ज्ञान होने पर यह जलाशय ज्ञान वस्तुतः सरोवर विषयक है या नहीं—यही निश्चय किया जाना प्रामाण्य कहा जाता है। प्रमा या प्रमाण की यथार्थता (प्रमात्व या प्रमाणत्व) का ज्ञान प्रामाण्य प्रक्रिया द्वारा किया जाता है।

प्रामाण्य का अर्थ :

प्र उपसर्गसहित √मा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रमाण शब्द बनता है। सामान्यतः प्रमाण के सन्दर्भ में ल्युट् प्रत्यय करण अर्थ में स्वीकार किया जाता है। ऐसी स्थिति में 'प्रमीयते अनेन' व्युत्पत्ति द्वारा प्रमाण शब्द का तात्पर्य होता है—'प्रमा का सातिशय कारण'। भिन्न-भिन्न दर्शनों को अभिमत प्रमाण के स्वरूप के विषय में एकरूपता नहीं मिलती, फिर भी प्रमा के सहकारी कारण को प्रमाण कहते हैं—इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। प्रमा के साधन परक अर्थ के अतिरिक्त प्रमाण का एक अर्थ और सम्भव है जिसका प्रयोग दर्शनग्रन्थों में बहुतायत से देखने को नहीं मिलता। ल्युट् प्रत्यय को यदि भाव अर्थ में स्वीकार किया जाय[१] तो 'प्रमीयते इति प्रमाणम्' व्युत्पत्ति द्वारा प्रमाण शब्द का अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान या यथार्थ ज्ञान होता है। ऐसी स्थिति में प्रामाण्य शब्द की सिद्धि करने वाला प्रमाण शब्द इस प्रसंग में बहुप्रचलित प्रमा शब्द का समानार्थक है। प्रमाण शब्द से ष्यञ् प्रत्यय लगकर प्रामाण्य शब्द की निष्पत्ति होती है। ष्यञ् प्रत्यय भी भाव तथा

---

१. ल्युट् च। अष्टा० ३।३।११५, करणाधिकरणयोश्च। वही ३।३।११७
अपि च, करणेऽधिकरणे भावे च ल्युट् विहितः—बालमनोरमा।

कर्म–दो अर्थों में होता है।[१] अतः भाव अर्थ ष्यञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होने वाले प्रामाण्य शब्द का अर्थ होगा–'प्रमाण होना'। जैसे 'अनुमान का प्रामाण्य' जिसका तात्पर्य होगा—'अनुमान का प्रमाण होना'। इसके अन्तर्गत हम यह विवेचना करते हैं कि अनुमान भी प्रमाण होता है या नहीं—या दूसरे शब्दों में अनुमान भी प्रमा उत्पन्न कर सकता है या नही। परन्तु प्रमाण शब्द से जब यह ष्यञ् प्रत्यय कर्म अर्थ में लगता है, तब इससे निष्पन्न होने वाले प्रामाण्य शब्द का अर्थ होता है—'प्रामाणिकता' या 'यथार्थता'। प्रमा या प्रमाण का याथार्थ्य ही प्रामाण्य है। अभी हम देख चुके हैं प्रमाण शब्द के 'प्रकृष्ट ज्ञान' तथा 'प्रकृष्ट ज्ञान का साधन' दोनों ही अर्थ होते हैं अतः प्रामाण्य में प्रमा और प्रमाण दोनों ही के याथार्थ्य का ग्रहण हो जाता है। प्रमा की ही तरह प्रामाण्य भी ज्ञानरूप ही है। प्रमा के विषयत्व की ही तरह प्रामाण्यज्ञान का भी विषयत्व होता है। पूर्ववर्ती प्रमा इस प्रामाण्यज्ञान का विषय होती है और प्रामाण्य स्वयं ज्ञानग्राहकसामग्री अथवा ज्ञानग्राहकसामग्री से भिन्न सामग्री का विषय होता है।

प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमा से है या प्रमाण से ?:

न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसाग्रंथों में जहाँ पर प्रामाण्यवाद पर विस्तार से विचार हुआ है, वहाँ पर स्पष्टतः प्रामाण्य शब्द को प्रमा तथा प्रमाण दोनों ही से सम्बद्ध स्वीकार किया गया है। न्यायमञ्जरीकार जयन्त-भट्ट,[२] तर्कभाषाकार केशवमिश्र[३], कारिकावली तथा मुक्तावली के लेखक विश्वनाथ[४] तथा शास्त्र-दीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र[५] ने प्रमाण को स्पष्टतः प्रमा से सम्बद्ध स्वीकार किया है। दूसरी ओर 'न्यायमञ्जरी' में ही प्रामाण्य को प्रमाण से सम्बद्ध स्वीकार

---

१. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च। —अष्टा०, ५।१।१२४
अपि च, गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो भावे कर्मणि च अर्थे ष्यञित्यर्थः। —बालमनोरमा।

२. किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वतः उत परतः।
—न्या० म० भाग १, पृ० १४६
अपि च, यदिह प्रामाण्यमितरद्वा स्वतः एव ज्ञानस्य गम्यते तर्हि शुक्तौ रजत-ज्ञानं प्रामाण्यतया वा प्रतिपन्नमन्यथा वा। —वही, पृ० १४७

३. जलादिज्ञाने जाते तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते।–त०भा०,पृ०५३

४. प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः। —कारिकावली, १३६
अपि च, यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यम्–इत्यादि।–न्या०सि०मु०,पृ०४८५

५. तदर्थमिदं सर्वज्ञानान्यधिकृत्य चिन्त्यते। —शास्त्रदीपिका, पृ० २०
अपि च, चोदनाप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमेव सर्वविज्ञानप्रामाण्यचिन्ता।
—युक्तिस्नेहप्रपूरणीसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० २०।

स्वीकार किया गया है।[१] वैशेषिक दर्शन के ग्रंथ 'न्याय कन्दली' में प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमाण से स्थापित किया गया है।[२] अतः यह संशय होना स्वाभाविक है कि प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमा से होगा या प्रमाण से या दोनों से? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वस्तुतः प्रमाण प्रमा तथा प्रमाण दोनों ही से सम्बद्ध होता है। जहाँ पर प्रमा की यथार्थता जाननी अभीष्ट होती है, वहाँ प्रमा ही प्रामाण्य का विषय होती है और तब प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमा से होता है। यहाँ पर प्रामाण्य की सिद्धि करने वाले प्रमाण शब्द का अर्थ प्रमा होगा। दूसरी ओर जब प्रामाण्य द्वारा प्रमाण की प्रामाणिकता का ज्ञान किया जाता है, तो प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमाण से होता है क्योंकि तब प्रामाण्य की सिद्धि करने वाले प्रमाण शब्द का अर्थ प्रमा का साधन होगा और इस प्रामाण्यभूत ज्ञान का विषय भी प्रमाण ही होता है।

न्याय वैशेषिक के पुराने आचार्य प्रमा और प्रमाण की यथार्थता के लिये प्रामाण्य शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु नव्य-नैयायिक प्रामाण्य के स्थान पर प्रमात्व शब्द का प्रयोग करते हैं। कुमारिल और उनके टीकाकार इसके लिये प्रामाण्य शब्द का ही प्रयोग करते हैं।[३] कहीं-कहीं इसके लिये प्रमाणत्व शब्द

---

१. (क) शब्दव्यापारचिन्तावसरे सकलप्रमाणप्रामाण्यविचारस्यकः प्रसङ्गः?
न्या० म० भाग १, पृ० १४६

(ख) तदेवं सर्वप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्ये सिद्धे शब्दस्यापि तथैव प्रामाण्यं भवति? —वही, पृ० १५४

(ग) किं स्वतः एव प्रमाणस्य प्रामाण्यं भवति, उत स्वयमेव तत्प्रमाणमात्मनः गृह्णाति। --वही, पृ० १५५

(घ) प्रत्यक्षादिषु दृष्टार्थेषु प्रमाणेषु प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव व्यवहारसिद्धेः, तत्र किं स्वतः प्रामाण्यमुत परत इति विचारेण न नः प्रयोजनम् इत्यादि। --वही, पृ० १५५

२. दृष्टं च लोके वचसः प्रामाण्यं वक्तृगुणावगतिपूर्वकम्, तेन वेदेऽपि तथैव प्रामाण्यान्निर्विचिकित्समनुष्ठानं स्यात्। —न्यायकन्दली, पृ० ५२३

3. In the Nyaya system valid knowledge is called prama and validity is called pramatva. Latter Mimamsa writers adopt these terms. But kumaril and his commentrators are not known to have used them. They have used the terms pramana and pramanya.....The term pramana sometimes stands for a means of right knowledge whose result is termed 'pramiti' or 'miti' and pramanya then means the capacity of a means to generate a correct knowledge.—Epistemology of Kumaril School of Purvamimamsa, Page—73.

का भी प्रयोग हुआ है। प्रमा की यथार्थता के अर्थ में प्रमात्व शब्द की योजना तो ठीक है, प्रामाण्य शब्द की योजना में सन्देह व्यक्त किया जा सकता है। प्रमाण शब्द से सम्बन्ध रखने वाला प्रामाण्य शब्द क्या प्रमा के याथार्थ्य से सम्बद्ध हो सकता है? अवश्य, क्योंकि प्रमाण शब्द का अर्थ प्रमा और तत्साधन भूत प्रमाण दोनों होता है। प्र पूर्वक मा धातु से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रमाण शब्द का अर्थ यथार्थ ज्ञान या प्रमा होगा। इस प्रमा अर्थ वाले प्रमाण शब्द से निष्पन्न प्रामाण्य शब्द का अर्थ होगा 'प्रमा का याथार्थ्य' तथा जब यह प्रमा के साधनभूत प्रमाण से निष्पन्न होता है, तब इसका अर्थ होता है--प्रमा के साधन की योग्यता--जिसके द्वारा वह प्रमा को उत्पन्न करने में क्षम होता है।

प्रामाण्य की आवश्यकता क्या है?

प्रामाण्यवाद ज्ञानमीमांसा का एक आवश्यक उपसिद्धान्त है। ज्ञान की सत्यता और उसकी निश्चेयता को प्रामाण्य कहा जाता है। प्रमाण और प्रमा के सत्यत्व का मूल्याङ्कन प्रामाण्य द्वारा होता है। किसी ज्ञान से संशय, विपर्यय जैसी अनिश्चयात्मक शंकाओं का निरास प्रामाण्य द्वारा होता है। ज्ञान के प्रामाण्याप्रामाण्य के निर्धारण के अभाव में ज्ञान में निश्चेयता नहीं होती और अनिश्चित ज्ञान सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार को असम्भव बना देगा। अत: विशेषत: प्रमाणों का अध्ययन करने वाले न्याय वैशेषिक शास्त्र और ज्ञानमीमांसा पर विचार करने वाले सांख्य, बौद्ध और मीमांसा शास्त्रों के लिये प्रामाण्यवाद एक अहं प्रश्न है।

प्रामाण्यवाद की अवधारणा का विकास वेदों के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये हुआ है।[1] प्रत्यक्षादि प्रमाण दृष्टफलक हैं, अत: प्रामाण्य के अभाव में भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से व्यवहार की सिद्धि हो सकती है। परन्तु वेद अदृष्टार्थक हैं। जिस वेद प्रमाण का अर्थ अदृष्ट होता है, उस पर प्रेक्षावान् का विश्वास प्रामाण्य निर्धारण के बिना कैसे होगा? अतएव वेदविहित विधानों (विधि वाक्यों) में प्रवृत्ति के लिये वेदप्रमाण (आगम या शब्द प्रमाण) का प्रामाण्य निर्धारण आवश्यक हैं।[2] वेदसंरक्षण के लिये प्रवृत्त न्यायादि शास्त्रों में प्रामाण्य पर स्वतन्त्र चिन्तन इसीलिये आवश्यक हो जाता है।[3]

---

१. तदर्थमिदं सर्वज्ञानान्यधिकृत्य चिन्त्यते। —शास्त्रदीपिका, पृ० २०

२. अदृष्टे तु विषये वैदिकेष्वगणितद्रविणवितरणादिक्लेशसाध्येषु कर्मसु तत्प्रामाण्यावधारणमन्तरेण प्रेक्षावतां प्रवर्तनमनुचितमिति तस्य प्रामाण्यनिश्चयोऽवश्यकर्तव्य:। —न्या० म० भाग १, पृ० १५५

३. तस्मादशेषदुष्टतार्किकोपमर्दद्वारकदृढतरवेदप्रामाण्यप्रत्ययाधायिन्यायोपदेशक्षममक्षपादोपदिष्टमिदं न्यायविस्तराख्यं शास्त्रं प्रतिष्ठाननिबन्धनमिति परं विद्यास्थानम्। —वही, पृ० ३

प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति :

हम यह जानते हैं कि प्रामाण्य भी एक कार्य है, अतः इसकी किसी साधन विशेष से उत्पत्ति होती है और ज्ञान विषयत्व के कारण इसका ग्रहण भी होता है। प्रामाण्य चूँकि ज्ञान या प्रमाण विषयक होता है, अतः जिस कारण सामग्री मे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसी कारण सामग्री से अथवा उससे भिन्न कारण सामग्री से प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है। ज्ञान की ग्राहक सामग्री ज्ञानोत्पादक सामग्री से भिन्न होती है। यह प्रामाण्य ज्ञानग्राहक सामग्री द्वारा या ज्ञानग्राहक सम्बन्धी से भिन्न सामग्री द्वारा गृहीत होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के उत्पत्ति और ग्रहण की तरह प्रामाण्य के भी उत्पत्ति और ग्रहण होते हैं।

प्रामाण्य के प्रकार में वैचारिक भिन्नता :

ज्ञप्ति और उत्पत्ति दोनों स्थितियों में प्रामाण्य किस रूप का होता है—इस विषय में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद है। कुछ लोग उत्पत्ति और ज्ञप्ति में प्रामाण्य का स्वतत्व स्वीकार करते हैं तथा कुछ लोग परतस्त्व स्वीकार करते हैं। स्वतस्त्व एवं परतस्त्व का तात्पर्य यह है कि जिस कारण सामग्री से ज्ञान उत्पन्न हो, या जिस कारण सामग्री से ज्ञान गृहीत हो, उसी कारण सामग्री से जब ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न या गृहीत हो, तब तो प्रामाण्य का स्वतस्त्व होता है और जब ज्ञानोत्पादक या ज्ञानग्राहक कारण सामग्री से भिन्न कारण सामग्री द्वारा प्रामाण्य उत्पन्न या गृहीत हो, तो इसे प्रामाण्य का परतस्त्व कहेंगे।

विभिन्न ज्ञानमीमांसकों के मध्य प्रामाण्य के स्वरूप के विषय में कोई उल्लेखनीय मतभेद नहीं है। मतभेद केवल प्रामाण्य की उत्पत्ति या ज्ञप्ति की स्वतस्त्व या परतस्त्व सम्बन्धी मान्यताओं में है। इनकी इस भिन्नता को इस सारणी से स्पष्ट समझा जा सकता है—

प्रामाण्य	स्थिति	मान्यता का स्वरूप
स्वतः	उत्पत्ति	ज्ञानोत्पादकसामग्रीमात्रजन्यत्वम्
	ज्ञप्ति	ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वम्
परतः	उत्पत्ति	ज्ञानोत्पादकसामग्रीभिन्नसामग्रीजन्यत्वम्
	ज्ञप्ति	ज्ञानग्राहकसामग्रीभिन्नसामग्रीग्राह्यत्वम्

ज्ञान का अप्रामाण्य :

यथार्थ ज्ञान के प्रामाण्य की तरह अयथार्थज्ञान अर्थात् संशय, विपर्यय, स्मृति आदि अप्रमाओं का असाधारण धर्म अप्रामाण्य होता है। अप्रमाण या प्रमाणाभास की अयथार्थता और अप्रमा के अप्रमात्व को अप्रामाण्य कहते हैं। प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति के भेद की तरह अप्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति के विषय में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद है। मीमांसक और नैयायिक अप्रामाण्य परतः स्वीकार करते हैं, जबकि सांख्य और बौद्ध लोग अप्रामाण्य को स्वतः मानते हैं।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक विभिन्न मत :

न्यायमञ्जरीकार जयन्त-भट्ट ने प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतस्त्व तथा परतस्त्व के विषय में चार मत उपन्यस्त किया है।[1] सर्वदर्शन संग्रह में भी इन्हीं चार मतों का उल्लेख मिलता है।[2] सांख्य लोग प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को स्वतः तथा नैयायिक दोनों को परतः स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के मत से प्रामाण्य का स्वतस्त्व होता है जबकि अप्रामाण्य का परतस्त्व होता है। इसके विपरीत बौद्ध मान्यता में प्रामाण्य परतः तथा अप्रामाण्य स्वतः स्वीकार किया गया है। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित तथा उनके अनुयायियों की इस विषय में भिन्न मान्यता है। ये प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः मानते हैं। जब ज्ञान की उत्पत्ति के बाद उसके प्रामाण्य का निर्धारण और उसके बाद प्रवृत्ति हो तो उसे अभ्यास दशा कहते हैं, तथा जब ज्ञानोत्पत्ति के बाद प्रवृत्ति हो, तदनन्तर प्रामाण्य निश्चय हो, तो उसे अनभ्यास दशा कहते हैं। जैन मत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही उत्पत्ति में परतः और ज्ञप्ति में स्वतः होते हैं। प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक इन मतों को दी गयी तालिका से समझा जा सकता है।

---

१. किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रमाण्यं चेति द्वयमपि स्वतः उत उभयमपि परतः आहोस्विदप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं तु परतः उत् स्वित् प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं तु परतः इति। —न्या० म० भाग १, पृ० १४६-४७

२. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्॥
—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १२९

क्रम सं०	मत	प्रामाण्य		अप्रामाण्य	
१	सांख्य	स्वतः		स्वतः	
२	बौद्ध	परतः		स्वतः	
३	मीमांसा	स्वतः		परतः	
४	न्याय वैशेषिक	परतः		परतः	
५	शान्तरक्षित	अभ्यास दशा	स्वतः	अभ्यास दशा	स्वतः
		अनभ्यास दशा	परतः	अनभ्यास दशा	परतः
६	जैन	उत्पत्ति	परतः	उत्पत्ति	परतः
		ज्ञप्ति	स्वतः	ज्ञप्ति	स्वतः

प्रामाण्याप्रामाण्य विषयक इस भिन्नता का आधार उक्त मतों में स्वीकृत प्रमाण के स्वरूप की भिन्नता है। सांख्यों के मत में सत्य और मिथ्या दोनों प्रकार के ज्ञान अन्तःप्रज्ञा या चित्तवृत्ति द्वारा जाने जाते हैं। इसलिये प्रामाण्य और अप्रामाण्य भी ज्ञानरूप होने से चित्तवृत्ति द्वारा ही गृहीत होते हैं। इसलिये दोनों ही स्वतः हैं। नैयायिक मत में प्रमा का प्रामाण्य और अप्रमा का अप्रामाण्य ज्ञान की कारण सामग्री से भिन्न स्वतन्त्र हेतुओं द्वारा सिद्ध किये जाते हैं। बौद्धों के मत में प्रत्येक ज्ञान बाह्यतः मिथ्या दिखाई देता है, अतः ज्ञान का अप्रामाण्य तो स्वतः है, किन्तु जब विशेष प्रमाणों से ज्ञान को सत्य सिद्ध कर दिया जाता है, तभी

ज्ञान का सत्यत्व परिनिश्चित होता है, अतः ज्ञान का प्रामाण्य परतः स्वीकृत किया गया है। मीमांसक यह मानते हैं कि ज्ञान सदा ज्ञायमान ही उत्पन्न होता है, क्योंकि यह स्वप्रकाश होता है और इसकी स्वप्रकाशता तभी सम्भव है जबकि ज्ञान की उत्पादक और ग्राहक सामग्री को ही ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पादक और ग्राहक सामग्री मान लिया जाय। परन्तु जब किसी भिन्न प्रामाण से ज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध कर दिया जाता है केवल तभी ज्ञान मिथ्या होता है। अतः मीमांसक मत में अप्रामाण्य परतः तथा प्रामाण्य स्वतः स्वीकार किया गया है।

स्वतः प्रामाण्य का स्वरूप :

मीमांसक सभी ज्ञानों और सभी प्रमाणों का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। इनके मत में प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों ही स्वतः होती हैं और प्रामाण्य से अप्रामाण्य के पारस्परिक विभेद का कारण भी यही है कि प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है और अप्रामाण्य परतः ग्राह्य। यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मान लें तो मीमांसक मत से दोनों के स्वरूप में पारस्परिक वैलक्षण्य सम्भव नहीं होगा। प्रामाण्य के स्वतोग्रहण का तात्पर्य यह है कि प्रमाण के आश्रयभूत यथार्थज्ञान का ग्रहण जिस कारण सामग्री से होता है, उसी कारण सामग्री से प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। प्रामाण्य ग्रहण के लिये ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न किसी इतर सामग्री की अपेक्षा नहीं है।

प्रामाण्य के ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्व के विषय में पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय में तीन मान्यतायें प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक प्रभाकर की मान्यता है, दूसरी कुमारिल की और तीसरी मुरारि मिश्र की।

प्रभाकर का मत :

प्रभाकर के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश होने से हमेशा ज्ञात रहता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान ज्ञायमान ही उत्पन्न होता है। यदि ज्ञान की उत्पत्ति के बाद उसकी ज्ञप्ति स्वीकार करें तो ज्ञान की स्वप्रकाशता बाधित हो जायेगी। ज्ञान जिस प्रकार अपने विषय को प्रकाशित करता है उसी प्रकार स्वयं अपने को प्रकाशित करता है तथा इसी प्रकार वह अपने प्रामाण्य को भी प्रकाशित करता है। प्रभाकर के मत में ज्ञान सदा त्रिपुटी विषयक होता है। कोई भी उत्पन्न हुआ ज्ञान तीन अर्थों को अपना विषय बनाता है—पहला वह अर्थ जिसके विषय में ज्ञान उत्पन्न हुआ है, दूसरा स्वयं ज्ञान और तीसरा ज्ञान का प्रामाण्य। इसलिये ज्ञानोत्पादकसामग्री ही ज्ञानग्राहकसामग्री होती है और वही ज्ञानप्रामाण्यग्राहकसामग्री होती है। इसलिये ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञानग्राहक सामग्री मात्र ग्राह्य होने से स्वतः गृहीत होता है। ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञप्ति और प्रामाण्य ग्रहण—यह

सारी प्रक्रिया युगपद् होती है। प्रभाकर के अनुसार घटज्ञान का स्वरूप 'घटोऽयम्' न होकर 'घटमहं प्रमिणोमि' होता है, अतः ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञप्ति तथा प्रामाण्य की उत्पत्ति, ज्ञप्ति में अभेद होता है।

कुमारिल का मत :

कुमारिल ज्ञान को अतीन्द्रिय मानते हैं। ज्ञान की उत्पत्ति जिस कारण सामग्री से होती है, उसी कारण सामग्री से ज्ञान का ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञान अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। प्रमाता को ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। कुमारिल के मत में उत्पन्न होने वाले ज्ञान में ज्ञातता नाम का एक नवीन धर्म उत्पन्न होता है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाता को होता है। इसलिये ज्ञानोत्पादक सामग्री से ज्ञानग्राहक सामग्री भिन्न है, परन्तु ज्ञानग्राहक-सामग्री और प्रामाण्यग्राहकसामग्री में भेद नहीं है। ज्ञातता का प्रत्यक्ष करने वाला प्रमाता ज्ञातता के कारण भूत ज्ञान का अनुमान करता है, अतएव ज्ञान ग्राहक सामग्री अनुमान है। इसी प्रकार प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री भी अनुमान ही है अर्थात् प्रामाण्य का निश्चय अनुमान द्वारा होता है। अतएव कुमारिल के मत में भी ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्व सुरक्षित रहने से प्रामाण्य का स्वतस्त्व ही स्वीकार किया जाता है।

मुरारि मिश्र का मत :

अन्य मीमांसकों की अपेक्षा मुरारिमिश्र की ज्ञान ग्रहण सम्बन्धी मान्यता नैयायिक मान्यता के अधिक समीप है। इनके मत में ज्ञानग्राहक सामग्री ज्ञानो-त्पादक सामग्री से भिन्न होती है और यह अनुमान प्रमाण न होकर अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष प्रमाण होती है। नैयायिक मान्यता से इनका केवल यह भेद है कि मुरारि मिश्र जिस अनुव्यवसाय से ज्ञान का ग्रहण मानते हैं उसी अनु-व्यवसाय को प्रामाण्य का भी ग्राहक मानते हैं अतः ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्र-ग्राह्यत्व होने से इनके मत में भी प्रामाण्य स्वतोगृहीत होता है।

अन्य मत :

मीमांसकों के अतिरिक्त सांख्य लोग भी प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व मानते हैं। इसका कारण यह है कि सांख्यों के मत में सभी ज्ञान बुद्धिवृत्ति से भिन्न कुछ नहीं है और सभी ज्ञानों की ग्राहक भी बुद्धिवृत्ति ही है। चूंकि प्रामाण्य भी एक प्रकार का ज्ञान है अतः उसकी भी ग्राहक बुद्धिवृत्ति ही होगी। अतः जो बुद्धिवृत्ति ज्ञान की ग्राहक है वही प्रामाण्य की भी ग्राहक है। अतः ज्ञानग्राहक सामग्रीमात्रग्राह्यत्व के कारण सांख्यमत में प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध होता है।

प्रामाण्य का स्वतस्त्व जैन लोग ज्ञप्ति में तथा बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित अभ्यास दशा में स्वीकार करते हैं।

परतः प्रामाण्य का स्वरूप :

परतः प्रामाण्य मुख्यतः नैयायिक और बौद्ध स्वीकार करते हैं। इनके मत में ज्ञान के प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न होती है।

नैयायिकों का मत है कि किसी विषय में उत्पन्न हुये ज्ञान का ग्रहण ज्ञानोत्पादक सामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा होता है। जैसे 'घटोऽयम्' ज्ञान का उत्पादक प्रमाण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष रूप प्रत्यक्ष प्रमाण है। जबकि 'घटोऽयम्' ज्ञानका ग्राहक अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष है। यह अनुव्यवसाय चतुर्विध प्रमितियों में से प्रत्येक का ग्राहक होता है। या दूसरे शब्दों में यह कहें कि अनुव्यवसाय ही सभी ज्ञानों का ग्राहक होता है। अनुव्यवसाय का स्वरूप है—'घटमहं जानामि' या 'ज्ञातो मया घट.'। यह अनुव्यवसाय प्रामाण्य का ग्राहक नहीं है। घट विषयक ज्ञान और ज्ञानग्रहण के पश्चात् प्रमाता में अर्थोपलब्ध्यनुकूल प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति के पश्चात् प्रमाता या तो घट उपलब्ध करेगा या नहीं। यदि घट उपलब्ध हुआ तो प्रमाता की प्रवृत्ति सफल कही जायेगी और यदि घट उपलब्ध न हुआ तो प्रवृत्ति विफल कही जायेगी। प्रवृत्ति सफल होने पर प्रमाता अनुमान करता है—'मेरे घट विषयक ज्ञान का प्रामाण्य है—सफल प्रवृत्ति का जनक होने से'। न्यायमत में सफलप्रवृत्तिजनकत्वहेतुक अनुमान द्वारा प्रामाण्य का ग्रहण स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार न्यायमत में ज्ञान का ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और प्रामाण्य का ग्राहक अनुमान प्रमाण होता है। ज्ञानग्राहक सामग्री प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुमान प्रमाण भिन्न प्रामाण्यग्राहक सामग्री है। अतः प्रामाण्य का ग्रहण परतः माना जाता है। इसी प्रकार विफलप्रवृत्तिजनकत्वहेतुक अनुमान से अप्रामाण्य भी ज्ञानग्राहकसामग्रीभिन्नसामग्रीग्राह्य होने से परतोग्राह्य स्वीकार किया जाता है।

परतः प्रामाण्यवादी बौद्धों की मान्यता है कि सभी ज्ञान बाह्यतः मिथ्या उत्पन्न होते हैं, अतः अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य होता है। परन्तु जब कोई ज्ञान (१) कारण गुण के ज्ञान द्वारा या (२) संवाद द्वारा या (३) अर्थक्रियाज्ञान द्वारा—सत्य सिद्ध कर दिया जाता है, केवल तभी वह ज्ञान यथार्थ ज्ञान के रूप में स्वीकृत किया जाता है। इसलिये बौद्ध मत में प्रामाण्य-कारण-गुणज्ञान या संवादज्ञान या अर्थक्रियाज्ञान से गृहीत होता है। अतः ज्ञानग्राहकसामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा ग्राह्य होने से बौद्धमत में प्रामाण्य का परतोग्रहण स्वीकार किया जाता है।

शब्द खण्ड के अन्तर्गत प्रामाण्यवाद की योजना का औचित्य

प्रामाण्यवाद का सम्बन्ध सभी प्रमाणों से है। अतः प्रमाण सामान्य के लक्षण के बाद या सभी प्रमाणों पर विचार करने के बाद प्रामाण्यवाद की उत्थापना अधिक समीचीन होती। अतः जयन्त द्वारा शब्द खण्ड के प्रसङ्ग में प्रामाण्यवाद की योजना के औचित्य पर विचार करना चाहिए।

हमें यह ज्ञात है कि मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवाद मानते हैं। यदि हम मीमांसकों की स्वतःप्रामाण्य की भावना के मूल में जायँ तो हमें उक्त प्रश्न की समाधान मिल सकता है। मीमांसक वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। अतः वेदों का स्वतः प्रामाण्य भी स्वीकार करते हैं। वेद का परतः प्रामाण्य मानने पर परमुखापेक्षित्व के कारण वेद की अपौरुषेयता व्यभिचरित हो जायेगी। अतः वेद की अपौरुषेयता को अक्षुण्ण रखने के लिए मीमांमकों को वेद का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार्य हैं और इसीलिए मीमांसा में सभी प्रमाणों का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है।[१]

जयन्त के लिए परतः प्रामाण्य विषयक मान्यता के सर्वप्रमुख विरोधी मीमांसक थे। अतः मीमासकों के स्वतः प्रामाण्य सिद्धान्त का खंडन करने के लिए शब्द का प्रसंग ही सर्वाधिक उपयुक्त था क्योंकि मीमासकों के स्वतः प्रामाण्य सिद्धान्त का आधार वेद या शब्द का प्रामाण्य है। अतः शब्द के ही प्रसंग में मीमांसक सम्मत स्वतः प्रामाण्यवाद का खंडन और परतः प्रामाण्य की स्थापना अधिक समीचीन है।

आचार्य जयन्त ने 'न्यायमञ्जरी' के प्रारम्भ में न्यायशास्त्र का प्रयोजन वेद प्रामाण्य की रक्षा बताया है।[२] नास्तिकों ने वेद के प्रामाण्य पर बहुत कीचड़ उछाला था, जिससे मीमांसकों की स्वतः प्रामाण्यवादी मान्यता में वेदप्रामाण्य की रक्षा नहीं हो सकती थी, क्योंकि मीमांसकों की स्वतः प्रामाण्य की मान्यता में तर्क के लिए अवकाश ही नहीं था। अतः शब्द के ही प्रसंग में आचार्य जयन्त ने मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्य सिद्धान्त का खंडन करके परतः प्रामाण्य की स्थापना की जिससे दृढतर तर्कों द्वारा नास्तिकों के आक्षेपों का निराकरण करके वेद के

---

१. तदर्थमिदं सर्वज्ञानान्यधिकृत्य चिन्त्यते। —शा० दी०, पृ० २०
अपि च, चोदनाप्रामाण्यसिद्धयर्थमेवसर्वविज्ञानप्रामाण्यचिन्ता।
—युक्तिस्नेहप्रपूरणीसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० २०

२. तस्मादशेषदुष्टतार्किकोपमर्दद्वारकदृढतरवेदप्रामाण्यप्रत्ययाधायिन्यायोपदेशक्षममक्षपादोपदिष्टमिदं न्यायविस्तराख्यं शास्त्रं प्रतिष्ठाननिबन्धनमिति परं विद्यास्थानम्।
—न्या० म० (मै० प्र०) भाग १, पृ० ७

प्रामाण्य की पुनस्थापना हो सकी है। अतः इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त प्रसंग शब्द का ही हो सकता है।

शब्द के प्रसंग में प्रामाण्यवाद की चर्चा का एक कारण यह भी हो सकता है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण दृष्टार्थक होते हैं। शब्द प्रमाण दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक दोनों प्रकार का होता है।[१] दृष्टार्थक प्रमाणों का प्रामाण्य निर्धारण इतना आवश्यक नहीं है। परन्तु अदृष्टार्थक वेद प्रामाण्य निश्चेयता के अभाव में प्रमाण होते हुए भी प्रवृत्ति नहीं करा सकेगा। वैदिक कर्मकांड अत्यधिक धान्य और परिश्रम से साध्य है जिसका फल भी दृष्ट नहीं है। अतः यदि वेद के प्रामाण्य में शङ्का रही तो ऐसे कठिन कार्यों में प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए आचार्य जयन्त को वेद के प्रामाण्य की सिद्धि आवश्यक थी।[२] वेद के परतः प्रामाण्य की सिद्धि के लिये मीमांसक सम्मत स्वतः प्रामाण्य का खंडन भी अभीष्ट था। अतः शब्द के प्रसङ्ग में ही प्रामाण्यवाद का विवेचन सर्वाधिक समीचीन है।

न्याय-मञ्जरी में प्रामाण्यवाद पर विचार

हम यह देख चुके हैं कि प्रामाण्यवाद पर नैयायिकों का प्रमुख विरोध मीमांसकों से है, अतः जयन्त ने सर्वप्रथम मीमांसक सम्मत स्वतः प्रामाण्य का परिचय दिया है और मीमांसक मत से सांख्यों तथा बौद्धों के सिद्धान्तों का खंडन किया है और अन्ततः मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्य का न्यायमत से खंडन करके सभी प्रमाणों का परतः प्रामाण्य सिद्ध किया है। परतः प्रामाण्य की सिद्धि के द्वारा शब्द-प्रमाण और वेद-वाक्यों का परतः प्रामाण्य स्वीकृत किया गया है। अतः हम यहाँ सर्वप्रथम सांख्य और बौद्ध मत का खंडन करके मीमांसक मत से स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि करेंगे और फिर जयन्त के द्वारा दिये गये तर्कों से मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्य का खंडन करेंगे।

---

१. स द्विविधः दृष्टादृष्टार्थकत्वात्। —न्या० सू० १।१।८

२. प्रत्यक्षादिषु दृष्टार्थेषु प्रमाणेषु प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव व्यवहारसिद्धेस्तत्र किं स्वतः प्रमाणमुत परत इति विचारेण न नः प्रयोजनम्, अनिर्णय एव तत्र श्रेयान्, अदृष्टे तु विषये तत्प्रामाण्यमन्तरेण प्रेक्षावतां प्रवर्तनमनुचितम् इति तस्य प्रामाण्यनिश्चयोऽवश्यकर्त्तव्यः तत्र परतः एव वेदस्य प्रामाण्यमिति।

—न्या० म० भाग १, पृ० १५५

सांख्य सिद्धान्त और उसका खण्डन :

वेदवाक्यों की अपौरुषेयता को अक्षुण्ण रखने के लिये सांख्य मत में प्रामाण्य का स्वतस्त्व स्वीकार किया गया है। वेद मूलक होने के कारण ही सांख्य मत में स्मृति, इतिहास, पुराण आदि आगमों का प्रामाण्य भी स्वतः माना जाता है।[१] प्रमा और अप्रमा दोनों ही विषयाकाराकारित चित्तवृत्ति मात्र हैं तथा इनका प्रामाण्याप्रामाण्य भी कार्य होने से सत् रूप में ही उत्पन्न होता है, अतः ज्ञानोत्पादक-सामग्रीमात्रजन्य होने से दोनों स्वतः हैं। मीमांसक सांख्यों के इस सिद्धान्त का खंडन करते हैं। यदि प्रामाण्य स्वतः है तो प्रवृत्त व्यक्ति का प्रमित अर्थ में विसवाद क्यों होता है? यदि भ्रम ज्ञान यथार्थ है तो प्रवृत्त व्यक्ति को शुक्ति में प्रवृत्त्यनन्तर रजत की उपलब्धि होनी चाहिये। यदि भ्रान्ति अयथार्थ है तो उसके अप्रामाण्य का भी स्वतः ग्रहण हो जाने से प्रमाता में रजत ग्रहण हेतु प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये।[२] अतः प्रामाण्याप्रामाण्य दोनों का स्वतस्त्व सम्भव नहीं है।

बौद्ध मत और उसका खण्डन :

अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभाव है। यथार्थज्ञान का सदा प्रामाण्य होता है, अतः अप्रामाण्य अयथार्थज्ञान का अयथार्थत्व है। बौद्ध लोग प्रामाण्य का ग्रहण तो परतः मानते हैं, परन्तु अप्रामाण्य स्वतः मानते हैं।[३] यदि अप्रामाण्य के स्वतस्त्व को स्वीकार कर लिया जाय, तो प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। दूसरा दोष यह है कि जो अप्रामाण्य कारण दोषों के अधीन हो, तथा ज्ञप्ति में बाधकज्ञान के अधीन हो, उसका स्वतस्त्व कैसे कहा जा सकता है?[४] बौद्ध यह कहते हैं कि अप्रामाण्य

---

१. तच्च स्वतः प्रमाणमपौरुषेयवेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तेर्युक्ता भवति। एवञ्च; वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति।
—सां० त० कौ०, पृ० १२०

२. प्रमाणत्वपरिच्छित्तौ विसंवदति तत्कथम्।
अप्रामाण्यगृहीतो वा तस्मिन् कस्मात् प्रवर्त्तते ॥—न्या० म० भाग १, पृ० १४७

३ प्रामाण्यव्यवहारेणार्थक्रियाज्ञानेन। यस्य साधनज्ञानस्य तादात्म्यादनुभूतेऽपि प्रामाण्ये साशङ्का व्यवहर्त्तारोऽनभ्यासवशादनुत्पन्नानुरूपनिश्चयाः, तत्रार्थक्रिया-ज्ञानेन प्रामाण्यंनिश्चयः। अन्यत्र तु विभ्रमशङ्कासङ्कोचादुत्पत्तावेव स्वरूपस्य प्रामाण्यस्य स्वतोगतिरित्युक्तम्। —मनोरथनन्दिवृत्तिः, पृ० ६

४. स्वतो ह्यप्रामाण्ये निश्चये प्रवृत्तिर्न प्राप्नोति इति। किञ्चाप्रामाण्यमुत्पत्तौ कारणदोषापेक्षम्, निश्चये बाधकज्ञानापेक्षम्। —न्या० म० भाग १, पृ० १४७

अवास्तविक होगा—इसलिये उसके लिये कारणदोष को उत्तरदायी ठहराना ठीक नहीं है।[१] परन्तु बौद्धों की यह युक्ति भी उनके मत को निर्दोष नहीं सिद्ध करती, क्योंकि संशय, विपर्यय आदि ज्ञान वस्तु रूप हैं तथा इनका अप्रामाण्य भी वास्तविक होगा, काल्पनिक नहीं।[२] अतः इस वास्तविक अप्रामाण्य का स्वतस्त्व उक्त दोषों से बाधित होता है, इसलिये अप्रामाण्य परतः होगा। प्रामाण्य के परतस्त्व के सन्दर्भ में बौद्धों का नैयायिकों से अविरोध है, अतः न्याय मत के परतः प्रामाण्य के खंडन के समय पर बौद्धों के परतः प्रामाण्य समर्थक तर्कों का खंडन किया जायेगा।

मीमांसकों द्वारा परतः प्रामाण्य का खण्डन और तद्द्वारा स्वतः प्रामाण्य की स्थापना :

न्याय वैशेषिक और बौद्धों को अभिमत परतः प्रामाण्य का एकत्र प्रतिकार करके मीमांसा दर्शन में स्वतः प्रामाण्य को निष्कलुष सिद्ध किया गया है।[३] अर्थ तथात्व का प्रकाशक प्रमाण होता है और प्रमाण अपने प्रमेय का अव्यभिचारी हो—यह ज्ञान प्रामाण्य कहा जाता है। यदि इस प्रामाण्य को परतः स्वीकार करें, निश्चित रूप से इसके लिये किसी अन्य कारण सामग्री की अपेक्षा होगी। परन्तु यदि विचार करके देखा जाय तो कोई भी परापेक्षा प्रामाण्य की सिद्धि में सहायक नहीं हो सकती। अतः प्रामाण्य-सिद्धि में परापेक्षता के सहायक न होने से निरपेक्ष प्रामाण्य का स्वतस्त्व ही सिद्ध होता है। प्रामाण्य की सिद्धि के लिये आवश्यक सापेक्षता की तीन स्थितियों में सम्भावना है—

(१) उत्पत्ति में (२) स्वकार्य के करण में (३) प्रामाण्य निश्चय में।

उत्पत्ति में सापेक्षता का अभाव—उत्पत्ति में संभावित सापेक्षता या तो कारक स्वरूप मात्र होगी या कारक स्वरूप से भिन्न कारक गत गुणों की होगी। यदि ज्ञान के कारण को प्रामाण्य की उत्पत्ति में स्वरूपतः अपेक्षित स्वीकार किया जाय, तब तो परतः प्रामाण्य पक्ष में सिद्ध साधन दोष होगा, क्योंकि स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक भी प्रामाण्य की उत्पत्ति में उसी कारण सामग्री की अपेक्षा

---

१. अप्रामाण्यवस्तुत्वान्न स्यात् कारणदोषतः। —श्लो० वा०, चोदना०, पृ० ३९

२. संशयविपर्ययात्मनः अप्रामाण्यस्य वस्तुत्वात्तद्गतमप्रामाण्यमपि वस्त्वेवेति।

न्या० म०, भाग १, पृ० १४७

३. स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गृह्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते॥ —श्लो० वा०, चोदना०, ४७

रखते हैं, जिससे प्रमा की उत्पत्ति होती है। परन्तु इससे प्रामाण्य का स्वतस्त्व ही सिद्ध होता है, परतस्त्व नहीं।

प्रामाण्य की उत्पत्ति का कारण ज्ञानोत्पादक सामग्री भिन्न और ज्ञानोत्पादक सामग्री समवेत गुणों को नहीं स्वीकार किया जा सकता। पहले तो कारण गुणों की सिद्धि करना ही कठिन है, तब कारणगुणों के द्वारा प्रामाण्य सिद्धि की बात क्या की जाय। ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियाँ कारण हैं और इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय होती हैं। चक्षुरादि अतीन्द्रिय इन्द्रिय में रहने वाले गुणों का ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण कैसे हो सकता है? प्रत्यक्ष के अभाव में गुणों के ग्रहण में अनुमान प्रमाण भी समर्थ नहीं है, क्योंकि न तो ऐसे स्थल में कोई व्याप्ति होती है और न लिङ्ग का ग्रहण होता है। अप्रामाण्य के स्थान में कारणगत दोष विशेष सामग्री होते हैं, अतः अप्रामाण्य का परतः ग्रहण निरपवाद रूप से सिद्ध है, अतएव स्वरूप स्थिति हेतुक ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः ही होता है और अप्रामाण्य दोष-सापेक्षता के कारण परतः होता है।[1]

स्वकार्य के करण में सापेक्षता का अभाव—यदि परतः प्रामाण्यवादी यह कहें कि प्रमा के कार्यभूत प्रवृत्ति, निवृत्ति, अपेक्षादि की अपेक्षा से प्रामाण्य परतः होता है, तो ठीक नहीं क्योंकि प्रमाण का कार्य केवल अर्थ का प्रकाशन मात्र है। हानोपादानोपेक्षा प्रमाण के कार्य नहीं है, जिससे प्रमाण का प्रामाण्य निर्णीत किया जाय, वरन् ये हानादि पुरुषेच्छा के कार्य हैं। ज्ञान जब भी उत्पन्न होगा तो अर्थ प्रकाशक के रूप में उत्पन्न होगा, अन्यथा उत्पन्न ही नहीं होगा। इसलिए उत्पन्न ज्ञान अपने अर्थ प्रकाशन में स्वरूप-सामग्री से भिन्न किसी प्रवृत्ति, निवृत्ति जैसे अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करेगा। जैसे मिट्टी, दण्ड, सूत्र, चक्र आदि सब घट के जन्म में कारण बनते हैं परन्तु घट के कार्य जलाहरण में इनकी अपेक्षा नहीं होती।[2] इसी प्रकार ज्ञान की कारणसामग्री ज्ञान के कार्य प्रवृत्ति निवृत्ति आदि की कारण सामग्री नहीं है, जिसकी अपेक्षा से प्रामाण्य को परतः मान लिया जाय। इसलिए प्रमाण अपने याथार्थ्य ग्रहण के लिए अपने कार्य प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि की अपेक्षा नहीं करता।

---

१. तस्मादवितथा संविद् स्वरूपस्थितिहेतुजाः।
दोषाधिकैस्तु तैरेव जन्यते विपरीतधीः॥

—न्या० म०, भाग १, पृ० १४८

२. मृद्दंडचक्रसूत्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते।
उदकाहरणे त्वस्य तदपेक्षा न विद्यते॥ —वही, पृ० १४८

ज्ञप्ति में सापेक्षता का अभाव—ज्ञान की कारण सामग्री के अतिरिक्त किसी सामग्री की अपेक्षा प्रामाण्य निश्चय में नहीं होती क्योंकि स्वरूप सामग्री के अतिरिक्त अपेक्षणीय किसी भी सामग्री का अभाव होता है। प्रामाण्य का निश्चय यदि स्वरूपकारण के अतिरिक्त कुछ होगा तो वह तीन रूपों में से कोई होगा—

(अ) कारण गुण के ज्ञान के द्वारा प्रामाण्य का निश्चय हो सकता है।

(ब) बाधक ज्ञान के अभाव के द्वारा प्रामाण्य निश्चय हो सकता है।

(स) संवाद द्वारा प्रामाण्य निश्चय हो सकता है।

कारण के गुणों का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा सम्भव नहीं है, क्योंकि गुणों की कारणभूत इन्द्रियाँ ही अतीन्द्रिय होती हैं, तब अतीन्द्रिय अधिकरण के गुण भी परोक्ष होंगे। गुणों के स्वरूप का ज्ञान कार्य की परिशुद्धि द्वारा हो सकता है। इसलिए सफलप्रवृत्तिजनकत्व हेतु से प्रामाण्य का निश्चय नहीं होगा। प्रामाण्य के अभाव में कोई प्रवृत्त नहीं होगा और प्रवृत्ति के बिना कार्य परिशुद्धि नहीं होगी तथा कार्य परिशुद्धि के अभाव में गुणों का ज्ञान नहीं होगा। यदि बिना प्रामाण्य निश्चय के प्रवृत्ति स्वीकार कर लें तब बाद में प्रामाण्य निश्चय करने की आवश्यकता ही क्या है? यदि प्रामाण्य निश्चय के बाद प्रवृत्ति स्वीकार करें तो इससे चक्रक दोष आ जायेगा[1], क्योंकि प्रवृत्ति होने पर कार्यपरिशुद्धि का ग्रहण होता है, कार्य परिशुद्धि का ग्रहण होने पर कारण गुणों का ज्ञान होता है, कारण गुणों का ज्ञान होने पर प्रामाण्य का ग्रहण होता है और प्रामाण्य निश्चय के द्वारा प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इन चार में से प्रत्येक दूसरे तीन पर आश्रित है, अतः कोई भी एक स्वतन्त्र न होगा। इसलिए कारण गुण के ज्ञान को ही ज्ञप्ति में स्वतन्त्रतापूर्वक अपेक्षित नहीं स्वीकार किया जा सकता।

यदि ज्ञान के बाधकों के अभाव ज्ञान को प्रामाण्य निश्चय का हेतु मान लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बाधकाभाव का ज्ञान ही सम्भव नहीं

---

१. जहाँ परस्पर सापेक्ष कई पक्ष क्रमशः एक दूसरे के लिए अपेक्षित हों, तो इस चक्करदार कारण-परम्परा या कार्यपरम्परा को चक्रक दोष कहा जाता है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

सापेक्षणीयापेक्षितसापेक्षत्वनिबन्धनः प्रसङ्गश्चक्रकः।

—वाचस्पत्यम्, पृ० २८३६, चौखम्बा संस्करण

अपि च, द्रष्टव्य—त्रियन्त्र्यादीनां परस्परसापेक्षाणां चक्रवद्भ्रमतां चक्रक-व्यपदेशः।

—न्या० म० ग्र० भ०, पृ० ७५

है। बाधकाभाव का ज्ञान या तो तात्कालिक होगा या कालान्तरभावी। प्रामाण्य निश्चय में तात्कालिक ज्ञान पर्याप्त नहीं है, क्योंकि कुछ काल तक यदि कहीं बाधकों का अभाव है तो इससे वहाँ बाधकों का सार्वकालिक अभाव नहीं माना जा सकता और कालान्तर में बाधकों के उपलब्ध होने से बाधकभाव का ज्ञान प्रामाण्य निश्चय का हेतु कैसे होगा ?[1]

परतः प्रामाण्यवादी बौद्ध संवाद को प्रामाण्य के लिए अपेक्षित मानते हैं; अतः मीमांसक बौद्धों के संवाद की सापेक्षता का खंडन करते हैं। मीमांसक प्रश्न करते हैं—'सवाद क्या है ?' यह संवाद—

(अ) क्या तद्विषयक परवर्ती ज्ञान है ?

(ब) अथवा दूसरे विषय का ज्ञान है ?

(स) या अर्थक्रिया का ज्ञान है ?

(अ) तद्विषयक परवर्त्ती ज्ञान प्रामाण्य का हेतु नहीं हो सकता—यदि उत्तर ज्ञान द्वारा पूर्व ज्ञान का प्रामाण्य स्वीकार करें तो उस उत्तरवर्त्ती ज्ञान के प्रामाण्य के लिए हमें किसी अन्य उत्तरवर्त्ती ज्ञान की सत्ता माननी होगी क्योंकि कोई भी ज्ञान स्वतः प्रामाणिक न होगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा।[2] यदि अनवस्था से बचने के लिए किसी परवर्त्ती ज्ञान को स्वतः ही प्रामाणिक मान लें तब प्रथम ज्ञान का क्या अपराध था ?[3] अतः परवर्त्ती किसी ज्ञान से पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण सम्भव नहीं है।

(ब) दूसरे विषय का ज्ञान प्रामाण्य का ग्राहक न ी होगा—किसी एक ज्ञान के प्रामाण्य का ग्राहक तद्भिन्न किसी दूसरे विषय का ज्ञान भी नहीं हो सकता। किसी भी घट ज्ञान का प्रामाण्य स्तम्भ ज्ञान से निश्चित नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान के समकाल या कालान्तर में उत्पन्न तद्विषय भिन्न विषय को प्रकाशित करने वाला ज्ञान उस ज्ञान के प्रामाण्य का प्रकाशक नहीं हो सकता।

(स) अर्थक्रिया ज्ञान भी प्रामाण्य का निश्चायक नहीं है—किसी भी ज्ञान का अर्थक्रियाकारित्व स्वरूपतः उसके प्रामाण्य का निश्चायक नहीं है, वरन् यह

१. कूटकार्षापणादौ किञ्चित् कालमनुत्पन्नबाधकेऽपि कालान्तरे तदुत्पाददर्शनात्।
—न्या० म०, भाग १, पृ० १४९

२. अपि चोत्तरसंवादात् पूर्वपूर्वप्रमाणताम्।
वदन्तो नाधिगच्छेयुरन्तं युगशतैरपि॥ —वही, पृ० १४९

३. कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता।
प्रथमस्य तथाभावे विद्वेषः किंनिबन्धनः॥ —श्लो० वा०, चो०, ७६

प्रामाण्य का निश्चय ही है। तब फिर इस अर्थक्रियाकारित्व रूप ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय किसके द्वारा किया गया ? अर्थक्रिया ज्ञान का पूर्वज्ञान से कोई भेद नहीं होता, जिसके कारण अर्थ क्रिया ज्ञान को प्रामाण्य की अपेक्षा न हो और पूर्वज्ञान का प्रामाण्य ग्रहण स्वीकार किया जाय। यदि ज्ञान और अर्थक्रिया ज्ञान दोनों में अर्थक्रियाज्ञानत्व को ही भेदक तत्त्व मान लिया जाय तो जल न होने पर भी मरुभूमि में सूर्य की किरणों के सम्पर्क से जो जल ज्ञान होता है, वह अर्थक्रियाकारी न होने से प्रवृत्ति का जनक नहीं होगा, जबकि उसमें प्रवृत्तिजनकत्व देखा जाता है। यदि परतः प्रामाण्यवादी पान अवगाहन आदि में व्यभिचार न होने पर जल ज्ञान को अर्थक्रियाकारी मानकर जिस ज्ञान में व्यभिचार का ज्ञान न हो उसके द्वारा प्रामाण्य का निश्चय स्वीकार कर लें, तो यह भी ठीक नहीं है। स्वप्न के जल ज्ञान में पान अवगाहन आदि का व्यभिचार होता है, क्योंकि स्वप्न के जलज्ञान में पान अवगाहन आदि का ज्ञान भी होता है, अतः यह ज्ञान अर्थक्रियाकारी है। यदि यह कहें कि स्वप्न द्रष्टा न तो आर्द्र होता है और न ही उसकी प्यास बुझती है तो उसका उत्तर यह है कि स्वप्न काल में किसी युवती के साथ सम्भोग के बिना ही स्वप्नदोष की अवस्था में वीर्यपात हो जाता है, इस प्रकार स्वप्न ज्ञान में व्यभिचार ज्ञान होता है। यदि पूर्वपक्ष चरम धातु विसर्ग का कारण रागाधिक्य या पित्तादि धातु दोष को माने तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस चरम-धातु विसर्ग का बार-बार अनुभूत रमणी सम्भोग के अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वीर्यपात का युवती परिरम्भ-कार्यत्व स्पष्ट है। इस प्रकार अर्थक्रिया ज्ञान को प्रामाणिक मानने की प्रक्रिया सम्भव नहीं है। अतः अर्थक्रिया ज्ञान को अपने प्रामाण्य के लिये अन्य ज्ञान की आवश्यकता होगी और तब यहाँ अनवस्था दोष आ जायेगा,[१] अतः अर्थक्रिया ज्ञान के रूप में संवाद को स्वीकार करने पर भी प्रामाण्य का परतः ग्रहण सम्भव नहीं है।

मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद का उपसंहार :

इस प्रकार परतः प्रामाण्यवाद की सभी सम्भावनाओं में दोष दिखाकर मीमांसक यह सिद्ध करते हैं कि किसी भी प्रकार प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति परमुखापेक्ष नहीं हो सकती अन्यथा अनवस्था, चक्रक, वैयर्थ्य, इतरेतराश्रय, असम्भव जैसे दोषों से मुक्ति सम्भव नहीं है। इसलिये प्रामाण्य की सापेक्षता को दूषित करके और प्रामाण्य को इतरकारणसामग्रीनिरपेक्ष स्वीकार करके मीमांसक

---

१. तस्मादर्थक्रियाज्ञानाद् व्यभिचारावधारणात्।
तत्प्रामाण्यपरीक्षायामनवस्था न शाम्यति ॥—न्या० म०, भाग १, पृ० १५०

प्रत्येक ज्ञान और प्रत्येक प्रमाण के प्रामाण्य का स्वतः ग्रहण निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं।

मीमांसक-सम्मत परतः अप्रामाण्यवाद :

प्रमाण का कार्य है अर्थप्रकाशन। अर्थ-प्रकाशन से बाद ज्ञान प्राप्त करके प्रमाता में प्रवृत्ति होती है। मीमांसक नैयायिकों की तरह प्रवृत्ति का जनक संशय को नहीं मानते। प्रामाण्य के प्रसङ्ग में प्रमाता की प्रवृत्ति निरपवाद होती है। प्रवृत्ति से या तो प्रमाता अपने ज्ञान को तथावत् पायेगा या उसमें अपवाद की उपलब्धि करेगा। प्रामाण्य, जिसका स्वतस्त्व मीमांसकों को अभिप्रेत है, के प्रसंग में अपवाद की उपलब्धि नहीं होती। जहाँ पर अपवाद की उपलब्धि हो, वह अप्रामाण्य होता है।[1] यही प्रामाण्य और अप्रमाण्य का स्वरूपतः भेद है। अप्रामाण्य के प्रसंग में दो प्रकार के अपवाद उपलब्ध होते हैं—बाधक ज्ञान और कारण-दोष ज्ञान। ज्ञात विषय में पूर्व ज्ञान के बाधित हो जाने पर बाधक ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसका बाधकत्व स्पष्ट है,[2] क्योंकि दोनों ज्ञानों (पूर्व ज्ञान और बाधक ज्ञान) का विषय एक ही होता है। परन्तु जहाँ पर दोनों ज्ञानों में विषय का भेद होता है, वहाँ पर कारण दोष ज्ञान पूर्व ज्ञान का बाधक होता है।

मीमांसक मत से शब्द का स्वतः प्रामाण्य :

हम यह देख चुके हैं कि मीमांसकों की स्वतः प्रामाण्यवादी धारणा का आधार शब्द प्रमाण की निरपेक्षता और अपौरुषेयता को अक्षुण्ण रखना है। मीमांसकों ने सभी प्रमाणों का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध कर दिया है और शब्द भी चूंकि एक प्रमाण है, अतः शब्द का प्रामाण्य भी स्वतः होगा। यद्यपि मीमांसक शब्द और अर्थ के मध्य स्वाभाविक सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, परन्तु शब्द के द्वारा अर्थ बोध की उत्पत्ति शब्द के स्वतः प्रामाण्य के कारण होती है और जहाँ पर समुचित अर्थबोध में बाधा पड़ती है, वहाँ वक्ता पुरुष या श्रोता पुरुष निष्ठ प्रमाद, प्रतारणा, पक्षपात, पूर्वाग्रह आदि दोषों के कारण शब्द का अप्रामाण्य परतः सिद्ध होता है।[3]

---

१. यत्र दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययः नान्यः।
—शा० भा० १।१।५

२. तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥ —श्लो० वा०, चो०, ५३।

३. शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम्। —वही, ६२

मीमांसक पौरुषेय तथा अपौरुषेय भेद से द्विविध शब्द प्रमाण मानते हैं। समस्त लौकिक वाक्य पुरुषेच्छाधीन होने से पौरुषेय हैं तथा वैदिक वाक्य अपौरुषेय हैं। लौकिक वक्ता यदि गुणवान् है तो निश्चित ही उसके बाधक दोषों का गुणों द्वारा क्षय हो चुका होगा। अत दोषविहीन होने से वक्ता के वाक्य का स्वतः प्रामाण्य होता है। लौकिक वाक्यों का प्रामाण्य गुण सापेक्ष नहीं है, क्योंकि प्रामाण्य का कारण केवल बोधकत्व है। पौरुषेय वाक्यों में पुरुष की सापेक्षता से दोष की आशंका हो सकती है, परन्तु वैदिक वाक्य तो अपौरुषेय हैं, अतः वेद में दोष की आशंका ही नहीं की जा सकती, क्योंकि दोष तो वक्ता पुरुष की अपेक्षा करते हैं, जबकि वेद अपौरुषेय हैं। इसलिये वेद का स्वतः प्रामाण्य है।[1] दोष की शङ्का न होने से बाधक ज्ञान और कारण दोष ज्ञान की सम्भावना न होने से वेद वाक्यों का कथमपि अप्रामाण्य नहीं होता।

यहाँ यह शङ्का नहीं की जा सकती कि शब्द का प्रामाण्य परतः होना चाहिए, क्योंकि शब्द के प्रामाण्य में गुणों का सद्भाव अपेक्षित है। वस्तुतः शब्द प्रामाण्य के प्रसंग में गुणों का सद्भाव अपेक्षित नहीं है, वरन् अपेक्षित केवल दोषों का अभाव है। दोषों के अभाव के ज्ञान से केवल अप्रामाण्य के प्रसंग की आपत्ति से बचत होती है, प्रामाण्य के परतस्त्व की सिद्धि नहीं। इस प्रकार वैदिक तथा लौकिक दोनों ही प्रकार के शब्दप्रमाण का प्रामाण्य स्वतः होता है। वक्ता पुरुषनिष्ठ गुण प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं है, क्योंकि वक्ता में गुणों का सद्भाव वक्ता को दोषों से बचाने के लिए अभीष्ट है, जिससे शब्द को अप्रामाण्य से बचाया जा सके।[2]

मीमांसक सम्मत स्वतः प्रामाण्यवाद का जयन्त द्वारा खण्डन :

जयन्तभट्ट ने मीमांसकों के विस्तृत विचार के एक-एक अंश का खंडन करके स्वतः प्रामाण्य को असम्भव सिद्ध कर दिया है, साथ ही परतः प्रामाण्य के विरोध में उत्थापित दोषों का उचित निराकरण करते हुए अन्ततः न्याय-मत से परतः प्रामाण्य की सिद्धि की है।

जयन्त का कहना है कि प्रामाण्य स्वतः हो—इसका क्या अर्थ है? क्या इसका अर्थ यह है कि 'ज्ञान स्वतः (ज्ञानोत्पादक-सामग्र्यतिरिक्तसामग्रीनिरपेक्ष)

---

१. तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी।
वेदे तेनाप्रमाणत्वं न शङ्कामधिगच्छति ।। —श्लो० वा०, चो०, ६८
अपि च० तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। —जै० सू०, १।१।५

२. न हि पुरुषगुणानां सत्यतासाधनत्वं, वयसि खलु निसर्गादेव सत्यत्वसिद्धिः।
गुणमपि नरवाचां विप्लवाधायिदोषप्रशमनचरितार्थं सङ्गिरन्ते गुणज्ञाः ।।
—न्या० म०, भाग १, पृ० १५४

उत्पन्न होता है' या 'वह ज्ञान अपना प्रामाण्य स्वतः (ज्ञानग्राहकसामग्रीभिन्न-सामग्रीनिरपेक्ष) ग्रहण करता है? अर्थात् प्रामाण्य का स्वतस्त्व उत्पत्ति में है या ज्ञप्ति में?

प्रामाण्य के स्वतस्त्व का उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति में निषेध :

प्रामाण्य उत्पन्न होता है, अतः एक कार्य है, जो वास्तविक है तथा कारण निरपेक्ष नित्य-संयोगादि की तरह नित्य नहीं है। कार्यमात्र को कारण की अपेक्षा है। अतः प्रामाण्य भी कार्य होने के कारण सापेक्ष ही होगा। इसलिए किसी भी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है। कोई भी कार्य कारण - निरपेक्ष होकर स्वतः नहीं उत्पन्न हो सकता। अतः प्रामाण्य में अकार्यत्व की आपत्ति होगी। कोई भी सम्यक् रूप वाला कार्य गुणवान कारणों के अभाव में उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः प्रामाण्य को उत्पत्ति में कारण गुणों की अपेक्षा होगी ही। गुणों का सद्भाव दोषों के असद्भाव से भिन्न है, अतः कारण में गुण की सापेक्षता होगी ही।[1] अतः प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता।

अपि च प्रामाण्य ज्ञान-ग्राहक सामग्री के द्वारा ही गृहीत नहीं हो सकता। क्योंकि यह बात अप्रामाणिक है। प्रामाण्य के प्रसङ्ग में किस प्रमाण का प्रामाण्य विचारणीय होता है? प्रत्यक्ष का, या अनुमान का? उपमान प्रमाण का अतिदेश-वाक्यमूलक होने के कारण तथा शक्ति का ग्राहक प्रमाण होने से परतः प्रामाण्य ही होगा। शब्द का भी परतः प्रामाण्य होता है। अतः स्वतः प्रामाण्य या तो प्रत्यक्ष प्रमाण का होगा या अनुमान का?

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः गृहीत न होगा—जयन्त का मन्तव्य है कि प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः नहीं गृहीत होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान का ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण या तो ज्ञान के प्रामाण्य का ग्राहक होगा या ज्ञान के फल के प्रामाण्य का? जयन्त दोनों पक्षों की अनुपपत्ति दिखाते हैं। जो मीमांसक ज्ञान को अतीन्द्रिय मानते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण उस ज्ञान का ही ग्राहक नहीं हो सकता, तब उसके प्रामाण्य का ग्राहक कहना तो दूर की बात है। प्रत्यक्ष ज्ञान के फल में भी इन्द्रिय सन्निकर्ष की योग्यता नहीं होती, क्योंकि फल का स्वरूप अर्थ प्रकाशन या संविद् रूप का होता है, जिससे इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हो सकता, तब प्रत्यक्ष प्रमाण जिसके लिए अर्थ का इन्द्रिय से सन्निकर्ष अपरिहार्य है, फल

---

१. तद्विषय एवं च लोके नैर्मल्यव्यपदेशः, न दोषाभावमात्रप्रतिष्ठ इत्यलं विमर्देन। तस्मादुत्पत्तौ गुणानपेक्षत्वात् स्वतः प्रामाण्यमिति यदुक्तं तदयुक्तम्।

—न्या० म०, भाग १, पृ० १५७-५८

के प्रामाण्य का ग्राहक नहीं बनेगा, क्योंकि प्रामाण्य ज्ञान के लिए भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक है।

इस प्रामाण्य का मानस प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञान के ज्ञान-काल में प्रामाण्य के ज्ञान का अनुभव नहीं होता। नील पदार्थ के ज्ञान के बाद दूसरे क्षण उसकी पदार्थता का ज्ञान नहीं होता और यदि इस दूसरे क्षण में नील पदार्थ के ज्ञान की यथार्थता का ज्ञान स्वीकार भी कर लें तो इस दूसरे क्षण में गृहीत नील पदार्थ के प्रामाण्य का प्रथम क्षण के नील ज्ञान के साथ ज्ञप्ति काल का भेद हो जाने से स्वतस्त्व बाधित हो जाता है। अतः प्रामाण्य का ग्रहण प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय नही है।

(ख) अनुमान प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः गृहीत नहीं होगा—अनुमान के द्वारा भी या तो ज्ञान का प्रामाण्य गृहीत होगा या फल का। अनुमान ज्ञान के लिए लिङ्ग की आवश्यकता होती है। अतः प्रामाण्य के ग्राहक अनुमान का लिङ्ग क्या होगा ? ज्ञान के अनुमान में फल लिङ्ग हो सकता है, क्योंकि कार्य से कारण का अनुमान होता है, लेकिन फल के अनुमान में लिङ्ग का अभाव होता है। फल को लिङ्ग बनाकर ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है, परन्तु ज्ञानगत प्रामाण्य का अनुमान सम्भव नहीं है। फल को लिङ्ग मानकर क्रियामात्र - व्याप्तिग्रहण से फल की स्वरूप सत्ता का भी अनुमान किसी तरह स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु फल की यथार्थता रूप प्रामाण्य का अनुमान इसके द्वारा कथमपि सम्भव नहीं है। इसलिए अनुमान प्रमाण भी न तो ज्ञान के प्रामाण्य का ग्राहक होता है और न फल के प्रामाण्य का ग्राहक। अतः अनुमान प्रमाण द्वारा भी प्रामाण्य का स्वतः ग्रहण सम्भव नहीं है।

(ग) स्वानुभव भी प्रामाण्य का ग्राहक नहीं हो सकता—यदि मीमांसक कहें कि प्रमाता को होने वाला अनुभव ही प्रामाण्य का ग्राहक है, फल नील पदार्थ के ज्ञान के रूप में स्वतः ही प्रकाशित होता है और नील संवेदनत्व ही इस ज्ञान का याथार्थ्य या प्रामाण्य है, तो जयन्त का इसके विरुद्ध यह उत्तर है कि तब तो अप्रामाण्य का भी स्वतस्त्व हो जायेगा—क्योंकि शुक्तिका में होने वाले रजत भ्रम में रजत संवेदन स्वतः प्रकाशित होता है और रजत संवेदनत्व मात्र इस भ्रम ज्ञान का अप्रामाण्य है। ऐसी स्थिति में प्रामाण्य और अप्रामाण्य में कोई भेद नहीं रह जायेगा।

यदि मीमांसक कहें कि अप्रामाण्य का निश्चायक बाधक ज्ञान होता है। मिथ्या ज्ञान में कहीं देशान्तर में, कहीं कालान्तर में, कहीं पुरुषान्तर में तथा

कहीं अवस्थान्तर में बाधक ज्ञान उपलब्ध नहीं होता है। अतः बाधक ज्ञान की सत्ता तो होती ही है। जैसे एक देश में शुक्तिका में रजत का ज्ञान अन्य देश में शुक्तिका ज्ञान द्वारा बाधित होता है; एक काल में कूट में कार्षापण का ज्ञान अन्य काल के कूट में कूट ज्ञान द्वारा बाधित होता है; एक पुरुष में दो चन्द्रमा का ज्ञान दूसरे पुरुष में एक चन्द्रमा के ज्ञान द्वारा बाधित होता है और इसी प्रकार एक अवस्था में श्वेत शङ्ख में पीतशङ्ख का ज्ञान दूसरी अवस्था में श्वेत शङ्ख के ज्ञान द्वारा बाधित होता है। अतः अप्रामाण्य का निश्चय बाधक ज्ञान द्वारा होने से परतः ही स्वीकरणीय है। मीमांसकों के इस उत्तर पर जयन्त का यह उपचार है कि मीमांसकों का यह विचार तर्कसङ्गत नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने का यह अर्थ होता है कि जैसे बाधक ज्ञान के द्वारा अप्रामाण्य परतः गृहीत होता है, वैसे ही बाधकों के अभाव के ज्ञान द्वारा प्रामाण्य भी परतः गृहीत होता है।[1] फलतः किसी भी प्रमाण से उत्पाद्यमान ज्ञान अपने प्रामाण्य का ग्रहण करे, यह सिद्ध नहीं होता।

(घ) अभ्यस्त दशा में प्रामाण्य स्वतः नहीं होगा—जैसा कि हम देख चुके हैं कि कुछ लोग अभ्यास दशा में प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वतः मानते हैं और अनभ्यास दशा में दोनों को परतः।[2] यहाँ अभ्यासदशा में अभिप्रेत प्रामाण्य का स्वतस्त्व भी सम्भव नहीं है। अभ्यास दशा से तात्पर्य है कि किसी विषय को बार-बार उपलब्ध करते-करते उसके ज्ञान के प्रामाण्य निश्चय की परतः अपेक्षा नहीं रह जाती, अतः अभ्यास दशा में प्रामाण्य स्वतः होता है—ऐसा पूर्वपक्षी मानते हैं। जयन्त चुटकी लेते हुए कहते हैं कि अभ्यास दशा में प्रामाण्य का स्वतस्त्व स्वीकार करते हुए ये अपने आपको धोखा देते हैं।[3] बार-बार किसी विषय को देखते-देखते या अपने अपने घर, कुड्य, खम्भा आदि का हजार बार किया जाने वाला यह प्रामाण्य निश्चय स्वतः नहीं होता, वरन् प्रवृत्तिसंवादज्ञान द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त अभ्यस्तता का कोई रूप नहीं है। अतः अपने संवाद को झुठलाकर प्रामाण्य का निश्चय स्वतः स्वीकार करना अपने को धोखा देना ही है।

---

१. एवं हि वदता बाधकाभावज्ञानाधीनं प्रामाण्यमभिहितं भवति।
—न्या० म०, भाग १, पृ० १५६

२. तत्राभ्यासात् प्रमाणत्वं निश्चितं स्वत एव न।
अनभ्यासे तु परतः ... ... ॥—तत्त्वार्थ वार्तिक १।१०।१२५

३. सोऽयं अनभ्यस्तविषये इति च ब्रवीति, स्वतश्च प्रामाण्यं मन्यते इति स्वयमेवात्मानं वञ्च्यमानं चेतयते। —न्या० म०, भाग १, पृ० १६०

प्रमाण व्यापार प्रामाण्य निश्चय में निरपेक्ष कारण नहीं है :

मीमांसक मत से प्रमाण को अपने कार्य करने में किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं होती। अतः जयन्त का प्रश्न है कि अपने व्यापार के प्रति अन्य अपेक्षा न रखने वाला यह प्रमाण क्या है ? प्रमाण पद का अर्थ सामग्री और प्रमा दोनों हो सकता है। सामग्री परक अर्थ में भी प्रमाण सम्पूर्ण सामग्री हो सकती हैं और सामग्री का एकदेश भी प्रमाण हो सकता है। अतः प्रमाण क्या सम्पूर्ण सामग्री है ? या सामग्री का एक देश है ? या सामग्री जन्य ज्ञान (या प्रमा) है ?

यदि प्रमाण का अर्थ सामग्री लें तो सामग्री अपने कार्य प्रमा के प्रति निरपेक्ष कारण होती है—यह सत्य है, परन्तु सामग्री की अपने कार्य के प्रति निरपेक्षता के बल पर प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रमा की सामग्री प्रमा को ही जन्म देगी, न कि प्रमा के प्रामाण्य का ज्ञान करायेगी। प्रामाण्य का ज्ञान तो भिन्न कारण-सामग्री के अधीन होता है। यदि सामग्री के एक देश को प्रमाण मानें, तो यह अपने कार्य जनन के प्रति ही परापेक्ष हो जायेगा, क्योंकि सामग्री की समग्रता के बिना कार्योत्पत्ति सम्भव नहीं है। यदि प्रमाण का अर्थ ज्ञान लिया जाय, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान तो प्रमाण का फल होता है और यदि प्रमाण का अर्थ ज्ञान मान ही लें, तो फलात्मक ज्ञान का कोई कार्य ही नहीं होगा—जिसके लिये उसे सापेक्षता या निरपेक्षता की आकांक्षा हो। पुरुष प्रवृत्ति आदि को ज्ञान का कार्य स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रवृत्ति आदि के लिये इच्छादि की अपेक्षा होती है। इस प्रकार प्रमाण स्वतः प्रामाण्य ज्ञान जैसे कार्य व्यापार में निरपेक्ष कारण नहीं होता।

मीमांसक प्रामाण्य ज्ञान में निरपेक्षता स्वीकार करते हैं, जबकि यह सम्भव नहीं है। प्रामाण्य निश्चय की दो गतियाँ हैं—या तो प्रामाण्य निश्चय हो ही न और यदि हो तो कारण सापेक्ष हो। कारण निरपेक्ष भी प्रामाण्य ज्ञान होता है, ऐसा कहा ही नहीं जा सकता। ज्ञानोत्पत्ति के बाद प्रथम प्रवृत्ति के क्षण में प्रामाण्य निश्चय का अभाव होता है। नील पदार्थ के ग्राहक प्रमाण के द्वारा नील ज्ञान समकाल में नील ज्ञान का प्रामाण्य भी गृहीत नहीं होता, बरन् कालान्तर में प्रवृत्ति साफल्य हेतु के द्वारा अनुमान प्रमाण से प्रामाण्य का ग्रहण होता है। अतः यह प्रामाण्य निश्चय प्रवृत्ति सामर्थ्य सापेक्ष होता है, न कि निरपेक्ष।

मीमांसकों द्वारा उत्थापित दोषों का जयन्तभट्ट द्वारा निराकरण

मीमांसकों ने परतः प्रामाण्य के विरुद्ध अन्योन्याश्रय दोष, चक्रक दोष, वैयर्थ्य दोष तथा अनवस्था दोष प्रस्तुत किया है। जयन्त अपने मत के समर्थन के लिए उक्त दोषों का समुचित निराकरण प्रस्तुत करते हैं।

प्रवृत्ति होने पर कार्य परिशुद्धि का ज्ञान, कार्य परिशुद्धि ज्ञान से कारण गुणों का ज्ञान, कारण गुणों के ज्ञान से प्रामाण्य का निश्चय और प्रामाण्य निश्चय से प्रवृत्ति—इस चक्रक दोष से बचने के लिए जयन्त कहते हैं कि अदृष्ट विषयों में हम प्रामाण्य निश्चय के अनन्तर ही प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं।[1] अदृष्ट विषयों में प्रमाणभूत वेद का परतः प्रामाण्य तो वक्तृनिष्ठ आप्तता द्वारा उत्पन्न होता है और प्रामाण्य निश्चय हो जाने पर प्रवृत्ति होने से चक्रक दोष नहीं उपस्थित होता।

दृष्ट विषय में प्रामाण्य निश्चय के पूर्व ही ज्ञात अर्थ के प्रति संशय होने से प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति द्वारा प्रामाण्य निश्चय होता है। लोक में भी इसी तरह अर्थ का संशय होने पर प्रवृत्यात्मक व्यवहार आरम्भ होता है, अतः प्रवृत्ति-साफल्य द्वारा प्रामाण्य निश्चय होने से इतरेतराश्रय दोष नहीं प्रस्तुत होता।[2]

यद्यपि यह सत्य है कि दृष्ट विषय में प्रामाण्य में परतस्त्व स्वीकार करने पर वैयर्थ्य दोष होता है, परन्तु दृष्ट विषय में प्रवृत्ति के द्वारा प्रामाण्य निश्चय करता हुआ प्रमाता आप्तोक्तत्वरूप दृष्ट अर्थ में व्याप्ति का ग्रहण करता है। जैसे किसी आप्त पुरुष ने किसी दृष्ट अर्थ के विषय में उपदेश किया और प्रमाता उस विषय में प्रवृत्त होकर इस व्याप्ति का ग्रहण करता है, 'जो आप्तोक्त होता है वह यथार्थ प्रमा का जनक होता है।' इसी व्याप्ति के बल पर अदृष्ट विषय यज्ञादि में आप्तोक्त वेद के उपदेश करने पर आप्तोक्तत्व लिंग के द्वारा वही प्रमाता वेद का भी प्रामाण्य निश्चित करता है।[3] इस प्रकार उक्त दृष्ट विषय में सम्बद्ध प्रामाण्य निश्चय अदृष्ट विषयक प्रामाण्य निश्चय का उपकारक है, इसलिए दृष्ट विषयक प्रामाण्य के परतस्त्व से वैयर्थ्य दोष आशंकित नहीं किया जा सकता।

जैसा कि मीमांसक मानते हैं कि किसी ज्ञान का प्रामाण्य ग्रहण परतः मानने से अनवस्था दोष होगा, उत्तर ज्ञान के प्रामाण्य के अभाव के कारण। यहाँ जयन्त का मीमांसकों के विरुद्ध यह कहना है कि मीमांसकों के द्वारा अनवस्था दोष की आशंका करना उनके बौद्धिक दिवालियापन का परिचायक है। किसी विषय के ज्ञान के संशयमूलक होने पर उसमें प्रवृत्ति द्वारा प्रामाण्य निश्चय हो जाता है।

---

१. अदृष्टे विषये प्रामाण्यनिश्चयपूर्विकायाः प्रवृत्तेरभ्युपगमान्नेतरेतराश्रयं चक्रकं वा। —न्या० म०, भाग १, पृ० १५८

२. न प्रामाण्यनिश्चयपुरःसरं प्रवर्तनमिति कुतः इतरेतराश्रयम्। —वही, पृ० १५८

३. अदृष्टविषयोपयोगिवेदादिप्रामाण्यपरिच्छेदपारम्पर्येणोपायत्वात् स्वविषये व्यर्थोऽप्यसौ तत्र सार्थकतामवलम्बत इत्यदोषः। —वही, पृ० १५८

परन्तु प्रामाण्य निश्चय द्वारा संशय का बाध हो जाने पर प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं होगी। इसलिए अपेक्षा की शान्ति हो जाने से अनवस्था भी नहीं होगी।

प्रामाण्य का परतस्त्व-न्यायमत का उपसंहार

परत: प्रामाण्यवादी नैयायिक यह मानते हैं कि प्रवृत्ति सामर्थ्य के द्वारा प्रामाण्य का निश्चय होता है। तात्पर्य यह है कि किसी विषय में ज्ञान होने पर प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति के सफल होने पर सफलप्रवृत्तिजनकत्व हेतु वाले अनुमान प्रमाण से प्रामाण्य का ग्रहण होता है।[२] इसलिए प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही परापेक्ष हैं और इसलिए दोनों ही परत: है। जयन्त का कहना है कि यदि स्वत: प्रामाण्य निश्चय मान लें तो प्रामाण्य निश्चय के बाद प्रवृत्ति होने पर प्रमाता की प्रवृत्ति कभी भी विफल नहीं होनी चाहिए, जबकि प्रवृत्ति विफल हुई देखी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति प्रामाण्य निश्चय से नहीं होती, वरन् उत्पन्न ज्ञान में संशय के कारण होती है। यदि पूर्वपक्ष कहें कि निश्चित मति व्यक्ति की ही लोक में प्रवृति होती है, संशयित व्यक्ति की नहीं, तो ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक आद्य ज्ञान, जो भी प्रवृत्ति का हेतु बनता है, वह संशय की कोटि में आता है। प्रत्येक ज्ञान संवाददशा में सम्यग्ज्ञान तथा विसंवाद-दशा में मिथ्याज्ञान होता है। 'रजतमिदम्' यह ज्ञान संशय की कोटि में ही परिगणित होता है क्योंकि यह ज्ञान यदि प्रामाणिक होता तो विसंवाद क्यों होता? और यदि अप्रामाणिक होता है, तो पुरुष को प्रवृत्त क्यों करता है? इसलिए आद्य ज्ञान प्रामाण्याप्रामाण्य से रहित होता है, इसलिए दोनों पक्षों में उसकी सम्भावना रूप संशय ही प्रवृत्ति का हेतु होता है।[३] प्रामाण्य से अविनाभाव रखने वाला कोई विशेष ज्ञानोत्पत्ति काल में गृहीत नहीं होता, जिससे संशय का बाध हो सके। उस काल में संशय की उत्पादक सामग्री सन्निहित होती है। यह सामग्री है—प्रामाण्य और अप्रामाण्य पक्ष के समान धर्मों की उत्पत्ति से उद्दीप्त संस्कारों के कारण उभय पक्षों (प्रामाण्य और अप्रामाण्य) की स्मृति। इस सामग्री की

---

१. दृष्टविरुद्धत्वात् प्रलापमात्रमित्यलमलीकोक्तविकल्पकलापनिर्मथनोदितदुरामोदास्वादनेन। —न्या० म०, भाग १, पृ० १६०

अपि च—फलज्ञाने तु सिद्धप्रयोजनत्वात् प्रामाण्यपरीक्षापक्षैव नास्तीति कुतोऽनवस्था? —वही, पृ० १५९

२. प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्। —न्या० भा०, १.१.१

३. उभाभ्यामपि रूपाभ्यामथ तस्यानुपग्रहः।
सोऽयं संशय एवं स्यादिति किं नः प्रकुप्यति॥ —न्या०म०, भाग १, पृ० १५६

उपस्थिति में संशय की उत्पत्ति में कोई अनौचित्य नहीं है।[1] यदि पूर्वपक्ष कहे कि इस प्रवर्त्तक आद्यज्ञान में प्रामाण्य के विषयों का ज्ञान होता है, अतः विशेषों का अभाव नही कहना चाहिए, तब जयन्त पूछते हैं कि क्या यह विशेष स्पष्टता है ? या निष्कम्पता ? या निर्विचिकित्सा है ? स्पष्टता शुक्तिका में होने वाले रजत ज्ञान में भी होती है, क्योंकि यह अप्रामाणिक ज्ञान भी स्पष्ट ही होता है।[2] निष्कम्पता भी शुक्तिका में होने वाले रजत भ्रम में है, क्योंकि यह ज्ञान 'अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' की तरह कम्पित ज्ञान नहीं है।[3] इसी तरह निर्विचिकित्सा भी रजत भ्रम में हैं, क्योंकि यह ज्ञान भी कोटि द्वय से रहित ज्ञान है।[4] इसलिए प्रवर्तक आद्यज्ञान का संशय से भेद संभव नहीं है। इसलिए संशय के प्रवृत्ति जनक होने से कोई हानि नहीं है।

जिससे प्रामाण्य का निश्चय हो, उसे प्रवृत्ति-सामर्थ्य कहा जाता है। दो प्रकार के अप्रामाणिक ज्ञान यथार्थ ज्ञान के साथ प्रसक्त होते हैं—पहला भ्रम, दूसरा संशय। पूर्व प्रत्ययापेक्ष उत्तर ज्ञान द्वारा भ्रम का शमन होता है तथा विशेष दर्शन द्वारा संशय का। अतः इन दोनों प्रकार के ज्ञानों के द्वारा प्रामाण्य निश्चय होता है और वे दोनों प्रकार के ज्ञान ही प्रवृत्ति की सामर्थ्य हैं। भाष्यकार ने समीहा को प्रवृत्ति कहा है तथा प्रवृत्ति के अर्थानुसारी होने को सामर्थ्य कहा है।[5] इस प्रकार दूसरे शब्दों में प्रवृत्ति सामर्थ्य अर्थ-क्रिया है। इसलिए इसी प्रवृत्ति सामर्थ्य या अर्थक्रिया के द्वारा प्रामाण्य निश्चय स्वीकार किया जाता है क्योंकि इसके द्वारा पूर्वज्ञान के बाधक उत्तर ज्ञान द्वारा भ्रम से तथा विशेष ज्ञान द्वारा संशय से प्रामाणिक ज्ञान का भेद सिद्ध होता है। इस अर्थक्रिया ज्ञान का

---

१. न च प्रामाण्याविनाभावी विशेषः कश्चन तदानीमवभाति। तदग्रहणे च समानधर्माधिगमप्रबोध्यमानवासनाधीना तत्सहचरितपर्यायानुभूतविशेषस्मृतिरपि सम्भवत्येवेतीयतीयं सा संशयजननी सामग्री सन्निहितैवेति कथं तज्जन्यः संशयः न स्यात् ?
—न्या० म०, भाग १, पृ० १५६

२. सत्यरजतवदर्थान्तरविवेकेन यत्रार्थः प्रतिभासते स स्पष्टः।
—न्या० म० ग्रं० भ०, पृ० ७७

३. समनन्तरमेव विरुद्धज्ञानान्तरानपसार्यमाणस्वभावो निष्कम्पः।—वही, पृ० ७७

४. अनाश्वासस्थानं यो न भवति संभाव्यमानार्थत्वात् स निर्विचिकित्सः।
—वही, पृ० ७७

५. समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते, सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्धः।
—न्या० भा०, १।१।१

पुनः प्रामाण्य जानना आवश्यक नहीं है। इसलिए अनवस्था का भय भी नहीं है, क्योंकि संशय की शान्ति हो जाने से पुन: प्रवृत्ति अर्थक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य निश्चय के लिए न होगी।[1] अत: अनवस्था का प्रसङ्ग नहीं उठता। विशेष दर्शन रूप अर्थक्रिया के द्वारा फल ज्ञान में प्रामाण्य निश्चय होता है। जल ज्ञान के अनन्तर जल ज्ञान सम्बन्धी प्रामाण्य के संशयित होने पर जलार्थ प्रवृत्ति हुई और जलोपलब्धि से पूर्व-संशय का निरास हुआ। यह जलोपलब्धि अर्थक्रिया है जिसके ज्ञान से प्रामाण्य का निश्चय होता है। इस अर्थक्रिया का जो विशेष दर्शन होता है वह उपलब्ध जल में शौच, आचमन, मज्जन आदि अनेक प्रकार की क्रियाओं के रूप में होता है। अत: इस विशेष दर्शन के द्वारा (यदि हमें अर्थक्रिया रूप फल ज्ञान का प्रामाण्य स्वीकार करना अभीष्ट ही हो तो) अर्थक्रिया का प्रामाण्य भी निश्चित होता है।[2]

इस प्रकार आचार्य जयन्त ने मीमांसकों के स्वत: प्रामाण्य सम्बन्धी तर्कों का खंडन करके तथा परत: प्रामाण्यवाद के विरुद्ध उत्थापित दोषों का निराकरण करके परत: प्रामाण्यवादी न्यायमत की पुन: स्थापना की है।

शब्द प्रमाण का परत: प्रामाण्य :

सभी प्रमाणों का परत: प्रामाण्य सिद्ध हो जाने से शब्द-प्रमाण का तथा शाब्द-बोध का प्रामाण्य भी परत: सिद्ध होता है। शब्द के द्वारा श्रोता को अर्थ-बोध होता है। जिस प्रकार से एक दीपक प्रकाशित होता हुआ सभी सन्निहित शुचि अथवा अशुचि पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार शब्द का भी स्वभाव प्रकाशकत्व रूप का है। शब्द वक्ता द्वारा उक्त होने पर और श्रोता द्वारा श्रुत होने पर संकेतग्रह के द्वारा सत्य अथवा मिथ्या, सम्बद्ध अथवा असंबद्ध, सफल अथवा निष्फल, सिद्ध अथवा कार्य—अर्थ का ज्ञान कराता है। अत: प्रमा के याथार्थ्य और प्रमाण के याथार्थ्य में संदेह होता है, जिससे शब्द का भी प्रामाण्य वक्तापुरुष के अधीन परत: परिनिश्चित किया जाता है।[3]

---

१. तदभावान्न तत्र प्रामाण्यविचार: विचारस्य संशयपूर्वकत्वात्।
—न्या० म०, भाग १, पृ० १५९

२. विशेषदर्शनाद्वा फलज्ञाने प्रामाण्यनिश्चय:। क: पुनरयं विशेषदर्शन इति चेत् योऽयं शौचाचमनमज्जनामरपितृतर्पणपटक्षालनश्रमतापनोदनविनोदनाद्यनेकप्रकारनीरपर्यालोचनप्रबन्ध: न ह्ययमियान् कार्यकलापो मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य क्वचिद् दृष्ट:।
—वही, पृ० १५९

३. तस्या: शब्दजनिताया: प्रमिते: यथार्थेतरत्वं पुरुषदर्शनाधीनम्।
—वही, पृ० १७३

शब्द के प्रामाण्य में अपेक्षित वह कौन सी कारण सामग्री है ? जयन्त का उत्तर है कि वक्ता पुरुषगत गुणों के द्वारा शब्द का प्रामाण्य उत्पन्न होता है और वक्तृदोष द्वारा अप्रमाण्य।[1] जिस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों में कारण गुण और कारण दोष सम्भव हैं उसी प्रकार शब्द के प्रसङ्ग में भी वक्ता में करुणादि गुण और रागादि दोष उपलब्ध होते ही हैं।[2] रागादि दोषों से रहित और करुणा, यथादृष्टत्व, निरपेक्षत्व आदि गुणों से युक्त वक्ता ही आप्त होता है। अतः शब्द प्रमाण और शाब्द-बोध का प्रामाण्य भी अनुमान प्रमाण से गृहीत होता है। शब्द के प्रामाण्य के ग्राहक इस अनुमान का लिङ्ग होता है--आप्तोक्तत्व। जो-जो आप्तवचन होता है, वह-वह यथार्थज्ञान का जनक होता है। इस प्रकार आप्तोक्तत्वलिङ्गक अनुमान ही शब्द प्रमाण के प्रामाण्य का ग्राहक है।

वेद का परतः प्रामाण्य :

वेदों का प्रामाण्य[3] भी परतः है। वेद चूंकि किसी सामान्य पुरुष द्वारा निर्मित नहीं हैं, वरन् परमाप्त ईश्वर प्रणीत हैं और ईश्वर की आप्तता निरवकाश रूप से सिद्ध है। अतः आप्तोक्तत्वलिङ्ग द्वारा वेद का प्रामाण्य भी परतः गृहीत होता है। जब तक शब्द में यह निश्चित नहीं होता कि यह अर्थ के किसी साक्षाद् द्रष्टापुरुष का कथन है, तब तक शब्द के प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता।[4] वेद भी शब्द रूप ही हैं। अतः उनका प्रामाण्य भी आप्तोक्तता सापेक्ष है। मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानकर वेदों में वक्ता के अभाव का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि वेद का कर्त्ता त्रैलोक्य निर्माण-निपुण, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, नित्यानन्द स्वरूप, परमकारुणिक, क्लेशकर्मविपाकादि दोषों से सर्वकाल में रहित ईश्वर है। अतः ईश्वरकर्तृकत्व या ईश्वरोक्तत्व नामक हेतु से वेद प्रामाण्य का निश्चय अनुमान प्रमाण द्वारा परतः होता है। अस्तु वेद का परतः प्रामाण्य सर्वथा युक्तियुक्त है।

---

१. तस्मात्पुरुषगुणदोषाधीनावेव शाब्दे प्रत्यये संवादविसंवादौ।
—न्या० म०, भाग १, पृ० १७४

२. रागादयो दोषाः करुणादयो गुणाः पुरुषाणामतिप्रसिद्धा एव।—वही, पृ० १७४

३. अदृष्टार्थक आगम शब्द प्रमाण होने के साथ-साथ चूंकि स्वयं एक बिस्तृत विषय है अतः एक स्वतन्त्र अध्याय (पञ्चम अध्याय) में आगम-प्रामाण्य पर विचार किया जायेगा।

४. साक्षाद् द्रष्टृनरोक्तत्वं शब्दे यावन्न निश्चितम्।
बाधामुत्पत्तिमात्रेण न तावत्तत्प्रमाणता॥ —वही, पृ० १७४

—:०:—

पञ्चम अध्याय

ईश्वर एवं वेद विषयक विचार

ईश्वर विषयक विचार

नैयायिक लोग वेद के प्रामाण्य का कारण यह मानते हैं कि वेद परमात्म ईश्वर की कृति है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, त्रैलोक्यनिर्माणनिपुण, परम कृपालु है।[1] वह अविद्यादि क्लेशों[2], शुभ और अशुभ द्विविध कर्मों[3], जन्म, आयु और भोग रूप त्रिविध कर्मफलों[4], धर्माधर्मसंस्कारभूत आशय[5] से सर्वथा अपरामृष्ट है।[6] अतएव ईश्वर की कृति होने से वेदों का प्रामाण्य है, न कि मीमांसकों के मत की तरह वेद का प्रामाण्य स्वतः है। इसीलिए न्याय-वैशेषिक में वेदों को पौरुषेय माना गया है।

आचार्य जयन्त ने 'न्याय-मञ्जरी' में वेद के कर्त्ता रूप में ईश्वर को प्रस्तुत करके ईश्वर सत्ता विरोधी सभी मतों का खण्डन करते हुए अनुमान प्रमाण द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध की है।

ईश्वर सिद्धि की आवश्यकता :

ईश्वर सत्ता के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिक प्रस्थानों में पर्याप्त मतभेद है। चार्वाक, बौद्ध, जैन मतों में ईश्वर सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया। इसी तरह निरीश्वरवादी सांख्य तथा मीमांसक भी ईश्वर का अस्तित्व आवश्यक नहीं

---

१. वेदस्य पुरुषः कर्त्ता न हि यादृशतादृशः।
किं तु त्रैलोक्यनिर्माणनिपुणः परमेश्वरः॥
स देवः परमो ज्ञाता नित्यानन्दः क्रियान्वितः।
क्लेशकर्मविपाकादिपरामर्शविवर्जितः ॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० १७५

२. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः। —यो० सू०, २।३

३. कुशलाकुशलानि कर्माणि। —व्या० भा०, १।२४

४. सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। —यो० सू०, २।१३

५. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। —वही, २।१२

६. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। —वही, १।२४

मानते। 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' में उदयनाचार्य ने ईश्वर सत्ता विरोधी मान्यताओं में पाँच विप्रतिपत्तियों का उल्लेख किया है[1] जो उक्त पाँच सम्प्रदायों से सम्बद्ध हैं। इन्हीं पाँचों विप्रतिपत्तियों का निषेध 'कुसुमाञ्जलि' के पाँच स्तबकों में हुआ है।

ईश्वर सत्ता के समर्थक सम्प्रदायों में भी ईश्वर के स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद है। अतएव न्याय-वैशेषिक में सृष्टि के कारणभूत और वेद-प्रामाण्य के हेतु ईश्वर की सत्ता और उसके स्वरूप का विवेचन अनिवार्य हो जाता है। इसलिए आचार्य जयन्त ने पहले तो ईश्वर की सत्ता की सिद्धि किया और तत्पश्चात् ईश्वर के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत किया है। यद्यपि शब्द-सम्बन्धी अवधारणा पर विचार करते समय हमारे लिये ईश्वर विचार इतना आवश्यक नहीं है, परन्तु वेद के प्रामाण्य का निर्धारण चूँकि ईश्वर की सिद्धि के अभाव में सम्भव नहीं है, अतः ईश्वर सम्बन्धी विचार यहाँ उपादेय है।

ईश्वर सत्ता-विरोधी पूर्वपक्ष :

नैयायिक के मत में सृष्टि, प्रलय, लौकिक-व्यवहार, शास्त्रीय-व्यवहार तथा वेद के प्रामाण्य के लिए ईश्वर की सत्ता अनिवार्य है। वैशेषिक सूत्रकार[2] तथा न्याय सूत्रकार[3] ने इस विषय में समान तर्क दिया है। इनके अनुसार वेद-प्रामाण्य ईश्वराधीन है। चार्वाक, बौद्ध, जैन, निरीश्वरवादी सांख्य तथा मीमांसक ईश्वर की सत्ता नहीं स्वीकार करते हैं। ईश्वर नास्तित्ववादियों ने ईश्वर समर्थक प्रमाणों का खंडन करके ईश्वर की सत्ता का निषेध किया है।

ईश्वर सिद्धि असम्भव है—बाह्य प्रत्यक्ष केवल स्थूल विषयों का ही हो सकता है। पाँच बाह्येन्द्रियों से रूप रसादि का ज्ञान होता है। परन्तु ईश्वर में रूप रसादि का सर्वथा अभाव होने से ईश्वर का बाह्य प्रत्यक्ष नहीं होता। आन्तर-प्रत्यक्ष सुखाद्यात्मविशेष गुणों का ही सम्भव है। अतः ईश्वर आन्तर-प्रत्यक्ष का विषय भी नहीं है। लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न योगज प्रत्यक्ष नामक अलौकिक

---

१ तदिह संक्षेपतः पञ्चतयी विप्रतिपत्तिः। (१) अलौकिकस्य परलोकसाधनाभावात्। (२) अन्यथापि परलोकसाधनानुष्ठानसंभवात्। (३) तदभावावेदकप्रमाणसद्भावात्। (४) सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात्। (५) तत्साधकप्रमाणाभावाच्चेति।
—न्या० कु०, पृ० २५

२. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। —वै० सू०, १।१।२
मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। —वही, २।१।६१

३. ईश्वरः कारणम् पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् —न्या० सू०, ४।१।१९
आप्तोपदेशः शब्दः। —वही, १।१।७

सन्निकर्ष द्वारा भी ईश्वर का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि योगि-प्रत्यक्ष जैसी अविश्वसनीय बात ही पूर्वपक्ष को स्वीकार्य नहीं है।[१] अतः प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ईश्वर का ग्रहण नहीं होता। उपमान केवल शक्ति और सादृश्य का ग्राहक प्रमाण है। ईश्वर के किसी सादृश्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः सादृश्य ज्ञान के अभाव में ईश्वर सिद्धि में उपमान असम्भव है।[२] आगम का प्रामाण्य नैयायिक वक्त्रधीन मानते हैं, परन्तु अपौरुषेय वेद प्रमाणभूत ही नहीं हो सकते क्योंकि उनका कर्त्ता ईश्वर ही असिद्ध है। अतः असिद्ध ईश्वर द्वारा प्रणीत आगम ईश्वर की सिद्धि कैसे कर सकता है? यदि वेद द्वारा ईश्वर की सिद्धि के लिए ईश्वर द्वारा वेद का प्रामाण्य सिद्ध करें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा।[३] 'वट में यक्ष रहता है' इस लोकोक्ति द्वारा यक्ष की सिद्धि जिस प्रकार से प्रसिद्धि मात्र से नहीं होती उसी तरह से प्रसिद्धि मात्र द्वारा भी ईश्वर की कल्पना नहीं की जा सकती।[४]

ईश्वरानुमान असम्भव है—ईश्वरास्तित्ववादी नैयायिकों के ईश्वरानुमान के विरोध में यह आक्षेप मुख्य है तथा प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों की ईश्वर ग्राह्यता का निषेध गौण है। अनुमान के लिए लिङ्ग का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है, इसीलिये अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक कहा जाता है। चूंकि ईश्वर या उसका कोई लिंग प्रत्यक्ष का विषय नहीं है अतः अनुमान द्वारा भी ईश्वर ग्रहण असम्भव है। ईश्वर की उत्पत्ति में जगत् का कर्तृजन्यत्व साध्य, कार्यत्व हेतु और घटादि कार्य दृष्टान्त होते हैं—ऐसा ईश्वरानुमानवादी नैयायिकों का मत है। परन्तु ईश्वर सत्ता-विरोधी लोगों का कहना है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि ईश्वर के किसी लिङ्ग का ग्रहण नहीं होता। पुनश्च क्षित्यङ्कुरादि का कार्यत्व—जिसे नैयायिक हेतु बनाते हैं, वह कार्यत्व ही सिद्ध नहीं है। पर्वतादि के अवयव-संस्थान का कार्यरूप में सिद्ध घटादि के अवयव-संस्थान से स्पष्ट भेद है।

यदि 'जो-जो कार्य है, वह-वह सकर्तृक है जैसे घट' इस व्याप्ति के बल पर

---

१. न च मानसविज्ञानसंवेद्योऽयं सुखादिवत्।
योगिनामप्रसिद्धत्वान्न तत्प्रत्यक्षगोचरः॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० १७५

२. नानुमानस्य सामर्थ्यमुपमानस्य का कथा। —वही, पृ० १७७

३. किं चागमस्य प्रामाण्यं तत्प्रणीतत्वहेतुकम्।
तत्प्रामाण्याच्च तत्सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयं भवेत्॥ —वही, पृ० १७७-७८

४. न च प्रसिद्धिमात्रेण युक्तमेतस्य कल्पनम्।
निर्मूलत्वात् तथा चोक्तं प्रसिद्धिर्वटयक्षवत्॥ —वही, पृ० १७८

क्षित्यङ्कुरादि के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना करें भी, तो वह ईश्वर घटादि के कर्त्ता कुम्भकारादि के सदृश ही होगा, क्योंकि लोक में जिस प्रकार का हेतु होता है उससे उसी प्रकार का कार्य सिद्ध होता है, अतः जिस तरह घट-कर्त्ता कुम्भकार शरीरी, दुःखी, असर्वज्ञ होता है, उसी प्रकार का ईश्वर भी होगा और वह सर्वज्ञ, अशरीरी आदि नहीं होगा। ईश्वर सशरीर होकर जगत् की रचना करता है या अशरीर? किसी भी कार्य के प्रति किसी अशरीरी का कर्तृत्व नहीं देखा जाता। यदि ईश्वर सशरीर है तो उसका शरीर नित्य होगा या कार्य? नित्य शरीर में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि शरीर सदा कार्य होता है और अनित्य होता है। यदि ईश्वर का शरीर कार्य है तो उस शरीर का कर्त्ता स्वय वही ईश्वर है या उससे भिन्न कोई और? स्वयं अपने शरीर का कर्तृत्व असम्भव है और यदि दूसरे ईश्वर द्वारा प्रथम ईश्वर के शरीर का कर्तृत्व स्वीकार करें तो ईश्वरों के आनन्त्य की आपत्ति होगी। जहाँ एक ईश्वर की सिद्धि ही संकट में हो, वहाँ अनन्त ईश्वरों की सिद्धि कौन करेगा?

ईश्वर दया से सृष्टि नहीं करता। सृष्टि के पूर्व सभी आत्माओं की स्थिति मुक्त आत्माओं की जैसी रहती है और वे सभी क्लेश, कर्म, विपाकादि से सर्वथा रहित कहे गये हैं, अतः उनके प्रति दया करके ईश्वर सृष्टि नहीं करेगा। साथ ही यदि परमकारुणिक ईश्वर जीवों पर दया करके सृष्टि करता है, तो यह सृष्टि फिर दुःख बहुल एवं दारुण क्यों है? यदि यह कहें कि ईश्वर प्राणियों को उनके कर्म का भोग कराने के लिए सृष्टि करता है, तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि तब फिर कर्म ही सृष्टि करेंगे, ईश्वर नहीं। यदि यह कहें कि कर्म स्वतः सृष्टि नहीं कर सकते, अतः उन्हें प्रेरित करने के लिए चेतन ईश्वर की अपेक्षा है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जीवों में चेतन आत्मा कर्मों को प्रेरित करने के लिए पर्याप्त है। यदि जीव के कर्मों के अनुरोध से ईश्वर सृष्टि करता है तो ईश्वर की स्वतन्त्रता बाधित हो जायेगी। यदि यह कहें कि ईश्वर क्रीडा करने के लिए जगत् की सृष्टि करता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तब सृष्टि रूप लीला से प्राप्य सुख के अभाव में सृष्टि से पूर्व ईश्वर का अवाप्तसकलानन्दत्व बाधित हो जायेगा।

ईश्वर जिस प्रकार जगत् का कर्त्ता नहीं है, उसी प्रकार जगत् का संहर्त्ता भी नहीं है। सृष्टि में नाना प्रकार के कर्म करने वाले जीव हैं और तदनुरूप फल देने के लिए ईश्वर सृष्टि का नियमन करता है। परन्तु अचानक सभी लोकों को एक साथ समाप्त कर देने की इच्छा ईश्वर में क्यों होती है? जबकि उस समय विभिन्न प्राणियों के लिये नाना प्रकारक कर्मों के फल अभिप्रेत होते हैं। ऐसा भी

नहीं है कि उस काल में सब लोगों की कर्मों से उपरति हो जाती है, क्योंकि तब दूसरी सृष्टि सम्भव नहीं होगी।

ईश्वरानुमान विषयक पूर्वपक्ष का निष्कर्ष—इस प्रकार ईश्वरानुमान विरोधियों ने पृथिव्यादि के कार्यत्व का निषेध करके अनुमान के पक्ष में दोष दिखाकर ईश्वर के कर्तृत्व संहर्तृत्वादि का निषेध करके साध्य में दोष दिखाया। अतः ईश्वरानुमान का लिङ्ग पञ्चलक्षणक न होने से साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ है।

ईश्वर की अनुमानसिद्धि—जयन्त का सिद्धान्त पक्ष :

आचार्य जयन्त ने पूर्वपक्ष के दोषों का समूलोद्धरण करते हुए अनुमान प्रमाण द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध किया है। अनुमान का स्वरूप है—

प्रतिज्ञा—पृथिव्यादिकार्यं तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञकर्तृजन्यम्।

हेतु—कार्यत्वात्।

उदाहरण—यथा घटादिकम्।

अन्वयव्याप्ति—यत्-यत् कार्यं तत्-तत् तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञ-कर्तृजन्यम् यथा घटः।

व्यतिरेकव्याप्ति—यन्न कर्तृजन्यम् तन्न कार्यम्—यथा आकाशः।

उपनय—तथा (कार्यत्वविशिष्टं) चेदम् (पृथिव्यादिकम्)।

निगमन—तस्मात् (कार्यत्वात्) तथा (तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञ-कर्तृजन्यम्)।

उक्त अनुमान में पृथिव्यादि कार्य पक्ष है, तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञ-कर्तृजन्यत्व साध्य है तथा कार्यत्व हेतु है। वस्तुतः साध्य है कर्तृजन्यत्व और तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञत्व कर्त्ता का विशेषण है, क्योंकि प्रत्येक कर्त्ता अपने द्वारा किये जाने वाले कार्य की उत्पत्ति के प्रकार तथा उत्पत्ति के प्रयोजनादि का ज्ञाता होता है। अतः पृथिव्यादि का कर्त्ता भी कार्यभूत पृथिव्यादि के प्रकार प्रयोजनादि का ज्ञाता होता है। क्षित्यङ्कुरादि कार्य के प्रकार तथा प्रयोजनादि का ज्ञान अल्पज्ञ अस्मदादिकों में सम्भव नहीं है। इसका कर्त्ता वह हो सकता है जिसमें ज्ञान, ऐश्वर्य की पराकाष्ठा हो और जिसमें पृथिव्यादि के आकार और प्रयोजन का ज्ञान उपपन्न होता हो। ऐसे ही सर्वज्ञ को आत्म-विशेष ईश्वर स्वीकार किया गया है। यह अभिज्ञत्व केवल ईश्वर में ही सम्भव है—क्योंकि केवल ईश्वर ही सर्वज्ञ है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण के द्वारा ईश्वर की सिद्धि होती है।

ईश्वरानुमान के विरोधी आक्षेपों का जयन्त द्वारा खण्डन :

(क) पृथिव्यादि के कार्यत्व का निषेध नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्षातिरिक्त

प्रमाणों का अभाव होने से प्रत्यक्ष द्वारा ईश्वर की सिद्धि न होने से ईश्वर का अभाव है—यह मानने वाले चार्वाक पृथिव्यादि के कार्यत्व की असिद्धि नहीं कर सकते, क्योंकि ये तो अन्य रचनाओं से विलक्षण न होने के कारण वेद रचना का कार्यत्व स्वीकार करते हैं, जो किसी भी आस्तिक सम्प्रदाय को स्वीकार्य नहीं है, तब ये पृथिव्यादि, जिसे सब लोग कार्यरूप में स्वीकार करते हैं, के कार्यत्व का निषेध कैसे कर सकते हैं ? बौद्ध लोग तो क्षणभङ्गवादी हैं और अभ्युपगम के रूप में या हँसी-मजाक में भी किसी वस्तु का नित्यत्व स्वीकार नहीं करते। अतः बौद्धों के मत में प्रत्येक सत्तावान् पदार्थ अनित्य होने से कार्य है, तब पृथिव्यादि के कार्यत्व का निषेध करना सम्भव नहीं है। मीमांसक भी पृथिव्यादि के कार्यत्व का अपह्नव नहीं कर सकते। पृथिव्यादि के विनाशित्व हेतु से इनके कार्यत्व का अनुमान होता है। पृथिवी पर्वतादि की उत्पत्ति अवयव संयोग से होती है। भले ही इनके कर्त्ता की प्रत्यक्ष उपलब्धि न हो रही हो, परन्तु पटादि कार्य की तरह समवायिकारण नाश या असमवायिकारण नाश से कार्य का नाश उपलब्ध होने से विनाश्य पदार्थ का कार्यत्व अभिप्रेत ही है। कार्यत्व का यह स्वरूप मीमांसा-भाष्यकार को भी अभिमत है।[1] विनाशित्व और कार्यत्व में समव्याप्ति[2] होने पर भी पृथिव्यादि का कार्यत्व व्यभिचरित नहीं होगा क्योंकि श्लोकवार्तिककार को भी समव्याप्ति से अनुमानसिद्धि अभिमत है।[3] इस तरह पूर्वपक्ष के तीनों सम्प्रदायों में पृथिव्यादि के कार्यत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(ख) घट और पर्वतादि का सन्निवेश-भेद पर्वतादि के कार्यत्व का निषेध नहीं करता।

पूर्वपक्ष घट और पर्वत के अवयव-संस्थानों में भेद होने के कारुण घटादि को तो कार्य मानता है, परन्तु पर्वतादि को कार्य नहीं मानता। परन्तु यहाँ पर्वतादि का सन्निवेश विशिष्टत्व तो पूर्वपक्ष को अभीष्ट ही है और जो-जो सन्नि-

---

१. येषामनवगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते, तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते, येषां विनाशकारणमुपलक्ष्यते, यथाऽभिनवं पटं दृष्ट्वा, न चैनं क्रियमाणमुपलब्धवान्, अथवाऽनित्यत्वमस्याध्यवस्यति रूपमेव हि दृष्ट्वा। तन्तुव्यतिषङ्ग जनितोऽयं तद्व्यतिषङ्गविमोचनात् तन्तुविनाशाद्वा विनङ्क्ष्यति-इत्येवमवगच्छन्ति।
—शा० भा०, १।१।६।२१, पृ० १०८

२. समव्याप्तितया—'यद्-यत् कृतकं तत् तदनित्यं, यद् यदनित्यं तत् तत् कृतकम्।
—स्या० म० ग्र० भङ्ग, पृ० ८१

३. येन यत्राप्युभौ धर्मौ व्याप्यव्यापकसम्मतौ।
तत्रापि व्याप्यतैव स्यादङ्गं न व्यापिता मितेः॥—श्लो०वा०, अनुमान खण्ड ९

धेश विशिष्ट होता है वह वह अवयवी होने से कार्य होता है। अवयव-संस्थान विशिष्ट होने से पर्वतादि के कार्यत्व की ही सिद्धि होती है।

(ग) सकर्तृकत्व के साधक हेतु कार्यत्व का तृणादि में व्यभिचार नहीं होता। ईश्वरानुमान के पक्षभूत तृणादि में जो कार्यत्व व्यभिचार दिखाया गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि तृणादि ईश्वरानुमान में पक्ष बनते हैं और उनमें किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं आता। जो तृणादि स्थावरों की उत्पत्ति में कर्त्ता का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसका कारण है—ईश्वर का अशरीरित्व। अशरीरी कर्त्ता के अदृश्य होने से वनस्पतियों की अकर्तृकता नहीं सिद्ध होती। साथ ही ईश्वर अदृश्य होने से असिद्ध नहीं होगा अन्यथा पिशाचादि भी अदृश्य होने से असिद्ध हो जायेंगे।

(घ) ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता है। यह जगत् अचिन्त्य रचनारूप है, अतः इसकी विचित्रता का कारण कर्मों को स्वीकार करना पड़ेगा। यदि अचेतन और अदृश्य कर्मों को जगत् की सृष्टि में कारण मान लिया गया तो अदृश्य और चेतन ईश्वर को भी जगत्सृष्टि में कारण मान लेना चाहिए, अन्यथा अचेतन कर्मों के द्वारा कार्य की उत्पत्ति उपपन्न नहीं हो सकती।

(ङ) पृथिव्यादि के सकर्तृकत्वानुमान और धूम से अग्नि के अनुमान में साम्य है। जिस प्रकार अनुमान से कार्य हेतु द्वारा कारण की सिद्धि होती है, उसी प्रकार अनुमान प्रमाण द्वारा ही कार्य हेतु से कर्त्ता की सिद्धि भी होती है, क्योंकि कर्त्ता के बिना कार्य की उपपत्ति सम्भव नहीं है।[१]

(च) कर्त्ता ईश्वर के अदर्शन से अनुमान में दोष नहीं आता। धूम द्वारा अग्नि के अनुमान से पूर्व अग्नि के विषय में भी सन्देह रहता है। इसी प्रकार ईश्वरानुमान से पूर्व कर्त्ता ईश्वर के विषय में भी सन्देह हो सकता है। कर्मदर्शन के कारण यदि कार्यत्व लिङ्ग को लिङ्ग न मानकर लिंगाभास कहा जाय तो अग्नि के अदर्शन के कारण धूम लिङ्ग को भी लिङ्गाभास कहा जाना चाहिए। अनुमान के बाद अग्निदेश को जाकर वहाँ अग्नि का ग्रहण होता है, ईश्वरानुमान विरोधी यदि यह आक्षेप करें कि ईश्वरानुमान से अनुमिति कर्त्ता का प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं होता तो उसके प्रति जयन्त का उत्तर है कि तब जगत्कर्त्ता ईश्वर की उपलब्धि के लिए भी सतत प्रयास किया जाना चाहिये। परन्तु ईश्वर की अनुपलब्धि अनुमान को दोषपूर्ण सिद्ध नहीं करती, क्योंकि प्रमाण का प्रामाण्य तो सफलप्रवृत्तिजनकत्वहेतुक

---

१. कर्त्ताऽप्यनुमानादुपलप्स्यते कर्त्तारमन्तरेण कार्यानुपपत्तेः।

—न्या० म०, भाग १, पृ० १८२

अनुमान से गृहीत होता है, लेकिन प्रमाण का निर्णय अनुमिति मात्र से ही हो जाता है। इसी प्रकार ईश्वर का प्रत्यक्ष न होने पर भी ईश्वरानुमान अदोष है।

ईश्वरानुमान में हेत्वाभासों के अभाव का प्रतिपादन :

ईश्वरानुमान में पूर्वपक्ष विरुद्ध, कालात्ययापदिष्ट तथा असत्प्रतिपक्ष जैसे हेत्वाभासों की उत्थापना कर सकता है। परन्तु इनमें से विरुद्ध हेत्वाभास इसलिए नहीं होगा, क्योंकि विरुद्ध हेतु उसे कहते हैं जो यथानिर्दिष्ट साध्य की विरोधी बात सिद्ध करे। विरुद्ध हेतु उसे कभी नहीं कहते, जो अनुमान में प्रयुक्त उदाहरण से कोई विशेष विरोध रखता हो। प्रकृत-प्रसंग में कार्यत्व हेतु साध्य कर्तृकत्व की विरोधी बात अकर्तृकत्व की सिद्धि नहीं करता। सकर्तृकत्व और कार्यत्व के मध्य साध्यसाधन भाव उत्पन्न होने से यह विरुद्ध नहीं है।

कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास भी यहाँ नहीं है, क्योंकि अनुमान से सिद्ध तथ्य के अनुमेय न होने और अनुमानभिन्न अन्य प्रमाणों से उसकी सिद्धि होने पर कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास होगा। परन्तु यहाँ प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण अनुमान के विषय पृथिव्यादि के सकर्तृकत्व का विरोध नहीं करते, आगम प्रमाण अनुमान का समर्थन ही करता है।[1]

यहाँ सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास भी नहीं है। कार्यत्व हेतु अपने अनुमेय अर्थ 'पृथिव्यादि का कर्तृपूर्वकत्व' के विरोधी अर्थ 'पृथिव्यादि का कर्त्रजन्यत्व' के साधक प्रतिपक्ष कार्यत्वाभाव से युक्त नहीं है। सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास के प्रसंग में दो विरोधी हेतु दो साध्यों की सिद्धि करते हैं, जिससे अभीष्ट साध्य में संशय हो जाता है, परन्तु यहाँ संशय उत्पन्न करने का कोई प्रसंग ही नहीं है। विशेषों का अग्रहण संशय का हेतु हो सकता है परन्तु ईश्वरानुमान में विशेष का अग्रहण हेतु रूप में गृहीत नहीं है।

ईश्वरानुमान का हेतु अप्रयोजक भी नहीं है। 'परमाणु अनित्य हैं क्योंकि वे मूर्त्त हैं' यहाँ हेतु (मूर्त्तत्व) अनित्यत्व (साध्य) के लिए अप्रयोजक है। परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में कार्यत्व हेतु कर्तृजन्यत्व का साधक है अतः पृथिव्यादि के कर्तृजन्यत्व साध्य में कार्यत्व हेतु अप्रयोजक भी नहीं है।

इस प्रकार सम्पूर्ण दोषों एवं आक्षेपों के निरस्त हो जाने से अनुमान प्रमाण द्वारा ईश्वर की सिद्धि सर्वथा दोषहीन है।[2]

---

१. द्यावा भूमी जनयन् देव एकः विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।—ऋग्०, १०।८१

२. तस्मात्परोदीरिताशेषदोषविकलकार्यानुमानमहिम्ना नूनमीश्वरः कल्पनीयः।
—न्या० म०, भाग १, पृ० १८१

अन्य अनुमानों से ईश्वर की सिद्धि :

ईश्वर की सिद्धि इस अनुमान से भी हो सकती है—'महाभूतादि चेतन से अधिष्ठित होकर ही सुख, दुःख उत्पन्न करते हैं, बाह्येन्द्रिय-ग्राह्य गुणों के कारण, यथा तूर्यादि। जिस तरह से अश्व किसी चेतन से अधिष्ठित होकर ही धारणादि कार्य कर सकते हैं, उसी प्रकार पृथिव्यादि भूत चेतनाधिष्ठित होकर ही धारणादि व्यापार कर सकते हैं।'

पृथिव्यादि कार्य कर्तृजन्य है—कार्य होने से। यहाँ अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से व्याप्ति उपपन्न है। चेतन कर्त्ता या तो हम लोग होंगे या ईश्वर। हम लोग तो कर्त्ता हैं नहीं, अतः सर्वज्ञ अद्वितीय ईश्वर ही पृथिव्यादि का कर्त्ता होगा' इस परिशेषानुमान से भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

ईश्वरवाद की अन्य बातें :

ईश्वरगत गुण नित्य है—ईश्वर इस सम्पूर्ण जगत् का कर्त्ता है और सर्वज्ञ है—ऐसा श्रुति से भी स्पष्ट है।[१] ईश्वर का ज्ञान अपरिमित है। नियत विषयों में आचरण कर सकने वाली इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव का ज्ञान सीमित होता है, परन्तु सम्पूर्ण जीवों को कर्मों में लगाने वाला ईश्वर सर्वसमर्थ एवं सर्वज्ञ है। जीव और ईश्वर का यह भेद गीता[२] और उपनिषद्[३] से सिद्ध है। जीव मिथ्या-मूलक रागद्वेषादि से युक्त होता है, परन्तु ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाकादि के परामर्श से भी रहित होता है।[४]

---

१. अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति सर्वं न हि तस्य वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥—श्वेता०, ३।१९

२. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ —गीता, १५।१६-१७

३. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
—मुण्डक० ३।१।१, श्वेता०, ४।६

४. पुंसामसर्वविस्त्वं हि रागादिमलबन्धनम्।
न च रागादिभिः स्पृष्टो भगवानिति सर्ववित्॥
इष्टानिष्टार्थसंभोगप्रभवाः खलु देहिनाम्।
रागादयः कथं ते स्युर्नित्यानन्दात्मके शिवे॥—न्या०म०, भाग १, पृ० १८४

ईश्वर में आत्मा के नौ विशेष गुणों में से केवल पाँच ही विशेष गुण हैं।[१] वे पाँच गुण हैं—ज्ञान, सुख, इच्छा, प्रयत्न और धर्म। शेष चार आत्म विशेष गुण—दुःख, द्वेष, अधर्म और संस्कार—ईश्वर में नहीं हैं। ईश्वर के सभी पाँचों गुण नित्य हैं। ईश्वर का सर्वज्ञत्व नित्य है क्योंकि उसके एक क्षण के लिए ज्ञानरहित हो जाने पर उसकी इच्छा से प्रेर्यमाण कर्मों के अधीन होने वाला विभिन्न प्रकार का व्यवहार रुक जायेगा। प्रलयकाल में भी उसके सर्वज्ञत्व के बाधक कारणों का अभाव होने पर ईश्वर का सर्वज्ञत्व अबाधित रहता है। ईश्वर के ज्ञान की नित्यता की तरह ईश्वर के अन्य गुण भी नित्य हैं, क्योंकि उनका जन्म मनः संयोग की अपेक्षा के बिना होता है। सभी प्राणियों के प्रति अकारण करुणा करने वाले ईश्वर में धर्म नामक नित्य गुण होता है तथा उसका सुख भी नित्य है क्योंकि सुख रहित इस प्रकार की सर्वशक्तिमत्ता से युक्त नहीं है। श्रुति से भी ईश्वर का नित्य सुख वाला होना सिद्ध है।

ईश्वर की इच्छा भी नित्य है। आत्म-मनः-संयोग से अनपेक्ष उत्पन्न होने के कारण ईश्वर की इच्छा नित्य होती हुई कभी सर्ग से संयुक्त होती है, कभी प्रलय से और सर्ग प्रलय के मध्यकाल में जगत् की स्थिति से संयुक्त होती है, अतः ईश्वर की इच्छा की नित्यता के होते हुये भी नित्य सृष्टि या नित्य प्रलय जैसी सम्भावनायें नहीं होंगी।

ईश्वर का प्रयत्न भी नित्य है। ईश्वर को प्रयत्न के लिए मन की अपेक्षा नहीं है। अतः सभी प्राणियों के मनोव्यापारभूत संकल्प से ईश्वर का संकल्प विशिष्ट होता है। आगम में ईश्वर को सत्यकाम और सत्य-संकल्प कहा गया है।[२] यहाँ काम का तात्पर्य इच्छा है और संकल्प का तात्पर्य प्रयत्न है।

ईश्वर अशरीरी है—अशरीरी ईश्वर में भी कर्तृत्व उपपन्न होता है। कर्तृत्व के लिए शरीर का होना अनिवार्य नहीं है, वरन् कर्तृत्व का आवश्यक धर्म है—ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न से युक्त होना। अशरीरी आत्मा भी अपने शरीर को प्रेरित करने के कारण कर्त्ता होता है। अचेतन परमाणु आदि अशरीरी ईश्वर की इच्छा का अनुवर्त्तन करते हैं जैसे अचेतन शरीर चेतन आत्मा की इच्छा का अनुवर्त्तन करता है।[३]

---

१. तदेवं नवभ्यः आत्मविशेषगुणेभ्यः पञ्च ज्ञानसुखेच्छाप्रयत्नधर्माः सन्तीश्वरे। चत्वारस्तु दुःखद्वेषाधर्मसंस्कारा न सन्तीत्यात्मविशेष ऐवेश्वरो न द्रव्यान्तरम्॥
—न्या० म०, भाग १, पृ० १८५

२. सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः। —छान्दोग्यो० ८।१।५

३. यथाह्यचेतनः कायः आत्मेच्छामनुवर्तते।
तदिच्छामनुवर्त्स्यन्ते तथैव परमाणवः॥—न्या० म०, भाग १, पृ० १८५

ईश्वर का स्रष्टृत्व अपने प्रयोजन के बिना भी सम्भव है---ईश्वर के जगत्स्रष्टृत्व का प्रयोजन क्या है? पूर्वपक्ष के इस प्रश्न पर जयन्त का उत्तर है कि ईश्वर का स्वभाव है कि वह कभी जगत् को उत्पन्न करता है, कभी उसका संहार करता है। जिस तरह सूर्य नियत काल में उदित होता है और अस्त होता है उसी प्रकार अपने किसी प्रयोजन के बिना भी प्राणिकर्म सापेक्ष होकर ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है।[1]

लीला और दया दोनों सृष्टि में उपपन्न होती हैं—ईश्वर अवाप्तसमस्तकाम होने के कारण क्रीडार्थ सृष्टि करता है, क्योंकि दुःखी लोग क्रीडा में प्रवृत्त नहीं होते। इसी तरह ईश्वर दया के वशीभूत होकर भी सृष्टि संहार में प्रवृत्त होता है।

ईश्वर का एकत्व---कर्मों के फलोपभोग के लिए उन कर्मों का कोई एक अधिष्ठाता अनिवार्य है। वह अधिष्ठाता ही ईश्वर है। ईश्वर एक और अद्वितीय है। एक से अधिक दो या बहुत ईश्वर नहीं है। एकाधिक ईश्वर होने पर कार्यभेद हो जाने से अव्यवस्था की आपत्ति होगी। एक ईश्वर की इच्छा का दूसरे ईश्वर द्वारा बाध होने पर ईश्वर का ऐश्वर्य बाधित हो जायेगा। अतः ईश्वर के एकत्व द्वारा ही सृष्टि और प्रलय दोनों की उपपत्ति होती है। यद्यपि सृष्टि संहार के नियमन के लिये ईश्वर को कर्म की अपेक्षा होती है, पर सापेक्षत्व स्वतन्त्रता का का बाधक नहीं होता अतएव कर्मों के द्वारा ईश्वर की स्वातन्त्र्य हानि नहीं होती।

ईश्वरवाद का उपसंहार :

इस प्रकार ईश्वरानुमान विरोधी सभी तर्कों का खण्डन करते हुए आचार्य जयन्त ने ईश्वर के गुणों का नित्यत्व, उसके अशरीरित्व, एकत्व, आदि की सिद्धि करते हुए निष्कर्ष स्वरूप ईश्वर की सत्ता को सर्वथा प्रामाणिक और सिद्ध बताया है।[2] ईश्वर की सत्ता आगमैकगम्य होने और आगम का प्रामाण्य ईश्वराधीन होने से ईश्वरसत्ता पर अन्योऽन्याश्रय दोष संभावित था, किन्तु अनुमान प्रमाण द्वारा भी ईश्वरसिद्धि हो जाने पर अन्योऽन्याश्रय दोष का भी निवारण हो जाता है।

वेदों का पौरुषेयत्व

लौकिक वाक्य जिस प्रकार पुरुषकृत होते हैं, उसी प्रकार वैदिक वाक्य भी पुरुषकृत हैं या नहीं? यह वेद के सम्बन्ध में एक प्रमुख समस्या है। स्वतः

---

१. कथं पुनर्नियतकाल एषोऽस्य स्वभाव इति चेत्-आदित्यं पश्यतु देवानां प्रियः! यो नियतकालमुदेत्यस्तमेति च। —न्या० म०, भाग १, पृ० १८६

२. तस्मात् कुतार्किकोद्गीतदूषणाभासवारणात्।
सिद्धस्त्रैलोक्यनिर्माणनिपुणः परमेश्वरः॥ —वही, पृ० १८७

प्रामाण्यवादी मीमांसक वेद का अपौरुषेयत्व स्वीकार करते हैं। यदि वेदों को पौरुषेय स्वीकार किया गया तो वेदों का प्रामाण्य पुरुष के अधीन हो जायेगा और तब प्रामाण्य का स्वतस्त्व बाधित हो जायेगा। मीमांसक मत में वेद शाश्वत एवं नित्य हैं। इनका किसी पुरुष या पुरुष विशेष के द्वारा प्रणयन सम्भव नहीं है। मीमांसकों के विरोध में नैयायिक वेदों को ईश्वर-प्रणीत मानते हैं। ईश्वर परमाप्त एवं परम कारुणिक है, अतः वेद का प्रामाण्य ईश्वर के आप्तत्व पर अवलम्बित होने से परतः स्वीकृत है। न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट ने मीमांसक सम्मत वेद के अपौरुषेयत्व का निषेध करके वेद के पौरुषेयत्व की सिद्धि की है।

वेदों का कर्तृत्व सम्भव है, अतः वेद पौरुषेय हैं। शब्दानित्यत्ववादी नैयायिक मत से तो वेदों का पौरुषेयत्व होगा ही, शब्दनित्यत्ववादी मीमांसकों के मत से भी वेदों के पौरुषेयत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि मीमांसकों को नित्य शब्द के रूप में पद की नित्यता अभिप्रेत है। परन्तु वाक्य तो पदों के समूह से निर्मित होता है, अतः वैदिक वाक्य भी पदनिर्मित होने के कारण पौरुषेय होंगे।[1] वेद की पौरुषेयता में आचार्य जयन्त अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अनुमान का स्वरूप इस प्रकार होगा—

"वैदिक रचना कर्तृपूर्वक होगी, रचना होने के कारण, महाभारतादि लौकिक रचनाओं की तरह।"[2]

यहाँ वैदिक रचना पक्ष है तथा इनका कर्तृपूर्वकत्व साध्य है। रचनात्व हेतु है तथा महाभारतादि सपक्ष है। आत्माकाशादिनित्य द्रव्य विपक्ष हैं। 'रचनात्व' हेतु पञ्चलक्षक होने के कारण हेत्वाभास नहीं होगा, अतः अनुमिति में कोई दोष नहीं होगा।

हेत्वाभासों की सम्भावनाओं का निरास :

अनुमान में प्रयुक्त रचनात्व हेतु असिद्ध नहीं है। जहाँ पक्ष में हेतु वर्तमान न हो, वहाँ असिद्ध हेत्वाभास होता है। परन्तु 'शन्नोदेवीरभिष्टये' आदि वेदबाक्य रूप पक्ष में पद सङ्घटनत्व, स्वर-विधानादि रूप से हेतु का प्रत्यक्ष होता

---

१. पदनित्यत्वपक्षेऽपि वाक्ये तद्रचनात्मके।

कर्तृत्वसम्भवात् पुंसः वेदः कथमकृत्रिमः॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० २१३

२. वैदिक्यो रचनाः कर्तृपूर्विकाः रचनात्वात्, लौकिकरचनावत्।

—वही, पृ० २१३

अपि च द्रष्टव्य—वेदानां पौरुषेयत्वं वाक्यत्वाद् भारतादिवत्।

शा० दी०, पृ० ३३०

है। कुमारसम्भवादि सपक्ष में रचनात्व हेतु वर्तमान है इसलिए विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। कर्तृरहित गगनादि रूप विपक्ष में रचनात्व की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं है। प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण द्वारा वेद का वक्तभाव निश्चित नहीं होता, इसलिए कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास भी नहीं है। रचनात्व हेतु सत्प्रतिपक्ष भी नहीं है, क्योंकि प्रकृत-प्रसङ्ग में साध्य 'वेद के कर्तृ-पूर्वकत्व' के विरोधी साध्य 'वेद के कर्त्रभाव' का समर्थक कोई हेतु वर्तमान नहीं है। इसी प्रकार प्रस्तुत हेतु, परमाणु की अनित्यता के प्रति मूर्तत्व की अप्रयोजकता की तरह अप्रयोजक नहीं है, क्योंकि रचना-व्यापार कर्त्ता के व्यापार द्वारा साध्य होते हैं, अतः रचनात्वहेतु कर्तृपूर्वकत्व साध्य के लिए प्रयोजक है। इस प्रकार वेद के पौरुषेयत्वानुमान में प्रयुक्त रचनात्व हेतु सभी प्रकार के हेत्वाभासों से रहित और आवश्यक पक्ष-सत्त्वादि पाँच लक्षणों से युक्त है जिससे हेतु की शुद्धता परिनिश्चित होती है और शुद्ध हेतु से जन्य अनुमिति का किसी भी प्रकार अप-लाप नहीं किया जा सकता।

मीमांसकों का अपौरुषेयत्व पक्ष :

मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। वेद में पुरुष की गति न होने में मीमांसक ये तर्क देते हैं—

(१) यदि वेद सकर्तृक हैं तो बुद्धादि की तरह वेद कर्त्ता को अध्येतृ-परम्परा के द्वारा स्मृत होना चाहिए, परन्तु वेदकर्त्ता के रूप में किसी का स्मरण नहीं होता, इसलिए वेद अपौरुषेय है।[1]

(२) वेद का कर्तृत्व मानने वाले—'वेदकर्त्ता कौन है?' इस विषय में परस्पर विवाद करते हैं। अतः वेद का सकर्तृत्व स्वीकार्य नहीं है।[2] मनुस्मृत्यादि पौरुषेय रचनाओं के कर्तृत्व में किसी प्रकार का कोई विवाद नहीं है।

(३) पौरुषेयत्ववादी के अनुमान में सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है।[3]

---

१. यदि वेदानां कर्त्ता कश्चिदभविष्यत् ततोऽवश्यमध्येतृपरम्परया बुद्धादिवदस्मरिष्यत्। न ह्यस्य विस्मरणं सम्भवति। —शा० दी०, पृ० ३३२

२. सामान्यतोदृष्टेन कर्त्तारमनुमाय स्वाभिमतं कर्त्तारं तत्र निक्षिपन्ति केचिदीश्वरं अन्ये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम्, न चायं नानाविधो विवादः परम्परया कर्त्तरि मन्वादिवत् स्मर्यमाणे कथंचिदप्यवकल्पते। —वही, पृ० ३३२

३. सप्रतिसाधनश्च हेतुः 'वाक्यत्वाद्' इति। विवादाध्यासितं वेदाध्ययनं गुर्वध्ययन-पूर्वकं वेदाध्ययनत्वादद्यतनाध्ययनवदिति। —वही, पृ० ३३३

(४) वेदों का कोई स्वतन्त्र उच्चारणकर्त्ता नहीं है। वेद का उच्चारण गुरुकृत उच्चारण—पूर्वक होता है, अतः वेद अपौरुषेय है।

(५) काठक आदि समाख्या के द्वारा पौरुषेयत्ववादी पुरुष को वेद से सम्बद्ध करता है, परन्तु काठकादि समाख्या किसी पुरुष विशेष का कथन नहीं करती, वरन् यह तो किसी विशिष्ट नित्य शाखा का नाम है। उस शाखा के अध्येता पुरुषों के द्वारा परम्परा से पढ़ी जाने वाली शाखा काठक शब्द से कही जाती है।[1] अतः काठकादि समाख्या से पौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं होती।

इस प्रकार से वेद-वाक्यों की अपौरुषेयता सिद्ध होने से वेद का स्वतः-प्रामाण्य भी सिद्ध होता है।[2]

अपौरुषेयत्व समर्थक हेतुओं का निरास :

आचार्य जयन्त ने मीमांसकों के अपौरुषेयत्व समर्थक तर्कों का खण्डन प्रस्तुत किया है।

सत्प्रतिपक्ष की शङ्का का निरास—मीमांसक वेद के पौरुषेयत्वानुमान में सत्प्रतिपक्ष हेतु प्रस्तुत करते हैं।[3] वेद वाक्य पौरुषेय हैं, वाक्य होने से महाभारतादि वाक्यों की तरह—इस अनुमान में 'वेद का अध्ययन गुर्वध्ययनपूर्वक है, अध्ययन पद से वाच्य होने के कारण, अद्यतन अध्ययन की तरह' यह सत्प्रतिपक्ष हेतु आशकित है। परन्तु जयन्त का उत्तर है कि वेदाध्ययन-वाच्यत्व अनादित्व या कर्त्रभावत्व का प्रयोजक नहीं होता, अतः सत्प्रतिपक्षी हेतु अप्रयोजक होने से दोषपूर्ण है। दूसरा दोष यह है कि सत्प्रतिपक्षी हेतु अनैकान्तिक है। महाभारतादि का अध्ययन भी गुर्वध्ययनपूर्वक होगा, अध्ययन पद से वाच्य होने के कारण। अतः सत्प्रतिपक्ष की आशंका करना उचित नहीं है।

कर्त्ता की स्मृति की उपपत्ति—पूर्वपक्ष ने यह भी आक्षेप किया था कि महाभारतादि के कर्त्ता व्यास आदि की स्मृति होती है, बुद्धादि के वाक्यों के प्रसङ्ग में बुद्धादि की स्मृति होती है, परन्तु वेद में किसी के कर्तृत्व की स्मृति नहीं होती। उसका उत्तर नैयायिक देते हैं कि वेद में वेद का कर्त्ता प्रजापति

---

१. नायं पुरुषविशेषवचनः कठशब्दः किन्तु नित्यस्य चरणविशेषस्यैवेयं संज्ञा, तच्चरणैः पुरुषैः परम्परयाऽधीयमाना शाखा काठकशब्देनाभिधीयते।
—शा० दी०, पृ० ३३३

२. तस्मादपौरुषेयत्वाच्चोदनानां प्रमाणता। —वही, पृ० ३३४

३. वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वात् अधुनाध्ययनं यथा॥ —श्लो० वा०, १।१।७।३६६

स्मृत हुआ है।[१] यदि यह कहें कि वेद के कर्तृत्व के लिए वेद ही प्रमाण होगा, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि महाभारतादि में भी व्यास आदि का कर्तृत्व इसीलिए स्मृत होता है क्योंकि व्यास के कर्तृत्व का कथन महाभारत में हुआ है।[२] यदि यह कहें कि वेद के कर्त्ता ईश्वर को कभी किसी ने नहीं देखा, तो इसी प्रकार महाभारतादि के कर्त्ता व्यास आदि का प्रत्यक्ष भी हम लोगों के पिता-पितामह आदि पूर्वजों के काल तक नहीं हुआ है। फिर भी अदृष्ट व्यास को यदि महाभारत के प्रमाण पर महाभारत का कर्त्ता मानते हैं तो प्रजापति ईश्वर को भी वेद का कर्त्ता मान लेना चाहिए।

मीमांसकों का आक्षेप है कि स्मृति सदा अनुभवपूर्वक होती है और अशरीरी ईश्वर के दर्शन योग्य न होने के कारण अनुभव न होने पर उसकी स्मृति कैसे होगी? यदि कोई व्यक्ति इस बात का अनुभव नहीं करता कि ईश्वर ने वेदों का प्रणयन किया है और तब भी लोग वेद के ईश्वर कर्तृत्व पर विश्वास करके वेद-कर्त्ता के रूप में ईश्वर का स्मरण करते हैं, तो यह स्मरण अन्धपरम्परा से व्यभिचरित होता है। योगियों द्वारा भी ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि हम मीमांसक ऐसे किसी प्रत्यक्ष की सत्ता ही नहीं स्वीकार करते। यदि यह स्वीकार करें कि वेद से ही उसके कर्तृत्व का ज्ञान होता है, तब वेद का प्रामाण्य उसके कर्त्ता द्वारा और कर्त्ता का प्रामाण्य वेद द्वारा होने से दोनों में अन्योऽन्याश्रय दोष होगा।[३] इस प्रकार मीमांसक अपने पक्ष के निष्कर्ष में यह स्वीकार करते हैं कि नैयायिकों का वेदकर्तृत्व सम्बन्धी निष्कर्ष अशुद्ध है, क्योंकि इस निष्कर्ष में नैयायिकों ने अर्थवाद वाक्यों का आश्रय ग्रहण किया है जबकि वेद में प्रधानता विधियों एवं मन्त्रों की है, अर्थवाद वाक्य विधिवाक्यों से एकवाक्यता होने पर ही सार्थक होते हैं, उनके विरोध में नहीं। इस प्रकार चूँकि वेद के कर्त्ता के रूप में किसी का स्मरण नहीं होता, अतः वेद कर्तृपूर्वक नहीं है, वरन् नित्य हैं और इसीलिए अपौरुषेय हैं।

जयन्त का उत्तर है कि पहले तो मीमांसकों ने गुर्वध्ययन पूर्वकत्व रूप हेतु

---

१. प्रजापतिना चत्वारो वेदा असृज्यन्त, चत्वारो वर्णाः चत्वार आश्रमा इति तत्र पाठात्। —न्या० म०, भाग १, पृ० २१४

२. यथा प्रजापतिर्वेदे, तत्र तत्र प्रशस्यते।
भारतेऽपि तथा व्यासः तत्र-तत्र प्रशस्यते॥ —वही, पृ० २१४

३. वेदात् कर्त्रवबोधे तु स्पष्टमन्योऽन्योऽन्यसंश्रमम्।
ततो वेदप्रमाणत्वं वेदात्कर्तुश्च निश्चयः॥ —वही, पृ० २१५

प्रस्तुत करके वेद के अपौरुषेयत्व की सिद्धि करनी चाही, परन्तु जब उससे दाल न गली, तब अस्मर्यमाण कर्तृकत्व नया हेतु प्रयुक्त करते हैं। 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' हेतु से भी मीमांसक वेदों के अकर्तृकत्व की सिद्धि करना चाहते हैं या नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत 'रचनात्व' हेतु का खण्डन करना चाहते हैं।[1]

अनुमान से अनुमान का खण्डन नहीं होता—यदि मीमांसक अस्मर्यमाण कर्तृकत्व हेतु से वेदों के अकर्तृत्व का अनुमान करते हैं तो उस अनुमान के द्वारा मीमांसकों के अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि उस अनुमान से पौरुषेयत्वानुमान का विरोध नहीं होता। दोनों ही अनुमान तुल्य बल वाले हैं अतः एक के द्वारा दूसरे का बाध सम्भव नहीं है। अतः एक ही विषय में अनुमान करने के लिए दो हेतुओं में से निश्चित ही एक हेतु अप्रयोजक होगा। अतः यह देखना चाहिए कि रचनात्व और अस्मर्यमाणकर्तृकत्व—इन दोनों हेतुओं में से कौन अप्रयोजक है? जयन्त का उत्तर है कि रचनात्व हेतु तो स्पष्टतया प्रयोजक है क्योंकि जो भी रचना होती है, वह निश्चित ही सकर्तृक होगी, नैसर्गिक नहीं।[2] यदि वेद वाक्यों की रचना पदों से नैसर्गिक रूप से कर्त्ता की अपेक्षा के बिना होती है, तो तन्तुओं से पट की रचना भी नैसर्गिक क्यों नहीं हो जाती। 'शन्नोदेवीरभिष्टये'[3] जैसे वेद वाक्य का 'नारायणं नमस्कृत्य'[4] इस महाभारत वाक्य और 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा'[5] इस कुमारसम्भव वाक्य से रचनात्व के कारण अविरोध है, अतः कुमारसम्भव का वाक्य रचना होने के कारण यदि कर्तृपूर्वक है, तो वेदवाक्य रचनात्व के कारण कर्तृपूर्वक क्यों नहीं होगा? इसके अतिरिक्त स्मृति भी कहती है कि प्रत्येक सृष्टि के उत्पन्न होने पर नवीन वेदों का प्रणयन होता है।[6] अतः रचनात्व हेतु अपने साध्य की सिद्धि करने से अप्रयोजक नहीं है।

---

१. अयमपि अस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति हेतुः किं स्वतन्त्र एवाकर्तृकत्वसिद्धये प्रयुज्यते? उत अस्मदुपरचितं रचनात्वप्रतिघाताय?
—न्या० म०, भाग १, पृ० २१५

२. भो भगवन्तः सभ्याः! क्वेदं दृष्टं क्व वा श्रुतं लोके।
यद्वाक्येषु पदानां रचना नैसर्गिकी भवति॥ —वही, २१७

३. अथर्व० सं०, १।६।१

४. महाभारत, आदिपर्व, १।१

५. कुमारसम्भव, १।१

६. प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते। —न्या० म०, भाग १, पृ० २१७

दूसरी ओर कर्त्रस्मरणत्व हेतु असिद्ध है अतः अप्रयोजक है। यदि कर्त्ता के अस्मरणत्व को सिद्ध भी स्वीकार कर लिया जाय, तब भी यह कर्त्ता के अभाव को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि यह तब अन्यथा सिद्ध होगा। अनुमान और आगम प्रमाण से वेद के कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि होती है, अतः कर्त्रस्मरणत्व हेतु ईश्वर का अभाव नहीं सिद्ध करता। दूसरा दोष मीमांसक पक्ष में यह है कि अस्मर्यमाण-कर्तृकत्व का ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु रचनात्व हेतु के खण्डन में समर्थ नहीं है।[1]

कर्त्रस्मरणत्व वेदापौरुषेयत्व का स्वतन्त्र हेतु भी नहीं है—कर्त्रस्मरण कर्त्रभाव का स्वतन्त्र साधक नहीं है। कर्त्रस्मरणत्व का साध्य वस्तुतः कर्त्ता की अनुपलब्धि है, कर्त्ता का अभाव नहीं। कर्त्ता की अनुपलब्धि भी अप्रमाणिक है, क्योंकि न्यायमत में अनुमान द्वारा वेद के कर्त्ता ईश्वर की उपलब्धि होती है और अनुमान प्रमाण से लब्ध ज्ञान भी उपलब्ध कहा जाता है।[2] यदि मीमांसक कर्त्र-भावस्मरण से बाधित होने के कारण इस अनुमान को दोषपूर्ण कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि मीमांसकों के आक्षेप में इतरेतराश्रय दोष है—कर्त्रभाव के निर्णय होने पर अनुमान का निरास होगा और अनुमान का निरास होने पर कर्त्रभावत्व का निर्णय होगा।

मीमांसक वेद की पौरुषेयता का कथन करने वाले प्रमाणों का अभाव मानते हैं, इसलिए कर्त्रस्मरणत्व से ज्ञात अर्थ वेद का कर्त्रजन्यत्व सिद्ध होता है। परन्तु जयन्त का उत्तर है कि मीमांसकों की यह अवधारणा तब सही होती, जब वेद के सकर्तृकत्व में कोई प्रमाण न होता। परन्तु रचनात्व हेतुक अनुमान से उसकी सकर्तृकत्व सिद्धि तो होती ही है।[3]

वेद में पुरुषकर्तृत्व का ग्रहण असम्भव नहीं है—मीमांसक यह स्वीकार करते हैं कि वेद में पुरुषकर्तृत्व का ग्रहण सम्भव नहीं है। परन्तु जयन्त का कहना है कि यदि अभिनव पट को देखकर उसके प्रत्यक्ष कर्त्ता कुविन्द का उक्त पट के

१. तस्मान्न कर्त्रस्मरणस्य रचनात्वप्रतिपक्षतयोपन्यासः उपपन्नः।
—न्या० म०, भाग १, पृ० २१७

२. नापि स्वतन्त्रमेवेदं कर्त्रभावसाधनं भवितुमर्हति, अनुपलब्धिरियमनेन प्रकारेण किन्नोच्यते साऽनुपपन्ना मानेन कर्त्तुरुपलम्भात्, अनुमानेनापि यदुपलब्धं तदुपलब्धमेव भवति। —वही, पृ० २१७

३. स्यादेतदेवं यदनुमानं न स्यात्, उक्तं च रचनात्वादित्यनुमानम्।
—वही, पृ० २१८

प्रति कर्तृत्व ज्ञात होता है, तो वेद के कर्त्ता ईश्वर के अप्रत्यक्ष होने पर भी उसके कर्तृत्व का ज्ञान होने में कोई आपत्ति नहीं है।[१]

अशरीरी ईश्वर के वेदोपदेष्टृत्व में कोई दोष नहीं है—शरीर सम्बन्ध के अभाव में प्राणियों के लिए वेद का उपदेश कैसे हो ? इसलिए अशरीरी ईश्वर कभी शरीर भी धारण कर सकता है, परन्तु उसके शरीर के ग्रहण का स्वरूप कालादि सब चूँकि अनियत हैं, अतः वह नियत शरीर वाले व्यासादि कर्त्ताओं से भिन्न प्रकार से स्तुत होता है। जैसे अद्यतन काव्य के कर्त्ता कवि का ज्ञान समकालीन लोगों द्वारा होता है, उसी प्रकार उन लोगों द्वारा, जो वेदोपदेशकाल में रहे हों, ईश्वर के कर्तृत्व का ग्रहण होता है।[२]

जगत्कर्त्ता ईश्वर ही वेद का कर्त्ता है :

भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म करने वाले प्राणियों को भिन्न-भिन्न प्रकार का भोग दिलाने के लिए जो ईश्वर अचिन्त्यरचनारूप जगत् की सृष्टि करता है, वही ईश्वर उन-उन कर्मों, कर्मफलों आदि का ज्ञाता होने के कारण वेद का उपदेश करता है। अतः वेदोपदेष्टृत्व के लिए जगत्कर्त्ता से भिन्न अन्य किसी ईश्वर की अपेक्षा नहीं है।[३] ईश्वर का एकत्व पिछले प्रसङ्ग में हम सिद्ध कर चुके हैं, वही यहाँ भी अभीष्ट है। ईश्वर की नानात्व-कल्पना में प्रमाणाभाव है, और कल्पनागौरव दोष है, अतः त्याज्य है।

सभी वेदों का एककर्तृकत्व—सभी शाखाओं का कर्त्ता एक ही ईश्वर है या सभी वेदों की भिन्न-भिन्न शाखायें भिन्न-भिन्न ईश्वरों द्वारा रची गयी हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में जयन्त का कहना है कि सभी वेद एककर्तृक हैं, क्योंकि सभी वेदों में परस्पर सम्बद्ध एक ही विषय वस्तु का उपदेश हुआ है। सभी आवश्यक कर्मों का विधान ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में हुआ है। किसी प्रधान याग के अङ्गभूत यागों का भी विधान तत्तत्स्थलों में हुआ है, अतः अङ्गभूत कर्म प्रधान कर्म से सम्बद्ध होते हैं। किसी वैदिक कर्म को करने के लिए चारों वेदों

१. पटादिरचनां दृष्ट्वा तस्य चेत् साऽनुमीयते।
वेदेऽपि रचनां दृष्ट्वा कर्तृत्वं तस्य गम्यताम् ॥

—न्या० म०, भाग १, पृ० २१८

२. अद्य सद्यः कविः काव्ये यथा कर्त्तेति मीयते।
तथा तत्कालजैः पुंभिः सोऽपि कर्त्तेति मास्यते ॥ —वही, पृ० २१८

३. किं येनैव कर्त्रा पृथिव्यादिकार्यं निर्मितं, तेनैव वैदिक्यो रचना निर्मिताः ? इति चेत् ओमित्युच्यते। —वही, पृ० २१८

के ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—इनमे से हौत्रकर्म का विधान ऋग्वेद से, आध्वर्यव का विधान यजुर्वेद से, औद्गात्र कर्म का विधान सामवेद से तथा ब्राह्म कर्म का ज्ञान अथर्ववेद से प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार चारों वेदों और उनकी सभी शाखाओं में एक ही अभिप्राय परिलक्षित होता है। अभिप्राय की एकता से भी कर्त्ता की एकता का ज्ञान होता है।

यदि सभी वेदों और सभी शाखाओं का कर्त्ता एक है तो काठक पिप्पलादि शाखा व्यपदेश का क्या प्रयोजन है? प्रकृष्ट अध्ययन के प्रयोजन से शाखा विशेष का भिन्न नाम स्वीकृत है। जिस प्रकार आम के पेड़ की एक शाखा मे पुष्प दूसरी मे फल के दर्शन होने पर भी आम के पेड़ मे एकत्व की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मों का उपदेश करने वाली शाखाओं मे भेद हाने पर भी एक ही वेद वृक्ष से उनका सम्बन्ध है और जिस प्रकार सम्पूर्ण शाखाओ सहित वृक्ष एक ही बीज से उद्भूत होता है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम ईश्वर के द्वारा सम्पूण शाखाओं सहित चारो वेद उपदिष्ट हुए है।

वद के पौरुषेयत्व का उपसंहार—इस प्रकार मीमांसकों के सभी आक्षेपों का उत्तर दत हुए जयन्त कहते है कि मीमांसक चाहे जो भी कहें परन्तु वेद की पौरुषयता पर कोई आँच नही आती।[१] जिस विश्वात्मा सर्वज्ञ ईश्वर ने इस जगत् की रचना की है उसी ने वेदों की रचना की।[२] अतएव ईश्वरकृत होने क कारण ही वेदों का प्रामाण्य है।[३]

यदि मीमांसा सम्मत वेद के अपौरुषेयत्व और न्याय सम्मत पौरुषेयत्व के मूल स्वरूप पर विचार किया जाय तो दोनों मान्यताओं में बहुत अधिक अन्तर नही ज्ञात होता। मीमांसक वेद को सर्वथा नित्य और पुरुष कर्तृत्व से परे मानते हैं, जब कि नैयायिक भी वेद को नित्य मानते हैं। नैयायिक वेद की पौरुषेयता के अनुमान में कार्यत्व हेतु अवश्य प्रस्तुत करते हैं, परन्तु यह कार्यत्व सर्वथा अभो-

१. मीमांसका यशः पिबन्तु पयो वा पिबन्तु बुद्धिजाड्यापनयनाय ब्राह्मीघृतं वा पिबन्तु, वेदस्तु पुरुषप्रणीत एव नात्र भ्रान्तिः।

—न्या० म०, भाग १, पृ० २१६

२. कर्त्ता य एव जगतामखिलात्मवृत्तिकर्मप्रपञ्चपरिपाकविचित्रिताज्ञः।
विश्वात्मना तदुपदेशवराः प्रणीताः तेनैव वेदरचना इति युक्तमेतत्॥

—वही, पृ० २२०

३. आप्त तमेव भगवन्तमनादिमीशम्।
आश्रित्य विश्वसिति वेदवचस्सु लोकः॥

—वही, पृ० २२०

तिक है। ईश्वर के निःश्वास के रूप में वेदों की रचना हुई है। अतः स्पष्ट है कि वेद प्रयासजन्य नहीं हैं, वरन् ये स्वाभाविक हैं और सांसारिक कार्यों से स्वरूपतः बिल्कुल भिन्न हैं ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय और मीमांसा के इस आंशिक मतवैभिन्य का कारण इनके प्रामाण्यवाद सम्बन्धी मान्यताओं का भेद है। न्याय चूंकि परतः प्रामाण्यवादी है अतः आगम प्रमाण का प्रामाण्य भी इन्हें परतः ही स्वीकार्य है जिससे इन्हें वेद के प्रामाण्य के लिए वेदों के कर्त्ता ईश्वर को स्वीकार करना पड़ा। मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं, अतः इनके मत में प्रामाण्य के परमुखापेक्षी न होने के कारण वेदों का प्रामाण्य भी स्वतः ही स्वीकार्य है और इसीलिए वेदों के स्वतः प्रामाण्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए मीमांसकों न इन्हें अपौरुषेय माना। यही कारण है कि न्याय में अनुमान प्रमाण को प्रामाण्य का ग्राहक होने के कारण अधिक महत्त्व प्रदान किया गया, जबकि स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसकों के अनुसार परमप्रमाण वेद हैं।

वेद का प्रामाण्य

वेद के प्रामाण्य पर आक्षेप :

भारतीय दार्शनिक प्रस्थानों में भेद का मुख्य कारण श्रुतिप्रामाण्य है। वेद के प्रामाण्य को लेकर दार्शनिकों के दो वर्ग हो गये थे—एक वह वर्ग जिसके विचारक वेद का प्रामाण्य स्वीकार करते थे, दूसरा वह वर्ग जो वेद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करता था। पहले वर्ग को आस्तिक कहा जाता है और दूसरे वर्ग को नास्तिक। नास्तिक लोग वेद का प्रामाण्य न स्वीकार करते हुए वेद के अप्रामाण्य के पक्ष में तर्क देते हैं और वेद के प्रामाण्य पक्ष में आक्षेप करते हैं।

नास्तिकों का आक्षेप हैं कि वेद अपौरुषेय नहीं हो सकते और पौरुषेयता पक्ष में भी वेदों का सकर्तृकत्व असम्भव है। वेद का कर्त्ता ईश्वर और उसके सर्वज्ञत्व, अशरीरित्वादि गुण असिद्ध हैं। उसके अतिरिक्त भी यदि वेद को प्रमाण मान लिया जाय तो वेद में व्याघात, पुनरुक्ति, मिथ्यात्व, विपर्यय आदि अनेक दोष हैं, जिससे वेद-प्रामाण्य बाधित होता है।[१] परस्पर विरुद्ध अर्थ का कथन करने वाले अर्थवाद मन्त्र और नामधेयादि वाक्यों का पारस्परिक समन्वय सम्भव

---

१. वेदे दोषाश्च विद्यन्ते व्याघातः पुनरुक्तता।
फलस्यानुपलम्भश्च तथा फलविपर्ययः॥—न्या० म०, भाग १, पृ० १४४
अपि च—तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। न्या० सू०, २।१।५७

नहीं है।[१] इसलिए वेद कोई प्रामाणिक आगम न होकर चालाक लोगों की जीविका के साधन मात्र हैं।[२]

मिथ्यात्वदोष की उपपत्ति—वेद में अनेक ऐसे विधान हैं, जिनमें फलासंवाद प्राप्त होता है। जैसे 'चित्रया यजेत पशुकामः' या पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' आदि श्रुतियों में चित्रा याग या पुत्रेष्टि याग का फल पशु और पुत्र रूप में बताया गया है। परन्तु याग सम्पन्न होने पर पशु पुत्र आदि की उपलब्धि नहीं होती, अतः चित्रादि यागों का विधान करने वाले वाक्य अनृत सिद्ध होते हैं।[३]

यदि वेद प्रामाण्यवादी कहें कि चित्रादि याग और पश्वादि फल के मध्य साधनसाध्य भाव है और वह कालान्तर मे मिलने वाले फल की स्वीकृति पर ही उपपन्न होगा, अतः जन्मान्तर में पश्वादि का उपलम्भ हो सकता है। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कोई भी प्रेक्षावान् जन्मान्तर में प्राप्त होने वाले फल के लिए प्रवृत्त नहीं होता।[४] शबरस्वामी ने कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम दोषो की ओर संकेत किया है कि जब याग वर्तमान होता है तब वह फल नहीं देता और जब फल उपलब्ध होता है, तब उसका कारणभूत यज्ञ उपस्थित नहीं होता। असत् याग फल देता है—यह भी सम्भव नहीं है।[५] कालान्तर में मिलने वाले पश्वादि रूप फल का राजसेवा आदि प्रत्यक्ष कारण भी उपस्थित होता है। अतः चित्रादि चोदनायें मिथ्या हैं और इसके सपक्षत्व में, अग्निहोत्रादि चोदना के मिथ्यात्व को भी वेदैकदेशत्व हेतु द्वारा अनुमित किया जा सकता है।[६]

---

१. 'धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः' 'अर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' इन अर्थवाद श्रुतियों में परस्पर विरोध है। इसी प्रकार मन्त्र और नामधेय का समन्वय भी दुरुपपाद्य है।

२. अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं यस्य मुण्डनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥
—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ७ में उद्धृत बृहस्पति रचित श्लोक।

३ द्रष्टव्य—न्या० भा०, २।१।५७। न्या० म०, भाग १, पृ० २४८
शा० भा०, चित्राक्षेपवाद, १।१।५, पृ० ४७-४८

४. आनन्तर्यमपि कर्मस्वभावपर्यालोचनेनैव गम्यते, समन्तरफलत्वेन कर्मणां दृष्टवात्। —न्या० म०, भाग १, पृ० २४९

५. यदा तावदियं विद्यमानाऽऽसीत् तदा फलं न दत्तवती, यदा फलमुत्पद्यते तदाऽसौ नास्ति। असती कथं दास्यति। —शा० भा०, १।१।५, पृ० ४८

६. अग्निहोत्रचोदना मिथ्या वेदैकदेशत्वात् चित्रादिचोदनावत्। —न्या० म०, भाग १, पृ० २४९

विपर्यय दोष की उपपत्ति—वेद वाक्यों में कहीं-कहीं फल विपर्यय भी देखने को मिलता है—जहाँ उद्दिष्ट फल कुछ और होता है और प्रत्यक्ष द्वारा तद्भिन्न उपलब्धि होती है। जैसे अन्त्येष्टि में पात्रचय की रचना करके मृतक की चिता में आग लगाई जाती है। अग्निहोत्र याग करने वाले इस मृतक यजमान के लिए वेद का निर्देश है कि यज्ञ रूपी आयुध से संयुक्त यह स्वर्ग जायेगा। परन्तु प्रत्यक्ष देखने वाले लोग उसके शरीर का स्वर्गगमन नहीं देखते, वरन् उसके शरीर का भस्मीभाव देखते हैं, अतः फल-विपर्यय की उपलब्धि होती है।[1]

व्याघात दोष की उपपत्ति—हवन करने के काल के विषय मे वेद का विधान है कि सूर्योदय काल या सूर्योदय के पूर्व या दोनों के मध्य हवन करना चाहिए।[2] परन्तु एक अन्य श्रुति से इस श्रुति का विरोध प्रकट किया गया है—जो सूर्योदय होने पर हवन करता है, उसकी आहुति श्याव खा जाता है, जो सूर्योदय के पूर्व हवन करता है, उसकी शबल खा जाता है और जो अध्युषः काल में हवन करता है उसकी आहुति शबल और श्याव खा जाते हैं।[3] इस प्रकार उक्त हवन सम्बन्धी विधि इस दूसरी विधि से बाधित होती है।[4]

पुनरुक्ति दोष की उपपत्ति—वेद में पुनरुक्ति दोष के भी दर्शन होते हैं। साभिधेनी ऋचाओं में से प्रथम और अन्तिम के लिए तीन-तीन बार पाठ का विधान है। यहाँ केवल एक बार ही ऋचा के उच्चारण का कथन न करके उसकी तीन बार पुनरुक्ति का विधान है। पुनरुक्तता तो प्रमत्तों में देखी जाती है। अतः मिथ्यात्व, विपर्यय, व्याघात एवं पुनरुक्ति दोष होने से वेद अप्रमाण है।[5]

मीमांसक मत से वेद प्रामाण्य की उपपत्ति :

अपौरुषेय वेद को प्रमाण मानने वाले मीमांसक वेद-प्रामाण्य की उपपत्ति पूर्वपक्ष के अनृत दोष का परिहार करते हुए देते हैं। चित्रा या पुत्रेष्टि याग के फलस्वरूप पशु या पुत्र की प्राप्ति यदि इस जन्म में नहीं होती तो इससे मिथ्यात्व

---

१. प्रमीते यजमाने पात्रचयाख्यं कर्मोपदिश्यैवमादिदेश वेदः 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति इति कामस्त्वेष निर्दिश्यते स न स्वर्गं लोकं यातीति तद्विपरीतभस्मीभावोपलम्भादिति विसंवादः।

—न्या० म०, भाग १, पृ० २४८

अपि च द्रष्टव्य शा० भा०, ५।१।५ पृ० ४९

२. उदिते जुहोति; अनुदिते जुहोति; समयाध्युषिते जुहोति।

३. श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति।
शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति।
श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतः यः समयाध्युषिते जुहोति।

४. द्रष्टव्य—न्या० म०, भाग १, पृ० २४९। न्या० भा०, २।१।५७

५. द्रष्टव्य—न्या० म०, भाग १, पृ० २४९ तथा न्या० भा०, २।१।५७
वै० सू०, १।१।२ पर उपस्कार।

दोष नहीं आक्षिप्त हो सकता, क्योंकि जन्मान्तर में उक्त फल का लाभ हो जाता है। मीमांसक तीन प्रकार के वेदोक्त कर्म स्वीकार करते हैं। कुछ कर्मो का फल इसी जन्म में निश्चित उपलब्ध हो जाता है वे ऐहिक फल वाले कर्म कहलाते हैं; जैसे--कारीरी याग। सम्पूर्ण जनपद को पीडित करने वाले सूखे से मुक्ति पाने के लिए कारीरी याग का विधान है। इस याग के सम्पन्न होने से फलरूप में वृष्टि की सद्यः प्राप्ति होती है। दूसरे प्रकार के वे कर्म हैं. जिनका फल स्वभावतः दूसरे जन्मों में मिलता है। इन्हें आमुष्मिक फल वाले कर्म कहते हैं जैसे— ज्योतिष्टोम याग। ज्योतिष्टोम याग का फल अद्वितीय-आनन्द-स्वरूप स्वर्ग इस देह और जीवन में किसी भी प्रकार नहीं भोगा जा सकता, अतः नियत फल देने वाले होते हुए ये याग इस जन्म के बाद फल देते हैं। तीसरे वे कर्म होते हैं जिनके फल का कोई निश्चित समय नहीं है, इन्हें अनियत फल वाले कर्म कहते हैं। चित्रा या पुत्रेष्टि आदि कर्म इसी कोटि में आते हैं। इनका फल इस जन्म में भी मिल सकता है और जन्मान्तर में भी मिल सकता है। यदि इन कर्मों को अनियत फल वाला न मानकर ऐहिक फलक मानें तो जिन्हें बिना चित्रा याग के पशुधन का लाभ होता है, उसमें अकारणत्वापत्ति होगी। बिना कारण के पशु लाभ सम्भव नहीं है और चित्रा के अतिरिक्त अन्य कारण सम्भव नहीं है, अतः जन्मान्तरकृत चित्रा को पशु लाभ का कारण मानना ही पड़ता है।[1] अतएव चित्रादि चोदनायें अनृत नहीं होंगी।

मीमांसक मत का निराकरण :

मीमांसक सम्मत अनृत दोष परिहार जयन्त को अभिमत नहीं है, अतएव जयन्त ने इसका खण्डन करके न्यायमत से पूर्वपक्ष के दोषों का परिहार करके अनुमान द्वारा वेद प्रामाण्य की सिद्धि प्रस्तुत किया है।

जयन्त का कहना है कि मीमासकों ने वेदविहित कर्मों का जो त्रिविध विभाग किया है, वह अनुपपन्न है। यह विभाग या तो शास्त्र सम्मत होना चाहिए या पुरुषेच्छाधीन। इस त्रिविध विभाग को वेद विहित नहीं माना जा

१. पूर्वजन्मकृतनिमित्तक इत्येवमनियतफलत्वात् चित्रादेरिह जन्मनि फलादर्शनेऽपि नाऽनृतत्वं तच्चोदनानाम्, जन्मान्तरे हि ता इष्टयः फल दास्यन्तीति।

—न्या० म०, भाग १, पृ० २५२

अपि च द्रष्टव्य—शा० भा०, १।१।५, चित्राक्षेपपरिहाराधिकरण, पृ० ६६-७१।

श्लो० वा०, १।१।५, चित्राक्षेपपरिहार, पृ० २१-२६

सकता, क्योंकि श्रुति में तत्तत् स्थलों में विभाग का श्रवण नहीं होता ।[1] जैसे—'कारीरीं निर्वपेत् वृष्टिकामः', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत', 'चित्रया पशुकामः यजेत' केवल इतना ही श्रवण होता है, यहाँ कहीं भी फल की पारलौकिकता, ऐहिकता या अनियतत्व का पाठ नहीं हुआ । स्वर्गफल की पारलौकिकता तो स्पष्ट है परन्तु पश्वादि की पारलौकिकता अप्रामाणिक है। इसी तरह यह त्रिविध कर्म विभाग पुरुषेच्छाधीन नही हो सकता, क्योंकि इससे शास्त्र का अर्थ व्यवस्थापित नहीं होता ।[2] इसलिए कर्मों का त्रैविध्य अप्रमाणिक, अतएव त्याज्य है ।

मीमांसक मत में दूसरा दोष यह है कि चित्रा याग का फल अनियत बताया गया है, अतः करीरी याग का फल भी चित्रा याग से अविशिष्ट होने के कारण अनियत होना चाहिए, ऐहिक नहीं । चित्रा के अनियत फलकत्व का हेतु इस जन्म में बिना चित्रा याग के पश्वादि लाभ कहा गया है । इसी तरह करीरी याग के न होने पर भी वृष्टि के होने से करीरी याग को भी अनियत फलक माना जाना चाहिए, क्योंकि वृष्टि अकारण हो नहीं सकती और करीरी याग के अलावा अन्य कोई वृष्टि का कारण उपपन्न नहीं हो सकता ।

जयन्त का कहना है कि नैयायिकों को चित्रादि का अनियत फलकत्व तो अभीष्ट है, क्योंकि भली-भाँति कर्तृकर्मादि अङ्गों के अवैगुण्य सहित इष्टि सम्पन्न होने पर पशुओं की अनुपलब्धि के हेत्वन्तर-प्रतिबन्धक दूसरे कर्म स्वीकार किये जाते हैं । परन्तु सद्यः फल वाली करीरी इष्टि से चित्रा का अविशेष है ।[3] इतना मात्र मीमांसकों से मतभेद है कि मीमांसक मत में करीरीऐहिक फलक है तथा चित्रा अनियत फलक । परन्तु न्याय मत में करीरी इष्टि सद्य. फलप्रदा है और चित्रा काल-व्यवधान सहित अन्ततः इसी जन्म में फल देती है, न कि अनियत फल वाली है ।

जयन्त द्वारा वेद प्रामाण्य का अनुमान द्वारा समर्थन :

रचनात्वहेतुक अनुमान से वेद का सकर्तृकत्व और आप्तोक्तत्वहेतु से वेद

---

१. तत्र वचनं तावत् त्रिविधविभागप्रतिपादकं नास्ति ।

—न्या० म०, भाग १, पृ० २५२

२. पुरुषेच्छा तु पुरुषेच्छैव, न तया शास्त्रार्थो व्यवस्थापयितुं शक्यः ।

—वही, पृ० २५३

३. अनेन प्रकारेण चित्रादेरप्यनियतफलत्वमस्माभिरिष्यत एव, यत्र सम्यक्-प्रयुक्तायामपीष्टौ कर्मान्तरप्रतिबन्धादेव पशूनामनुपलम्भः कल्प्यते । सर्वथा सद्यः फलत्वमात्रवर्जं समानयोगक्षेमा कारीर्या चित्रेष्टिः । —वही, पृ० २५४

का प्रामाण्य निश्चित होता है। शब्द अनित्यता सिद्ध करके नैयायिक रचनात्व हेतु की पुष्टि करते हैं। परन्तु वेद के प्रामाण्य का हेतु आप्तोक्तत्व कैसे निश्चित होता है? प्रत्यक्ष प्रमाण अदृष्टार्थक वेद के प्रामाण्य या उसकी आप्तोक्तता का निश्चय नहीं कर सकता।

वेद के प्रामाण्य का अनुमान आप्तवादत्व हेतु से किया जाता है। अनुमान का स्वरूप होगा—

"वेद प्रमाण हैं आप्तवादत्व के कारण, मन्त्र आयुर्वेदादि की तरह।" आयुर्वेद के किसी अंश द्वारा किसी रोग विशेष का निदान जानकर व्यक्ति तदनुकूल व्यापार करता है और बतायी गयी ओषधि खिलाकर रोग से मुक्ति पा जाता है, अतः आयुर्वेद का प्रामाण्य परिनिश्चित हो जाता है। इस प्रकार वेदप्रामाण्यानुमान में आयुर्वेद सपक्ष बनता है। आयुर्वेदादि के प्रसङ्गों से व्याप्ति का ग्रहण होता है—'जहाँ-जहाँ आप्तवादत्व होगा, वहाँ-वहाँ प्रामाण्य होगा।' इसी प्रकार मन्त्रों के प्रयोग द्वारा बिच्छू, सर्प के दशजन्य विष का शमन या खाये गये विष का निर्विषत्व देखा जाता है। मन्त्रों द्वारा पिशाचादि से मुक्ति भी देखी जाती है और मन्त्रों द्वारा ही उपलवृष्टि को रोककर फसल की रक्षा की जाती है, अतः मन्त्र प्रयोग से भी व्याप्ति निश्चय होता है कि 'जो जो आप्त प्रणीत होता है, वह वह प्रमाण होता है।' चरकादि की स्मृति रूप आयुर्वेद न तो वेद की तरह अनादि हैं और न आप्तवादत्व से भिन्न किसी हेतु द्वारा आयुर्वेद का प्रामाण्य निश्चित होता है। आयुर्वेदादिशास्त्र के फल में जहाँ व्यभिचार दिखता है, उसकी उपपत्ति भी साधन वैगुण्य से हो जाती है। या तो कर्त्ता पुरुष में कोई दोष होता है या ओषधि में या उसके ग्रहण के प्रकार में कोई दोष होता है, केवल तभी फल में असंवाद देखने को मिलता है। अतः आप्तोक्तत्व और प्रामाण्य के मध्य व्याप्यव्यापक भाव उपपन्न होता है। आयुर्वेद और मन्त्र की संवाद से गृहीत व्याप्ति वेद प्रामाण्य का अनुमान कराती है। जयन्त का कहना है कि व्याप्ति की उपपत्ति के लिए ही सूत्रकार ने शब्दों का दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेद से द्विविध विभाजन किया है।[१] दृष्टार्थ शब्द आयुर्वेदादि में अविनाभाव की उपपत्तिपूर्वक आप्तवादत्व हेतु द्वारा प्रामाण्य निश्चायक होता हुआ व्याप्ति बल से अदृष्टार्थक आप्तवादभूत वेद के प्रामाण्य को सिद्ध करता है। इसीलिए सूत्रकार ने मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य की तरह आप्त होने के कारण वेद का प्रामाण्य भी अनुमित किया है।[२] वेद परमाप्त ईश्वर

१. स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्। —न्या० सू०, १।१।८

२. मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। —न्या०, सू०, २।१।६८

की रचना है, यह हम सिद्ध ही कर चुके हैं। अतः हेतु के पञ्चलक्षणक होने से अनुमान में कोई दोष भी नहीं होगा।

वेद प्रामाण्य विरोधी दोषों का परिहार :

अनृत दोष का परिहार—फल के असंवाद के कारण वेद में अनृत दोष का आक्षेप किया जाता है। परन्तु आचार्य जयन्त न्यायसूत्रकार[1] का अनुसरण करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि फल के असंवाद का कारण वेद का अनृतत्व नहीं हैं, वरन् फल के साधनभूत कर्त्ता यजमान, कर्म याग और उसके सब अङ्गों में से कहीं किसी दोष के आ जाने से फलोपलब्धि नहीं होती। चित्रा याग के अनन्तर होने वाला पशुलाभ या पुत्रेष्टि याग से होने वाला पुत्र लाभ अन्य कारणो से निरपेक्ष केवल यागमात्र से सम्भव नहीं है। जैसे कारीरी याग कारण-अवैगुण्य सहित सम्पन्न सद्यः वृष्टि देता है, उस प्रकार पुत्र भी पुत्रेष्टि याग के कारणावैगुण्य सहित सम्पन्न होने पर आकाश से नहीं टपक पड़ता, वरन् पुत्रोत्पत्ति के लिए स्त्री-पुरुष संयोगाख्य कारणान्तर भी आवश्यक होता है।[2] चित्रा याग के फल के रूप में कहीं-कहीं याग समाप्ति के शीघ्र बाद ही भेंट आदि के रूप में पशुलाभ देखा जाता है। जयन्त अपने पूर्व-परम्परा से एक उद्धरण देते हैं कि उनके पितामह ने ग्राम की कामना करते हुए सांग्रहणी-याग किया था और याग समाप्ति के शीघ्र बाद ही फल के रूप में 'गौरमूलक' ग्राम प्राप्त किया था। इसलिए चित्रा याग के प्रसङ्ग में फलादर्शन नहीं होता और पुत्रेष्टि याग के फलादर्शन का कारण कारकान्तर की अपेक्षा है। भेंट स्त्री-पुरुष संयोग और दृष्ट कारणों के होने पर भी इष्टि के अभाव में फलासंवाद से और दृष्टकारणों के रहते हुए इष्टि-पूर्वक स्त्रीपुंस सयोग ही पुत्रोत्पत्ति में कारण है।[3]

जहाँ पर इष्टि सम्पन्नता और दृष्ट कारण दोनों वर्तमान होते हैं वहाँ यदि फलासंवाद होता है, उसका कारण श्रुति का मिथ्यात्व नहीं होता वरन् कर्त्ता कर्म आदि साधनों मे कही दोष आ जाने से फलासंवाद होता है।

---

१. न कमकर्तृसाधनवैगुण्यात्।
—न्या० सू०, २।१।५८

२. पुत्रादिस्त्वैहिकमपि फलं वस्तुस्वभावपर्यालोचनयैव न सद्यो भवितुमर्हति। न हि नभसस्तदानीमेव वृष्टिरिव निपतति पुत्रः, स्त्रीपुंससंयोगकारणान्तरसव्यपेक्षत्वात् तदुत्पत्तेः।
—न्या० म०, भाग १, पृ० २५०

३. सत्स्वपि च दृष्टेषु कारणेषु तददर्शनाद इष्टिप्रयोगानन्तरं चैतद्दर्शनाद् इष्टिकृतं स्त्रीपुंससंयोगादिकारणत्वमिति निश्चीयते।
—वही, पृ० २५०

विपर्यय दोष का परिहार—प्रत्यक्ष द्वारा जो फल विसंवाद का आक्षेप किया गया है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ पर आत्मा के स्वर्ग गमन का विधान है, शरीर का नहीं। भस्मीभूत तो केवल भौतिक शरीर होता है। अभौतिक आत्मा तत्तद्धर्माधर्म के अधीन होकर यज्ञायुधो से सम्पन्न स्वर्ग जाता है। इसमें कोई विरोध नहीं है। अतएव उक्त दृष्ट विरोध जन्य विपर्यय दोष नहीं होगा।

व्याघात दोष का परिहार—जो हवन के काल सम्बन्धी विधि में व्याघात दोष दिखाया गया था, वह भी कोई दोष नहीं है। आहुति काल सम्बन्धी विधि में अनुष्ठान भेद से तीन समय बताये गये हैं और होता को इन तीन में उचित किसी एक का चयन करना होता है। उसे नित्य उसी समय से अग्नि में आहुति डालने का विधान है। यदि वह किसी एक समय का प्रयोग करते हुए कभी उस समय का अतिक्रमण करता है, तो शेष श्रुति उसकी निन्दापरक है। अतः यहाँ कोई विरोध नहीं है। विधि और निषेध वाक्यों में कोई विरोध नहीं होता क्योंकि दोनों के प्रयोग के क्षेत्र बिलकुल भिन्न-भिन्न होते हैं। अतएव व्याघात दोष की आशंका भी नहीं की जा सकती।[१]

पुनरुक्ति दोष का परिहार—प्रथम सामिधेनी ऋचा और अन्तिम सामिधेनी ऋचा का तीन बार पाठ का विधान होने से पुनरुक्ति-दोष कहा गया है। परन्तु अभ्यास के लिए आवश्यक पुनरुक्ति कभी भी दोष नहीं मानी जा सकती। सामिधेनी ऋचा के प्रसङ्ग में पन्द्रह बार सामिधेनी ऋचाओं के पाठ का विधान है।[२] परन्तु सामिधेनी ऋचाओं की संख्या मात्र ११ है। अतः यदि प्रत्येक ऋचा का केवल एक बार पाठ किया जाय तो ग्यारह बार ही सामिधेनी ऋचाओं का पाठ होगा जबकि पन्द्रह संख्या अभीष्ट है।[३] अतः इसके लिए अभ्यास आवश्यक है। अतएव प्रथम और ग्यारहवीं ऋचा का तीन बार पाठ करने का विधान

१. तत्रानुष्ठानभेदेन कालत्रितयचोदना।
यो यस्य चोदितः कालः लङ्घनीयो न तेन सः॥
ततश्चान्यतमं कालमभ्युपेत्यैनमुज्झतः।
निन्देति न विरोधोऽत्र कश्चिद्विधिनिषेधयोः॥
—न्या० म०, भाग १, पृ० २५५

२. 'इममहं पञ्चदशारेण वज्रेणापबाधे योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' इति श्रुतिः सामिधेनी प्रकरणे।

३. अभ्यासे पौनरुक्त्यं च कार्यार्थत्वाददूषणम्।
सम्पाद्यं पाञ्चदश्यं हि सामधेनीषु चोदितम्॥ —वही, पृ० २५६

होता है ताकि (३+९+३=१५) पन्द्रह की संख्या पूरी हो सके। इसलिए पुनरुक्ति दोष भी वेद में नहीं है।[१]

इस प्रकार चार्वाक द्वारा उत्थापित सभी आक्षेपों का समुचित समाधान प्रस्तुत करते हुए जयन्त ने वेद प्रामाण्य की स्थापना की है।

अर्थवादादि वेदभागों के अप्रामाण्य का परिहार :

वेद के विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, निषेध—ये पांच भेद किये गये हैं।[२] अब तक विधि वाक्यों के अप्रामाण्य पर उठाये गये आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत किया गया है। निषेध वाक्यों का प्रामाण्य भी निवृत्ति अर्थवाला होने से है। परन्तु अर्थवाद, मन्त्र और नामधेय परस्पर विरुद्ध अर्थ का कथन करते हैं, अतएव इनका प्रामाण्य कैसे हो? अतएव इन पृष्ठों में अर्थवाद, मत्र और नामधेय के प्रामाण्य पर विचार करना चाहिए।

अर्थवाद के प्रामाण्य की सिद्धि—प्रशंसा या निन्दा में से एक के प्रतिपादक वाक्य को अर्थवाद कहते हैं।[३] जैसे 'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्,[४] 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्। तामग्नौ प्रागृह्णात्। ततोऽजस्तूपर उदगात्,[५] आदि। यहाँ पूर्वपक्ष का प्रश्न है कि क्या इन अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य स्वार्थ में होता है? या उनसे कार्यरूप अर्थ की परिकल्पना के कारण होता है? या विधि शेष के कारण होता है? इनमें से पहला विकल्प सम्भव नहीं, क्योंकि इनमें प्रमाणान्तर विरुद्ध अर्थ का कथन किया जाता है। रोदन वपोत्खेदन आदि अर्थ का रुद्रादि से सम्बन्ध नहीं जाना जा सकता। साथ ही 'यजमानः प्रस्तरः'[६] 'आदित्यो यूपः'[७] आदि में प्रत्यक्ष विरोधी अर्थ का कथन किया गया है। दूसरा विकल्प स्वीकार करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सोऽरोदीत्० आदि वाक्य का कार्य अर्थ कल्पित किया जाय तो यही अर्थ होगा कि चूंकि रुद्र रोया था, इसलिए अन्य

---

१. अभ्यासे फलरहिते हि पौनरुक्त्यं दोषः स्यादिह तु न तस्य निष्फलत्वम्।
व्याघाताऽनृतपुनरुक्तादि तस्माद्वेदस्थ श्लथयति न प्रमाणभावम्॥
—न्या० म०, भाग १, पृ० २५६

२. स च विधिमन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः।— अर्थ०, पृ० ४७

३. प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। —वही, पृ० १९०

४. तै० सं०, १।५।१

५. वही, २।१।१

६. वही, २।६।५

७. तै० ब्रा०, ३।१।५

व्यक्तियों को भी रोना चाहिए, जबकि यह सम्भव नहीं है, क्योंकि रोदन विषय के अधीन होता है विधि के अधीन नहीं। इसी प्रकार विधि शेष के रूप में अर्थवाद का प्रामाण्य सम्भव नहीं है, क्योंकि विधियों से सम्बन्ध केवल उन वाक्यों का हो सकता है जो विधि के लिए उपयोगी द्रव्य देवतादि का विधान करते हों, जैसे विनियोग विधियाँ। इस प्रकार अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य किसी प्रकार नहीं सिद्ध किया जा सकता।[1] अर्थवाद वाक्यों के अप्रमाण्य से व्याप्तिग्रहण करके पूरे वेद का अप्रामाण्य सिद्ध होता है।[2]

आचार्य जयन्त उक्त आक्षेपों का निराकरण करके अर्थवाद वाक्यों के प्रामाण्य की सिद्धि करते हैं। जयन्त का कहना है कि अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य-विधि वाक्यों से एकवाक्यता होने के कारण है। भूमा ने अर्थवाद पदों का पाठ विधि से एकवाक्यता स्थापित करके किया है।[3] यहाँ 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' अर्थवाद से किसी क्रिया का ज्ञान नहीं होता और न ही क्रिया से सम्बद्ध कोई अर्थ ज्ञात होता है; फिर भी 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम' इस विधि से उसकी एकवाक्यता है, अतः उसका भी प्रामाण्य है। विधि के लिए अर्थवाद पदों की आवश्यकता भी है। केवल विधि का श्रवण करके ही प्रेरकता सम्भव नहीं हैं, वरन् उस देवता की प्रशंसा सुनकर विधि की प्रेरकता एवं विधायकता तीव्र होती है।[4] इसलिए जहाँ विधि से कोई अर्थवाद सम्बद्ध नहीं होता, वहाँ भी अर्थवाद की कल्पना कर ली जाती है।[5] जहाँ पर विधि का अर्थवाद से विरोध हो वहाँ अर्थवाद गौण हो जाता है। जैसे 'बर्हिषु रजतं न देयम्' में रजतदान के निषेध के लिए 'सोऽरोदीत्०' इत्यादि अर्थवाद से रजत की निन्दा की गयी है। यहाँ रजत का रोदनप्रभवत्व मुख्य न होकर गौण है। केवल श्वेतवर्ण सादृश्य मात्र के कारण

---

१. तदेवं प्रकारत्रयेणापि अर्थवादपदानामनन्वयात् एकदेशाक्षेपेण सर्वाक्षेप एव क्रियते इति अप्रमाणं वेदः। —न्या० म०, भाग १, पृ० २५८

२. तत्सामान्यात् अन्यत्राप्यनाश्वासः। —वही, पृ० २५८

३. विध्येकवाक्यतयैव भूम्ना तावदर्थवादपदानि पठ्यन्ते—'वायव्य श्वेतमालभेत भूतिकामो, वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति (तै० सं० २।१।१) इति। तेषां तदेकवाक्यत्वादेव प्रामाण्यम्। —वही, पृ० २५८

४. संस्तुतिपदे हि वाक्ये स्तुतिपदसहितं विधायकं विधायकं भवति। —वही, पृ० २५८

५. अतएव केचित् अश्रुतार्थवादकेऽपि विधिवाक्ये तत्कल्पनामिच्छन्ति। —वही, पृ० २५९

रोदनोत्पन्न रजत की निन्दा का गौण रूपेण अभिधान हुआ है ।[१] जहाँ पर 'आदित्यो यूपः' या 'यजमानः प्रस्तरः' आदि अर्थवादों में प्रत्यक्ष विरोध उपलब्ध होता है, वहाँ भी अर्थवाद गौण होता है । घृत का लेप किये जाने से तेजस्वितया यूप की आदित्य रूप में स्तुति हुई है । इसी प्रकार तत्कार्यकारित्व के कारण यजमान को प्रस्तर कहा गया है । लोक में भी गौणी वृत्ति का व्यवहार होता है । अतः वेद में भी अर्थवादों का इसी रीति से गौण प्रयोग होता है ।[२] स्तुति और निन्दा रूप के अर्थवादों के प्रामाण्य की ही तरह परकृति और पुराकल्प[३] अर्थवादों का प्रामाण्य भी अवधेय है । कभी-कभी अर्थवाद से विधि के किसी अंश की पूर्ति होने से उसका कार्य अर्थ के प्रति भी अङ्गत्व है । अर्थवाद का श्रवण विधि वाक्य के अर्थ में सन्देह के निराकरण के लिए भी होता है । इस प्रकार से विधि वाक्यों से एकवाक्यता को प्राप्त करके अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध होता है ।

मन्त्र-प्रमाण की सिद्धि—यज्ञादि कर्मों से सम्बद्ध अर्थ, द्रव्य, देवता आदि का स्मरण करानेवाला वेदभाग मन्त्र है तथा उस प्रकार के अर्थ के स्मारक होने के कारण ही मन्त्र की अर्थवत्ता है ।[४] मन्त्रों के प्रामाण्य के विरोध में पूर्वपक्ष ने चार दोष दिखाया है । पहला दोष यह है कि मन्त्रों से अर्थप्रतीति सम्भव नहीं है क्योंकि मन्त्रों की विध्यर्थोपयोगिता अर्थ प्रकाश के द्वारा नहीं होती । दूसरा आक्षेप यह है कि मन्त्रों की उपादेयता उच्चारणमात्र से ही सम्पन्न हो जाती है जैसे 'उरु प्रथा उरु प्रथस्व इति पुरोडासं प्रथयति'[५] इस श्रुति में इस मन्त्र का विनियोग भी प्रथयति शब्द से कह दिया गया है । तीसरा दोष यह है कि कहीं पर मन्त्रों की अर्थ विवक्षा भी नहीं होती, क्योंकि कोई मन्त्र अविद्यमान अर्थ का प्रकाशन करते हैं जो अर्थ विवक्षा की स्थिति में कभी सम्भव नहीं है । जैसे—चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यान् आविवेश ।"[६] इस मंत्र में चार सींग, तीन पैर,

---

१. गौण एष वादः श्वेतवर्णसारूप्यादिना रोदनप्रभवं रजतं निन्दितुमुच्यते ।
—न्या० म०, भाग १, पृ० २५९

२. न मुख्ययैव वृत्त्या लोकेशब्दाः प्रवर्तन्ते गौण्याऽपि वृत्त्या तद् व्यवहारदर्शनात् । एवं वेदेऽपि तेषां तथा प्रयोगो भविष्यति । —वही, पृ० २६०

३. स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः । —न्या० सू०, २।१।६५

४. प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः । तेषां तादृशार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वम् ।
—अर्थ०, पृ० १४४

५. वा० स०, १-२२

६. तै० मा०, १०।१

दो सिर, सात हाथ वाले किसी वृषभ का स्मरण है जब कि ऐसा कोई यज्ञ साधन नहीं होता। अन्तिम आक्षेप यह है कि मंत्रों में अचेतन में चेतन की तरह का व्यवहार देखने को मिलता है, जैसे 'ओषधे त्रायस्वैनम्'[1] 'शृणोत ग्रावाणः'[2] आदि में अचेतन ओषधि और पत्थरों के लिए चेतन क्रियाओं का व्यपदेश है। साथ ही कोई कोई मंत्र प्रतिषिद्ध तथ्य का कथन करते हैं, जैसे 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्'[3] एक ही वस्तु द्युलोक, अन्तरिक्ष नहीं हो सकती। इस प्रकार विभिन्न दोषों से युक्त होने के कारण मन्त्र का प्रामाण्य दुरुपपाद्य है।

आचार्य जयन्त पूर्वपक्ष के आक्षेपों का परिहार करते हुए कहते हैं कि मंत्रों से अर्थ प्रतीति होती है, क्योंकि शब्दार्थ सम्बन्ध जानने वाले शुद्ध मस्तिष्क वाले व्यक्ति को 'बर्हिर्देवसदनं दामि' सुनकर स्वतः अर्थप्रतीति होती है। मंत्रों की यह अर्थ प्रतीति अकारण नहीं होती, क्योंकि इस अर्थ प्रतीति में लौकिक अर्थ प्रतीति के कारणभूत पदों की तरह यहाँ मंत्र के अवयव पद कारण हैं और उन शब्दों की लोक व्यवहार से व्युत्पत्ति हो जाती है, क्योंकि वेद में जिन शब्दों का प्रयोग जिस अर्थ में हुआ है, उनमें से अधिकांश का उसी अर्थ में लोक में भी प्रयोग होता है।[5] ऐसा भी नहीं है कि अर्थप्रतीति सनिमित्तक तो हो परन्तु अर्थ की विवक्षा न हो, क्योंकि मन्त्रों की अर्थ विवक्षा होती है। 'चत्वारि शृङ्गा०' इत्यादि श्रुति में अविद्यमान अर्थ की शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि यह यज्ञ की स्तुति है। सींग रूप से चार वेदों का कथन हुआ है, पादरूप में तीन सवन का उपदेश है, दो सिर के रूप में यजमान दम्पत्ति का अभिधान है, हाथ के रूप में सात छन्दों का कथन है। तीन स्थानों से बाँधा हुआ है—इससे यज्ञ का मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प से निबद्धत्व कहा गया है। वृषभ यज्ञ का विशेषण है, जिसका तात्पर्य है कामनाओं की वर्षा करने वाला, रोरवीति क्रिया का अर्थ है—स्तोत्र रूप शस्त्र प्रयोग की बहुलता के कारण शब्दायमान। महोदेवः मर्त्यान् आविवेश का तात्पर्य

---

१. तै० सं०, १।१।२

२ तै० सं०, १।३।१३

३ तै० आ०, १।१३

४ मै० स०, १।१।२

५. नाप्यसौ निर्निमित्ता, लोकवत् पदानामेवात्र निमित्तत्वात्। व्युत्पत्तिरपि न नास्ति, त एव लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः। त एव तेषामर्थाः इति लोकव्यवहारतस्तद्व्युत्पत्तिसंभवात्। —न्या० म०, भाग १, पृ० २६२
तुलनीय—शा० भा०, लोकवेदाधिकरण, १।१।७

है—मनुष्यकर्तृक यज्ञ।[1] इस प्रकार अर्थ की अविवक्षा की शङ्का नहीं की जा सकती। जो उच्चारणमात्र से मन्त्रों की अर्थवत्ता के कारण मंत्रों का अप्रामाण्य कहा गया है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'उरु प्रथा, उरु प्रथस्व' यहाँ मन्त्र के प्रथम विनियोग के रूप में सिद्ध होने पर मंत्र विधायक वचन निरर्थक हो सकता है, परन्तु मंत्र से प्रतीयमान अर्थ का त्याग नहीं किया जा सकता। अचेतन में चेतनवद् उपचार अचेतन की स्तुति के अर्थ में होता है। 'ओषधे त्रायस्व' में ओषधि की प्रशंसा की गयी है तथा 'श्रृणोत ग्रावाण:' प्रातरनुवाक श्रुति में प्रातरनुवाक की स्तुति की गयी है जिसे अचेतन पत्थर भी सुनते हैं। अदिति का द्युलोक और अन्तरिक्ष के लिए गुणवाद हुआ है अतः दोष नहीं है। लोक में भी तुम्हीं मेरी माता हो, तुम्हीं मेरे पिता हो, तुम्हीं मेरी भगिनी हो, तुम्हीं मेरे भाई हो—आदि रूपों में गुणवाद होता है। 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरी'[2] आदि मन्त्रों में आये हुए जर्भरी, तुर्फरी आदि शब्दों की निरर्थकता भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि वे जर्भरी, तुर्फरी शब्द प्रकरण में द्विवचनान्त होने के कारण अश्विनी के वाचक हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ लोकभिन्न शब्दों का प्रयोग हो, वहाँ वेदाङ्गों व प्रकरण की सहायता से अर्थ जाना जा सकता है। इसलिए मन्त्रों का अप्रामाण्य दुरुपपाद्य नहीं है। पूर्वपक्षी आक्षेपों का निराकरण हो जाने के कारण मन्त्रों का प्रामाण्य निरपवाद रूप से सिद्ध होता है। ये मंत्र जप की तरह केवल पठन मात्र से क्रियार्थकत्व को नहीं धारण करते, वरन् अर्थप्रकटन के द्वारा ही ये मन्त्र क्रियार्थक हैं।[3] इसलिए मंत्र के अप्रामाण्य की आशंका से वेद के प्रामाण्य का अपलाप नहीं किया जा सकता।

---

१. चत्वारि शृङ्गा इति वेदा उक्ताः, त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि, द्वे शीर्षे इति दम्पती यजमानौ, सप्तहस्तास इति छन्दांसि, त्रिधा बद्ध इति मन्त्रब्राह्मणकल्पैः निबद्धः, वृषभः इति कामान् वर्षति, रोरवीतीति स्तोत्रशस्त्रप्रयोगबाहुल्यात् शब्दायमानः, महोदेवो मर्त्यानाविवेशेति मनुष्यकर्तृक इत्येवमेष यज्ञः स्तुतो भवति। —न्या० म०, भाग १, पृ० २६३

द्रष्टव्य—गोपथ के विवरण का अनुसरण करके शबर ने शा० भा०, १।२।३८ में इसका विस्तृत अर्थ प्रस्तुत किया है।

२. ऋ० सं०, ८।६।२

३. अमी तस्मादर्थप्रकटनमुखेनैव दधति,
क्रियार्थत्वं मन्त्रा न तु पठनमात्रेण जपवत्।
न तद्द्वारेणापि श्लथयितुमतः शक्यत इदं,
प्रमाणत्वं वेदे सकलपुरुषार्थामृतनिधौ॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० २६४

नामधेय की प्रामाण्य-सिद्धि—सम्पाद्य याग का नाम संकीर्तन करने वाले पदों को नामधेय कहते हैं। कोई पद नामधेय होने के कारण अनेकार्थक होते हुए भी किसी याग विशेष के अभिधानमात्र का अर्थ देता है।[१] जैसे—'उद्भिदा यजेत'[२] में उद्भिद् शब्द यज्ञ का नाम है। जयन्त ने पूर्वपक्ष की ओर से आक्षेप प्रस्तुत किया है कि 'उद्भिदा यजेत', 'चित्रया यजेत पशुकामः',[३] 'अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्गकामः' 'श्येनेनाभिचरन् यजेत',[४] 'वाजपेयेन स्वाराज्य कामो यजेत' आदि विधियों में आये हुए उद्भिद्, चित्रा, अग्निहोत्र, श्येन, वाजपेय—इन पदों का क्या प्रयोजन है? क्या ये गुणविधियाँ हैं, अथवा नामधेय? व्रीहिभिर्यजेत' 'दध्ना जुहोति' आदि गुण विधियों की तरह उद्भिदादि पदों के द्वारा किसी याग के अङ्गभूत द्रव्य का अभिधान नहीं हुआ, अन्यथा यजि धातु के अर्थभूत याग की अन्य प्रकार से उपपत्ति करनी होगी, क्योंकि गुण विधान याग में उपपन्न नहीं होगा। यदि 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इस वाक्य का यह अर्थ स्वीकार किया जाय कि पूरे वाक्य के द्वारा यागाख्य भावार्थ प्रेरित हुआ है तथा उसके अङ्ग रूप में वाजपेय नामक गुण का विधान 'वाजपेयेन' शब्द से हुआ है—तब भी अर्थ उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि इससे वाक्यभेद दोष आ जायेगा। तब स्पष्टतः यजेत इस क्रिया से 'वाजपेयेन यागेन स्वर्गं भावयेत' और 'वाजपेयेन गुणेन यागं भावयेत्'—ये दो अर्थ स्पष्ट परिलक्षित होंगे, जबकि एक बार उच्चरित वाक्य दो अर्थ नहीं दे सकता।[५] उद्भिदादि पद नामधेय भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि तब उद्भिदादि पदों का आनर्थक्य प्राप्त होता है, क्योंकि यदि उद्भिद् शब्द यज्ञ का नामधेय हो जायेगा तो याग का सजातीय विजातीय व्यावर्त्तक कोई विशेष नहीं बचेगा। इस प्रकार कथित नामधेय पदों के निरर्थक हो जाने से पूरे वेद की निरर्थकता प्राप्त होती है।[६]

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए आचार्य जयन्त कहते हैं कि उद्भिद् आदि पदों का गुणविधित्व भवदभिहित रीति से हमें स्वीकार नहीं है, परन्तु ये

---

१. नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयाऽर्थवत्त्वम्। —अर्थ०, पृ० १५५

२. तां० ब्रा०, १९।७।३

३. तै० सं०, २।४।६

४. षड्विं० ब्रा०, ३।८

५. न हि सकृदुच्चरितं वाक्यं अर्थद्वयविधानाय प्रभवति। —न्या० म०, भाग १, पृ० २६४

६. एवमानर्थक्याद् अन्यत्राप्यसमाश्वासः। —वही, पृ० २६५

शब्द नामधेय पद वाच्य हैं। धात्वर्थ याग पशु आदि फल के प्रतिसाधन होता है और चित्रादि का धात्वर्थ से सामानाधिकरण्य होने के कारण कारणत्व होता है। कभी साध्य की अपेक्षा से साध्य का सामानाधिकरण्य होने के कारण द्वितीयान्त कर्म भी होता है जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति'। गुणविधियों में विधेय द्रव्य देवतादि की तरह नामधेय विधेय नहीं होता[1], क्योंकि वेद नामधेय पदों के द्वारा यागादि से संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का कथन नहीं करता। अतः ये विधेय नही हो सकते। नामधेय तो केवल कर्म विशेष के नाममात्र होते हैं और कर्म से ही इनके नाम की व्युत्पत्ति सार्थक होती है—जैसे जिससे पशुओं का उद्भेदन किया जाता है, वह याग उद्भिद् है, जिसमें अग्नि के लिए होत्र किया जाता है वह याग अग्निहोत्र है, जिसमें वाज अर्थात् अन्न पिया जाता है वह वाजपेय याग है। इस प्रकार उद्भिद्, अग्निहोत्र, वाजपेय आदि नामधेय कर्मों के नाममात्र हैं। नामधेयों के नैरर्थक्य की भी आशका नहीं की जा सकती, क्योंकि गुण और फल की उपलब्धि होने के कारण और गुण और फल से याग का अन्वय सम्पन्न न होने के कारण[2] नाम भी सार्थक होता है। एव नामकोऽयं यागः, एतद् गुणकः, एतत्फलकः' इस रीति से गुण, फल आदि से अन्वित होने के कारण नाम भी सार्थक होता है। यदि नामधेय को निरर्थक मान लें तो किसका गुण और किसका फल विहित होगा?[3] अतः गुण और फल की अर्थवत्ता के लिए नामधेय को अर्थवान् मानना आवश्यक है।[4] इस प्रकार नामधेय का प्रामाण्य भी सिद्ध होता है और विधि अर्थवादादि समस्त वेद भाग के प्रमाण रूप में सिद्ध हो जाने पर वेद के अप्रामाण्य के लिए कोई भी अवकाश नहीं बचता। अतः वेद का प्रामाण्य सब प्रकार से सिद्ध होता है।

मीमांसक सम्पूर्ण वेद का अर्थ क्रियापरक मानते हैं। अतः सिद्ध अर्थ का

---

१. न नामधेय विधास्यते। अनुवादा ह्युद्भिदादयः। कुतः प्राप्तिरिति चेत् उच्छब्दसामर्थ्यात् भिच्छब्दसामर्थ्याच्चोद्भिच्छब्दः क्रियावचनः। उद्भेदनं प्रकाशनं पशूनामनेन क्रियत इत्युद्भिद्यागः। —शा० भा०, १।४।१

२. नामापि गुणफलोपबन्धेनार्थवत्। —शा० भा०, १।४।१

३. एवं नामकोऽयं यागः, एतद्गुणकः, एतत्फलकः इति रीत्या गुणफलाद्यन्वयार्थत्वेन नाम्नः सार्थक्यम्। यदि नामैव न स्यात् तदा कस्य को गुणो विधेयः स्यात् फलं वा। —न्यायसौरभ, पृ० ६९०

४. नामापि गुणफलोपलब्धेः अर्थवदित्यभियुक्तैः परिहृतत्वात्। —न्या० म०, भाग १, पृ० २६५

उपदेश करने वाले वाक्यों या पदों की निरर्थकता प्राप्त होती है।[१] परन्तु जयन्त का उत्तर है कि सम्पूर्ण वेद क्रियापरक न होकर वस्तुतः सिद्ध परक हैं। सभी विधियों एवं वेदवाक्यों का पर्यवसान आत्मज्ञान में है। 'आत्मा ज्ञातव्यः' यहाँ किसी कर्म की गति नहीं है, क्योंकि अधिकारी फल की कामना से कर्म में प्रवृत्त होता है, जबकि आत्मज्ञान का कोई फल नहीं है। यम, नियम आदि क्रियायें आत्मज्ञान की साधन नहीं है, क्योंकि ये केवल अनाद्यविद्या का निवर्तन मात्र करती हैं। आत्मज्ञान सिद्ध ब्रह्म का स्वरूप है, जो किसी प्रकार क्रिया से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। इस सिद्ध ब्रह्म में ही सम्पूर्ण वेद वाक्यों का पर्यवसान होने से[२] वेद का अर्थ सिद्ध है, कार्य नहीं। अतएव सिद्धार्थक वाक्यों का अप्रामाण्य सम्भव नहीं है। अतएव वेद प्रामाण्य विरोधी समस्त आक्षेपों का निराकरण हो जाने पर वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है।

अथर्ववेद सम्बन्धी विचार

वेद के प्रामाण्य पर विश्वास करने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय भी अथर्ववेद के प्रामाण्य के सम्बन्ध में परस्पर भिन्न मान्यता रखते हैं। इसलिए वेद के प्रामाण्य का प्रतिपादन करते समय आचार्य जयन्त ने न केवल अथर्ववेद का प्रामाण्य प्रतिपादित किया है, वरन् अथर्ववेद के त्रय्यात्मकत्व और उसके प्राथम्य की भी सिद्धि प्रस्तुत करके अथर्ववेद के प्रामाण्य सम्बन्धी दिशा में एक ठोस पहल की है। चूंकि मीमांसादि शास्त्र अथर्ववेद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते और न्याय दर्शन में भी अथर्ववेद उपेक्षित रहा है, अतः जयन्तभट्ट की अथर्ववेद सम्बन्धी गवेषणा और महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसीलिए प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत वेद प्रामाण्योपपादन से भिन्न जयन्त के अथर्ववेद सम्बन्धी विचारों का संग्रह किया जायेगा।

अथर्ववेद के प्रामाण्य पर आक्षेप :

अथर्ववेद का प्रामाण्य न मानने वाले यह पक्ष प्रस्तुत करते हैं कि ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद परस्पर सम्बद्ध अर्थ का उपदेश करते हैं, इसलिए अनुमान प्रमाण द्वारा यह ज्ञात होता है कि इन तीनों वेदों को एक ही कर्त्ता द्वारा रचा गया है। इसलिए केवल ये तीन वेद ही प्रमाण हैं। इन तीनों वेदों के प्रामाण्य में भी अनुमान प्रमाण है, जिसका हेतु है 'एक कर्तृकत्व'। परन्तु चूंकि अथर्ववेद का

१. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। —मी० सू०, १।२।१

२. तदेवं सिद्ध एवार्थो वेदस्याहुः प्रमाणताम्।
सर्वा हि विधयो ब्रह्मप्राप्तिपर्यवसायिनः॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० २७०

कोई सम्बन्ध तीनों वेदों में वर्णित अर्थ से नहीं है, अतः अथर्ववेद का प्रामाण्य किसी भी प्रामाण से अवगत नहीं होता, क्योंकि वेद-प्रामाण्य के प्रतिपादक अनुमान का हेतु एक-कर्तृकत्व अथर्ववेद में नहीं है। अथर्ववेद का वर्ण्य विषय त्रिवेदी के वर्ण्य-विषय कर्मकाण्ड से भिन्न शान्तिक, पौष्टिक, अभिचार आदि है। अतएव अथर्व-वेद त्रयी से बाहर है और अप्रमाण है।

उक्त मत तो वेद का पौरुषेयत्व मानने वालों का है। जो लोग वेद का अपौरुषेयत्व और स्वत प्रामाण्य मानते हैं, उनके मत में भी अथर्ववेद का प्रामाण्य उपपन्न नहीं होता। ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद ज्योतिष्टोमादि यागों का विधान करते हैं। इन ज्योतिष्टोमादि में अनेक हौत्र, आध्वर्यव और औद्गात्र कर्मों का उपयोग होता है जिनका सम्बन्ध ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से है। परन्तु अथर्व-वेद मे ज्योतिष्टोमादि यागों से सम्बद्ध किसी क्रिया का विधान नहीं है। मीमांसक वेद का प्रामाण्य धर्म परक होने से स्वीकार करते हैं।[१] चोदना लक्षणक[२] यागादि[३] ही धर्म है, अतः अथर्ववेद का धर्मभूत यागादि से कोई सम्बन्ध न होने से मीमांसक मत में भी अथर्ववेद का प्रामाण्य उपपन्न नही होता।

लोक में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति —ये विद्यायें प्रचलित हैं।[४] इन विद्याओ मे भी त्रयी का परिगणन हुआ है, जिसमे अथर्ववेद नहीं आता क्योंकि त्रयी, ऋक्, साम, यजुष् तीन ही वेदों का समूह है। तीन वेदों के प्रामाण्य की समर्थक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भी उपलब्ध हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण[५] शतपथ ब्राह्मण[६]

१. धर्माय हि वेदवाक्यानि विचारयितुमधीतवेदो न शक्नुयात्।
—शा० भा०, १।१।१, पृ० ८

२. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। —मी० सू०, १।१।२

३. यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मं।
—अर्थ०, पृ० ११

अपि च, वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्। —वही, पृ० १८

४. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। —अर्थशास्त्र, १।२ पृ० ६

५. ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते। यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्येऽह्नः। सामवेदेनास्तमेति। वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः। —तै० ब्रा०, ३।१२।६

६. प्रजापतिरकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इमान् लोकानसृजत, पृथिवीमन्तरिक्षं दिवमिति। तान् लोकानभ्यतपत्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्त। अग्निरेव पृथिव्या अजायत वायुरन्तरिक्षात् दिव आदित्य इति। तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्। तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। अग्नेर्ऋग्वेदः। वायोर्यजुर्वेदः। आदित्यात्सामवेदः। —शत० ब्रा०, ११।४।११

तथा नारायणोपनिषद्[1] तीन वेदों के रूप में त्रयी विद्या का कथन करते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि शिष्य को बारह वर्ष तक प्रत्येक वेद की चर्चा करते हुये गुरु के पास छत्तीस वर्ष बिताना चाहिए।[2] मनुस्मृति के ही श्राद्ध प्रकरण में तीन वेदों के पारदृश्वा ब्राह्मण को ही श्राद्ध में भोजन कराने का निर्देश दिया गया है।[3] इस प्रकार श्रुति और स्मृति में सर्वत्र अथर्ववेद की अवश्याध्येयता के प्रतिपादन का अभाव मिलता है। दूसरी ओर कहीं-कहीं अथर्ववेद की उपादेयता का निषेध भी हुआ है।[4]

इस प्रकार श्रुति से समर्थन प्राप्त होने पर अथर्ववेद का प्रामाण्य किसी भी प्रकार प्रतिपादित नहीं हो सकता। अतः अथर्ववेद सर्वथा अप्रमाण है।

भाट्टमत से अथर्ववेद का वेदत्व :

अथर्ववेद के अप्रामाण्य समर्थक आक्षेपों के विरोध में कुमारिल का कहना है कि अथर्ववेद के वाक्य त्रयी के वाक्यों से सम्बद्ध नही हैं, लेकिन इससे अथर्ववेद का अप्रामाण्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इनमें कोई कारण नही है।[5] 'यज्ञ में उपयोग न होना' अथर्ववेद के अप्रामाण्यानुमान का कारण नहीं हो सकता। साथ ही यह ठीक है कि यज्ञादि क्रियाओं मे अथर्ववेद की गति नहीं है, परन्तु यज्ञेतर क्रियाओं के विषय में अथर्ववेद के प्रामाण्य का बाध किसी भी हेतु से नहीं होता।[6] जिस प्रकार से त्रयी द्वारा उपदिष्ट क्रियायें होता, अध्वर्यु और उद्गाता के अधीन होती हैं, उसी प्रकार अथर्ववेदोपदिष्ट शान्तिक, पौष्टिक, अभिचार क्रियाये एकमात्र ऋत्विक् ब्रह्मा के द्वारा सम्पन्न होती हैं। अथर्ववेद में उपदिष्ट की गयी ये क्रियायें तीन रूपों की हैं—शान्तिक, पौष्टिक और अभिचार।[7] दुष्ट, क्रूर और विरोधी ग्रहों

---

१. सैषा विद्या त्रयी तपति। —नारा०, १२-२

२. षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्। —मनु०, ३।१

३. यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम्।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोग वा समाप्तिगम्॥ —वही, ३।१४५

४. तस्मादाथर्वणं न प्रवृञ्ज्यात्। —कल्पसूत्रम्

५. क्रीतराजकभोज्यान्न वाक्यं चाथर्ववैदिकम्।
न च तस्याप्रमाणत्वे किञ्चिदप्यस्ति कारणम्॥
—तन्त्र वा०, १।३।२, पृ० १२६

६. यदि यज्ञोपयोगित्वं नेहास्त्याथर्वणश्रुतेः।
अर्थान्तरे प्रमाणत्वं केनास्याः प्रतिहन्यते॥ —वही, पृ० १२६

७. शान्तिपुष्ट्यभिचारार्था एकब्रह्मर्त्विगाश्रिताः।
क्रियास्तया प्रमीयन्ते त्रय्येवात्मीयगोचरः॥ —वही, पृ० १ ९

की शान्ति से सम्बन्धित क्रियायें शान्तिक क्रियायें हैं, धनादि को प्राप्त करने के उपाय बताने वाली क्रियायें पौष्टिक क्रियायें हैं तथा शत्रुमारण सम्बन्धी क्रियायें अभिचार क्रियायें हैं। इन क्रियाओं के सम्बन्ध में अथर्ववेद एकमात्र प्रमाण है। इसलिए अथर्ववेद के प्रामाण्य का अपलाप नहीं किया जा सकता।

जयन्तभट्ट द्वारा अथर्ववेद के प्रामाण्य का प्रतिपादन :

आचार्य जयन्त चारों वेदों का प्रामाण्य समान रूप से स्वीकार करते हैं। चारों वेद चूंकि ईश्वर की रचना हैं, अतः चारों वेद समान रूप से पौरुषेय हैं और ईश्वर की आप्तता के आश्रित चारों वेदों का प्रामाण्य परतः ग्राह्य है। अपने मत के समर्थन में जयन्त ने बादरायण, जैमिनि, कणाद और अक्षपाद को अभिमत वेद प्रामाण्य का उल्लेख किया है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायण सभी वेदों को अपने प्रामाण्य के लिए निरपेक्ष होने के कारण उनका स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। यही मत मीमांसा सूत्रकार जैमिनि को भी अभिमत है।[1] महर्षि कणाद आम्नाय का प्रामाण्य ईश्वरोक्त होने के कारण स्वीकार करते हैं[2] और न्यायसूत्रकार अक्षपाद वेद का प्रामाण्य ईश्वरकृत आप्तता के कारण स्वीकार करते हैं, जिस तरह से मन्त्र और आयुर्वेदादि का प्रामाण्य है।[3] जयन्त का कहना है कि ये चारों शास्त्रकार जिस वेद प्रामाण्य का उल्लेख करते हैं, वह चारों वेदों में समान रूप से हैं। प्रयत्न पूर्वक अन्वेषण करने पर भी चारों वेदों में भेद का लेश भी उपलब्ध नहीं होता, इसलिए मीमांसकों के पक्ष से यह नहीं कहा जा सकता कि तीन ही वेद अनादि, अकर्तृक और अपौरुषेय नहीं है, क्योंकि अथर्ववेद का कर्त्ता स्मृत हुआ है। त्रयी का कर्त्ता अस्मर्यमाण है, अतः त्रयी अपौरुषेय होगी। वरन् चारों ही वेदों का अपौरुषेयत्व एवं स्वतः प्रामाण्य मीमांसा सूत्रकार जैमिनि को अभीष्ट है। इसी तरह नैयायिक पक्ष में भी यह नहीं कहा जा सकता कि तीन वेद आप्त-प्रणीत हैं अतः उनका प्रामाण्य है और अथर्ववेद आप्त प्रणीत नहीं है, अतः उसका प्रामाण्य भी नहीं होगा, वरन् नैयायिक पक्ष में तो आप्तप्रणीतत्व हेतु से चारों वेदों का प्रामाण्य समान रूप से ज्ञात होता है। सभी प्राणियों का चारों वेदों के द्वारा चार वर्णों, चार दिशाओं, चार समुद्रों की करधनी वाली पृथ्वी में व्यवहार प्रसिद्ध है, तब अथर्ववेद के साथ यह सौतेला व्यवहार क्यों किया जायेगा? अतएव सभी वेद

---

१. तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। —जै० सू०, १।१।५

२. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। —वै० सू०, १०।२।९

३. मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। —न्या० सू०, २।१।६९

समान रूप से प्रमाण हैं ।[1]

अथर्ववेद के वेदत्व में श्रुति प्रमाण—ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद में भी भूयशः अथर्ववेद का कथन करने वाले वाक्य मिलते हैं। जैसे शतपथ ब्राह्मण के अश्वमेध परिप्लवाख्यान में अथर्ववेद का उल्लेख है ।[2] छान्दोग्योपनिषद् में चारों वेदों का नाम्ना पाठ हुआ है ।[3] छान्दोग्य श्रुति में ही अन्यत्र अथर्वाङ्गिरस् का वर्णन है ।[4] तैत्तिरीय श्रुति में वेद पुरुष के अवयव विभाग के सन्दर्भ में अथर्ववेद को पुच्छ कहा गया है ।[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण में सभी वेदों के द्वारा दिशाओं का अभिधान किया गया है ।[6] शतपथ ब्राह्मण के ब्रह्मयज्ञ-विधि-प्रक्रम में अथर्वाङ्गिरस् द्वारा देवताओं को तर्पण का उल्लेख है ।[7] तैत्तिरीय संहिता में मन्त्र द्वारा भी अग्निमन्थन मन्त्र में अथर्वा का उल्लेख आया है ।[8] इन सन्दर्भों में आया हुआ अथर्वापद किसी ऋषि विशेष का नाम नहीं है। वरन् अथर्ववेद के लिए ही ये सभी सन्दर्भ हैं।

अथर्ववेद के वेदत्व में स्मृति प्रमाण—आचार्य जयन्त अथर्ववेद का प्रामाण्य और वेदत्व स्थापित करने के लिए श्रुतियों की तरह स्मृतियों से भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मनु ने अथर्वश्रुति से अङ्गिरस श्रुति के अभिचार के प्रसङ्ग में उद्धृत करने का विधान किया है ।[9] यहाँ मनु ने त्रयी के लिए प्रयुक्त

---

१. तेन प्रामाण्याधिगमोपायाविशेषात् समानयोगक्षेमतया चत्वारोऽपि वेदाः प्रमाणम् । —न्या० म०, भाग १, पृ० २३२

२. सोऽयमाथर्वणो वेदः । —शत० ब्रा०, १३।४।३।७

३. ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थः । —छा० उ०, ७।१।४

४. अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयः ता एवास्योदीच्यः मधुनाड्यः अथर्वाङ्गिरसः एव मधुकृतः । —वही, ३।४।१

५ तस्य यजुरेव शिरः । ऋग्दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः पक्षः । आदेश आत्मा अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । —तै० ब्रह्मो०, २।३

६. ऋचां प्राची महती दिगुच्यते । दक्षिणामाहुर्यजुषाम् । साम्नामुत्तराम् । अथर्वणामङ्गिरसां प्रतीची महती दिगुच्यते । —तै० ब्रा०, ३।१२।९

७ मेद आहुतयो ह वा एता देवानां यदथर्वाङ्गिरसः स य एवं विद्वानथर्वाङ्गिरसोऽहरहः स्वाध्यायमधीते, मेद आहुतिभिरेव तद्देवान् स तर्पयति त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति । —शत० ब्रा०, ११।५।६।७

८. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । —तै० सं०, ३।५।११

९. श्रुतिरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् । —मनु०, ११।३

श्रुति शब्द का अथर्ववेद के लिए प्रयोग करके अथर्ववेद को भी वही स्तर प्रदान किया है जो त्रयी का है। याज्ञवल्क्य ने विद्यास्थानों में वेदों का परिगणन किया है।[1] याज्ञवल्क्य को चार वेद अभीष्ट थे अन्यथा विद्यास्थानों की चतुर्दश संख्या (४ वेद+पुराण, तर्क, मीमांसा, धर्मशास्त्र रूप चार उपवेद+६ अङ्ग) पूरी नहीं होगी। एक अन्य श्लोक में याज्ञवल्क्य ने वेदों की चार संख्या का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2] आचार्य जयन्त ने शातातपस्मृति से एक श्लोक[3] उद्धृत किया है जहाँ अथर्ववेद का स्पष्टतः वेदत्व ज्ञात होता है।

अथर्ववेद का कर्म ब्राह्म कर्म है—अप्रमाणवादी ने यह आक्षेप लगाया था कि ऋग्वेद से हौत्र कर्म, यजुर्वेद से आध्वर्यव कर्म तथा सामवेद से औद्गात्र कर्म का ज्ञान होता है और सोमयागादि कर्मों से केवल तीन प्रकार के ही कर्मों का तात्पर्य है। अतः अथर्ववेद से किसी कर्म का कथन ही नहीं होता। जयन्त इसका उत्तर देते हैं कि अथर्ववेद ब्राह्म कर्म का उपदेश करता है। प्रमाण में गोपथ ब्राह्मण को उद्धृत किया गया है।[4] इसलिए ब्रह्मा से सम्बद्ध कर्मों का उपदेश होने के कारण अथर्ववेद अप्रमाण नहीं है।

अथर्ववेद का त्र्य्यात्मकत्व—तीन वेदों के समाहार को त्रयी कहते हैं। समाहार का तात्पर्य है जिसमें तीनों वेद समाह्रियमाण हों। समाह्रियमाण होते हुए ऋग्वेदादि तीनों हौत्र, आर्ध्वयव और औद्गात्र कर्मों के कारण चरितार्थ हैं,

---

१. पुराणतर्कमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य चतुर्दश ॥ —याज्ञ०, १।३

२. अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः ।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ —वही,

३. ऋक्सामयजुरङ्गानां अथर्वाङ्गिरसामपि ।
अणोरप्यस्य विज्ञानात् योऽनूचानः स नो महान् ॥ —शाता० स्मृ०

४. प्रजापतिः सोमेन यक्ष्यमाणो वेदानुवाच। कं वो होतारं वृणीयमिति। (गो० ब्रा०, २।२४) इति प्रक्रम्य 'तस्मादृग्विदमेव होतारं वृणीष्व, स हि हौत्रं वेद, यजुर्विदमेवाध्वर्युं वृणीष्व, स हि आध्वर्यवं वेद, सामविदमेवोद्गातारं वृणीष्व, स हि औद्गात्रं वेद, अथर्वाङ्गिरोविदमेव ब्रह्माणं वृणीष्व, स हि ब्रह्मत्वं वेद। —गो० ब्रा०, २।२४
अपि च—अथ चेन्नैवंविधं होतारम् अध्वर्युमुद्गातारं ब्रह्माणं वा वृणुते पुरस्तादेव वैषां यज्ञो रिच्यत इति तस्मादृग्विदमेव होतारं कुर्यात्, यजुर्विदमेवाध्वर्युं सामविदमेवोद्गातारं अथर्वाङ्गिरोविदमेव ब्रह्माणमिति। —वही, २।२४

अतः इन तीनों में भेद नही है। जहाँ एक-एक करके ये चरितार्थ हों, वहीं तीनों का समाहारभूत त्रयी भी चरितार्थ होगी। ब्रह्मत्व भी त्रयी द्वारा ही चरितार्थ होता है। वस्तुतः ब्राह्म कर्मों के द्वारा अथर्ववेद चरितार्थ होता है और अथर्ववेद त्रय्यात्मक है। अथर्ववेद मे ऋचायें साम और यजुष् तीनों हैं। इसी त्रय्यात्मकत्व के कारण अथर्ववेद से ब्राह्म कर्मों की कर्त्तव्यता उपदिष्ट होती है। त्रयी विद्या के सारभूत अथर्ववेद के द्वारा ब्राह्म कर्मों का कथन किया जाता है। इसलिए अथर्ववेद त्रयी से बाहर नहीं है।[1] इसीलिए गोपथब्राह्मण मे अथर्ववेद के स्थान पर ब्रह्मवेद का पाठ भी आया है।[2]

'प्रवर्ग मे आथर्वण श्रुति का प्रयोग नहीं करना चाहिए'[3] इस रूप में जो अथर्ववेद के निषेध का आक्षेप पूर्वपक्ष ने प्रस्तुत किया है, वह कल्पसूत्र का वाक्य होने के कारण वेद विरोधी है, अतएव हेय है। इस वाक्य को श्रुति के रूप में ही स्वीकार कर लिया जाय तब भी यदि यह प्रकरणाधीत है, तो प्रकरण के किसी कर्म विशेष से सम्बद्ध है और जब वह कर्म विशेष सम्पन्न हो जायेगा, तब अथर्ववेद का कोई अध्येता ऋत्विग् नहीं बनाया जायेगा; इस प्रकार यदि यह सामान्य कथन है, तब भी यह नियत विषयक होने से अपवाद वाक्य होगा और अथर्ववेद के त्रयीबाह्यत्व की सिद्धि नहीं करेगा।

अतएव अथर्ववेद के लिए वेद का व्यवहार बिना किसी विप्रतिपत्ति के होता है। ब्रह्मा नामक ऋत्विक् के कार्यों का ज्ञान केवल अथर्व श्रुति से ही सम्भव है अथर्वश्रुति त्रय्यात्मक होने से भी वेद है और प्रमाण है। वेदाध्ययन से सम्बद्ध ब्रह्मयज्ञ विधि का बिना किसी भेदभाव के चारों वेदों से सम्बन्ध है। स्मृतिकार याज्ञवल्क्य का भी यही कहना है कि द्विज प्रतिदिन अपनी शक्तिभर अथर्वाङ्गिरस् का पाठ करता हुआ देवताओं को मेदस् से और पितरों को मधु तथा घी से प्रसन्न करे।[4] इसलिए चारों वेद समान रूप से स्वाध्याय के विषय बनते हुए

---

१. तेन त्रयी शुक्ररूपेणाथर्ववेदेन ब्रह्मत्वमितीत्थमथर्ववेदस्य न त्रयीबाह्यत्वम्।
—न्या० म०, भाग १, पृ० २३६

२. ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः। —गो० ब्रा०, ३।२।१६

३. नाथर्वणेन प्रवृञ्ज्यात्। कल्पसूत्र तथा न्या० म०, भाग १, पृ० २३२ व २३६ में उद्धृत।

४. मेदसा तर्पयेद्देवान् अथर्वाङ्गिरसः पठन्।
पितॄंश्च मधुसर्पिभ्यां अन्वहं शक्तितो द्विजः॥ —याज्ञ०, १।४४

और पुरुषार्थ साधन के रूप में समान रूप से प्रमाणत्व के कारण समान महत्त्व रखते हैं।[1]

अथर्ववेद का प्राथम्य—अथर्ववेद त्रयी रूप वेद से बाहर तो है ही नहीं, साथ ही सभी वेदों में अथर्ववेद प्रथम है। चारों वेदों में कौन प्रवर है और कौन अवर? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। जयन्त का उत्तर है कि अथर्ववेद सभी में कालक्रम की दृष्टि से प्रथम है। गोपथ ब्राह्मण की एक श्रुति से ज्ञात होता है कि ब्रह्म के मनस् में प्रणव शब्द सर्वप्रथम अथर्ववेद के रूप में अभिव्यक्त हो गया।[2] दूसरी शाखाओं में प्रसिद्ध महाव्याहृतियाँ[3] तथा बृहती आदि संगीतलय अथर्ववेद से ही व्याकृत हुए हैं।[4]

फलतः कुमारिल द्वारा सानुकम्प अथर्ववेद के प्रामाण्य का प्रतिपादन असंगत है क्योंकि शान्ति, पुष्टि और अभिचार तो सामवेद, यजुर्वेद में भी उपलब्ध होते हैं। अतः जयन्त का कहना है कि अथववेद के प्रमाणत्व का अस्मदभिहित मत ही तर्कोपेत एवं ग्राह्य है। अथर्ववेद एवं अन्य वेदों के प्रामाण्य की तरह जयन्त स्मृतियों, विद्या स्थानों, इतिहास, पुराण, शैव तथा पाञ्चरात्र आगमों का प्रामाण्य भी स्वीकार करते हैं और साथ ही बौद्ध-जैनों तथा चार्वाकों के आगमों का अप्रामाण्य सिद्ध करते हैं।



---

१. तेन प्रमाणतायां वेदस्वाध्यायशब्दवाच्यत्वे, पुरुषार्थसाधनविधावपि चत्वारः समा वेदाः। —न्या० म०, भाग १, पृ० २३७

२. ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्।…आथर्वणं वेदमभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्तस्माच्छान्तात् तप्तात् सन्तप्तात् ओमिति मन एवोर्ध्वमक्षरमुदक्रामत्। —गो० ब्रा०, १।५

३. ओम् भूः स्वाहा, ओम् भुवः स्वाहा, ओम् स्वः स्वाहा। ये तीन महा व्याहृतियां हैं।

४. तथा महाव्याहृतीनां शाखान्तरप्रसिद्धानाम् अप्रसिद्धानां च बृहदित्यादीनां तत एवोत्थानम्। —न्या० म०, भाग १, पृ० २३७

षष्ठ अध्याय

पदार्थ बोध एवं पदार्थ विचार

वाक् की इकाई

हम यह देख चुके हैं[1] कि मानव के भाषायी व्यवहार का आधार वाक् या वह वैखरी वाणी है जो मनुष्य की प्राणवायु के रूप में मुखगुहा के विभिन्न अवयव संस्थानों के संस्कार लेकर व्यक्त रूप में मुख के बाहर आती है। उस व्यक्त वाणी के उच्चारण और श्रवण के द्वारा अपने अभीष्ट अर्थ को दूसरे तक पहुँचाने या दूसरे के अभिमत को जानने की प्रक्रिया भाषा व्यवहार है। वक्ता अपने अभीष्ट अर्थ को शब्दों द्वारा व्यक्त करता है और श्रोता शब्दों से अर्थ का ग्रहण करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जितने भी अर्थ हैं वे सब शब्द द्वारा वाच्य हैं और शब्द भी अर्थ प्रतीति का कारण बनते हैं। इस प्रश्न के औचित्य पर पहले भी हमने विचार किया है कि वाक् का वह कौन सा न्यूनतम रूप है जिससे हम अर्थ का ग्रहण कर सकते हैं? शब्द वर्णात्मा, पदात्मा, वाक्यात्मा आदि रूपों का होता है। शाब्द बोध कराने वाली भाषा की न्यूनतम इकाई वाक्य है। वाक्य के स्वरूप पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना जान लेना पर्याप्त है कि वाक्य एक पूर्ण अर्थ का कथन करने में समर्थ होता है, अतएव वह पद समूह जिससे एक पूर्ण अर्थ अभिव्यक्त हो, वाक्य कहलाता है। वाक्य से छोटी इकाई पद होता है। वाक्य पदों से मिलकर बनता है। पद भी अपना अर्थ स्पष्ट करने में क्षम हैं। पद में 'इस पद द्वारा यह अर्थ जानना चाहिये' इस रूप की ईश्वरेच्छा जिसे शक्ति या संकेत कहते हैं, समवेत होती है। पद श्रवण के अनन्तर श्रोता इस शक्ति के द्वारा पद से अर्थ का ग्रहण करता है। पदार्थ का वाक्यार्थ से यह भेद होता है कि पद का अर्थ पूर्ण एवं निराकांक्ष नहीं होता, अपितु वह साकांक्ष और अपूर्ण होता है। पद विभिन्न क्षणिक वर्णों से मिलकर बनता है। ये वर्ण अर्थ प्रत्यायक नहीं होते, अतएव वाक् की इकाई के रूप में वाक्य और पद का ग्रहण किया जाता है; क्योंकि वाक्य और पद ही अर्थबोधन में समर्थ होते हैं। वर्ण चूंकि अर्थ बोधन में अक्षम होते हैं, अतः वर्णों को वाक् की इकाई नहीं माना जाता।

---

१. इसी शोध प्रबन्ध के अध्याय ३ में 'शब्द का सामान्य स्वरूप' प्रकरण।

प्रस्तुत अध्याय में वर्णों की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए पद के अर्थ पर विचार करेंगे। वाक्य के अर्थ का निर्धारण अगले अध्याय में किया जायेगा। वाक्यार्थज्ञान पदार्थज्ञान के बिना सम्भव नहीं है, इसलिये इस अध्याय के अन्तर्गत पदार्थज्ञान एवं पदार्थविचार आवश्यक है।

वर्णों में वाचकता का अभाव :

जिस प्रकार पद में अर्थ बोधकता होती है, उस प्रकार वर्ण में अर्थ बोधकता नहीं होती। इसका कारण यह है कि अर्थबोधानुकूल शक्ति पदनिष्ठ होती है, वर्णनिष्ठ नहीं। अतएव वर्ण में अर्थबोधकता नहीं होती। यदि वर्णों को अर्थबोधक मानें भी, तो या तो कई वर्ण मिलकर अर्थबोध करायेंगे, या एक वर्ण अलग-अलग। व्यस्त वर्ण अकेला अर्थबोधक नहीं होता, क्योंकि 'ग' आदि वर्णों के श्रवण होने पर भी इससे किसी प्रकार का अर्थग्रह नहीं होता। वर्ण मिलकर भी अर्थबोधक नहीं होंगे, क्योंकि वर्ण आशु विनाशी हैं, अतएव कई वर्णों का एक काल में मेल ही सम्भव नहीं है।[1] यदि क्षणिक वर्णों का संग्रह माना भी जाय तो या तो एक व्यक्ति के वर्णों का समूह होगा या अनेक व्यक्तियों के वर्णों का समूह होगा। अनेक वक्ताओं के वर्णों का समूह कोलाहल के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा, जिसमें किन्हीं विशिष्ट वर्णों के समुदित स्वरूप की जानकारी भी नहीं हो सकती। एक वक्ता के द्वारा उच्चरित वर्ण क्रम से ही उत्पन्न हो सकते हैं, अतएव उनका समूह भी सम्भव नहीं है। क्रम से प्राप्त वर्णों में एक-एक वर्ण द्वारा जन्य अर्थप्रतीति का प्रसंग आता है, जो कदापि सम्भव नहीं है।[2] अतएव वर्ण वाचक नहीं हो सकते।

पद की अर्थवत्ता—शब्द नित्यत्ववादी मीमांसकों और स्फोटवादी वैयाकरणों का न्यायमत पर यह आक्षेप है कि अनित्य वर्णों के समूह में अर्थबोधकता की सामर्थ्य कभी सम्भव नहीं है। इनका मत है कि जो यह अनित्य वर्णों के समूह रूप में

---

१. ते हि वर्णाः गकारादयोऽर्थं प्रतिपादयन्तः समस्ताः प्रतिपादयेयुः व्यस्ताः वा, न तावद् व्यस्ताः एकैकवर्णाकर्णने सत्यप्यर्थप्रतीतेरनुत्पादात्, सामस्त्यं वर्णानां नास्त्येव।

—न्या० म०, भाग १, पृ० ३३७

२. प्रतीतिसामस्त्यं हि किमेकवक्तृप्रयुक्तानामुत नानापुरुषभाषितानाम्। तत्रानेकपुरुषभाषितानां कोलाहलस्वभावत्वेन स्वरूपमेव दुरवगमः, सत्यपि वा तथाविधे सामस्त्ये नास्त्येवार्थप्रतीतिः। एकवक्तृप्रयुक्तानां तु प्रयत्नस्थानकरणक्रमापरित्यागादवश्यम्भावी क्रमः। क्रमे च सत्येकैकवर्णकरणिकार्थप्रतीतिः प्राप्नोति न चासौ दृश्यत इति व्यस्तसमस्तविकल्पानुपपत्तेर्न वर्णाः वाचकाः।

—वही, पृ० ३३७

स्वीकार किया जाता है, वह पद ही स्वरूपतः अप्रतिष्ठित है, क्योंकि वर्ण आशुविनाशी होते हैं, अतः कई वर्णों की न तो एक साथ उपस्थिति सम्भव है और न ही उनकी उपलब्धि सम्भव है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा उपलब्धि के पूर्व शब्द की सत्ता में कोई प्रमाण भी नहीं है और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा एक क्षण में एक ही वर्ण सुना जा सकता है। अतः क्रमिक श्रवण ही सम्भव है।[1] इस क्रमिक श्रवण में पूर्व-पूर्व वर्णों का विनाश होता जाता है और उत्तरवर्ती आगन्तुक वर्णों का अभाव होता है, अतः किसी भी वर्ण के ग्रहण काल में केवल वह वर्ण मात्र गृहीत होता है, न कि पूरा वर्णसमूहभूत पद। इस प्रकार जब पद का प्रत्यक्ष ही नहीं होगा तो पद द्वारा अर्थबोधन कैसे होगा ? नैयायिकों का उत्तर यह है कि पद का प्रत्यक्ष और पद द्वारा अर्थबोधकता दोनों सम्भव है। जयन्त एक दृष्टान्त देकर यह बात सिद्ध करते हैं कि जिस प्रकार से तृप्ति रूप अर्थ अनेक ग्रासों के क्रमिक ग्रहण से उपलब्ध होता है, जबकि ये अनेक ग्रास एक साथ गृहीत नहीं हो सकते और न ही एक ग्रास से तृप्ति होती है, इसलिए यह सिद्ध होता है कि क्रमभावी ग्रासों का सामस्त्य भी सम्भव है, क्योंकि समस्त ग्रास मिलकर तृप्ति के कारण हैं।[2] या जिस प्रकार वैदिक यज्ञों में प्रधानयाग की अङ्गभूत क्रियाओं का सामस्त्य क्रमभाव से ही सम्भव है और ये समस्त अङ्गभूत क्रियायें मिलकर प्रधान क्रिया के रूप में जानी जाती हैं, जो अपूर्व की उत्पत्ति के प्रति कारण हैं, इसी प्रकार क्रमभावी वर्णों का सामस्त्य सम्भव है और समस्त[3] रूप में ये वर्ण पद की संज्ञा प्राप्त करते हुए शक्ति के आश्रय होने के कारण वाचक होते हैं। जहाँ तक पद के प्रत्यक्ष का प्रश्न है, वह तो क्रमभावी ही होता है, परन्तु पूर्व-पूर्व वर्णों के विनाश हो जाने पर भी उनके संस्कार कर्णदेश में रहते हैं और पद के अन्त्य वर्ण के श्रवणकाल में पूर्ववर्णों के संस्कार से सहकृत होकर अन्त्य वर्ण पूरे पद को उपलब्ध करा देता है। यही पद चूंकि शक्ति का आश्रय होता है, अतः पद से अर्थ का ज्ञान भी होता है। और इस प्रकार पद की वाचकता में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, अतः निष्कर्षरूप में पद वाक्य द्वारा अर्थबोधकता सिद्ध होती है।[4]

---

१. ननु व्यस्तसमस्तादिविकल्पैरुत्सादितं वर्णानां वाचकत्वम्, तत्सामस्त्यं नास्ति वर्णानां क्रमभावित्वादिति। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३४४

२. द्रष्टव्य —वही, पृ० ३४४।

३. एवं क्रमवर्तिनोऽपि वर्णा एवार्थाभिधायिनो भविष्यन्ति। —वही, पृ० ३४४-४५
अपि च, इत्थं सन्तानवृत्त्या च शब्दग्रहणसम्भवे।
कल्पनाऽल्पतराऽस्माकं न शब्दव्यक्तिवादिनाम्॥ —वही, पृ० २११

४. इति वितततया वर्णा एते धिया विषयीकृताम्।
दधति पदतां वाक्यत्वं वा त एव च वाचकाः॥—न्या० म०, भाग १, पृ० २५१

पद द्वारा अर्थबोध की उपपत्ति

पद का स्वरूप—वैयाकरण पाणिनि ने सुबन्त और तिङन्त को पद कहा है।[१] पाणिनि के इस द्विविध विभाजन का अनुसरण करते हुए जयन्त भट्ट ने नाम और आख्यात दो प्रकार के पद स्वीकार किया है। नाम और आख्यात से भिन्न पद स्वरूपों—उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय का जयन्त नाम में अन्तर्भाव करते हैं।[२] इस प्रकार नाम वे हैं जिनसे सुप् प्रत्यय लगते हैं और आख्यात वे हैं जिनसे तिङ् प्रत्यय लगते हैं। न्यायसूत्रकार का भी यही मन्तव्य है।[३] महर्षि अक्षपाद विभक्त्यन्त को पद कहते हैं और विभक्ति से उनका तात्पर्य नाम और आख्यात से लगने वाले सुप् और तिङ् प्रत्ययों से है। भाष्यकार के मत में उपसर्ग, निपात आदि भी विभक्त्यन्त ही हैं।[४] फिर भी विशेष शास्त्र व्यवस्था के कारण तत्तत् स्थलों में विभक्ति का अदर्शन होता है। तर्कसंग्रहकार ने शक्त को पद कहा है।[५] शक्त का अर्थ है वह वर्ण समूह जो शक्ति का आश्रय हो। शक्ति कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, वरन् पद का पदार्थ के साथ सम्बन्ध ही शक्ति है। इस प्रकार न्यायदर्शन में शक्ति के सहाय्य से पद द्वारा अर्थबोध स्वीकार किया गया है। पद का स्वरूप मुख्यतः व्याकरणदर्शन का विषय है। अतः यहाँ इसके विस्तार में न जाकर पद के अर्थ पर विचार करना अधिक न्यायसंगत होगा।

पद-पदार्थ-सम्बन्ध (शक्ति) के ग्रहण के साधन—पद पदार्थ के सम्बन्ध पर हम पीछे अध्याय ३ में विचार कर चुके हैं, अतः यहाँ पदार्थबोध के लिए उपयोगी संकेतग्रह के उपायों पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। पद का अर्थ केवल उन श्रोताओं द्वारा ही ग्रहीत होता है जो श्रूयमाण पद की वक्तुरिष्ट तदर्थविषया शक्ति का ग्रहण कर चुके हैं। वक्ता किसी विशेष अर्थ के लिए तद्-बोधकत्वानुकूल पद का उच्चारण करता है और श्रोता उस पद के श्रवण के बाद वक्तृतात्पर्यानुकूल अर्थ की बोधक शक्ति का पूर्व में ग्रहण होने के कारण उस अर्थ

---

१. सुप्तिङन्तं पदम्। अष्टा० १।१।१४

२. पदं च द्विविधं नाम आख्यातं च। उपसर्गनिपातकर्मप्रवचनीयानामपि नामान्तर्भावमाचक्षते। —न्या० म०, भाग १, पृ० २७१

३. ते विभक्त्यन्ता पदम्। —न्या० सू०, २।२।६०

४. द्रष्टव्य—न्या० भा०, २।२।६०

५. शक्तं पदम्। —त० सं०, पृ० ५०

अपिच, अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः। —त० दी०, पृ० ५०

का ज्ञान करता है। शक्तिग्रह के साधनों पर परवर्ती नव्य नैयायिकों ने विस्तार से विचार किया है, परन्तु जयन्त ने शक्तिग्रह के साधनों की अलग गवेषणा की उपेक्षा कर दी है। शक्तिग्रह के आठ हेतु कहे गये हैं जो इस कारिका में सङ्गृहीत हैं।

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, वृद्ध व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और सान्निध्य से वृद्ध लोग सिद्ध पदों का शक्तिग्रह कहते हैं। शक्तिग्रह के इन आठ उपायों में वृद्ध व्यवहार प्रमुख साधन है। जिससे व्यापक पैमानेपर शक्तिग्रह होता है। बाद में अध्ययन आदि के द्वारा व्याकरणादि भी शक्तिग्रह में सहायक होते हैं। पदार्थबोध पद-पदार्थ सम्बन्ध के ज्ञान के बिना असम्भव है और शक्ति या पदपदार्थ का ज्ञान अनुमान के बिना सम्भव नहीं है। अतएव शक्तिग्रह में अनुमान सहकारी कारण है।[1]

प्रयोजक वृद्ध द्वारा 'गामानय' आदि वाक्यों का उच्चारण करने पर प्रयोज्य वृद्ध द्वारा गवानयनानुकूल व्यापार देखकर तथा प्रयोजक वृद्ध द्वारा 'घटमानय' कहे जाने पर प्रयोज्यवृद्ध की घटानयनानुकूल क्रिया देखकर अव्युत्पन्न बालक 'आनय' पद से 'आनयनानुकूलव्यापार' या 'लाना' अर्थ का अनुमान करता है। इस प्रकार अज्ञ व्यक्ति आवापोद्वाप की इस प्रक्रिया द्वारा शक्ति का ज्ञान करता है।[2]

शक्तिग्रह के अन्य उपायों में से व्याकरण द्वारा धातुओं, विभक्तियों, कारकों और प्रत्ययों आदि के द्वारा व्यक्त शक्ति का ग्रहण करता है। गवय पद द्वारा गोसादृश पिण्ड विशेष रूप जो अर्थ ज्ञात होता है उसका कारण उपमान है। इसी तरह अमरकोश निघण्टुकोश भी पर्याय शब्दों आदि के द्वारा शक्तिग्रह कराते हैं। आप्तवाक्य भी शक्तिग्रह का कारण होता है—जैसे कोई आप्त पुरुष कहे 'कोकिलः पिकशब्दवाच्यः' तो यहाँ आप्त वाक्य के द्वारा पिक पद का कोकिल अर्थ से सम्बन्ध गृहीत होता है। वाक्यशेष द्वारा भी कभी-कभी शक्तिग्रह होता है, जैसे वेद में 'यवमयश्चरुर्भवति' यह श्रुति है। यहाँ यव पद का आर्य लोग दीर्घ-शूक वाले धान्य अर्थ में प्रयोग करते हैं और म्लेच्छ लोग कङ्गु अर्थ में यव पद का प्रयोग करते हैं। परन्तु "वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च

---

१. सां० त० कौ० प्र०, पृ० ११९ में संकेत ग्रह के लिए अनुमान के उपयोग पर लेखक द्वारा उपपत्ति प्रदर्शन।

२. प्रयोगप्रतिपत्तिभ्यां तद्वानर्थ इति स्थितिम्। —न्या० म०, भाग १, पृ० २९७

तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः" इस वाक्य से वाक्यशेष के द्वारा 'यव पद की दीर्घशूक में शक्ति है'—यह ज्ञान होता है। विवृति या विवरण के द्वारा घटः का कलशः या पचति का पाकं करोति—इत्यादि प्रकारक अर्थ में शक्तिग्रह होता है। सिद्ध पद की सन्निधि द्वारा भी शक्तिग्रह होता है जैसे—'इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' इस वाक्य में असिद्ध पद पिक का सिद्ध पद 'सहकारतरु' और 'मधुरं रौति' के सान्निध्य के कारण कोयल अर्थ में शक्तिग्रह होता है। कुछ लोग हाथ के इशारे को नवें प्रकार का संकेतग्रहसाधक मानते हैं। जैसे कोई व्यक्ति उँगली के संकेत से किसी अज्ञ को कहे 'इयं ते माता' तो वह बालक माता पद के अर्थ का ग्रहण कर लेता है और इस संकेत ग्रह का साधन हस्त सकेत बनता है।

जयन्त और शब्द शक्तियाँ

शब्द से अर्थ की अवगति मानने वाले सभी आचार्य शाब्दबोध में शक्ति को सहकारी कारण मानते हैं।[1] पद में समवेत रहने वाली और अर्थ की प्रकाशनानुकूल सामर्थ्य शक्ति कही जाती है।[2] इसी शक्ति को न्यायदर्शन में 'वृत्ति' कहा गया है। सामान्यतः शब्द-शक्तियों पर विचार करने वाले आलङ्कारिकों ने अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—तीन शब्द शक्तियाँ स्वीकार कीं। परन्तु नैयायिकों का आलङ्कारिकों से यहाँ मतभेद है कि नैयायिक शक्ति और लक्षणा केवल दो ही वृत्तियाँ स्वीकार करते हैं।[3] व्यञ्जना का स्वतन्त्र वृत्तित्व इन्हें स्वीकार्य नहीं है। भाट्ट मीमांसक भी व्यञ्जना को अलग वृत्ति नहीं मानते। परन्तु ये तात्पर्य को एक स्वतन्त्र वृत्ति मानते हैं।[4] अतः इनके मत में भी अभिधा लक्षणा और तात्पर्य तीन वृत्तियाँ हैं।

न्यायशास्त्र की प्राचीन परम्परा में शब्द शक्तियों पर विशेष विचार नहीं किया गया क्योंकि प्राच्य नैयायिकों का मुख्य प्रयत्न षोडशपदार्थों के वास्तविक स्वरूप का संरक्षण और प्रकाशन करने का था। नव्य न्याय की परम्परा में शब्दशक्ति पर भी स्वतन्त्र विचार किया गया। गंगेशोपाध्याय ने 'तत्त्वचिन्तामणि' के शब्दखण्ड में शक्तियों पर पृथक् विचार किया है। जगदीश ने शब्दशक्ति

---

१. पद ज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥ —कारि०, ८१

२. अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंकेतः शक्तिः। —त० सं०, पृ० ५०

३. वृत्तिर्नाम शक्तिलक्षणान्यतररूपा। —न्या० बो०, पृ० ५२

४. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्। —का० प्र०, २।६

पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' लिखा। इस प्रकार जहाँ एक ओर शब्द-शक्ति सम्बन्धी विवाद प्राच्य न्याय में अनावश्यक समझा गया, वहीं दूसरी ओर जयन्तभट्ट मुख्यतः शब्द प्रमाण के प्रामाण्य को पुनः स्थापित करने के लिये प्रयत्न-शील थे। इसलिये जयन्त ने शब्द के उन सभी पक्षों पर विचार किया जो शब्द की प्रामाण्यसिद्धि के आवश्यक थे और जहाँ समकालीन विरोधी दार्शनिकों बौद्धों और मीमांसकों से मतभेद था। इसलिये जयन्तभट्ट ने शब्दशक्तियों पर स्वतन्त्र विचार की उपेक्षा कर दी है।[1] परन्तु फिर भी उनकी 'न्यायमञ्जरी' के अन्यान्य सन्दर्भों से जयन्त का एतद्विषयक मत स्पष्ट हो जाता है।

न्याय परम्परा के अनुपालन में जयन्त ने भी अभिधा और लक्षणा दो ही वृत्तियाँ स्वीकार कीं। अभिधा वृत्ति तो शब्दगत मुख्यवृत्ति रही है। अतः इसकी स्वीकृति में सबका अविरोध है। जयन्त का मत है कि जिस पद के उच्चारण से नियमपूर्वक जो अर्थ उपस्थित होता अथवा समझा जाता है, वह उसका अभिधेयार्थ होता है।[2] जयन्त जहाँ पदार्थ और वाक्यार्थ पर विचार करते हैं वहाँ स्पष्टतः उनका तात्पर्य पद और वाक्य के जिस अर्थ से है, वह मुख्य और अभिधाजन्य अर्थ है।[3] न्यायमञ्जरी के एक प्रसंग में जयन्त लक्षणा को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं।[4] लक्षणावृत्ति शब्दगत गौण वृत्ति है। लक्षणा के विषय में जयन्त का कहना है कि वाक्यगत सभी पद निश्चिततया एक अर्थ को स्पष्ट करते हैं। परन्तु पद द्वारा सदा एक ही प्रकार का अर्थ प्रकाशित होगा—यह आवश्यक नहीं है। पद कभी अपना मुख्य अर्थ देते हैं और कभी अपना गौण अर्थ प्रस्तुत करते हैं। यदि वाक्य का मुख्य अर्थ अविरुद्ध और अबाधित हो, तब

---

१. अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते।
विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि ॥—न्या० म०, भाग १, पृ० ४५
अपि च—इतिप्रमाणत्वसमर्थनाय शब्दस्य किञ्चिद्वयमुक्तवन्तः।
पदाभिधेयार्थनिरूपणं तु शास्त्रान्तरे विस्तरतः प्रणीतम् ॥
—वही, पृ० १००

२. अयमस्य पदस्यार्थ इति केचित् स तेन वा।
योऽर्थः प्रतीयते यस्मात् स तस्यार्थ इति स्मृतिः ॥ —वही, पृ० २६६

३. इत्येवं लेशतस्तावन्नाम्ना वृत्तिरुदाहृता। —वही, पृ० २६८
अवधेय—न्या० म०, भाग १, पृ० २७१ से ३३६ तक पदार्थ और वाक्यार्थ का विवेचन है।

४. गङ्गायां घोष इत्यादौ यथा सामीप्यलक्षणा। —वही, पृ० २६७

सभी पदों में अभिधा शक्ति की अवस्थिति माननी चाहिये, परन्तु यदि वाक्य के मुख्यार्थ की अन्वर्थता में बाधा पड़ती हो, तब निश्चित ही गौणी वृत्ति या लक्षणा वृत्ति द्वारा पदों के अर्थ का ग्रहण करके वाक्यार्थबोध की उपपत्ति की जाती है। अतएव एक ही पद भिन्न अर्थों की प्रस्तुति में भिन्न-भिन्न प्रकार से निमित्त होता है। अभिधेय अर्थ में जो पद अभिधावृत्ति निष्ठ होकर निमित्त होता है, वही पद लक्ष्यार्थ में लक्षणा वृत्तिनिष्ठ होकर निमित्त बनता है।[१] 'सिंह: बने प्रतिवसति, में सिंह शब्द से सिंहनी पुत्र, हिंस, शूर, क्रूर, वन्य जन्तु विशेष का अर्थ ज्ञात होता है जो सिंह शब्द का मुख्यार्थ है; परन्तु 'सिंहो माणवकः' या 'सिंहो देवदत्तः' आदि में सिंह शब्द से शूरत्व, क्रूरत्वादि धर्मविशिष्ट देवदत्त अर्थ का ज्ञान होता है। यहाँ पर सिंह शब्द से इसका मुख्य अर्थ अभिप्रेत नहीं है, अतः मुख्यार्थ बाध होने के कारण सिंह का गौण अर्थ शब्दनिष्ठ लक्षणावृत्ति द्वारा गृहीत हुआ।[२] इसी प्रकार 'गङ्गायाम्' पद मुख्यवृत्ति से अधिकरणत्व प्रकाशित करता है, परन्तु यही 'गङ्गायाम्' पद 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा का अधिकरणत्व नही बताता क्योंकि गङ्गा का जल-प्रवाह कभी घोष (अहीरों की बस्ती) का अधिकरण नहीं हो सकता। अतएव मुख्य अर्थ के बाधित हो जाने से लक्षणा वृत्ति द्वारा गङ्गा तट अर्थ लक्षित होता है।[३] आचार्य जयन्त ने वाक्य में कुछ शब्दों के अदर्शन को भी स्वीकार किया है। जहाँ मुख्यवृत्ति द्वारा अर्थ का प्राकट्य न हो रहा हो, वहाँ निश्चित रूप से कोई पद अदृष्ट है, जिससे अर्थ के अन्वय में बाधा पड़ती है। अतः जयन्त का कहना है कि वाक्य से अर्थ का ग्रहण करते समय वाक्यगत दृष्ट और अदृष्ट सभी पद मिलकर अर्थाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। साथ ही वाक्यगत सभी पद स्वनिष्ठ मुख्य या गौण वृत्ति द्वारा वाक्य के सम्पूर्ण अर्थ को स्पष्ट करने में समर्थ होते हैं।[४] यहाँ वाक्यगत सभी पदों से तात्पर्य दृष्ट एवं अदृष्ट पदों से है। इस प्रकार शब्द की सामर्थ्य केवल दो ही प्रकार की होती है—ऐसा जयन्त का मन्तव्य है।

---

१. सत्यपि सर्वत्र शब्दव्यापारे तत्प्रकारभेदोपपत्तेरेष न दोषः, नहि पदानां सर्वात्मना निमित्तभावमपहायैव नैमित्तिकप्रतीतिरुपप्लवते, तदपरित्यागाच्च तत्स्वरूप वैचित्र्यमनुवर्त्तत एव। —न्या॰ म॰, भाग१, पृ॰ ४४

२. अन्यथा सिंहशब्देन मतिः केसरिणीसुते।
अन्यथा देवदत्तादौ प्रतीतिरुपजन्यते॥ —वही, पृ॰ ४४

३. गङ्गायां मज्जतीत्यत्र गङ्गाशब्दो निमित्तताम्।
उपयाति यथा नैवं घोषादिवसतौ तथा॥ —वही, पृ॰ ४४

४. अखण्डमण्डलत्रिध्यन्तकाण्डप्राप्तेः।
न हृयशांशिकया चोदकः प्रवर्त्तते॥ —वही, पृ॰ ४५

व्यञ्जना का खण्डन :

शब्द की इस द्विविध सामर्थ्य से भिन्न अन्य किसी सामर्थ्य या वृत्ति को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। चूंकि वाक्यगत सभी पद अपना पूर्ण अर्थ स्पष्ट करने में इसी द्विविध शब्द-सामर्थ्य से ही समर्थ हो जाते हैं, अतः मुख्य और गौण अर्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को स्पष्ट करने के लिए व्यञ्जना को अलग वृत्ति नहीं स्वीकार करना चाहिये। आलङ्कारिकों की व्यञ्जना वृत्ति को ही ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि शब्द से अभिहित किया है।[1] आचार्य जयन्त ने उक्त शब्दसामर्थ्य से[2] वाक्यार्थोपपत्ति हो जाने के कारण व्यञ्जना और ध्वनि दोनों का इसी हेतु से निषेध कर दिया। व्यञ्जनावादी और ध्वनिवादी आचार्य यह हेतु देते हैं कि कभी-कभी वाक्य अपने पदों द्वारा अभिधेय अर्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को स्पष्ट करता है जिससे अभिधा और लक्षणा से भिन्न एक स्वतंत्र शब्द सामर्थ्य स्वीकार की जानी चाहिये।[3] जैसे 'भम धम्मिअ वीसत्थो'[4] आदि का मुख्यार्थ विधिपरक है, परन्तु इससे एक अन्य प्रतीयमान अर्थ की ध्वनि निकलती है जो निषेध परक है। वाक्य में यद्यपि धार्मिक को भ्रमण हेतु प्रेरित किया गया है, परन्तु वाक्य का व्यङ्ग्यार्थ भ्रमणनिषेध परक है।[5] इसी प्रकार कभी-कभी निषेध परक अर्थ वाले वाक्य के द्वारा विधि की ध्वनि प्राप्त होती है। जैसे— 'मा स्म पान्थ ! गृहं विश'[6] में पथिक को गृह-प्रवेश के लिए निषिद्ध किया गया है,

---

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ —ध्वन्या०, १।४

२. एतेन शब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः।
यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम् ॥—न्या० म०, भाग १, पृ० ४५

३. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ —ध्वन्या०, १।१३

४. भम धम्मिअ ! वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअ सीहेण ॥
—गाथा सप्त०, २।७५

५. अत्र विश्रब्धो भ्रमेति विधिवाक्ये तत्र निकुञ्जे सिंहस्तिष्ठति त्वं च शुनोऽपि बिभेषि तस्मात् त्वया तस्मिन् न गन्तव्यमिति निषेधः प्रतीयते।
—काव्यानु०, १।१९

६. तरुण्येकाऽहमेवास्मि सार्धं श्वश्रुतिहीनया।
श्वश्रूवा चिरगतो भर्त्ता मा स्म पान्थ गृहं विश ॥
—द्रष्टव्य—न्या० म० ग्रं० भ०, पृ० ३३

परन्तु इससे एक अन्य विधिपरक अर्थ भी ध्वनित होता है कि पथिक घर में अवश्य प्रवेश करो। इस प्रकार इस ध्वनित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की अन्यथा उपपत्ति न होने से व्यञ्जना को स्वतंत्र वृत्ति माना गया है।'[1] परन्तु जयन्त उक्त द्विविध-शब्द-सामर्थ्य द्वारा ही अर्थ की उपपत्ति सिद्ध करते हैं। ध्वनिवादी आचार्य व्यङ्ग्यार्थ को अशाब्द मानते हैं, जबकि जयन्त वाक्य से स्पष्ट होने वाले प्रत्येक अर्थ का आधार वाक्यगत पदों को ही मानते हैं।[2] जयन्त का अभिमत है कि शाब्दबोध में वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान मुख्य कारण होता है, अतएव वक्तृतात्पर्य की निर्णय-वेला में अर्थ का निर्णय एवं उपपत्ति हो जाती है।[3] वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। वाक्यगत शब्द चूँकि वक्ता के तात्पर्य का ही उपदेश करते हैं और वक्तृ-तात्पर्य शब्द के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण से भी जाना जा सकता है। अतः अनुमानगम्य वक्तृतात्पर्य द्वारा वाक्यार्थ की उपपत्ति हो जाती है।[4] जिस प्रकार से 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में गङ्गायाम् पद से प्रवाह रूप अभिधेयार्थ के आधारत्व की अनुपपत्ति होने के कारण प्रमाणान्तरगम्य वक्तृतात्पर्य के अनुकूल तट रूप अर्थ में शब्द का व्यापार पर्यवसित होता है, उसी प्रकार 'भम धम्मिअ वीसत्थो' आदि में यद्यपि अभिधान शक्ति विधि-पर्यवसायिनी है, फिर भी तात्पर्य के पर्यवसित न होने के कारण और विधिपरक अर्थ में पदार्थों का अन्वय समुचित न होने के कारण 'मा भ्रमीः' एतद्रूप निषेध में वाक्यार्थ का पर्यवसान होता है।[5]

---

१. विधिनिषेधयोश्च युगपद् वाच्यदशोपारोहाऽसंभवादेकस्य वाच्यत्वमपरस्य प्रतीयमानत्वम्। —न्या० म० ग्र० भ०, पृ० ३३

२. युक्तं च प्रतीयमानार्थप्रतिपत्तेः शाब्दत्वमेव अन्यथेदृशमर्थमवगम्य प्रतिपत्तुः 'उत्प्रेक्षितो मयाऽयमर्थो न तु शब्दात् प्रतिपन्नः' इति प्रतीतिः स्यात्, अस्ति च शाब्दत्वेन प्रतीतिः, अतः शाब्द एवायम्। —वही, पृ० ३४

३. शाब्दबोधे हि तात्पर्यज्ञानमेव मुख्यं कारणम्। तात्पर्यनिर्णयवेलायामेव अर्थो निर्णीत एव। तत्प्रतिपादनाच्च शब्दानां तावदर्थबोधकत्वं शक्त्या लक्षणया वा अङ्गीकरणीयमेव। —न्या० म० पर न्यायसौरभ, पृ० १२९-३०

४. मानान्तरपरिच्छेदवस्तुरूपोपदेशिनाम्।
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० ४५

५. यथा 'गङ्गायां घोषः' इति लक्षणायां स्रोतोरूपस्यार्थस्याधारत्वानुपलम्भाद् प्रमाणान्तरानुगुण्येन तटप्रतिपादन एव पर्यवस्यति शब्द-व्यापारः, एवमत्र यद्यपि विधावभिधानशक्तिः पर्यवसिता तथापि तात्पर्यशक्तेरपर्यवसानाद् विधौ च पदार्थान्वयाद् मा भ्रमीरिति निषेध एवं झगिति वाक्यार्थतयाऽवभासते। —न्या० म० ग्र० भ०, पृ० ३३

यहाँ यद्यपि कुत्ते के मारे जाने से भय निवृत्ति करके भ्रमण का ही विधान किया गया है, परन्तु यह विधान दर्पयुक्त सिंह की वर्तमानता में और अधिक भय के प्राप्त होने के कारण वाक्यार्थ नहीं हो सकता, अपितु उसका निषेध ही वाक्यार्थ होगा।[1] अतएव यहाँ विपरीत लक्षणा द्वारा भ्रमण-निषेध अर्थ ही उपपन्न होता है।[2] इसी प्रकार 'मा स्म पान्थ गृहं विश' में प्रवेश निषेध के प्रति जिन कारणों को उपन्यस्त किया गया है, वे विरुद्ध होने के कारण विधि में हो पर्यवसित होते हैं, इसलिए इसका अर्थ विपरीत लक्षणा द्वारा निषेध न होकर विधिपरक होगा।[3] विपरीत लक्षण का वृत्तित्व आलङ्कारिक भी मानते हैं।[4] अतएव अनुमानगम्य वक्तृतात्पर्य विशिष्ट अर्थ का उपदेश करने वाले शब्दों की विपरीत लक्षणा के प्रसग में भी लक्षणाद्यात्मक व्यापार समाश्रय रूप उसी प्रकार से सामर्थ्य होती है। अतएव व्यञ्जना वृत्ति या ध्वनि को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं हैं।

---

१ ततोऽत्र यद्यपि श्वव्यापादनोपन्यासेन भयनिवृत्तिं कृत्वा भ्रमणमेव विधीयते तथापि दृप्तपदविशेषितसिंहपदार्थपर्यालोचनायां सदर्पपञ्चाननबाधितश्व-प्रतिपादनेन सुतरां भयहेतूपन्यासात् विरुद्धकारणोपलम्भात् भ्रमणविधिर्न वाक्यार्थतामुपगन्तुमलम्, प्रत्युत तन्निषेधस्यैवोद्भूतनिमित्तत्वमिति तस्यैव वाक्यार्थतोपारोहः। —न्या० म० ग्र० भ०, पृ० ३३

२. यद्यपि सक्षाल्लोटाप्रतिपाद्यमानो विधिः श्रूयते, तथाप्यनन्वयबलाद् भ्रमेत्यनेन विपरीतलक्षणया भ्रमणनिषेध एव प्रतिपाद्यते। —वही, पृ० ३३

अपि च, साहित्यदर्ण ४।३ में एतद्विषयक नैयायिक मत का खण्डन इस प्रकार किया गया है—"अत्र भ्रम धार्मिकेत्यतो भ्रमणस्य विधिः प्रकृते अनुपयुज्यमानतया भ्रमणनिषेधे पर्यवस्यतीति विपरीतलक्षणाशङ्का न कार्या। विधिनिषेधावुत्पाद्यमानावेव निषेधविध्योः पर्यवस्यतः तत्रैव तदवसरः। यत्र पुनः प्रकरणादिपर्यालोचनेन विधिनिषेधयोर्निषेधविधी अवगम्येते तत्र ध्वनित्वमेव।

३. पान्थ मा मे गृहं विशेत्यत्र निषेधं प्रति कारणोपन्यासो यः कृतः स विरुद्धत्वात् विधिमेव पर्यवस्थापयतीति विधिरेव वाक्यार्थः। —न्या०म० ग्र०भ०, पृ० ३४

४. आचार्य मम्मट ने 'शब्द व्यापार विचार' में लक्षणा के निमित्तभूत ५ सम्बन्धों में वैपरीत्य सम्बन्ध का ग्रहण किया है तद्यथा—

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥
वैपरीत्याद् यथा कातरे भार्गव इति। —शब्द व्यापार० पृ० ३०

जयन्त और तात्पर्य शक्ति :

पदनिष्ठ अभिधा और लक्षणा शक्तियों के अतिरिक्त जयन्त ने पद में तात्पर्य शक्ति स्वीकार किया है। इस तात्पर्य-शक्ति का उपयोग पदार्थबोध में न होकर वाक्यार्थ बोध में होता है।[1] वस्तुतः आचार्य जयन्त न तो भाट्ट मीमांसकों नैयायिकों एवं वेदान्तियों को अभिमत अभिहितान्वयवाद को शाब्दबोध के सम्बन्ध में स्वीकार करते हैं और न ही अन्विताभिधानवाद को। शाब्दबोध के सन्दर्भ में पदार्थों का अन्वय किसी न किसी रूप में सभी सखण्ड–वाक्यवादियों को अभीष्ट है। आचार्य जयन्त संसृष्ट पदार्थों को वाक्यार्थ मानते हैं। अभिहितान्वयवादी नैयायिकों के अनुसार पदार्थों का संसर्ग, ससर्ग-मर्यादा से होता है और भाट्टों के अनुसार पदगत लक्षणा शक्ति से अभिहित पदार्थों का संसर्ग होता है। गुरुमत में पद की अभिधा शक्ति द्वारा ही इतरेतरान्वित पदार्थों का अभिधान होता है। वैयाकरणों के अनुसार अखण्ड वाक्य से अखण्ड प्रतिभा वाक्यार्थ का बोध होता है, जहाँ पदार्थों के संसर्ग की आवश्यकता ही नहीं होती। इस प्रकार पदार्थों में संसर्ग मानने वाले दार्शनिकों ने संसर्ग की प्रतीति अभिधा या लक्षणा द्वारा ही स्वीकार किया है। परन्तु भारतीय दर्शन के इतिहास में जयन्तभट्ट पहले ऐसे दार्शनिक हैं जिन्होंने पदार्थ-संसर्ग को स्वीकार करते हुए भी संसर्ग प्रतीति के लिए अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों का खण्डन किया है और पदार्थों का संसर्ग पद की तात्पर्य शक्ति से स्वीकार किया है।[2] आचार्य जयन्त का कहना है कि पद की अभिधा शक्ति केवल पदार्थ का ज्ञान कराती है और पदार्थों के संसर्ग का ज्ञान पदों की तात्पर्य शक्ति से होता है।[3] आचार्य जयन्त का अपना शाब्दबोध सिद्धान्त संहत्यकारितावाद कहा जाता है जिसका अर्थ यह है कि पद मिलकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। संसर्ग का बोध अभिधा-शक्ति से न होकर सम्मिलित पद रूप वाक्य से पदों की तात्पर्यशक्ति से होता है। वाक्यार्थ बोध में पदार्थ बोध अवान्तर व्यापार है जो पदों की अभिधा शक्ति से सम्पन्न होता है, जबकि पदों की तात्पर्य शक्ति से पदार्थों का अन्वित रूप में ज्ञान होता है। इस प्रकार शाब्दबोध में तात्पर्य शक्ति प्रधान कारण है।

---

१. पदानां द्वयी शक्तिरभिधात्री तात्पर्यशक्तिश्च। तत्राभिधात्री शक्तिरेषां पदार्थेषूपयुक्ता तात्पर्यशक्तिश्च वाक्यार्थे पर्यवस्यतीति।

—न्या० म०, भाग १, पृ० ३५८

२. द्रष्टव्य—न्या० म०, भाग १, पृ० ३६४-३७२।

३. अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठता।
तेषां तात्पर्यशक्तिस्तु संसर्गावगमावधिः॥ —वही, पृ० ३७२

इस तात्पर्य शक्ति को अनेक विद्वानों ने भ्रमवश मीमांसकों द्वारा स्वीकृत माना है,[१] जबकि यह धारणा बिलकुल गलत है।[२] अभिहितान्वयवादी भाट्ट-मीमांसक स्पष्टतः लक्षणा शक्ति द्वारा संसर्ग का बोध स्वीकार करते हैं।[३] तात्पर्य शक्ति का प्रयोग सर्वप्रथम जयन्त ने किया। जयन्त से प्रभावित होकर परवर्तीकाल में अभिनव गुप्त एवं भोज आदि आलंकारिकों ने अभिहितान्वय मत का तिरस्कार करके तात्पर्यवृत्ति से ही वाक्यार्थबोध स्वीकार किया है।

सभी नैयायिकों एवं मीमांसकों को आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि वाक्यार्थ बोध के सहकारी कारण के रूप में अभिमत हैं। कुछ परवर्ती आचार्यों ने आकांक्षादि की तरह तात्पर्य ज्ञान को भी शाब्दबोध का कारण माना है। वक्तुरिच्छा रूप वाला तात्पर्य वस्तुतः वाक्यार्थ का स्वरूप है, उसका सहकारी कारण नहीं। परन्तु शाब्दबोध के सहकारी कारण आकांक्षादि का नियमन करने के कारण तात्पर्य ज्ञान को भी वाक्यार्थ बोध के लिये आवश्यक माना जाता है। भाट्ट मत से तात्पर्यज्ञान आकांक्षादि का नियामक होते हुए भी शाब्दबोध का सहकारी कारण नहीं है, जबकि जयन्तभट्ट ने वक्तृतात्पर्य को ही पदों में समवेत तात्पर्य वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है, जो वाक्यार्थबोध के लिए आवश्यक है; साथ ही वाक्यार्थबोध का सहकारी कारण भी है।

पदार्थ विचार

पद द्वारा अर्थबोध की उपपत्ति पर विचार करने के बाद अब मुख्य प्रकृत समस्या पर विचार करना चाहिये। मुख्य समस्या है—पद का अर्थ क्या है? इस प्रश्न के अनेक समाधान अलग अलग दार्शनिक प्रस्थानों में प्रस्तुत किये गये हैं।[४] न्यायसूत्रकार ने अपने से पूर्व प्रचलित तीन प्रमुख पदार्थवादियों का परिचय दिया

---

१. (क) केषुचित् अभिहितान्वयवादिभट्टेषु इति अर्थः।

—का० प्र०, २।६ पर संकेत टीका

(ख) अभिहितान्वयवादिनामिति ...... भाट्टमीमांसकानामित्यर्थः।

—का० प्र०, २।६ पर बाल बोधनी।

2. Indian Theories of Meaning, —Page 219

३. तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षाद् वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु।
पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत्॥

—न्या० र० मा०, भाग १, वाक्यार्थनिर्णयकाण्ड, ४३

४. पदार्थ के रूप में जाति, आकृति, व्यक्ति, अपोह जैसे विकल्प विभिन्न दार्शनिकों द्वारा रखे गये हैं।

है।[1] सर्वदर्शन संग्रहकार का मत है कि पाणिनि पूर्ववर्ती आचार्य व्याडि पद का अर्थ व्यक्ति मानते थे और वाजप्यायन पद का अर्थ जाति मानते थे।[2] इस प्रकार पद के अर्थ के विषय में वैमत्य की परम्परा पर्याप्त प्रचीन है। सांख्यों के मत में व्यक्ति को पदार्थ माना गया है, जबकि जैन आकृति को पदार्थ कहते है। मीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती जाति को पदार्थ मानते हैं। वैयाकरण जाति और व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानते हैं। प्राच्य न्याय के आचार्य भीं व्यक्ति आकृति और जाति तीनों को पदार्थ मानते हैं।[3] भर्तृहरि आदि स्फोटवादियों के मत में शब्द और अर्थ में अभेद है। जिस प्रकार अक्षर शब्द तत्त्व स्कोट शब्द ब्रह्म है, उसी प्रकार पद का अर्थ भी महासत्ता या ब्रह्म है क्योंकि भतृहरि सभी पदों का अर्थ सत्ता मानते हैं।[4] बौद्धों के मत में पद का अर्थ अपोह है।

इस प्रकार की उलझी हुई स्थिति वाले पदार्थवाद पर जयन्त ने समय और शास्त्र की मांग के अनुकूल बड़ा ही प्रतिभापूर्ण समाधान प्रस्तुत किया है जो नव्यन्याय के लिए पदार्थ विषयक मान्यता का आधार बन गया। नव्य नैयायिक जाति-विशिष्ट-व्यक्ति को पदार्थ सिद्ध करते हैं, परन्तु इस व्यक्ति प्रधान पक्षक समुदितपदार्थवाद की प्रथम प्रस्तुति न्यायशास्त्र के इतिहास में जयन्त ने की। जयन्त प्रधानतः व्यक्ति को पदार्थ मानते हैं, परन्तु यह पदार्थ भूत व्यक्ति जाति और आकृति से युक्त होता है।[5]

जयन्त पद के अर्थ के सन्दर्भ में केवल संज्ञा पदों के अर्थ पर विचार करते हैं और आख्यात पदों के अर्थ पर विचार वे वाक्यार्थ के प्रसंग में करते हैं। ये संज्ञा पद ४ प्रकार के होते हैं—जातिपद, गुणपद, द्रव्यपद, क्रियापद। शब्द के ये भेद प्रवृत्तिनिमित्त में भेद पड़ने के कारण होते हैं। यथा जो शब्द जाति की प्रवृत्ति का

---

१. व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात् संशयः। —न्या० सू० २।२।६१

२. द्रष्टव्य—स० द० सं०, पृ०, ६१०–६१२

३. व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। —न्या० सू०, २।२।६८

४. सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दाः व्यवस्थिताः॥
तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः॥ —वाक्य० ३।१।३३-३४

५. प्रयोगप्रतिपत्तिभ्यां वृद्धेभ्योऽवसीयते।
तस्माद् गावादिशब्दानां तद्वानर्थ इति स्थितम्॥
—न्या० म०, भाग १, पृ० २९७

कारण बनता है वह जाति होता है, जो गुण या संज्ञा या क्रिया की प्रवृत्ति का कारण होता है, वह शब्द गुण, संज्ञा या क्रिया होता है जैसे। गौः, शुक्लः, डित्थः, चलः। एक ही गाय अर्थ पर ये चारों शब्द प्रयुक्त होते हैं। गाय व्यक्ति के गोत्व विशिष्ट होने के कारण जाति की विवक्षा में उसे गौः कहते हैं। उसी गाय व्यक्ति में उसके गुण को जानकर शुक्लः शब्द का प्रयोग होता है। उसके डित्थ आदि नाम की विवक्षा में उसी गाय व्यक्ति में डित्थः संज्ञा की प्रवृत्ति होतो है। संज्ञा शब्द (व्यक्ति के अभिधान बाचक शब्द) को ही द्रव्य शब्द भी कहते हैं। उसी ग.य व्यक्ति में चलन क्रिया देखकर चलः क्रियाशब्द की प्रवृत्ति होती है। शब्द के इस चतुर्विधत्व के कारण ही पद के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद उत्पन्न हुआ है। अब हम क्रमशः प्रत्येक मत का परीक्षण करेंगे।

(१) जातिपदार्थवाद :

वैयाकरण वाजप्यायन, मीमांसक तथा अद्वैतवेदान्त में पद का अर्थ जाति को माना गया है। मीमांसासूत्रकार जैमिनि ने आकृतिवाद के पक्ष में व्यक्ति-वाद का कठोरता से खण्डन किया है और शबर ने इस तथ्य का समर्थन किया है। कुमारिल के अनुसार आकृति शब्द से यहाँ तात्पर्य जाति से है।[1] मीमांसकों के अनुसार पद प्रत्यक्षतः जाति का विषय बनता है और परोक्षरूप से जाति के माध्यम से व्यक्ति को भी प्रकाशित करता है।[2] अनेक गोव्यक्तियों में समवेत गोत्व जाति भी गो पद की प्रवृत्ति का निमित्त है और यही गो पद का अर्थ है। अन्य गुणशब्द, द्रव्य शब्द और क्रिया शब्द भी जाति से अनुगत हैं। अतः यह जाति ही वाच्यार्थ है। व्यक्ति आकृति आदि पद के वाच्यार्थ नहीं हो सकते। मीमांसक यह मानते हैं कि पद और पदार्थ के मध्य नित्य सम्बन्ध होता है।[3] परन्तु यदि व्यक्ति या आकृति को पदार्थ मान लिया जाय तो शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता बाधित हो जायेगी, क्योंकि सम्बन्ध की नित्यता के लिये दोनों

१. जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यया।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ॥ —श्लोक वा०, आकृति २-३

२. भाट्टमते तु जातिरेव शक्या लाघवात्। व्यक्तिस्तु आक्षेपलभ्या।
—तत्त्व० पृ० ५७८

३. यदि ह्याकृतिव्यतिरिक्ता व्यक्तय एव शब्दार्थाः स्युः, ततस्ताभिर्व्यभिचारात् सम्बन्ध एव शब्दस्य सिध्यति, नतरां नित्यत्वम्। आकृतिवाच्यत्वे तु क्वचित् तथैव क्वचित् तद्विशिष्टेनार्थान्तरेण सिध्यति शब्दस्य सम्बन्धो नित्यता चेति प्रयोजनवत् तद्वाच्यत्वप्रतिपादनमिति। —न्याय रत्नाकर, पृ० ३८५

सम्बन्धियों की नित्यता भी आवश्यक है। शब्द नित्य होता है, अतः शब्द का अर्थ भी नित्य होना चाहिये। व्यक्ति और आकृति दोनों ही अनित्य हैं, अतएव नित्य जाति ही पद का अर्थ होगी। पदार्थ विचार के प्रसंग में मीमासकों ने जहाँ भी आकृति शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ इसका तात्पर्य नित्य जाति से है।

जाति विरोधी मत :

क्षणभङ्गवादी बौद्ध किसी भी अर्थ की नित्यता नहीं स्वीकार कर सकते, अतः बौद्धों ने मीमांसकों और न्याय-वैशेषिक को अभिमत जाति पदार्थ का खण्डन किया है। जाति का पदार्थान्तरत्व न केवल मीमांसा में ही स्वीकृत है, अपितु न्याय और वैशेषिक में भी जाति की सत्ता स्वीकार की गयी है। जाति की सत्ता स्वीकार करने का आधार है—सदृशप्रत्यय।[1] अनेक व्यक्तियों में होने वाली एकाकारता की प्रतीति का हेतु उन व्यक्तियों में समवेत नित्य जाति है। अतः न्याय दर्शन में जाति उसे माना गया है जो नित्य हो और अनेकों में समवेत हो।[2] जाति को पृथक् पदार्थ मानते हुए भी नैयायिक मीमांसकों की तरह पद का अर्थ स्वतन्त्र रूप से जाति को नहीं मानते, अतः पद के अर्थ के रूप में जाति की स्वीकृति पर नैयायिकों का मीमांसकों से विरोध है।

बौद्धों ने 'यत्सत् तत्क्षणिकम्' के सिद्धान्त को अबाधित रखने के लिये जाति की सम्भावना को ही नकार दिया। जाति को न स्वीकार कर सदृश-प्रत्यय की उपपत्ति बौद्धों के लिये एक समस्या थी। इसलिये विभिन्न क्षणिक व्यक्तियों में जो सदृश-प्रत्यय होता है, बौद्ध उसका कारण अतद्-व्यावृत्ति या अपोह को मानते हैं। अपोह या अतद्व्यावृत्ति का अर्थ है—तद्भिन्न भिन्न अर्थात् समस्त घटों में जो एकाकारता का ज्ञान होता है, उसका कारण यह है कि प्रत्येक घट घटभिन्न सभी पदार्थों से भिन्न है।[3] इस प्रकार सदृशज्ञान का कारण कोई भावात्मक पदार्थ नहीं है, अपितु अभावात्मक कल्पना है। दिङ्नाग के अनुसार शब्द, सम्प्रत्यय और नाम किसी वस्तु के अस्तित्व का बोध नहीं कराते। इस प्रकार शाब्दबोध के लिये उपयोगी पदार्थबोध एक कल्पना है और मिथ्या है।

---

१. स्वविषयसर्वगतमभिन्नमनेकवृत्ति एकद्विबहुष्वात्मस्वरूपानुगमप्रत्ययकारि स्वरूपाभेदेनाधारेषु प्रबन्धेन वर्तमानमनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्।

—प्र० पा० भा०, पृ० २७६

२. तल्लक्षणं तु नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्। —न्या० सि० मु०, पृ० ४४

३. अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्।

गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्फुटम्॥ —श्लोक वा०, अपोह० १

शब्द का अर्थ अपोह है ।[१] हम मिथ्या धारणावश यह सोचते हैं कि शब्द से किसी वस्तु का बोध होता है । वस्तुतः शब्द सम्प्रत्यय और नाम प्रतिषेधमूलक हैं और किसी वस्तु के अस्तित्व का संकेत उस वस्तु से भिन्न वस्तुओं का निषेध करके करते हैं ।[२] उदाहरण के लिये जब हम 'गौः' शब्द कहते हैं तो उससे गाय अर्थ का बोध नहीं होता, प्रत्युत अगाय के प्रतिषेध का बोध होता है, जिसे अनगाय के के रूप मे समझना चाहिये । जिनेन्द्र बुद्धि के अनुसार अपोह का अर्थ प्रत्येक सत्ता का निषेध नहीं है, क्योंकि यह बुद्धि के द्वारा कल्पित मानसिक प्रतिबिम्ब का निषेध करता है । अपोह अपने आधारभूत स्वलक्षण का निषेध नहीं करता ।[३] शान्तिरक्षित और कमलशील भी जितेन्द्रबुद्धि के इस मत का समर्थन करते हैं । उनके अनुसार एक अपोह उदाहरण के लिए गाय का तत्त्व, एक दूसरे अपोह जैसे अश्व तत्त्व से भिन्न है ।[४] कमलशील के मत में वस्तु का मानसिक प्रतिबिम्ब अपोह का मुख्य अर्थ है और अन्य वस्तुओं के मानसिक प्रतिबिम्बों की व्यावृत्ति उसका गौण अर्थ है ।[५] रत्नकीर्ति के अनुसार अपोह के किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब की विध्यात्मक सत्ता और अन्य वस्तुओं के प्रतिबिम्बों के निषेध का बोध एक साथ होता है ।[६]

बौद्धों के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से भिन्न है । ऐसी कोई भी दो वस्तुये नहीं बताई जा सकतीं, जो पूर्णतया एक रूप हों । किन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा एक दूसरे से अधिक मिलती-जुलती हैं । हम इन वस्तुओं की अन्य वस्तुओं से तुलना करते हैं, तो हमें ऐसा प्रतीत

---

१. स एव च तदाकारशब्दार्थोऽपोह उच्यते । —तत्त्व०, भाग १, १०२४

२. तत्र सामान्यवचना उक्ताः शब्दा घटादयः ।
विजातीयव्यवच्छिन्नप्रतिबिम्बैकहेतवः ॥ —वही, १०३०

३. द्रष्टव्य — Buddhistic Logic.—P. 461-70

४. यद्यप्यव्यतिरिक्तोऽयमाकारो बुद्धिरूपतः ।
तथापि बाह्यरूपत्वं भ्रान्तैस्तस्यावसीयते ॥ —तत्त्व० भाग १-१०२६

५. प्रतिबिम्बलक्षणोऽपोहः साक्षाच्छब्दैरुपजन्यमानत्वात् मुख्यः शब्दार्थः ।
—प्रकरण पञ्जिका, पृ० ३१९
अपि च—निषेधमात्रं नैवेह शब्दे ज्ञानेऽवभासते ।
—तत्त्व० पञ्जिका, पृ० ३१९ पर उद्धृत ।

६. नाऽस्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः, नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्रम्, किन्तु अन्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः । —अपोहसिद्धि, पृ० ३

होता है कि ये एक जाति के हैं अथवा कोई सामान्य तत्त्व हैं, जो इन सभी सदृश वस्तुओं में विद्यमान हैं। इस सामान्य तत्त्व की कल्पना की उत्पत्ति वस्तुओं के भेद की उपेक्षा के कारण होती है। उदाहरण के लिये गाय, अश्व और सिंह एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं, तथापि वृक्ष, मकान, पर्वत आदि की तुलना में एक दूसरे से अधिक समानता रखते हैं। इसलिए हम इन्हें एक जाति-पशु के अन्दर रखते हैं। इसी सदृश प्रत्यय को बौद्ध भेदाग्रह, अपोह, अन्यव्यावृत्ति, अतद्व्यावृत्ति आदि शब्दों से अभिहित करते हैं। बौद्धों के इस अपोह सिद्धान्त का नैयायिकों के जाति सिद्धान्त से यह साम्य है कि दोनों यह मानते हैं कि जाति या अपोह के दो कार्य हैं—ये एक वर्ग की सभी वस्तुओं को उस वर्ग में समाविष्ट करते हैं और अन्य वर्गों की वस्तुओं को उस वर्ग से अलग रखते हैं। दोनों मान्यताओं के इस अंश में अन्तर है कि नैयायिक के अनुसार जाति एक विध्यात्मक और वास्तविक सत्ता है जो समवाय सम्बन्ध के माध्यम से अपने वर्ग की प्रत्येक वस्तु में सामान्य के रूप में विद्यमान है, जिसके आधार पर हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु अमुक जाति से सम्बद्ध है, इस जाति से भिन्न से सम्बद्ध नहीं है। इसके विपरीत अपोह प्रतिषेधात्मक और कल्पित प्रत्यय है, जिससे वस्तुओं के सादृश्य का बोध होता है और यह सादृश्य अधिकभिन्न वस्तुओं की तुलना मे कम भिन्न वस्तुओं की भिन्नता की अपेक्षा में निहित है। अतः इसे प्रतिषेधात्मक अपोह कहा जा सकता है।

शान्तरक्षित ने अपोह के दो भेद स्वीकार किया है—पर्युदास और प्रसज्य प्रतिषेध। पर्युदास भी बुध्यात्मा और अर्थात्मा भेद से दो प्रकार का स्वीकृत है।[१] इनमें से बुध्यात्मा ही वास्तविक अपोह है जो किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उत्पन्न कर वास्तविक वस्तु की भ्रान्ति को जन्म देता है।[२] अतः अप्रत्यक्ष रूप से इसी के द्वारा अन्य वस्तुओं की व्यावृत्ति हो जाती है। अर्थात्मा अपोह को केवल इस अर्थ में अपोह कहा जाता है कि यह सभी वस्तुओं से व्यावृत रूप में प्रकट होता है और अपोह का आधार है, जबकि यह वस्तुतः अनभिलाप्य है। अपोहवाद दिङ्नाग सम्प्रदाय की एक बहुत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसी के आधार पर जगत् की सृष्टि एवं जागतिक व्यवहार की उपपत्ति क्षणभङ्ग की दृष्टि में भी सम्भव हो जाती है। अतः विज्ञानवाद की ज्ञानमीमांसा के लिये यह नितान्त आवश्यक है। इसी की

---

१ तथा हि द्विविधोऽपोहः पर्युदासनिषेधतः।
द्विविधः पर्युदासोऽपि बुध्यात्मार्थात्मभेदतः॥ —तत्त्व सं०, भाग १, १००४

२. तद्रूपप्रतिबिम्बस्य धियः शब्दाच्च जन्मनि।
वाच्यवाचकभावोऽयं जातो हेतुफलात्मकः॥ —वही, १०१२

सहायता से बुद्धि निर्विकल्पक संवेदनों से एक वास्तविक जाति की भ्रान्ति को जन्म देती है।[1] इसके लिए सर्वप्रथम हम किसी विशेष वस्तु उदाहरण के लिए एक गाय का प्रत्यक्षीकरण करते हैं। उससे हमारे मष्तिष्क में एक ऐसे प्रतिबिम्ब का आविर्भाव होता है, जो उन प्रतिबिम्बों के समान है जो उसी प्रकार की अन्य गायो को देखने से उत्पन्न हुए थे। चूंकि ये प्रतिबिम्ब एक ही साथ उत्पन्न नहीं होत इसलिये बुद्धि इनके भेदों को नहीं ग्रहण कर पाती और इन्हें एक रूप मान लेती है। तदनन्तर हम यह सोचने लगते हैं कि चूंकि प्रतिविम्ब एक रूप हैं, अत: उनके आधार पर निर्विकल्पक संवेदन भी एक रूप होंगे और चूंकि निर्निकल्पक संवेदन एक रूप हैं, अतः उनके मूल स्वलक्षण भी एक रूप होंगे। इस प्रकार अपोह का जन्म और तद् द्वारा अनुभव सिद्ध जगत् की सृष्टि होती है।

मीमांसकों के जातिपदार्थवाद पर बौद्धों के आक्षेप :

अपोह को पदार्थ मानने वाले बौद्धों ने मीमांसकों को अभिमत जाति पदार्थ नहीं स्वीकार किया और जाति का ही विभिन्न तर्कों द्वारा खण्डन किया है। इस प्रकार जाति का खण्डन करके जाति पदार्थवाद का निराकरण किया है। बौद्धों के ये तर्क विशेष महत्त्व के हैं।

(१) जाति सत् नहीं सिद्ध की जा सकती क्योंकि जाति का प्रत्यक्ष नहीं होता।[2] इन्द्रियां भूत या भविष्य के क्षण का ग्रहण नहीं करतीं। इन्द्रियां केवल वर्तमान स्वलक्षण का ग्रहण करती हैं। अत: इन्द्रियां किसी नित्यवस्तु का प्रत्यक्ष करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि जाति की सिद्धि के लिये वर्तमान के अलावा भूत और भविष्य के तत्सदृश तद्भिन्न के प्रत्यक्ष की अपेक्षा है।

(२) जाति की सत्ता अनुमान अथवा शब्दप्रमाण द्वारा भी नहीं सिद्ध की जा सकती, क्योंकि प्रमाण विकल्पात्मक होते हैं, अतः पदार्थ रूप में किसी वस्तु को सिद्ध नहीं कर सकते।

(३) जाति व्यक्ति-निष्ठ होती है—यह सिद्ध करना भी कठिन है, क्योंकि व्यक्ति और उसके कार्यों मे कोई अन्तर नहीं होता। जो अन्तर होता भी है वह एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से, जैसे घट का पट से होता है। यदि घट और पट के

---

१. संकेतव्यवहाराप्तकालव्यापकत्वं च वक्तृश्रोतृभ्यामध्यवसितार्थप्रतिबिम्बकस्यावसायवशादेवेष्टं न परमार्थतः। व्यवहारकालेऽपि वक्तृश्रोत्रोः पूर्वापरकालदृष्टयोरर्थयोरैक्याभिधानात्। —पञ्जिका पृ० ३३६

२. समानवृत्तिता नाम सामान्यस्य निजं वपुः।
कथं स्पृशति सापेक्षमनपेक्षाऽक्षजा मतिः॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० २७१

भेद की तरह जाति और व्यक्ति में भेद होता तब तो जाति और व्यक्ति की अलग-अलग सत्ता सिद्ध की जा सकती थी, परन्तु ऐसा नहीं होता।

(४) यदि यह कहा जाय कि व्यक्ति और तद्गत धर्म उनके शास्त्र में दो अलग-अलगपदार्थ माने गये हैं, तो ठीक नही है; क्योंकि जब तक जाति और व्यक्ति का व्यतिरिक्त ज्ञान किसी प्रमाण से न हो, तब तक जाति की सत्ता कैसे मान ली जाय?

(५) जाति द्रव्य में रहती है, इस मतका भी बौद्ध खण्डन करते हैं। यदि जाति व्यक्ति में समवेत है तो वह एक व्यक्ति में पूरी रहती है या आंशिक रूप से सभी पिण्डों में रहती है। जाति यदि एक पिण्ड में पूर्ण रूप से रहती है तो जाति के एकत्व के कारण दूसरे पिण्डों में जाति समवेतत्व का अभाव होगा। जाति चूंकि निरवयव है, अतः पिण्ड में आंशिक रूप से जाति समवेत नहीं हो सकती।[1]

(६) नैयायिक यह कहेंगे कि आधार्याधार भूत अयुतसिद्धों के मध्य समवाय सम्बन्ध होता है। जाति और व्यक्ति के मध्य भी अयुतसिद्ध होने से समवाय सम्बन्ध है, इसलिये जाति समवाय सम्बन्ध से व्यक्ति में रहती है। इसके विरोध में बौद्धों का आक्षेप है कि अयुतसिद्धता और सम्बन्ध दोनों एक साथ सम्भव नहीं हैं। सम्बन्ध तो सर्वथा पृथक् वस्तुओं में होता है, जैसे कुण्डबदर सम्बन्ध या स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध। परन्तु अयुतसिद्ध एक रूप होते हैं, अतः किसका किससे सम्बन्ध होता है?[2]

(७) प्राभाकर मीमांसक जाति व्यक्ति के मध्य रूप-रूपी सम्बन्ध स्वीकार करते हैं,[3] परन्तु यहाँ रूप पद क्या स्पष्ट करता है—रंग, आकृति या वस्तु का स्वभाव? यदि शुक्लादिवर्ण का कथन करता है तो वायु, आकाश, मनस् आदि अरूपी द्रव्यों और गुण तथा कर्म में जाति की वर्तमानता सम्भव न होगी। यदि आकार का कथन करे तो अवयव सन्निवेश रहित पवनाकाशादि द्रव्यों व गुणादिकों

---

१. जातेश्च निरवयवत्वान्न केचिदेकदेशाः सन्ति यैरेषा प्रतिपिण्डं वर्त्तते, न चैकत्र-पिण्डे समाप्त्या वर्त्तमाना पिण्डान्तरे समाप्त्यैव वर्त्तितुमर्हति।

—न्या० म०, भाग १, पृ० २७२

२. अयुतसिद्धता च सम्बन्धश्चेति कथं संगच्छते, पृथक्सिद्धे हि वस्तुनि कुण्डवद-रवदन्योऽन्यं सम्बध्यते स्त्रीपुंसवद्वा, अयुतसिद्धे तु तदेकत्वात्किं केन सम्बध्यते।

—वही, पृ० २७२

३. सुशिक्षितास्तु रूपरूपित्वलक्षणमाचक्षते जातिव्यक्त्योः सम्बन्धं सोऽपि नोपपद्यते।

—वही, पृ० २७३

में सामान्य की सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती और यदि रूप पद का अर्थ वस्तु स्वभाव मानें तो जाति और जातिमान् व्यक्ति का अभेद प्राप्त होताहै। इस प्रकार रूपरूपी सम्बन्ध से भी जाति की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती।

(८) कुमारिल का कहना है कि व्यक्ति का दोहरा स्वभाववाला स्वरूप सम्भव नहीं है ताकि यह किसी वस्तु से पृथक् माना जा सके या अन्य बहुतों से जाति के कारण ऐक्य की प्रतीति कराता हो। परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भी एक वस्तु में प्रमाण द्वारा ज्ञेय दो परस्पर ऐसे विरुद्ध स्वभावों का रखना कभी ज्ञात नहीं हो सकता जो दोनों ही एक और अनेक या नित्य और अनित्य हों। ये विकल्पात्मक निष्कर्ष पूर्ण शुद्ध नहीं होते, केवल वैचारिक आकार प्रकार से सम्बद्ध होते हैं।[1] इस प्रकार गो व्यक्तियों का सदृश-प्रत्यय केवल वैचारिक आकार-प्रकार के कारण है, जो इसी प्रकार के विकल्पात्मक प्रयोगों और व्यवहारों का परिणाम है, न कि किसी भावात्मक जातिपदार्थ के कारण। इसलिए जाति को स्वीकार करना बौद्धमत में कथमपि उचित नहीं है।[2]

नैयायिकों का कहना है कि तब जाति के स्वीकार न करने पर किसी सदृश ज्ञान के अभाव में शब्दज्ञान और अनुमान दोनों असम्भव हो जायेंगे परन्तु बौद्धों का उत्तर है कि शब्द और अनुमान की असम्भवता नहीं होगी, क्योंकि सदृश प्रत्यय तो होता ही है, परन्तु शब्दानुमानजन्य ज्ञान अवास्तविक होता है और अर्थतः सत्य नहीं होता।[3] अनुमानजन्य ज्ञान और शाब्दबोध केवल विकल्पात्मक विषय के ज्ञान होते हैं और विकल्प विषय के ज्ञान की उपपत्ति अपोह सिद्धान्त द्वारा हो जाती है, इसलिए अपोह पक्ष ही दोष रहित है।[4]

मीमांसकों के मत से अपोह का खण्डन—शब्द के अर्थ और जाति की सिद्धि के सम्बन्ध में मीमांसकों द्वारा बौद्धाभिमत अपोहवाद का विभिन्न तर्कों द्वारा खण्डन किया गया है। इनमें से कुछतक विशेष महत्त्व के हैं—

---

१. एकं ही वस्तुनो रूपमितरत्कल्पनामयम्।
नानुवृत्तिविकल्पेषु विस्रम्भ उचितः सताम्॥
द्रागितो ह्यन्यसंस्पर्शैर्नैरपेक्ष्येण दृश्यते।
स्वलक्षणमतो भेदस्तास्विकोऽनुगमो मृषा॥ —न्या० म०, भाग१, पृ० २७५

२. नायाति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥ —प्र० वा० ३, १५२-५३

३. विकल्पविषये वृत्तिरिष्टा शब्दानुमानयोः।
अवस्तुविषयाश्चैते विकल्पाः इति वर्णिताः॥—न्या० म०, भाग१, पृ० २७६

४. या च भूमिर्विकल्पानां स एव विषयो गिराम्।
अतएव हि शब्दार्थमन्यापोहं प्रचक्षते॥ —वही; पृ० २७६

१. अपोह का तात्पर्य व्यावृत्ति या अभाव है। अभाव घटादि की तरह स्वतंत्र ज्ञात नहीं होता, अतः अपोह किसी अन्य वस्तु के आश्रित ही हो सकता है। अपोह का यह आधार क्या है ? स्वलक्षण अपोह का आश्रय नहीं हो सकते, क्योंकि अपोह विकल्पविषयक होता है और स्वलक्षण वास्तविक। शाबलेयत्वादि अपर सामान्य अपोह का आधार नहीं हो सकते, क्योंकि शाबलेयन्वाश्रित गो अपोह से केवल शाबलेयेतर की व्यावृत्ति होगी।[1] अन्य बाहुलेयादि गायें इससे गृहीत नहीं होंगी।

२. बौद्ध यदि अगाय व्यवच्छेद का प्रत्येक गाय व्यक्ति से सम्बन्ध मानें तो भिन्न-भिन्न देशकाल से सम्बद्ध गाय व्यक्तियों का ज्ञान सम्भव न होने से अगाय भिन्न का भी ज्ञान सम्भव नहीं होगा। अतएव अगाय भिन्न के अर्थ का ग्रहण करने के लिये हमें सभी गाय व्यक्तियों में समान रूप से समवेत किसी अन्य पदार्थ को स्वीकार करना होगा। यह सामान्य पदार्थ गोत्व होगा और जब हम अपोह की उपपत्ति के लिए गोत्व जाति स्वीकार ही करते हैं, तो इससे पहले ही हम गोत्व जाति की सत्ता क्यों न मान लें, ताकि अगाय व्यावृत्ति जैसी दुरूहकल्पना से बच जायें।

३. सभी शब्दों को अपोहवाची स्वीकार करने पर सभी शब्द समानार्थक हो जायेंगे ।

४. बौद्धों के अपोह पक्ष को स्वीकार करने पर गौः और अश्वः शब्दों का क्या अर्थ होगा ? गौः पद का अर्थ है—अगायभिन्न और अश्व पद का अर्थ है, अनश्वभिन्न। अगाय और अनश्व के अन्तर्गत अनेक उभयनिष्ठ पदार्थों का ग्रहण होता है—जैसे हस्ति आदि, क्योंकि अगाय में केवल गाय और अनश्व में केवल अश्व का ग्रहण नहीं किया जायेगा। शेष पदार्थ-समूह दोनों के लिए समान होगा। जबकि अगाय के अन्तर्गत में अश्व का ग्रहण होगा और अनश्व के अर्थ में गाय का ग्रहण होगा। गाय और अश्व से व्यतिरिक्त पदार्थ समान हैं अतः अगाय का तात्पर्य अश्व और अनश्व का तात्पर्य गाय हुआ। इसलिए गाय के अपोह में अश्व का व्यवच्छेद करना है और अश्व के अपोह में गाय का व्यवच्छेद करना है। इस तरह विचार करने में गाय और अश्व शब्दों के अपोह में समान धर्म होने से अभेद की स्थिति उत्पन्न होती है।[2]

---

१ द्रष्टव्य—शाबलेयाच्च भिन्नत्वं बाहुलेयाश्वयोः समम्।
सामान्यं नान्यदिष्टं चेत् क्वगोऽपोहः प्रवर्तताम् ॥
—श्लोक वा०, अपोह ७७

२ गोश्च हस्त्याद्यपोहेन नाश्वरूपाद् विशेष्यते।
करोति तदपोहं चेदेकरूप्यं विरुध्यते ॥
वही, अपोह ५५

५. दूसरा दोष यह है कि जिस तरह अगाय के अर्थ में अश्व का ग्रहण होता है, उसी प्रकार सिंह शब्द के अपोह के सन्दर्भ में असिंह के अर्थ में भी अश्व का ग्रहण होगा, इसलिए गाय और सिंह शब्द समानार्थक सिद्ध हो जायेंगे।[1]

६. यदि बौद्ध यह कहे कि गाय के अपोह में गो प्रतिषेध का आश्रय स्वतः 'गौः' शब्द ही है तो जब पहले ही हमने 'गौः' पद का भावात्मक अर्थ स्वीकार कर लिया, क्योंकि गौ पद के भावात्मक अर्थ के अभाव में गौ प्रतिषेध नहीं होगा; तब 'गौः' पद का अर्थ जानने के लिए अगाय के व्यतिरेक जैसा द्राविड-प्राणायाम आवश्यक नहीं है।[2]

७. यदि बौद्ध उक्त पक्ष के समर्थन में यह कहें कि गो व्यक्ति स्वलक्षण के रूप में तो सिद्ध ही है, उसी को गो प्रतिषेध का आश्रय बनाया जाय। परन्तु यह गो स्वलक्षण क्षणिक सत्य है और इसे कभी भी व्यवहार का विषय नहीं बनाया जा सकता।

८. यदि बौद्ध यह कहें कि गाय का अपोह गाय भिन्नों के प्रतिषेध द्वारा ही सम्भव है तो इतरेतराश्रय दोष होगा, क्योंकि गाय भिन्न के निषेध से गाय की सिद्धि होगी और गाय के निषेध से गाय भिन्न की सिद्धि होगी। इसलिए अपोह का निरूपण असम्भव है। दूसरा दोष यह है कि दोहरा निषेध सदा भावात्मक सत्ता का ज्ञान कराता हैं। अतः गाय शब्द का अपोह गाय की सत्ता के निषेध का निषेध है अर्थात् गाय की भावात्मक सत्ता है। इस प्रकार पद का अर्थ अभावात्मक न होकर विध्यात्मक ही सिद्ध होता है, जबकि अपोहवादियों को पद का प्रतिषेधात्मक अर्थ ही अभीष्ट है।

९ बौद्ध अपोह को ही व्यवच्छेदक मानते हैं, अतः व्यवच्छेदक स्वभाववाला होने से अपोह विध्यात्मक पदार्थ होगा क्योंकि विध्यात्मक अर्थ ही व्यवहार योग्य होता है और तभी यह व्यवच्छेद में समर्थ होगा।[3] यदि बौद्ध यह कहें कि अपोह और इसके द्वारा प्रतिषिद्ध अर्थ एक ही होते हैं तो गाय और अगाय भिन्न पद समानार्थक होंगे, क्योंकि ये दोनों ही पद प्रतिषेधार्थक हैं।

---

१. ततोऽश्वापोहरूपत्वात् सिंहादिक सर्व एव ते।
तान्निमित्तमगोऽपोहं विभ्रदुच्येत गौरिति॥ —श्लो॰ वा॰, अपोह॰, ५७

२. वस्तुरूपा च सा बुद्धिः शब्दार्थेषूपजायते।
तेन वस्त्वेव कल्पेत वाच्यं बुद्धचनपोहकम्॥ —वही, ३९

३. विधिरूपश्च शब्दार्थो येन नाभ्युपगम्यते।
न भवेद् व्यतिरेकोऽपि तस्य तत्पूर्वको ह्यसौ॥ —वही, ११०

१०. अपोह शब्द के अर्थ पर भी विचार करना चाहिये। अपोह का अर्थ होगा—अनपोह का प्रतिषेध। जब प्रत्येक पद अपोह में ही संकेतित है तो निश्चित ही अनपोह कोई अज्ञात अर्थ है। यदि बौद्ध अनपोह की सम्भावना से इन्कार करें तो मीमांसक पूंछते हैं कि अनपोह संभव क्यों नहीं है? यदि इसकी सत्ता ही नहीं है, तो अपोह के अर्थ के लिये अपेक्षित प्रतिषेध्य क्या होगा?[१]

११. यदि बौद्ध यह कहें कि केवल संज्ञा शब्द ही अपोह अर्थ वाले हैं, तो मीमांसकों का आक्षेप है कि संज्ञा से भिन्न शब्दों का अर्थ बौद्ध किस प्रकार ग्रहण करते है और तब बौद्ध अपने सामान्य अपोह सिद्धान्त की प्रतिज्ञा की उपपत्ति कैसे करेंगे? मीमांसकों का कहना है कि बौद्ध जाति पदार्थ के भावात्मक पक्ष से इतनी ईर्ष्या क्यों रखते हैं? उन्हें भी पदों के अर्थ के रूप में जाति की सत्ता स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि पद विकल्पार्थक नहीं होते। बौद्ध मत में संज्ञा शब्दों से भिन्न शब्दों का अर्थ या तो बौद्ध जाति की सत्ता द्वारा स्वीकार करके करेगा या उन्हें निरर्थक सिद्ध करेगा। व्यवहार में आने वाले क्रिया, उपसर्गादि शब्दभेद निरर्थक नहीं हो सकते, अतः निश्चित ही इन शब्दों का अर्थ जाति होगा और जिस तरह इनका अर्थ जाति होगा उसी प्रकार संज्ञा शब्दों का भी अर्थ जाति होगा।

इस प्रकार कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों ने अपोह सिद्धान्त में अनेक दोषों का आक्षेप करते हुए सबल तर्कों द्वारा अपोहवाद का निराकरण करके जाति पदार्थ की सिद्धि किया है।

जयन्त भट्ट द्वारा अपोह का खण्डन और जाति की सिद्धि :

यद्यपि आचार्य जयन्त भट्ट को जाति पद के अर्थ के रूप में अभिमत नहीं है फिर भी एकाकारता की प्रतीति के हेतु के रूप में व्यक्ति समवेत जाति की सत्ता तो इन्हें स्वीकार्य ही है। अतएव बौद्धों के जाति विरोधी मत को निराकृत करना जयन्त के लिये आवश्यक हो चुका था। जयन्त ने 'न्याय मञ्जरी' में अपोह पक्ष के खण्डन में अधिक कुछ नहीं कहा, परन्तु जाति की सत्ता के विरोध में बौद्धों द्वारा आक्षिप्त सभी तर्कों का जयन्त ने खण्डन करके जाति की सत्ता सिद्ध की है।

आचार्य जयन्त का कहना है कि बौद्धों के अपोह पदार्थवाद के दो कारण हो सकते हैं (१) या तो पद किसी बाह्य अर्थ को संकेतित नहीं कर सकते (२) या जाति के अभाव के कारण बौद्ध अपोह जैसी अवधारणा का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इनमें से अपोह के अनुभव के विषय में जयन्त की कोई आपत्ति नही है, क्योंकि मूर्ख

१. अपोहशब्दस्य च किं वाच्यमिति चिन्त्यम्। अनपोहो न भवत्यपोहः।
—न्या० म०, भाग १, पृ० २७१

बौद्ध प्रत्यक्ष योग्य एवं बाह्य रूप से सत् सामान्य को छोड़कर अभावात्मक तद्भिन्न-भिन्नत्व की सत्ता स्वीकार करते हैं। परन्तु जाति की सत्ता को बौद्ध कथमपि असिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि स्वलक्षण के प्रत्यक्ष की तरह जाति का संशय और विपर्यय रहित प्रत्यक्ष होता है।[१]

इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य ज्ञान बौद्धों के मत में केवल व्यावृत्तिपरक ही होता है। विलक्षण स्वलक्षण मात्र का ही बौद्ध प्रत्यक्ष मानते हैं, जबकि न्याय में सामान्य लक्षण का भी प्रत्यक्ष स्वीकृत है। न्यायमत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद होने वाला सविकल्पक प्रत्यक्ष विषय के सामान्य धर्मो का ग्रहण करता है और तद्गत जाति का भी ग्रहण करता है। अतः चूंकि न्यायमत में सविकल्पक प्रत्यक्ष की सत्ता स्वीकृत है, अतएव सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा व्यक्ति समवेत जाति का प्रत्यक्ष हो जाने से जाति के अनस्तित्व का कोई ठोस हेतु नहीं रह जाता। सविकल्पक प्रत्यक्षजन्य ज्ञान को बौद्ध शाब्द ज्ञान नहीं कह सकते, क्योंकि शाब्द-ज्ञान शब्द ज्ञान से उत्पन्न होता है, जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष में शब्द का कोई ज्ञान नहीं होता। वस्तु का नाम उस वस्तु के सविकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में कोई भूमिका नहीं निभाता। नैयायिक यह मानते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत विषय को शब्द द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते, इसलिये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत इस स्वलक्षण का स्वरूप उद्देश्य-विधेय भाव में व्यवहृत नहीं किया जा सकता। इसलिये वस्तु को व्यवहार योग्य स्वीकार करने के लिये उसका सविकल्पक प्रत्यक्ष स्वीकार करना ही होगा और सविकल्पक प्रत्यक्ष जाति का ग्राहक है, अतः जाति की सत्ता को चुनौती नहीं दी जा सकती।

जातिवाद पर बौद्धों का यह आक्षेप है कि एक ही आश्रय से सामान्य और विशेष दोनों स्वभाव एक साथ सम्बद्ध नहीं किये जा सकते। जयन्त का इस आक्षेप के विरुद्ध उत्तर है कि परस्पर विरोधी सामान्य और विशेष किसी एक आश्रय में एक साथ ज्ञात नहीं होते। जैसे—शुक्ति में रजत का भ्रम होने पर शुक्ति में केवल रजत का ज्ञान होता है, शुक्ति का नहीं और भ्रम निवारण हो जाने पर शुक्ति में केवल शुक्ति का ही ज्ञान होता है। किसी भी अवस्था में शुक्ति तथा रजत दोनों ज्ञान एक ही वस्तु में एक साथ उत्पन्न नहीं होते। हम कभी भी शुक्ति को शुक्ति और रजत के रूप में नहीं देखते। जाति अपने आश्रयभूत व्यक्ति

१. प्रतीतिस्तावदपोहविषया भवद्भिरङ्गीकृतेति किमत्र कलहेन। नापि जात्यादेरसत्त्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नबाधसंदेहरहितप्रत्ययगम्यत्वात् स्वलक्षणवत्।

—न्या० म०, भाग १, पृ० २८२

में समवेत अवश्य रहती है परन्तु व्यक्ति से अभिन्न नहीं होती वरन् यह व्यक्ति से भिन्न होती हैं। जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध को विषय करके बौद्धों ने जितने आक्षेप जातिबाद पर किये हैं, उन सबका उत्तर अकेले प्रत्यक्ष द्वारा ही मिल जाता है। प्रत्यक्ष द्वारा हम जानते हैं कि निरवयव जाति अपने आश्रयभूत सभी व्यक्तियों में एक साथ समवाय सम्बन्ध से रहती हैं। हम जाति का उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष करते हैं, जिससे जाति के आश्रयभूत पदार्थ का ग्रहण करते हैं; जैसे घटत्व पटत्वादि जाति का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, शब्दत्व का श्रावण, गन्धत्व का घ्राणज स्पर्शत्व का त्वाक और रसत्व का रासन प्रत्यक्ष होता है।

जाति विरोधी अगला तर्क यह है कि जाति आश्रय से भिन्न स्थान नहीं घेरती, अतएव जाति व्यक्ति से अभिन्न है। इसका उत्तर यह है कि जाति का ग्रहण सदा उसके आश्रयभूत व्यक्ति के प्रत्यक्ष के बाद ही हो सकता है। चूंकि जाति एक आश्रयी पदार्थ है, अतएव आश्रय से अलग जाति की सत्ता नहीं है। अतएव बिना व्यक्ति के ग्रहण हुए जाति का ग्रहण नहीं हो सकता। बौद्धों के जाति विरोधी पक्ष का उत्तर देने के लिए जयन्त यह स्वीकार करते हैं कि जाति और व्यक्ति के मध्य समवाय सम्बन्ध होता है. क्योंकि जाति और व्यक्ति अयुतसिद्ध होते हैं। इसलिए जिस प्रकार गुणी में समवेत गुण का प्रत्यक्ष होता है और गुणी का गुण से भेद होता है या अवयवी अवयवों में समवेत होता है और अलग स्थान न होने पर भी अवयवी का अवयवों से भेद होता है, उसी प्रकार व्यक्ति में समवेत जाति का भी व्यक्ति से भेद है।

इस प्रकार जयन्त का कहना है कि जाति पक्ष को स्वीकार करने पर ही अनुगत प्रत्यय सम्भव है और जागतिक व्यवहार सम्भव हैं। अपोह जैसी अभावात्मक अवधारणा व्यवहार में बाधक है। अपोह के विरोध में जयन्त का तर्क है कि बौद्धों को भी व्यक्ति निष्ठ किसी सामान्य धर्म की भावात्मक सत्ता माननी ही होगी। गाय का अपोह गाय को सभी अगाय पदार्थों से भिन्न करता है, परन्तु सद्योजात किसी बछड़े का यह अगाय निषेध केवल तभी सम्भव है जब उस बछड़े में गोत्व जाति की सत्ता उस व्यक्ति के सत्ता में आते ही स्वीकार कर लें।[1] जब व्यक्ति के विषय में उत्पन्न हमारा ज्ञान बाधित नहीं होता तब जाति-विषयक ज्ञान ही बौद्ध क्यों बाधित मानते हैं? जबकि जाति के ज्ञान की उत्पत्ति की भी वही कारण सामग्री है जो व्यक्ति की है। यदि प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात व्यक्ति का अस्तितत्व हम अस्वीकृत नहीं

१. अगोव्यावृत्ततायां वा नैष प्रश्नो निवर्त्तते ।
कस्मादगोनिवृत्तं तदद्य जातं स्वलक्षणम् ।। —न्या० म०; भाग१, पृ० २८६

करते तो उसी प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात जाति की सत्ता हमें स्वीकार करना ही होगा।[1] इस प्रकार हम यह भी नहीं कह सकते कि जाति हमारी कल्पना से उद्भूत अवधारणा है, क्योंकि जाति का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष होता है। जाति का अनुमान भी नहीं होता। अनुमान केवल वहीं उत्पन्न होता है, जहाँ विषय का सीधे इन्द्रिय से सन्निकर्ष नहीं होता। परन्तु जाति का तो इन्द्रिय से सन्निकर्ष होता है, अतः अनुमान की आकांक्षा के लिये भी अवकाश नहीं है।[2]

बौद्धों के विरुद्ध जयन्त का आक्षेप है कि यदि बौद्ध लोग जाति को निराकृत करते हैं तो उनके प्रत्यक्ष में अनुगत प्रतीति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।[3] बौद्धों ने जिस अपोह सिद्धान्त को विकल्प के रूप में आविष्कृत किया है, वह काल्पनिक है, अतः वह एकाकारता की प्रतीति नहीं करा सकता, क्योंकि अपोहवादियों ने यह नहीं सिद्ध किया कि अपोह की मानसिक कल्पनायें आवश्यक एव व्यावहारिक कार्य एकाकारता की प्रतीति भी करा सकती है या नहीं। अनेक व्यक्तियों में इस अद्वितीय मानसिक कल्पना के द्वारा यह एकाकारता की प्रतीति कैसे उत्पन्न हो सकती है? अपोह द्वारा यह जान पाना भी सम्भव नहीं है कि अमुक अमुक व्यक्ति एक वर्ग से सम्बद्ध हैं। यदि बौद्ध दुराग्रह पूर्वक अपोह द्वारा ही सदृश-प्रत्यय माने तो बौद्धों के इस मत का जातिवाद से केवल नाम का भेद है, क्योंकि अपोह भावात्मक होकर ही सदृश-प्रत्यय करा सकता है और यदि अपोह बाह्यतः सत् है, सभी व्यक्तियों में सत् रूप से समवेत है और व्यक्तियों में अनुगत प्रतीति कराता है तो यह जाति का अपर पर्याय है और उससे जयन्त का कोई विरोध नहीं है।[4]

अपोह सिद्धान्त के विरोध में जयन्त का यह भी आक्षेप है कि जब बौद्ध

---

१ प्रतिपत्तिश्च विशेषेष्विव सामान्येषु च निरपवादा दर्शितैव, तस्माद् विशेषवद्प्रत्याख्येयं सामान्यम्। —न्या० म०, भाग १, पृ० २८६

२. यदि हि कार्यानुमेयं सामान्यं कल्पयेम ततः एवमनुयुज्येमहि कार्यस्याप्यन्यथासिद्धेः किं तत्कल्पनया। —वही, पृ० २८६

३. अपि च रे मूढ। सामान्याभ्युपगमे कुतस्त्य एकाकारविकल्पोत्पाद इति पर्यनुयुक्तेन त्वया कार्यैक्याद् विकल्पैक्यादेवेत्युक्तं भवति। —वही, पृ० २८७

४. यस्तु विकल्पोल्लिखित आकारोऽनुपलभ्यमानभेदः तेभ्यो व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा, व्यतिरिक्तश्चेत्स्यात् सामान्यमेवेदं नामान्तरेणोक्तं भवति अवास्तवत्वकृतो विशेष इति चेन्नावास्तवत्वे युक्त्यभावात्।

वही, पृ० २८७

शब्द से किसी बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं करते और न ही विषयों की बाह्यार्थता स्वीकार करते हैं, तब उनके मत में प्रमाता की विषय के प्रति प्रवृत्ति कैसे उपपन्न होती है, क्योंकि प्रमाता की प्रवृत्ति केवल बाह्यतः सत् विषयों के प्रति ही होती है। इस प्रकार बौद्धों के अपोहवाद को स्वीकार करने पर न तो विषय के प्रति प्रवृत्ति सम्भव है और न ही शब्द व्यवहार सम्भव है ।[1]

इस तरह बौद्ध मत का निषेध करते हुए जयन्त कहते हैं कि जाति विरोधी सभी तर्कों का खण्डन हो जाने पर बाह्य विषयों की सत्ता और उनका प्रत्यक्ष स्वीकार करने से सिद्ध होता है कि व्यक्ति में अवस्थित जाति व्यक्तियों की अनुगत प्रतीति का कारण है। यह जाति स्वविषयसर्वगत एवं नित्य होती है।

जयन्त द्वारा जाति-पदार्थवाद का खण्डन :

मीमांसकों को अभिमत जातिपदार्थवाद का जयन्त खण्डन करते हैं। जयन्त का कहना है कि जाति मात्र कभी पद का अर्थ नहीं हो सकती। विभक्त्यन्त को पद कहते हैं। पद के प्रकृति प्रत्यय एक दूसरे से अन्वित होकर अर्थ का अभिधान करते हैं। पद में लगी विभक्ति तीन अर्थ स्पष्ट करती है—कारक, लिङ्ग और संख्या। यह अर्थत्रितय जाति में अन्वित नहीं हो सकता, क्योंकि न तो जाति का कारकत्व सम्भव है न ही जाति में लिङ्ग अथवा दो या बहुत आदि की संख्यायें उपपन्न होती हैं।

मीमांसक जाति को मुख्यार्थ मानकर शेष अनन्वित अर्थों के अन्वय की उपपत्ति के लिये व्यक्ति में लक्षणा नहीं मान सकते। जयन्त का कहना है कि यदि मीमांसकों की सम्मति स्वीकार की जाय तो शब्द से पहले आंशिक रूप से मुख्यार्थ बोध मानना होगा और तब लक्षणा द्वारा उसी शब्द से व्यक्ति को अर्थ मानना होगा, जिससे बाद में कारक, लिङ्ग और संख्या की अन्विति होगी। परन्तु मीमांसकों को अभिमत पदार्थ बोध का यह क्रम ठीक नहीं है; क्योंकि पद से क्रमिक अर्थ-बोध नहीं होता।[2] पद उच्चरित होने पर एक बार में अपने पूर्ण अर्थ को अभि-व्यक्त करता है। अतः पदार्थ बोध का क्रम व्याकरण के नियमों के प्रतिकूल है। यह भी नहीं माना जा सकता कि विभक्त्यर्थ का सम्बन्ध व्यक्ति के माध्यम से

---

1. बाह्यार्थं विषय एवं व्यवहारो घटत इत्ययं कस्माद् ।
   दृश्यविकल्पावर्थविकीकृत्य प्रवर्त्तते पुरुषः ॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० २८१
2. सकृत्प्रयुक्तं पदमंशेन कञ्चिदर्थमभिदधाति, ततोऽर्थान्तरं लक्षयति, तद्गतत्वेन पुनःलिङ्गसंख्याद्यभिधत्ते इति न प्रातीतिकोऽयं क्रमः ।

—वही, पृ० २९५

जाति से होता है। विभक्ति कभी अपने मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ का बोध नहीं कराती,[1] क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाय तो पद अपने मुख्यार्थ का अभिधान करता है या नहीं—यह निश्चय करना कठिन हो जाएगा। अतः विभक्ति का सम्बन्ध किसी तरह जाति से नहीं सिद्ध किया जा सकता।

संख्या का सम्बन्ध पदार्थ से होना चाहिए। परन्तु संख्या का सम्बन्ध कभी भी जाति से नहीं हो सकता, इसलिये जाति को पदार्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता। इसी तरह जाति को पदार्थ भूत जाति मानने पर पदार्थ से क्रिया का अन्वय नहीं हो सकता, जबकि वाक्य निर्माण की दृष्टि से संख्या और क्रिया का अन्वय सर्वदा पदार्थ से होता है, अतः संख्या और क्रिया से अन्वय की उपपत्ति न होने के कारण जाति को पदार्थ नहीं माना जा सकता। इस तरह क्रिया का सम्पादयिता एवं जाति, संख्यादि से विशिष्ट व्यक्ति ही पद का अर्थ हो सकता है।[2] कभी भी जाति किसी पद का मुख्यार्थ नहीं हो सकती। 'श्येनचितं चिन्वीत' आदि विधियों में जातिवादी मीमांसक अग्निचयन आदि क्रियाओं से जो श्येन जाति का सम्बन्ध मानते हैं, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि श्येन पद से संस्थान निर्देश अभीष्ट होने से क्रिया से जाति का सम्बन्ध न होकर आकृति का सम्बन्ध है। श्येन से अभीष्ट जाति आकृति रहित होकर इष्टिका चयन आदि से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं हो सकती, अतः क्रिया से जाति का सम्बन्ध स्थापित करना भी असंभव है। अतः जाति कभी भी पद का अर्थ नहीं हो सकती।

(२) आकृति पदार्थवाद

जैन तार्किक पद का अर्थ आकृति मानते हैं। मीमांसा सम्प्रदाय में आकृति शब्द का जाति के अर्थ में ग्रहण हुआ है,[3] वह अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं है। आकृति का अर्थ अवयव-संस्थान है। न्यायसूत्रकार ने व्यक्ति, आकृति और जाति को पदार्थ माना है।[4] अतः स्पष्ट है कि महर्षि अक्षपाद को आकृति जाति से भिन्न अवयव-संस्थान के रूप में मान्य थी। लोक में भी अवयव संस्थान के लिये ही आकृति

---

१. प्रातिपदिकार्थसामान्यगतत्वेनैव विभक्त्या स्वार्थोऽभिधीयते।
—न्या० म०, भाग १, पृ० २९५

२. जनयन्तीं च पश्यामो व्यक्तिं जात्यनुरञ्जिताम्।
संख्यादियोगिनी चेयं सा वै धत्ते पदार्थताम्॥ —वही, पृ० २९५

३. जातिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराक्रियते यया।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम्॥ —श्लो० वा० आकृति०, ३

४. व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। —न्या० सू०, २।२।६३

का प्रयोग होता है जैसे—'यत्राकृतिः तत्र गुणा वसन्ति'। आकृतिवान् व्यक्ति में ही गुण समवेत होते हैं। अतः लोक-प्रयोग से भी स्पष्ट है कि आकृति का अर्थ जाति नहीं है, वरन् व्यक्ति का आकार-प्रकार या अवयव संस्थान ही आकृति शब्द का अर्थ है।[1]

मीमांसकों ने इस अवयव-संस्थान अर्थ वाले आकृतिवाद की पदार्थ के सम्बन्ध में उपेक्षा कर दी हैं। परन्तु जयन्त पद के अर्थ के सम्बन्ध में आकृतिवाद पर भी पृथक् विचार प्रस्तुत करते हैं। आकृतिवादियों के अनुसार पद का अर्थ दो प्रकार से जाना जाता है—प्रथमतः वक्ता शब्द का किसी अर्थ विशेष में प्रयोग करता है—दूसरा श्रोता वक्ता के शब्द को सुनकर वक्ता के तात्पर्य को ग्रहण करता है। किसी शब्द का वक्ता जिस अर्थ में प्रयोग करते हैं और श्रोता शब्द सुनकर उससे जिस अर्थ का निश्चय करते हैं, वही उस शब्द का अर्थ होता है। हम जानते हैं कि वक्ता गो शब्द का प्रयोग केसरादिमान् के लिए नहीं, वरन् सास्नादिमान् के लिये करता है। इसी प्रकार श्रोता भी गाय शब्द से सास्नादिमान् की प्रतिपत्ति करता है, क्योंकि सास्नादिमत्त्व ही गाय पदार्थ का असाधारण धर्म हैं। इसलिए सास्नादिरूप अवयव संस्थान या आकृति ही गाय शब्द का अर्थ है। पद का अर्थ आकृति है। इसका दूसरा कारण यह है कि हम पद का प्रयोग उस विषय के लिए करते हैं, जिसका हम प्रत्यक्ष करते हैं। 'गौः' पद का प्रयोग उसी अर्थ के लिए होगा जिसका प्रत्यक्ष होता हो। हमें प्रत्यक्ष केवल आकृति का ही होता है।[2] व्यक्ति या जाति का प्रत्यक्ष नहीं होता, वरन् केवल सास्ना, ककुद, विषाण, खुर, पुच्छ आदि अवयव संस्थान रूप आकृति का ही प्रत्यक्ष करते हैं। आकृति के प्रत्यक्ष के द्वारा गो पिण्ड से अश्व पिण्ड का भेद गृहीत होता है। यदि प्रत्यक्ष का विषय आकृति न होता तो गोपिण्ड से अश्वपिण्ड का भेद हम नहीं स्थापित कर सकते थे, परन्तु चूंकि हमें गाय पिण्ड और अश्व पिण्ड में भेद का ज्ञान होता है, अतः हमें आकृति का प्रत्यक्ष स्वीकार करना होगा और प्रत्यक्ष विषय होने के कारण आकृति ही पद का अर्थ है। आकृतिपदार्थवाद के समर्थन में एक तर्क यह भी है कि आकृति का ही सम्बन्ध क्रिया से होता है।[3] क्रियाओं से व्यक्ति के माध्यम से आकृति ही सम्बद्ध होती है। जैसे—'गाय लाओ' में आनयन

---

१. तस्मादवयवसन्निवेश एवाकृतिरुच्यते। —न्या० म०, भाग १, पृ० २९०

२. प्रत्यक्षविषये पदं प्रवर्तमानमाकृतावेव वर्तितुमर्हति। —वही, पृ० २९१

३. प्रेषणादिक्रियायोगश्च तद्व्यक्तिद्वारक आकृतेर्भविष्यति। —वही, पृ० २९१

क्रिया से गाय व्यक्ति के माध्यम से आकृति का ही सम्बन्ध है। अतः यह सिद्ध होता है कि पद का अर्थ आकृति है, जाति या व्यक्ति नहीं।

आकृतिपदार्थवाद का जयन्त द्वारा खण्डन :

जयन्त का कहना है कि आकृतिवादियों का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की आकृति में भेद होता है।[1] उसी प्रकार दो गो व्यक्तियों की आकृति में भी भेद होता है। अतः पद से किस आकृति वाले व्यक्ति का ग्रहण किया जाएगा ? यदि आकृति भेद की उपेक्षा करके सभी गाय व्यक्तियों में प्राप्त आकृति को पदार्थ मान लें, उदाहरण के लिये अवयव संस्थानों में भेद होने पर भी यदि सभी गाय व्यक्तियों की आकृति को गाय पद का अर्थ मान लें, तब तो आकृति भेद की उपेक्षा करके गाय पद का अर्थ अश्व की आकृति भी हो जाएगी। दूसरा दोष यह है कि पद और पदार्थ के मध्य निश्चित रूप से अभिमत वृत्ति सम्बन्ध की उपपत्ति आकृतिवाद में सम्भव नहीं है। यदि पद का अर्थ आकृति है तो पद और आकृति के मध्य का सम्बन्ध किस रूप का होगा ? क्या यह पद और एक आकृति के मध्य है या पद और सभी आकृतियों के मध्य। कोई भी व्यक्ति सभी आकृतियों को अपने प्रत्यक्ष का विषय नहीं बना सकता[2] और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त आकृति के सद्भाव का अन्य कोई प्रमाण नहीं है। अतः पद और सभी आकृतियों के मध्य सम्बन्ध की सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती। पद से यदि एक ही आकृति वाच्य है तो शेष आकृतियाँ किस पद से वाच्य होंगी ? जैसे गो: पद का अर्थ यदि एक ही गो पिण्डकी आकृति है तो शेष गो पिण्डों की आकृति किस पद से वाच्य होगी ? इसी प्रकार एक पद और एक आकृति के मध्य भी सम्बन्ध नहीं सिद्ध किया जा सकता। यह भी नहीं स्वीकार किया जा सकता कि एक पद से कुछ आकृतियों का बोध होता है, क्योंकि इससे शेष बची आकृतियाँ किस पद से वाच्य होंगी ? जैसे गौः पद से यदि शाबलेय गो पिण्डों की आकृति को वाच्य मान लें तो बाहुलेय आकृति वाले गो पिण्ड गौः पद के अतिरिक्त किस पद से वाच्य होंगे ? इस प्रकार यदि एक पद और सभी व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध मानें तो अनन्त व्यक्तियों का प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष सम्भव न होने से आनन्त्य दोष होगा और यदि एक पद द्वारा एक ही व्यक्ति या कुछ व्यक्ति वाच्य मानें तो व्यभिचार दोष होगा। अतः

---

१ तदयुक्तं प्रतिव्यक्तिभिन्नसंस्थानदर्शनात्। —न्या० म०, भाग १, पृ० २९१

२. न च त्रैलोक्यान्तर्गतसकलगोपिण्डसन्निवेशवचनत्वमनुगतं शक्यम् आनन्त्यात्। —वही, पृ० २९१

अपि च, आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां सम्बन्धज्ञप्त्यसंभवात्। —वही, पृ० २९१

आनन्त्य और व्यभिचार दोषों के कारण आकृतिपदार्थवाद स्वीकरणीय नहीं है। यदि आकृति को पदार्थ मानें तो एक दोष यह भी होगा कि क्रिया के साथ आकृति के अन्वय में व्यभिचार आ जाएगा। 'गाम् आनय' में यदि 'गाम्' पद का अर्थ आकृति गाम् है तो गाय का चित्र या मिट्टी की गाय भी लायी जा सकती है जो वक्ता के अभिप्राय से निश्चित ही भिन्न होगी। जबकि हम यह देखते हैं कि प्रयोज्य व्यक्ति गो व्यक्ति का आनयन करता है, गाय की आकृति का नहीं।[1] इस प्रकार पद का अर्थ कभी भी आकृति नहीं हो सकता।

(३) व्यक्ति पदार्थवाद

सांख्य तार्किक पद का अर्थ व्यक्ति मानते हैं। ये जाति और आकृति को पदार्थ न मानकर व्यक्ति मात्र को पद का मुख्यार्थ मानते हैं। व्यक्तिवादी व्यक्ति को इसलिए पदार्थ मानते हैं, क्योंकि क्रिया से न तो जाति का सम्बन्ध होता है और न आकृति का, वरन् क्रियाओं से केवल व्यक्ति का ही सम्बन्ध होता है। आलम्भन, विशसन, प्रोक्षण आदि वैदिक क्रियाओं का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है, क्योंकि जाति का इन क्रियाओं से सम्बन्ध असम्भव है।[3] उसी प्रकार 'छः पदार्थों का दान देना चाहिए' 'बारह पदार्थों का दान करना चाहिए' आदि प्रसंगों में दान सम्बन्धी संख्याओं का सम्बन्ध भी व्यक्ति से होता है। जाति में संख्या की उपपत्ति कथमपि सम्भव नहीं है। अतः पद का अर्थ जाति न होकर व्यक्ति है। इसी प्रकार आलम्भन आदि के लिए लाया गया पशु यदि दैवयोग से भाग जाय तो उसके लिये वेद का विधान है कि उसी वर्ण का तथा उसी अवस्था वाला अन्य पशु लाया जाना चाहिये। यह लाया जाने वाला अन्य पशु निश्चित ही व्यक्ति होगा, जाति नहीं होगा। यह सही है कि इस लाये गये अन्य पशु में भी वही जाति होती है, जो पूर्व पशु में थी, परन्तु इससे जाति को पदार्थ नहीं मान सकते, क्योंकि जाति तो एक ही होती है, अतः लाये जाने योग्य सभी पशुओं में वही जाति वर्त्तमान होगी जिससे वेद में दिया गया 'अन्य' विशेषण उपपन्न नहीं होगा। जाति को पदार्थ मानने में अन्यता सम्भव नहीं

---

१. न च गामानयेत्युक्तः सत्यामपि तथाकृतौ।
चित्रमृत्स्नामयीं कश्चिद् गामानयति बुद्धिमान्॥

—न्या० म० भाग १, पृ० २९१

२. द्रष्टव्य—विवरणप्रमेय संग्रह।
—पृ० १८१

३. प्रयोगचोदनासामञ्जस्याद् व्यक्तिः शब्दार्थः,
आलम्भनविशसनप्रोक्षणादिचोदनाः जातावसंगता भवन्ति। —वही, पृ० २९१

है, क्योंकि सभी पशुओं की जाति में एकत्व होता है । व्यक्ति पक्ष में 'अन्य' विशेषण उपपन्न हो जाएगा, क्योंकि व्यक्तियों में भेद होता है । अतएव पद का अर्थ व्यक्ति ही होना चाहिए । इसी प्रकार संख्या में वृद्धि या कमी, समूह की अवधारणा तथा स्वस्वामिभाव की अवधारणायें व्यक्ति पक्ष में ही उपपन्न होती हैं ।[१] इसलिए पद का अर्थ व्यक्ति ही हो सकता है । व्यक्ति को मुख्यार्थ मानते हुए व्यक्ति से सम्बद्ध जाति को गौण रूप से पदार्थ स्वीकार कर लेने पर व्यक्तिवाद पक्ष में आनन्त्य दोष भी नहीं आएगा ।[२] इसीलिए व्यक्ति पदार्थवाद जैसे मुख्य मार्ग को छोड़कर जाति-पदार्थवाद या आकृतिपदार्थवाद को स्वीकार करना ऋजु मार्ग को छोड़कर वक्र एवं विषम मार्ग से गमन करने के अनुरूप त्याज्य है । चूंकि शब्द श्रवण से व्यक्ति का ही बोध श्रोता को होता है और व्यक्ति ही प्रत्यक्ष गोचर होता है, अतः व्यक्ति पदार्थवाद में अप्रत्यक्षत्वापत्ति भी नहीं होगी । अतः सभी दृष्टियों से व्यक्ति पदार्थवाद ही श्रेयान् है ।[३]

व्यक्ति पदार्थवाद का खण्डन :

जाति पदार्थवादी मीमांसकों ने व्यक्ति पदार्थवाद का खण्डन किया है । मीमांसकों का मत है कि जाति और व्यक्ति में से व्यक्ति को पदार्थ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि कोई भी वक्ता किसी व्यक्ति विशेष के लिए पद का प्रयोग नहीं करता और न ही श्रोता किसी पद के श्रवण से किसी व्यक्ति विशेष का ग्रहण करता है ।[४] जैसे 'गौः' पद न तो किसी विशेष गाय व्यक्ति के लिये उच्चरित होता है और न ही श्रोता 'गौः' पद के श्रवण से गाय व्यक्ति विशेष भूत अर्थ का ग्रहण ही करता है । यदि व्यक्तिवादी पद का अर्थ गोत्व विशिष्ट व्यक्ति को मानें, तब फिर गोत्व जाति ही पदार्थ होना चाहिये, व्यक्ति नहीं । यदि व्यक्ति को पदार्थ मान लिया जाएगा तो गो शब्द का एक ही गो व्यक्ति के लिए प्रयोग

---

१ चयापचयसंघातस्वस्वामित्वादिकल्पनाः ।
यान्ति व्यक्त्यभिधेयत्वपक्षे झडिति संगतिम् ॥
—न्या० म०, भाग १, पृ० २९२

२. उपलक्षणमाश्रित्य जातिसम्बन्धवेदनम् ।
प्रसेत्स्यतीति नानन्त्यव्यभिचारकृतो ज्वरः ॥ —वही, पृ० २९२

३. व्यक्तेरेव पदार्थत्वं तस्मादभ्युपगम्यताम् ।
तथा च बुद्धिस्तत्रैव श्रुतशब्दस्य जायते ॥ —वही, पृ० २९२

४. न हि यस्यां कस्याञ्चिद् व्यक्तौ गोशब्दं वक्तारः प्रयुञ्जते, न च यां काञ्चिद् व्यक्तिं गोशब्दाच्छ्रोतारः प्रतिपद्यन्ते । —वही, पृ० २९२

सम्भव है, दूसरे गो व्यक्ति के लिये पुनः उसी गो शब्द का प्रयोग नहीं होगा, जबकि यह बात प्रयोग और प्रतिपत्ति के विरुद्ध है। यदि सभी गो व्यक्तियों के लिये 'गौः' शब्द का प्रयोग स्वीकार किया जाय तब तो सभी गो व्यक्तियों में समवेत एव सार्व गोत्व जाति ही पदार्थ होगी, गो व्यक्ति नहीं।

यदि यह स्वीकार किया जाय कि द्वितीय आदि गो व्यक्ति प्रथम गो व्यक्ति से अविशिष्ट होता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दो भिन्न गो व्यक्तियों में यदि व्यक्तिवादी एकत्व स्वीकार कर सकता है, तब तो उसे गो व्यक्ति और अश्व व्यक्ति में भी अभिन्नता स्वीकार कर लेनी चाहिए, जो किसी को भी अभिमत नहीं है। अतः पद का अर्थ व्यक्ति नहीं हो सकता, जाति ही पद का अर्थ है। व्यक्ति पक्ष में आलम्भन, विशसन, प्रोक्षण आदि क्रियाओं की उपपत्ति के कारण भी व्यक्ति को पदार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि जाति में भी पूर्णतः क्रिया की अनुपपत्ति नहीं होती। कुछ सन्दर्भों में क्रिया की उपपत्ति व्यक्ति में होती है, तो कुछ सन्दर्भों में जाति में भी क्रिया उपपन्न है। जैसे 'श्येनचितं चिन्वीत' यहाँ अग्नि-चयन-क्रिया के प्रति जाति की अङ्गता है, व्यक्ति की नहीं।[1] यहाँ 'पशुना-यजेत' आदि की तरह क्रिया के प्रति श्येन साधन होते से अङ्ग नहीं है, क्योंकि यहाँ इष्टिकानिचय आदि कुछ क्रियाओं के कारण अग्नि श्येन नहीं हो जाती, वरन् केवल श्येन के आकार में अग्नि चयन किया जाता है। अतः यहाँ अग्नि चयन का सम्बन्ध श्येनत्व जाति से है, क्योंकि श्येन व्यक्ति से अग्नि-चयन का सम्बन्ध नहीं होता।[2] मीमांसकों का कहना है कि जिस प्रकार मूर्त्त देहेन्द्रिय के माध्यम से अमूर्त आत्मा को औदुम्बरी सम्मार्जन या अग्न्यवेक्षण आदि का कर्त्ता कहा जाता है, उसी प्रकार अमूर्त जाति को मूर्त व्यक्ति के माध्यम से क्रियाओं से सम्बद्ध स्वीकार किया जा सकता है।[3] उसी तरह 'छः संख्या में दान देना चाहिए' आदि सख्या की योजना या 'उपाकृत पशु के भाग जाने पर उसी वर्ण और अवस्था वाले अन्य पशु को लाया जाना चाहिए'—आदि अन्य-योजना भी जाति में व्यक्ति के माध्यम

---

१. श्येनचितं चिन्वीत इति वचनमाकृतौ संभवति यद्याकृत्यर्थः श्येनशब्दः। व्यक्तिवचने तु न चयनेन श्येनव्यक्तिरुत्पादयितुं शक्यत इत्यशक्यार्थवचनादनर्थकः। तस्मादाकृतिवचनः। —शा० भा०, पृ० ३०२

२. न ह्यत्र श्येनः साधनत्वेन निर्दिश्यते पशुना यजेतेतिवत्, न हीष्टिकानिचयेन पतत्री अभिनिर्वर्तते तदाकारस्त्वग्निरभिनिर्वर्त्यते इत्यत्र जातेः क्रियाङ्गत्वं न व्यक्तेः। —न्या० म०, भाग १, पृ० २९३

३. जातिरपि व्यक्तिवर्त्मना तन्निर्वर्त्तयन्ती साधनतां लप्स्यते।—वही पृ० २९४

से उपपन्न हो जाएगी। अतः व्यक्तिवादी के ये आक्षेप भी जातिवाद पर नहीं होंगे। अतः जाति को पदार्थ होना चाहिए, व्यक्ति को नहीं।

व्यक्तिवादी यह आक्षेप करते हैं कि चूँकि पद का सम्बन्ध उस अर्थ से होता है जो प्रत्यक्ष का विषय हो और जाति भी प्रत्यक्ष का विषय होती है और व्यक्ति भी होता है, अतः व्यक्ति पदार्थवाद में प्रत्यक्ष विषयता की आपत्ति नहीं हो सकती। इस मान्यता के विरोध में कुमारिल का कहना है[1] कि वस्तु के अनेकाकारक स्वभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता, वरन् सामान्यांश से युक्त वस्तु का ही प्रत्यक्ष होता है। इसलिए सामान्य ही शब्दार्थ हो सकता है। यदि एक ही वस्तु अनेक आकारों वाली हो तो शब्द उसके उसी बहुरूपी स्वभाव का वाचक होने के कारण सामान्य मात्र का कथन करने में समर्थ न होता, परन्तु कोई शब्द अनेकाकारक किसी वस्तु का अभिधान नहीं कर सकता, अपितु किसी विषय में सभी पदों की प्रवृत्ति केवल सामान्य को ग्रहण करके ही होती है। अतः प्रत्यक्षविषयता केवल सामान्य में ही उपपन्न होती है और इसलिए पद का अर्थ व्यक्ति न होकर जाति ही होना चाहिये।

(४) जयन्त का स्वाभिमत पदार्थ सिद्धान्त :

जयन्तभट्ट 'तद्वान्' जातिविशिष्ट व्यक्ति को पदार्थ मानते हैं। इसमें प्रमाण शिष्ट-प्रयोग है। सामान्यतः शिष्ट लोग जाति-विशिष्ट व्यक्ति का ही ग्रहण पदार्थ के रूप में करते हैं। जैसे 'गां देहि' आदि वाक्यों में दान क्रिया का कर्म न तो गोत्व जाति है और न गो आकृति है। दान क्रिया से गो व्यक्ति का सम्बन्ध है, जो गोत्व जाति विशिष्ट है।[2] प्रत्येक पद का मुख्यार्थ जाति विशिष्ट व्यक्ति होता है—यह मानने पर ही वाक्य में उद्देश्य और विधेय का सामानाधिकरण्य उपपन्न हो सकता है।

जयन्त का कहना है कि यदि पदार्थ जाति विशिष्ट व्यक्ति न मानकर केवल जाति को माना जाय तो 'गौ.' पद के अर्थ और 'गोत्वम्' पद के अर्थ में कोई भेद नहीं रह जाएगा। जो ज्ञान 'गौः शुक्लः' कहने पर होगा, वही ज्ञान 'गोत्वम्-शुक्लम्' कहने पर होगा और इस प्रकार जाति को इंगित करने वाले भाववाचक प्रत्यय

---

१. न च तत्तादृशं कश्चिच्छब्दः शक्नोति भाषितुम्।
सामान्यांशानपोद्धृत्य पदं सर्वं प्रवर्तते॥
—श्लो० वा०, आकृति०। ६३।

२. अन्येषु तु प्रयोगेषु गां देहीत्येवमादिषु।
तद्वतोऽर्थक्रियायोगात्तस्यैवाहुः पदार्थताम्॥—न्या० म०, भाग १, पृ० २९५

'त्व' 'तल्' आदि भाववाचक नहीं रह जायेंगे वरन् 'चातुवर्ण्य' आदि स्वार्थवाची शब्दों की तरह गोत्वादि भाववाची शब्दों का गो पदार्थ से भिन्न अर्थ नही होगा। जबकि 'गौः शुक्लः' में 'गौः' और 'शुक्लः' पदों का सामानाधिकरण्य केवल तभी सम्भव है, जब 'गौः' पद का अर्थ जातिविशिष्ट व्यक्ति माना जाय, क्योंकि जाति से 'शुक्लः' गुण का सामानाधिकरण्य कथमपि उपपन्न नहीं हो सकता।

व्यक्तिबोध की उपपत्ति—

आचार्य जयन्त का कहना है कि जिस प्रकार मीमांसक यह मानते हैं कि वाक्यार्थ विधि में पर्यवसित होकर अर्थ बोधन कराता है, उसी प्रकार उन्हें यह भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि पद व्यक्ति में पर्यवसित होकर अर्थबोधन कराता है।[1] जो मीमांसक वाक्यार्थ बोध की संगति के लिए अन्वित पदों का अभिधान मानते है, उन्हें यह भी मानना चाहिए कि पदों से व्यक्ति-परक अर्थ का ही ज्ञान होता है। व्यक्ति के पदार्थ न होने पर जब 'शुक्लः गौः' वाक्य में सभी पदों का अर्थ जाति होगा तो व्यक्ति निरपेक्ष जातियों का परस्पर अन्वय सम्भव नहीं है, जबकि अन्विताभिधानवादी प्राभाकरों को अनन्वित पदों का अभिधान अभीष्ट नहीं है। अतः अन्विताभिधान की उपपत्ति के लिये पद का अर्थ व्यक्ति ही मानना होगा।[2] मुख्य वृत्ति को उपेक्षित करके 'गौः' पद का मुख्यार्थ जाति मानते हुए उनसे लक्षणा वृत्ति द्वारा व्यक्ति अर्थ का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। जिस प्रकार 'गंगायां घोषः' में गगा पद के मुख्यार्थ जल प्रवाह के बाधित होने पर मुख्यार्थ के सामीप्य अर्थ में लक्षणा की जाती है, उस प्रकार यहाँ 'शुक्लः गौः' वाक्य में 'गौः' के मुख्मार्थ गोत्व जाति के बाधित होने पर जाति के आश्रयभूत गो व्यक्ति अर्थ में लक्षणा नहीं स्वीकार की जा सकती, क्योंकि लोक प्रायः पदों का मुख्यार्थ में ही प्रयोग करता है। 'शुक्लः गौः' वाक्य में पदों का अन्वय और सामानाधिकरण्य मुख्य वृत्ति द्वारा ही उपपन्न होता है, गौणवृत्ति से नहीं।[3] वृद्ध व्यवहार से हम जानते हैं कि 'गौः' आदि पदों का प्रयोग व्यक्ति अर्थ में ही होता है, जाति या आकृति अर्थ में

---

१. यथा विध्यन्तपर्यन्तो वाक्यव्यापार इष्यते।
तथैव व्यक्तिपर्यन्तः पदव्यापार इष्यताम्॥ —न्या० म०, भाग१, पृ० २९७

२. येनान्विताभिधानं च पदानामभ्युपेयते।
सुतरां तेन वक्तव्या व्यक्त्यन्ता पदतो मतिः॥ —वही, पृ० २९७

३. गङ्गायां घोष इत्यादौ यथा सामीप्यलक्षणा।
नैवं गौः शुक्ल इत्यादौ गम्यते व्यक्तिलक्षणा॥ —वही, पृ० २९७

नहीं । अतएव यह स्पष्ट है कि पद का प्रधान अर्थ व्यक्ति है जो जाति से विशिष्ट होता है । अतः जयन्त का 'तद्वान् पदार्थः' का मत सर्वथा स्वीकरणीय है ।

व्यक्तिवाद में जाति और आकृति का गुण-प्रधान-भाव प्रदर्शन—

यह ठीक है कि पद का अर्थ जाति विशिष्ट व्यक्ति ही होता है । परन्तु जयन्त अपने सिद्धान्त को यहाँ कुछ शिथिल कर देते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि कभी कभी कुछ विशिष्ट प्रयोगों में व्यक्ति, जाति और आकृति इन अर्थों में गुण-प्रधान-भाव होता है । जाति-विशिष्ट व्यक्ति के रूप में अभिमत पदार्थ एक सामान्य सिद्धान्त हैं और जाति, आकृति या व्यक्ति का गुण-प्रधान-भाव सम्बन्धी मत उसका अपवाद है । इसके लिए जयन्त सूत्रकार का एक सूत्र उद्धृत करते हैं, जिसमें पदार्थ के रूप में जाति, आकृति और व्यक्ति—तीनों का समुच्चय किया गया है ।[१] जयन्त का कहना है कि सूत्र में आया हुआ 'तु' शब्द विशेषता बताने के लिये आया[२] है । पद का अर्थ तो सामान्यतः व्यक्ति, आकृति और जाति है, परन्तु 'तु' शब्द से प्रसङ्गानुकूल किसी एक का प्रधान भाव हो जाता है और शेष दो गौण हो जाते हैं । इस प्रकार कभी व्यक्ति का प्राधान्य होता है—आकृति और जाति गौण होते हैं तथा कभी जाति का प्राधान्य होता है और व्यक्ति, आकृति गौण होते हैं । 'गां मुञ्च', 'गां बधान' आदि वाक्यों में 'गाम्' पद का अर्थ व्यक्ति है, क्योंकि किसी गाय व्यक्ति को उद्देश्य करके छोड़ने या बाँधने के कार्य का व्यपदेश हो रहा है । अतः यहाँ व्यक्ति अर्थ प्रधान है और जाति गौण है ।[३] अतः यहाँ जात्याकृतिविशिष्ट व्यक्ति 'गौः' पद का अर्थ होगा । 'गौः पदा न स्प्रष्टव्या' वाक्य में 'गौः' पद का अर्थ जाति है, अतः यहाँ जाति की प्रधानता है; व्यक्ति अर्थ गौण है,[४] क्योंकि यहाँ गोत्व सामान्य के चरण से स्पर्श का निषेध किया गया है और यह प्रतिषेध किसी गाय विशेष के लिये न होकर गोत्व विशिष्ट सभी गायों के लिये है, अतः यहाँ जाति अर्थ की प्रधानता है । कहीं पर पद के अर्थ में आकृति का प्राधान्य होता है, व्यक्ति गौण होता है और जाति का अभाव होता है ।[५] जैसे—'पिष्टकमय्यः गावः क्रियन्ताम्' यहाँ 'गावः' पद से प्रधानतया

---

१. जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थः । —न्या० सू०, २।२।६८

२. तु शब्दो विशेषणार्थः । किं विशिष्यते ? गुणप्रधानभावस्य नियमेन शब्दार्थत्वम् । —न्या० म०, भाग १, पृ० २९७

३. क्वचिद् व्यक्तेः प्राधान्यं जातेरङ्गभावः । वही, पृ० २९७

४. क्वचिद् प्रयोगे जातेः प्राधान्यं व्यक्तेरङ्गभावः । —वही; पृ० २९७

५. क्वचिदाकृतेः प्राधान्यं व्यक्तेरङ्गभावो जातिर्नास्त्येव । —वही, पृ० २९७

आकृति अर्थ लिया जाएगा, क्योंकि विधान का कर्म आकृति है जिससे पिष्टक कर्म का विशेष्यविशेषणभाव रूप सामानाधिकरण्य है। यहाँ गो व्यक्ति का जो सन्निवेश (आकृति) है, वही 'गाव.' पद के अर्थ के रूप में अभीष्ट है, अतः उसका प्राधान्य है और सन्निवेश के आश्रय के रूप में व्यक्ति का अङ्ग भाव है। कुछ ऐसे भी अर्थ होते हैं जिनमें न तो आकृति होती है और न जाति; जैसे आकाश आदि। अतः इनसे केवल निर्विशेष व्यक्ति ही वाच्य होता है, जाति आकृति आदि का गुण भाव भी नहीं होता।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि जब जयन्त को पदार्थ के रूप में व्यक्ति अभीष्ट है तो यह शिथिलता क्यों स्वीकार की गयी? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि जयन्त को व्यक्तिपदार्थवाद ही अभिमत है, परन्तु कहीं कुछ विशेष सन्दर्भों में जिनको जातिवादी या आकृतिवादी अपने पक्ष के समर्थन में उद्धृत करते हैं और जहाँ जाति या आकृति ही मुख्यार्थ के रूप में अभीष्ट है, उन अंशों की संगति व्यक्तिवाद के साथ बिना इस शैथिल्य के सम्भव न होती, क्योंकि लक्षणावृत्ति यहाँ हो नहीं सकती। अतः अभिधावृत्तिलभ्य इन अर्थों की संगति के लिये आचार्य जयन्त ने यह स्वीकार किया कि व्यक्ति पदार्थवाद में उन-उन सन्दर्भों में व्यक्ति गौण भाव को प्राप्त हो जाता है और जाति या आकृति रूप अर्थ प्रधान हो जाते हैं। आचार्य जयन्त के मत में प्रायः सर्वत्र पद से व्यक्ति अर्थ प्राधान्येन गृहीत होता है और बहुत विरल सन्दर्भों में व्यक्ति का जाति अथवा आकृति के प्राधान्य की अपेक्षा से गुणभाव होता है।

वाच्यार्थ के जयन्त सम्मत विविध रूप :

हम इस अध्याय के प्रारम्भ में यह देख चुके हैं कि जात्यादि चार प्रकार के नाम पद होते हैं। इन चारों प्रकार के पदों से जयन्त को व्यक्ति अर्थ ही अभीष्ट है। परन्तु जाति, क्रिया, गुण और यदृच्छा इन चारों प्रकार के पदों से एक रूप का अर्थ अभीष्ट नहीं है। अतः हम इनके वाच्यार्थ के विषय में अलग-अलग विचार करेंगे।

(१) जाति शब्दों का वाच्यार्थ—आचार्य जयन्त का अभिमत है कि गोत्व, शुक्लत्व, चलत्वादि भाववाचक संज्ञा पदों का अर्थ प्रधानतः जाति होता है और गौण रूप से व्यक्ति जाति के आश्रय के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह व्यक्ति द्रव्य भी हो सकता है, गुण या कर्म भी हो सकता है। यदृच्छा शब्दों में जाति होती ही नहीं, अतः व्यक्ति वाचक संज्ञायें जाति का आश्रय नहीं बन सकतीं।

(२) गुण शब्दों का वाच्यार्थ—गुण शब्दों का दो प्रकार से प्रयोग होता है। कुछ गुण शब्दों का अर्थ स्वजाति से अवच्छिन्न गुण व्यक्ति होता है, जैसे—गन्ध, रूप, रस आदि शब्दों का वाच्यार्थ होगा—गन्धत्वादि से अवछिन्न गन्धादि गुण। ऐसे गुण शब्दों से न तो जाति वाच्य होती है और न ही गुणाश्रयभूत द्रव्य। दूसरी ओर कुछ गुण शब्द ऐसे भी होते हैं जिनके अर्थ के रूप में गुण और गुणाश्रय द्रव्य दोनों अभीष्ट होते हैं। शुक्ल इन्यादि गुण शब्द शुक्लत्व विशिष्ट शुक्ल गुण का अभिधान करने के साथ-साथ शुक्ल गुण के आश्रयभूत द्रव्य को भी आक्षिप्त करते हैं, क्योंकि इनका द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य होता है। इस प्रकार वे गुण शब्द जिनका सामानाधिकरण्य द्रव्य के साथ होता है, उनका वाच्यार्थ गुण के साथ-साथ द्रव्य भी होता है। जिन गुण शब्दों का सामानाधिकरण्य द्रव्य के साथ नहीं होता उनसे केवल तद्गुणत्व विशिष्ट गुण ही वाच्य होता है।[१] इन शब्दों की द्रव्य में कभी भी शक्ति नहीं होती, क्योंकि 'गन्धः पद्मः' या 'ओदनं गन्धः' या 'आम्रं रसः' इस प्रकार के सामानाधिकरण्य से युक्त प्रयोग नहीं होते। द्रव्य से सामानाधिकरण्य रखने वाले गुण शब्द भी जब किसी वाक्य में भाववाचक संज्ञाओं की तरह प्रयुक्त होते हैं और गुणपद के विशेषण के रूप में अभीष्ट होते हैं, तब इनका भी केवल गुण मात्र अर्थ होता है। जैसे—'अश्वे शुक्लः गुणः' में शुक्ल पद का अर्थ गुण मात्र है, गुणाश्रय व्यक्ति नहीं, क्योंकि यहाँ शुक्ल पद शौक्ल्य की तरह प्रयुक्त हुआ है।

द्रव्य शब्दों का अर्थ—व्यक्तिवाचक संज्ञा पदों को द्रव्य शब्द या यदृच्छा-शब्द कहते हैं। व्यक्ति मात्र का अभिधान करने वाले डित्थ डवित्थ आदि पदों का अर्थ मात्र 'व्यक्ति' होता है। इन पदों से गौण या प्रधान किसी भी रूप में जाति अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। यह शंका की जा सकती है कि डित्थ नाम वाले अनेक व्यक्तियों में डित्थत्व जाति रहती है, क्योंकि वह डित्थ नाम वाले पदार्थों को डवित्थादि नाम वाले शेष पदार्थों से व्यवछिन्न करती है और समस्त डित्थ नाम वाले व्यक्तियों में डित्थत्व का सदृश प्रत्यय कराती है। परन्तु डित्थ नाम किसी एक व्यक्ति का भी अभीष्ट होता है। जब वक्ता कहता है 'डित्थमानीयताम्' वहाँ उसका तात्पर्य केवल एक व्यक्ति विशेष से होता है, जिसका नाम डित्थ है। एकत्व जातिबाधक है। अतः गगनत्व आदि की तरह एक व्यक्ति में डित्थत्व जाति का कल्पना नहीं की जा सकती।

---

१. गुणैकनियतास्तावद् गन्धरूपरसादयः ।
गन्धत्वादिव्यवच्छिन्नगन्धादिगुणवाचिनः ॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० २९८

क्रिया शब्दों का अर्थ—क्रिया वाचक सुबन्त नाम शब्द दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो कर्त्ता, कर्म या करण अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, जैसे पाचकादि शब्द और कुछ का अर्थ भाव होता है, जैसे—पाकादि शब्द। कर्त्रादि वाचक, पाचकादि क्रियायें किसी क्रिया को निमित्त करके उस क्रिया के आश्रयभूत द्रव्य में वर्तमान होती हैं। यदि यह शंका करें कि कभी-कभी किसी व्यक्ति को तब पाचक कहा जाता है जब उसमें पाक व्यापार का कर्तृत्व नहीं दिखता, अतः किसी क्रिया को उद्देश्य बनाकर उसके आश्रय द्रव्य रूप अर्थ को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? जयन्त का उत्तर है कि यह अभिधान योग्यता के कारण होता है। योग्यता के कारण पाचक में पाचनातिरिक्त काल में भी पाचकत्व का ज्ञान होता है, क्योंकि जब हम किसी व्यक्ति को पाचक या लावक कहते है, वहाँ हमारा यह तात्पर्य नही होता कि वह उस समय पका रहा है या काट रहा है। पाचन, लवन आदि क्रियाओं के अभाव में भी व्यक्ति में पाचक लावक आदि शब्दों का प्रयोग होता है। इसलिए इन कर्त्ता, कर्म या करणवाची क्रिया पदों के प्रयोग का निमित्त कुछ और होता है और उसका वाच्यार्थ कुछ और होता है।[१] इस प्रकार कर्त्रादि-वाची क्रिया पदों की प्रवृत्ति का निमित्त तो क्रिया है, परन्तु उसका वाच्यार्थ उस क्रिया से सम्बद्ध कर्त्ता, कर्म, या करण रूप कारक होते हैं।

भाववाचक क्रियापदों का अथ क्रिया होता है। यद्यपि क्रिया अपनी साध्या-वस्था में अनेक छोटी क्रियाओं का संघात होती है, परन्तु सभी गौण त्रियाओं के सम्पन्न हो जाने पर क्रिया सिद्ध हो जाती है। यही सिद्ध क्रिया ही पाकादि भाववाचक त्रियापदों का अर्थ होती है। इस प्रकार कर्त्तादि की प्रवृत्ति की हेतुभूत जो सिद्ध क्रिया होती है वह भाववाचक क्रिया पदों का वाच्यार्थ है। जैसे—पाक शब्द का अर्थ है—पाक क्रिया जो पाचक के पचन व्यापार में प्रवृत्ति का हेतु है।

उपसर्ग पदों का अर्थ—संज्ञा पदों से अविभक्त उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीयों का अर्थ भी नामों के अर्थ पर विचार करते समय विचारणीय है। प्रयोग और प्रतिपत्ति से यह स्पष्ट होता है कि उपसर्गादि पदों का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है।

---

१. अन्यत्प्रवृत्तौ शब्दस्य निमित्तमवगम्यते।
अभिधेयं तु तस्यान्यदित्ययं प्रथमः क्रमः॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० २९९

२. क्वचित्पुनः यदेवास्य स्यात्प्रवृत्तिनिबन्धनम्।
तस्यैव वाच्यता भावप्रत्ययान्तपदेष्विव॥ —वही, पृ० २९९

प्रायेण उपसर्गों का प्रयोग धातु से सम्बद्ध होता है, परन्तु कभी-कभी ये नामों से भी सम्बद्ध होते हैं। जैसे—'प्रगतं वय: यस्य स प्रवया:' या 'प्रगतः आचार्य प्राचार्य' आदि में उपसर्ग प्र नाम पदों से सम्बद्ध है। आख्यात से सम्बन्ध रखने वाले उपसर्गों से धातु के मौलिक अर्थ में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं, जैसे हृ धातु से वि, आङ्, सम्, प्र, परि उपसर्गों को सम्बद्ध करके बनने वाले विहार, आहार, संहार, प्रहार, परिहार इन पदों का अर्थ धातु के मूल अर्थ (हरण करना) से भिन्न क्रमशः भ्रमण करना, भोजन करना, मार डालना, प्रताडित करना, छोड़ देना होगा। इस प्रकार उक्त उपसर्गों के प्रयोग के कारण धात्वर्थ में भिन्न-भिन्न परिवर्तन होते हैं।[1] प्रस्थित आदि पदों में उपसर्ग मूल धात्वर्थ का विरोधी अर्थ प्रस्तुत करता है जिससे कुछ लोग इसके विशेषणत्व पर आक्षेप करते हैं, परन्तु जयन्त का कहना है कि अनेकार्थ वाची धातु का नियत अर्थ में प्रयोग कराने के कारण उपसर्ग धातु का विशेषण होता है और इस प्रकार धातु के साथ सम्बद्ध होकर उपसर्ग भिन्न-भिन्न अर्थ प्रस्तुत करता है।

निपातों और कर्मप्रवचनीयों का अर्थ—च आदि निपातों प्रति, अनु, आदि कर्मप्रवचनीयों का विभिन्न अर्थों में प्रयाग होता है। अव्यय शब्दों तथा कर्मप्रवचनीय शब्दों का अर्थ विभिन्न भाषायी प्रयोगों द्वारा जाना जाता है, अतः यहाँ उस पर विचार करने की अपेक्षा नहीं है।

□

---

१ उपसर्गवशाद्धातुरर्थान्तरविलासकृत् ।
विहाराहारसंहारप्रहारपरिहारवत् ॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० २९९
तुलनीय—उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥ —वा० प०।

सप्तम अध्याय

वाक्यार्थवाद एवं वाक्यार्थबोध

वाक्य का स्वरूप

पिछले अध्याय में पद के स्वरूप और पद के अर्थ के विषय में विचार किया गया। प्रस्तुत अध्याय में वाक्य के स्वरूप और वाक्य के अर्थ पर विचार किया जायेगा। शब्द-प्रमाण के सन्दर्भ में वाक्य शब्द का प्रयोग सबसे पहले वाचस्पति मिश्र ने किया है। वाचस्पति मिश्र से पूर्ववर्त्ती आचार्य अक्षपाद, वात्स्यायन और उद्योतकर ने शब्द प्रमाण के लिये उपदेश शब्द पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा। सूत्रकार के 'उपदेशः' पद से वाचस्पति मिश्र ने 'वाक्यज्ञान' अर्थ लिया है। शाब्दी प्रमा के प्रति प्रमाण बनने वाला यह साधकतम तत्त्व 'वाक्यज्ञान' है। वाक्योच्चारण के बाद श्रोता वाक्य का श्रवण करता है, श्रवण के अनन्तर श्राता को वाक्य का ज्ञान होता है (अनुव्यवसाय रूप में), वाक्यज्ञान के बाद वाक्यगत पदों के अर्थ का स्मरण होता है और तब शाब्दी प्रमा उत्पन्न होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ-ज्ञान या शाब्दी प्रमा का कारण अर्थात् शब्द प्रमाण है—वाक्य ज्ञान और पदार्थ-स्मरण अवान्तर व्यापार है। इसी तरह वाक्यार्थ ज्ञान के बाद हानादि बुद्धियाँ प्रमा होती हैं, तब वाक्यार्थ ज्ञान ही शब्द प्रमाण होता है।[1] इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने वाक्य ज्ञान और वाक्यार्थज्ञान को शब्द-प्रमाण कहा है। आचाय जयन्त ने उपदेश शब्द के अर्थ के रूप में वाक्य का ग्रहण तो नहीं किया, परन्तु शब्द प्रमाण के रूप में जयन्त को भी वाक्य ही अभीष्ट है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि शब्द प्रमाण बनने वाला शाब्दी प्रमा का हेतुभूत शब्द जयन्त को पदात्मा और वाक्यात्मा रूप में अभिमत है। इनमें से पद के रूप में शब्द शाब्दी प्रमा की उत्पत्ति का हेतु नहीं बनता, क्योंकि इसके द्वारा निरपेक्ष एवं पूर्ण अर्थ की प्रतीति

---

1. उपदिश्यतेऽनेनेति उपदेशो वाक्यज्ञानं वा तदर्थज्ञानं वा अभिधीयते। तत्र वाक्यज्ञानं प्रामाण्यपक्षे तदर्थज्ञानं फलं, पदार्थस्मृत्यादयस्त्वन्तरालिका इति-कर्तव्यताः। तदर्थज्ञानप्रामाण्यपक्षे तु हानादिबुद्धिः फलम्।

—ता० टी०, १।१।७

नहीं होती। निराकांक्ष एवं पूर्ण अर्थ का बोध कराने के कारण वाक्य ही शाब्द-बोध के प्रति हेतु बनता है। जयन्त ने वाक्य के अर्थ और वाक्यार्थबोध की उपपत्ति सम्बन्धी विचार 'न्यायमञ्जरी' में प्रस्तुत किया है। वाक्य के अर्थ और उसकी उपपत्ति के पूर्व वाक्य के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है।

वाक्य कुछ पदों का समूह होता है। इस पदसमूहभूत वाक्य का प्रयोग वक्ता अपने अभिप्राय को श्रोता तक पहुँचाने के लिये करता है। किसी अभीष्ट अर्थ को श्रोता तक पहुँचाने के लिये वक्ता कुछ ऐसे पदों का प्रयोग करता है जो वक्ता के अभिप्रेत अर्थ को संकेतित करने में समर्थ होते हैं और सभी पद मिलकर एक पूर्ण अर्थ का अभिधान करते हैं। वाक्यगत पदों के अर्थ का श्रोता संकेत द्वारा ग्रहण करता है और सभी पदों के अर्थ ग्रहण द्वारा वह एक पूर्ण अर्थ का बोध करता है, चूँकि इस अर्थबोध का आधार शब्द के रूप में पद होते हैं, इसीलिये इस बोध को शाब्दबोध या शाब्दी प्रमा कहते हैं।[१]

सामान्यतया पदों के समूह को ही वाक्य समझा जाता है, परन्तु पदों का प्रत्येक समूह वाक्य नहीं कहा जा सकता। पद समूहभूत वाक्य से एक अर्थ का अभिधान होना चाहिये।[२] जब पद एक विशेष स्थिति में उच्चरित होते हैं, तभी इनके समूह को वाक्य कहा जा सकता है। पदों के समूह की ये आवश्यक शर्तें हैं—वाक्यगत पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य का होना। वाक्य किसे कहते हैं—इस विषय में भर्तृहरि ने आठ विकल्प प्रस्तुत किया है,[३] जो इस प्रकार हैं—

(१) आख्यातशब्दो वाक्यम्, (२) पदसंघातः वाक्यम्,
(३) संघातवर्तिनी जातिः वाक्यम्, (४) एकोऽनवयवः शब्दः वाक्यम्,

---

1. A sentence is used to convey some meaning to the hearer. This is done through the use of words. The hearer understands the meaning of words used in a sentence and forms a verbal knowledge which is technically called Shabda bodh. The Shabda-bodh is a total knowledge arising from words but words used in any combination would not yield that knowledge. Words used under certain conditions would yield some meanings."

—The Problem of Meaning in Indian Philosophy, Page 156

२. एकार्थपरः पदसमूहो वाक्यम्। —श्लो० प्र०, भाग ३, पृ० १०१

३. वा० प० वाक्यखण्ड, १,२

(५) क्रमः वाक्यम्, (६) बुद्धयनुसंहृतिः वाक्यम्,
(७) आद्यं पदं वाक्यम्, (८) पृथक् सर्वं पदं साकांक्षम् वाक्यम्,

वाक्य की मौलिक परिभाषा प्रातिशाख्य में उपलब्ध होती है। प्रातिशाख्य के 'पदप्रकृतिः संहिता' का परवर्त्ती काल में दो प्रकार अर्थ लिया गया—(१) 'पदानां प्रकृतिः कारणम् इति पदप्रकृतिः संहिता' और (२) पदानि प्रकृतिर्यस्याः सा पदप्रकृतिः संहिता।' इस प्रकार एक में पदों को वाक्य का कारण माना गया है तथा दूसरे विग्रह में वाक्य को ही पदों का कारण माना गया है। इस प्रकार वाक्य के स्वरूप के विषय में प्रधानतः दो विचारधारायें प्रचलित हुई। एक विचार में वाक्य के खण्ड स्वीकार किये गये और खण्डभूत पदों से वाक्य की रचना मानी गयी। दूसरे पक्ष में वाक्य को निरवयव और अखण्ड माना गया और यह स्वीकार किया गया कि वाक्य के अंश या टुकड़े नहीं किये जा सकते और वाक्य में पद की कोई सत्ता नहीं है। केवल व्यवहार के निर्वाह के लिये वाक्य में पदों की सत्ता मान ली गयी है। पदों का न तो स्वतन्त्र अस्तित्व है और न ही उनका अपना कोई स्वतन्त्र अर्थ है। भर्तृहरि द्वारा प्रस्तुत आठों विकल्पों में से तीसरा, चौथा और छठा मत अखण्ड पक्ष के हैं और प्रथम, द्वितीय, पंचम, सप्तम अष्ठम मत खण्ड पक्ष के हैं। वाक्य की अखण्डता एवं सखण्डता के अतिरिक्त वाक्य द्वारा वाक्यार्थबोध के विषय में अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद—शाब्दबोध के अन्वय सम्बन्धी दो सिद्धान्त विकसित हुए। यहाँ प्रस्तुत आठ पक्षों में से पद-संघात और क्रम के रूप में वाक्य की स्वीकृति अभिहितान्वयवाद की है और आख्यात शब्द, आद्यपद अथवा अलग-अलग सभी पद साकांक्ष होते हैं—इस रूप में स्वीकृत वाक्य स्वरूप अन्विताभिधानवाद का समर्थन करता है।[1]

वाक्य पर विचार करना मीमांसा का विषय है, अतः यहाँ पर वाक्य के स्वरूप पर विशेष विचार करना आवश्यक नहीं है। यहाँ केवल न्याय-वैशेषिक को अभिमत वाक्य के स्वरूप पर विचार करना चाहिये।

न्यायदर्शन वाक्यार्थबोध में अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करता है। न्यायमत में वाक्य की अखण्डता का विरोध किया गया है और पदों के समूह को वाक्य माना गया है। वाक्य में पृथक् पदों की स्वतन्त्र सत्ता होती है और पदों का स्वतन्त्र अर्थ होता है, जिस पर पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। वाक्य में पद के स्वतन्त्र अर्थ को स्वीकार न करने वाले प्राभाकर मीमांसक

१. द्रष्टव्य—वाक्यपदीय-वाक्यखण्ड—१,२ पर पुण्यराजकृत 'प्रकाशटीका'।

अन्विताभिधानवाद को स्वीकार करते हैं। अखण्ड वाक्य-स्फोट मानने वाले वैयाकरण भी न्यायमत के विरोधी हैं। भाट्ट मीमांसक एवं नैयायिक अभिहितान्वयवाद स्वीकार करते हैं। जयन्तभट्ट का एतद्विषयक मत यहाँ भिन्न है। ये अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद—दोनों का ही निषेध करते हैं और दोनों मतों से भिन्न अपना मत प्रस्तुत करते हैं जिसे सहत्यकारितावाद कहा गया और परवर्त्ती शास्त्रकारों—विशेषत: भोज ने जयन्त के इस मत को स्वीकार किया है।

नैयायिकों को अभिमत वाक्य पदों का समूह है। परन्तु पदों का प्रत्येक समूह वाक्य नहीं हो सकता। वाक्यगत पदों में आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि को आवश्यक स्वीकार किया है।[१] कुछ नैयायिक तात्पर्य को भी पदों में समवेत मानते हैं। इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य से युक्त पदों का समूह ही वाक्य कहा जा सकता है।[२] आकांक्षादिमान् पदसमूहभूत वाक्य में जाति, गुण, द्रव्य अथवा क्रिया के वाचक सुबन्त पद जिन्हें नाम कहा जा सकता है, कई हो सकते हैं जबकि प्राधान्येन तिङन्त आख्यात पद एक वाक्य में एक ही होता है। इसलिये वाक्य में एक क्रिया होती है और क्रिया से अन्वित अन्य पदों का अर्थ कारक होता है। परवर्त्ती नैयायिक वाक्य में तिङन्त पद को अनिवार्य नहीं मानते। आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य का ज्ञान शाब्दबोध में हेतु होता है। अत: इनके स्वरूप पर भी विचार करना चाहिये।

आकांक्षा :

अभिधीयमान अर्थ का किसी पद या किन्हीं पदों के अभाव के कारण पूर्ण न होना ही आकांक्षा है।[३] यह आकांक्षा किसी पद की ऐसी असामर्थ्य है जो कुछ अन्य पदों के अभाव के कारण वाक्य का पूर्ण अर्थ स्पष्ट नहीं कर पाती।[४] वाक्य का प्रत्येक पद साकांक्ष होता है और प्रत्येक पद में यही आकांक्षा होती है कि यह पद किससे संसृष्ट है? और यदि वाक्यगत प्रत्येक पद के संसर्ग का

---

१. परस्पराकाङ्क्षावदन्वययोग्यार्थप्रतिपादकसन्निहितपदनिकुरम्बकत्वाद्वाक्यमित्यर्थ:। —तर्कभाषाप्रकाशिका, पृ० १६३

२. कारिकावली, ८२।

3. Akanksha is noncompletion of the sense owing to the absence of some other word or words. —तर्क संग्रह पर बोडास के नोट्स, पृ० ३४१

४. पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा।—त० सं०, पृ० ५२

उत्तर वाक्य की पद संघटना से मिल जाय, केवल तभी वाक्य पूर्ण है। अतः वाक्य की पूर्णता एवं वाक्यार्थ बोध के लिये आकांक्षा अत्यावश्यक है।[1] आकांक्षा से रहित 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती'--यह पदसमूह वाक्य नहीं है। अकेला 'गौः' पद साकांक्ष होने से पूर्ण वाक्यार्थ का बोध नहीं करा सकता। आकांक्षादि की आवश्यकता पर सबसे पहले कुमारिल ने ध्यान दिया।[2] न्याय के क्षेत्र में वाचस्पति मिश्र ने सबसे पहले आकांक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया।[3] वाक्य में आये विभिन्न पदों में एकवाक्यता का होना आवश्यक है और एकवाक्यता की सिद्धि ही आकांक्षा का मुख्य प्रयोजन है। 'गाम्' या 'घटम्' पद साकांक्ष है और इनकी आकांक्षा की शक्ति 'आनय' पद के प्रयोग द्वारा होती है। इस प्रकार वाक्य के विभिन्न पदों को वाक्यार्थ के अन्वय लिये दूसरे पदों की आकांक्षा होती है।[4] यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि आकांक्षा का आश्रय अचेतन पद कैसे हो सकता है? नैयायिकों का उत्तर है कि पद की आकांक्षा श्रोता पुरुष को होती है, यही श्रोतृनिष्ठ आकांक्षा उपचार से पद में भी प्रयुक्त कही जाती है।[5] इस उपचार से बचने के लिए नव्य नैयायिक आकांक्षा का आश्रय पद या अर्थ को न मानकर चेतन श्रोता पुरुष को मानते हैं।

---

१. वाक्यसमयग्राहिका चाकांक्षा सा चैकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोग्यस्यार्थस्य यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छा अस्यान्वयार्थो क इत्येवंरूपा पुरुषनिष्ठैव।

—मञ्जूषा

अपि च, आकांक्षा च पदनिष्ठा यत्पदव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वरूपा।

—भाट्ट-चिन्तामणि, पृ० ६५

२. आकाङ्क्षा सन्निधानं च योग्यता चेति त्रयम्।
सम्बन्धकारणत्वेन क्लृप्तं नान्तरश्रुतिः॥ —तन्त्र वा०, १ पृ० ४५५

३. द्रष्टव्य—ता० टी०, पृ० ५३७।

४. अभिधानापर्यवसानमाकांक्षा। —तत्त्व चिन्ता० शब्द खण्ड, भाग १, पृ० २०८

अपि च, यस्य येन विना न स्वार्थान्वयानुभावकत्वं तस्य तदपर्यवसानम्।

—वही, पृ० २०८

५. यानि तु साकांक्षाणि योग्यतावन्ति सन्निहितानि पदानि तान्येव वाक्यम्।

—तर्कभाषा, पृ० ४८

अपि च—अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषयामर्थान्तरविषयां वाकाङ्क्षां जनयतां प्रतीयमानपरस्परान्वययोग्यार्थप्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम्। —वही, पृ० ४६

योग्यता :

योग्यता का तात्पर्य है अर्थ का अविरोधी होना, ताकि पद विशेष के अर्थ का वाक्य के दूसरे पदों के अर्थ के साथ अन्वय करने पर बाध न हो।[1] जब किसी पद समूह के अर्थ पदार्थों में परस्पर विरोध का अभाव होता है, तो इसे पदों की योग्यता कहा जाता है। 'वह्निना सिञ्चति' या 'जलेन दह्यते' आदि पदसमूह वाक्य नहीं होंगे, क्योंकि वह्नि में सिञ्चमकरणत्व बाधित है और जल में दहबकरणत्व बाधित है। अतः योग्यता का अभाव होने से पदसमूह वाक्य नहीं कहे जायेंगे। वाक्यार्थ के लिये पदार्थों का परस्पर अन्वय आवश्यक है।[2] पदार्थों के अन्वय की यही आवश्यकता पदनिष्ठ योग्यता है जो वाक्यार्थबोध का हेतु है। नव्य नैयायिकों के मत से योग्यता वाक्यार्थबोध के लिए आवश्यक नहीं है, वह केवल वाक्यार्थ के बाधकत्व का प्रतिबन्धक मात्र है।[3]

सन्निधि या आसत्ति :

आसत्ति का तात्पर्य है पदों का बिना बिलम्ब के उच्चारण[4]। दो पदों के उच्चारण के मध्य अनिवार्यकाल (अधिकतम एक क्षण) से अधिक काल का न होना ही अविलम्ब कहा जाता है। 'गाम्' पद के अन्त्यवर्ण मकार के उच्चारण के दूसरे क्षण ही 'आनय' पद के आदि वर्ण का उच्चारण आरम्भ हो जाना चाहिये। न्यायशास्त्र की मान्यता है कि वर्ण क्षणिक होता है। वर्ण समूह ही पद है और पदसमूह ही वाक्य है अतः क्षणिक परम्परा में पूर्व वर्णों के संस्कार और स्मरण पद ज्ञान में और पूर्व पदों के संस्कार और स्मरण वाक्य ज्ञान में सहायक होते हैं।

---

१. अर्थाबाधो योग्यता। —त० सं०, पृ० १५६

२. परस्परान्वयसामर्थ्यं योग्यता। —तर्क० प्रकाशिका, पृ० १६१
अपि च, बाधक प्रमाविरुद्धो योग्यता, सा चेतरपदार्थसंसर्गेऽपरपदार्थनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वप्रमाविशेष्यत्वाभावः।
—तत्त्व चिन्ता०, शब्द खण्ड, भाग १, पृ० २६२-२६३

३. बाधनिश्चयदशायां शाब्दबोधवारणाय योग्यतानिश्चयस्य हेतुत्वं स्वीक्रियते, निरुक्तयोग्यतानिश्चयस्य बाधज्ञानप्रतिबन्धकत्वात्। —वही, पृ० २८४-८५

४. पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। —त० सं०, पृ० १५६
अपि च, सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते। —कारिका०, ८३
अपि च, आसत्तिः पदाव्यवधानम्। —न्या० सि० मु०, पृ० २३८
अपि च, अतएव एकैकशः प्रहरे-प्रहरे असहोच्चारिते गामानयेत्यापादौ नाऽन्वयबोधः सन्निधेरभावात्। —न्या० को०, पृ० १३४ में उद्धृत

इसलिये यदि एक पद के उच्चारण के बाद दूसरा पद विलम्ब से उच्चरित होगा तो पूर्वपद के संस्कार और पदार्थ स्मरण उत्तरवर्त्ती पद के उच्चारण काल में उपस्थित नहीं हो सकते। 'गाम् आनय' इन दो पदों का एक अन्तराल से उच्चारण करने पर पदों में सन्निधि का अभाव होगा और इस प्रकार सन्निधि से रहित पदों का समूह भी वाक्य नहीं कहा जा सकता। न केवल पदों का अविलम्ब उच्चारण वरन् वाक्यांशभूत पदों के अर्थों की अविलम्ब उपस्थिति भी सन्निधि है,[1] क्योंकि वाक्य के पदों के अविलम्ब उच्चारण से पदार्थों की अविलम्ब उपस्थिति होती है। नैयायिक इस आसत्ति के ज्ञान को भी शाब्दबोध में हेतु मानते हैं। नव्य-नैयायिक आकांक्षा, योग्यता या आसत्ति के ज्ञान को वाक्यार्थबोध में कारण न मानकर स्वरूपसत् आकांक्षा, स्वरूपसत् योग्यता और स्वरूपसत् आसत्ति को हेतु मानते हैं, क्योंकि पदों में इनकी सत्ता मात्र से वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। इनके ज्ञान का होना उतना आवश्यक नहीं है, जितना इनकी स्वरूपतः सत्ता आवश्यक है। नव्य-न्याय में वाक्यार्थबोध के लिए आसत्ति को आवश्यक नहीं माना गया है, क्योंकि कालान्तराल से उत्पन्न पदों को यदि श्रोता उनके प्रसंग और अर्थ सहित स्मरण रखे तो उसे आसत्ति रहित पद समूह रूप वाक्य से भी वाक्यार्थबोध हो सकता है।

तात्पर्य ज्ञान :

कुछ नैयायिक तात्पर्य ज्ञान को भी शाब्दबोध में कारण मानते हैं। किसी वाक्य का उच्चारण करते समय वक्ता का अपना कुछ अभीष्ट अर्थ होता है, यही अर्थ वक्तृतात्पर्य है। अपने इसी तात्पर्य को श्रोता तक पहुँचाने के लिये वक्ता वाक्य का उच्चारण करता है। अतः कुछ नैयायिक समुचित वाक्यार्थबोध के लिए वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान भी आवश्यक मानते हैं। सामान्यतया वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहते हैं। तर्कसंग्रहकार ने[2] स्वाभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराने की इच्छा से वाक्य के उच्चारित तत्त्व को तात्पर्य कहा है।[3] तात्पर्य का परिष्कृत

---

१. अविलम्बेन पदार्थोपस्थितिः सन्निधिः।

—तर्कदी०, पृ० १५७

२. वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम्।

—कारिका०, ८४

अपि च, एतस्मिन्नर्थेऽस्यान्वयं प्रत्याययत्विति प्रयोक्तुरिच्छा।

—न्या० सि० मु०, पृ० २४२

३. तत्प्रतीतीच्छयोच्चारितत्व तात्पर्यम्। तात्पर्य ज्ञानं च वाक्यार्थज्ञानेहेतुः।

—तर्कदी०, पृ० ५१

लक्षण वेदान्त परिभाषा में प्राप्त होता है।[1] किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति में वाक्य के समर्थ होने पर तद्‌भिन्न अर्थ की अभिव्यक्ति योग्य उच्चारण का अभाव ही तात्पर्य है जो वाक्यगत पदों की स्वाभीष्ट अर्थजनन की योग्यता है।

यह वक्तृतात्पर्य शाब्दबोध में कारण है या नहीं--इस सम्बन्ध में चार मत उपलब्ध होते हैं—

(१) तात्पर्य ज्ञान शाब्दबोध में कारण नहीं है।

(२) तात्पर्य का अन्तर्भाव आकांक्षा में हो जाता है।

(३) नानार्थ स्थल पर अथवा संशय स्थल पर ही (अर्थ के विषय में जहाँ संशय है) तात्पर्य ज्ञान शाब्दबोध में हेतु होता है।

(४) सर्वत्र शाब्दबोध में तात्पर्य ज्ञान हेतु है।

प्रथम मत--शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान को हेतु न मानने वाले शशधरादि नव्य-नैयायिकों का कहना है कि शाब्दबोध में तात्पर्य ज्ञान हेतु नहीं है।[2] किसी वाक्य स्थल पर तात्पय का संशय हो जाने पर भी शाब्दबोध हो जाता है।[3] इस मत के विरोधियों का यह कहना है कि जहाँ पर वाक्य में किसी पद के एक से अधिक अर्थ होते हैं या अर्थ संशयित होता है, वहाँ तात्पर्य ज्ञान के अभाव में शाब्दबोध कैसे होगा ? जैसे 'सैन्धवमानय' इस वाक्य में आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि होते हुए भी आकांक्षा के अभाव में सैन्धव पद का 'अश्व' या 'लवण' में से कौन सा अर्थ ग्राह्य होगा ? अतएव नानार्थ स्थल और संशय स्थल पर वाक्यार्थ का अन्वय तात्पर्य ज्ञान की स्वीकृति के बिना सम्भव नहीं है।

द्वितीय मत--कुछ नैयायिक मानते हैं कि तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध में उपयोगी तो है, परन्तु इसका अन्तर्भाव आकाङ्क्षा में हो जाने से इसे पृथक् कारण नहीं माना जाना चाहिए।[4] यह मत भी महत्त्वहीन और तर्क विरोधी है।

---

१. तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वे सति तदन्यप्रतीतीच्छया नोच्चारितत्वं तात्पर्यम्।
--वे० परि०, पृ० २४६

२. शशधरादयः शाब्दबोधं प्रति तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वं नास्त्येव इत्याहुः।
--न्या० को०, पृ० ३२७

तुलनीय--तस्मादन्वयसिद्धौ तात्पर्यं न स्वयं क्वचिद् हेतुः।
सामग्र्यन्तरभावे नियमार्थं त्वर्थ्यते पुनस्तदपि॥
—मानमेयोदय, पृ० १०२

३. तात्पर्यग्रहस्यान्वयबोधानङ्गत्वात् तात्पर्यसंशयेऽपि वाक्यार्थबोधदर्शनात्।
—न्या० सि० दी० शब्दप्रमाणवाद, पृ० २६

४. तात्पर्यगर्भाकांक्षाज्ञाने कारणत्वावश्यकतया आकांक्षाघटकतयैव तात्पर्यज्ञानं हेतुः, न तु स्वातन्त्र्येण इत्याहुः।—न्या० को०, पृ० ३२८ में तर्कप्रकाश से उद्धृत

तृतीय मत—यह मत नव्य-नैयायिकों का है। इनके मत में तात्पर्य शाब्द-बोध के एकदेश में कारण होता है, जहाँ किसी पद के एक से अधिक अर्थ होते हैं या पद का अर्थ संदिग्ध होता है।[१] तात्पर्य ज्ञान को सर्वत्र कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि 'प्रकरण' और 'सामर्थ्य' के द्वारा उन-उन स्थलों में शाब्दबोध का अन्वय हो जाता है। इस मत के विरोधी लोग प्रकरण और शाब्दबोध में कार्यकारण भाव का निषेध करते हैं।[२] भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रकरणों में भिन्न-भिन्न प्रकार का शाब्दबोध होता है, अतः कार्यकारण भाव की अनुपपत्ति से प्रकरण को शाब्दबोध का कारण नहीं माना जा सकता। प्रकरणादिकों के भिन्न-भिन्न होने पर गौरव दोष भी होगा। एक प्रकरण में एक शब्द का जो अर्थ है, दूसरे प्रकरण में उसी शब्द का अर्थ उससे भिन्न होता है। इस कारण प्रकरणों का आनन्त्य दोष भी आक्षिप्त होगा। इसलिये अनेक प्रकरणों को मानने की अपेक्षा एक तात्पर्य-ज्ञान मानने में लाघव भी है।[३]

चतुर्थ मत—गंगेश आदि कुछ नैयायिक तात्पर्यज्ञान को निश्चिततया शाब्दबोध का कारण मानते हैं। इनके मत में तात्पर्यज्ञान के अभाव में शाब्दबोध असम्भव है। 'घटमानय' आदि वाक्यों के अर्थावगम में भी तात्पर्यज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि घट पद से कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ का बोध वक्ता के तात्पर्य से होता है। यदि वक्ता का तात्पर्य इससे भिन्न किसी अर्थ में होता है तो उसका अन्वय भी लक्षणा द्वारा हो जाता है।[४] लौकिक वाक्यों की तरह 'वेदकर्त्ता' ईश्वर ने इस वाक्य का इसी अर्थ में प्रयोग किया है'—इस प्रकार का ईश्वर तात्पर्य वैदिक वाक्यों के अर्थबोध का कारण है।[५] इस प्रकार वाक्यार्थबोध के लिए आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि की तरह तात्पर्य ज्ञान भी क्लृप्त कारण है। तात्पर्य के सन्दर्भ में यह तथ्य अवधेय है कि यह तात्पर्य मीमांसकों को अभिमत स्वतन्त्र

---

१. अन्ये तु नानार्थादौ क्वचिदेव तात्पर्यज्ञानं कारणम्। तथा च शुकवाक्ये विनैव तात्पर्यज्ञानं शाब्दबोधः। वेदे त्वनादिमीमांसापरिशोधिततर्कैरर्थावधारण-मित्याहुः। —न्या० सि० मु०, पृ० ३१७

२. न च तात्पर्यग्राहकाणां प्रकरणादीनामेव शाब्दबोधे कारणत्वमस्त्विति वाच्यम्। तेषामननुगमात्। —वही, पृ० ३१५-१६

३. तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन तेषामनुगमे तु तात्पर्यज्ञानमेव लाघवात् कारणमस्तु। वही, पृ० ३१६

४. द्रष्टव्य—Raja K. K., Indian theories of meaning —Page 117

५. इत्थं च वेदस्थलेऽपि तात्पर्यज्ञानार्थमीश्वरः कल्प्यते। —न्या० सि० मु०, पृ० ३१६

वृत्ति के रूप में नैयायिकों को अभीष्ट नहीं है, वरन् यह शाब्दबोध में सहकारी कारण इसलिये है कि वाक्य से वक्ता के अभीष्ट अर्थ की अवगति में सहायता करता है। दूसरी मुख्य बात यह है कि आचार्य जयन्त ने शाब्दबोध के सिद्धान्तों के विषय में मीमांसकों को अभिमत परस्पर विरुद्ध अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद का खण्डन करके सहृत्यकारितावाद नामक स्वतन्त्र शाब्दबोध-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जिसे उन्होंने तात्पर्यवाद भी कहा है। वस्तुतः तात्पर्य को स्वतन्त्र वृत्ति की श्रेणी में सर्वप्रथम जयन्त ने ही रखा है, परन्तु अनेक टीकाकारों, काव्यशास्त्रियों एवं समालोचकों ने तात्पर्यवृत्ति की सर्वप्रथम उद्भावना मीमांसकों द्वारा स्वीकृत माना है, जो ठीक नहीं है। जयन्त पहले ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने तात्पर्य को स्वतन्त्रवृत्ति मानकर तात्पर्यवृत्ति द्वारा पदों की संहृत्यकारिता से वाक्यगत पदों के अर्थ का अन्वय करके वाक्यार्थबोध की उपपत्ति स्वीकार की है। वक्तुरिच्छा के रूप में स्वीकृत तात्पर्य निश्चित ही इस तात्पर्यवृत्ति से भिन्न है।

वाक्य के प्रकार :

न्याय दर्शन में वाक्य दो प्रकार का स्वीकृत है—लौकिक और वैदिक। एक अन्य मत से न्यायशास्त्र में वाक्य तीन प्रकार का स्वीकृत है—सुबन्त समूह, तिङन्त समूह और सुप्तिङन्त समूह। पहले प्रकार के वाक्य 'त्रयः कालाः' आदि हैं, दूसरे प्रकार के 'पचति' 'भवति', आदि और तीसरे प्रकार के 'चैत्रः पचति' आदि हैं।[1] वैदिक वाक्य मीमांसा दर्शन में पाँच प्रकार के माने गये है—विधि, निषेध, मंत्र, नामधेय, अर्थवाद। भोज ने शृङ्गार प्रकाश में वाक्य के भेद प्रभेद पर विचार करते हुए वाक्य के संस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रंश—तीन भेद स्वीकार किया है। संस्कृत वाक्य ३ प्रकार का होता है—श्रौत, आर्ष और लौकिक। मन्त्र और ब्राह्मण श्रौत वाक्य हैं। स्मृति और पुराण आर्ष वाक्य हैं तथा लौकिक वाक्यों में काव्य और शास्त्र आते हैं।

प्राकृत वाक्य भी तीन तरह के होते हैं—सहज, लक्षित एवं श्लिष्ट। संस्कृतसम और देश्य प्राकृत वाक्य सहज हैं, माहाराष्ट्र और शौरसेन प्राकृत लक्षित हैं तथा पैशाच और मागध श्लिष्ट हैं।

उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेद से अपभ्रंश वाक्य भी तीन प्रकार के होते हैं। आवन्त्य और लाटीय वाक्य उत्तम हैं, आभीर और गौजरात वाक्य मध्यम तथा काश्मीर और पौरस्त्य वाक्य कनिष्ठ अपभ्रंश वाक्य हैं।

---

१. द्रष्टव्य—न्या० को०, पृ० ७३१।

यह विभाजन भाषा के आधार पर किया गया है। यदि वाक्य की क्रिया को आधार मानकर वाक्य का विभाजन किया जाय तो वाक्य के ११ भेद हो सकते हैं—एकाख्यात, अनेकाख्यात, आवृताख्यात, अनुवृत्ताख्यात, विपरिणताख्यात, एकार्थाख्यात, समुच्चिताख्यात, कृदभिहिताख्यात, अपेक्षिताख्यात, एकान्तराख्यात और निरन्तराख्यात।[1]

वाक्यार्थबोध किससे होता है ?

वाक्यार्थबोध या शाब्दबोध का एक ही रूप विभिन्न दर्शनों में स्वीकृत नहीं है, वरन् उसमें पर्याप्त मतभेद है। अभिहितान्वयवादी भाट्ट मीमांसक, नैयायिक और वेदान्ती यह स्वीकार करते हैं कि पहिले वाक्य के अवयवभूत पदों से पदार्थों का अभिधान होता है, बाद में इन्हीं अभिहित पदार्थों के परस्पर अन्वय द्वारा वाक्यार्थबोध होता है।[2] नैयायिकों को पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप में ही वाक्यार्थ अभीष्ट है, अतः उनके मत में पदार्थों के पारस्परिक संसर्ग रूप वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थ ही कराते हैं। मीमांसा की मान्यता इससे भिन्न है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार पदों द्वारा अभिहित पदार्थ लक्षणा द्वारा वाक्यार्थ बोध कराते हैं। अन्योऽन्यान्वयरूप विशेष से विशिष्ट अर्थबोधतात्पर्य होता है। अतः भाट्टों के मत में वाक्यार्थ एक विशिष्टार्थबोधतात्पर्य है। यह एक विशिष्टार्थबोधतात्पर्य रूप वाक्यार्थ तब तक उपपन्न नहीं होता जब तक कि पदों से अभिधीयमान (पार्थसारथि के मत से) या स्मर्यमाण (चिदानन्द के मत से) पदार्थ परस्पर अन्वय लाभ न करें। इसलिये वाक्य के सामान्य अर्थ की अन्यथानुपपत्ति से लक्षणा द्वारा पदार्थों का पर्यवसान अन्योऽन्यान्वय रूप विशेष में ही होता है।[3] अन्विताभि-

१. तदेतद् समस्तमपि वाक्यजातमाख्यातोपाधेः एकादशप्रकारं विप्रथते—एकाख्यातम्, अनेकाख्यातम्, आवृत्ताख्यातम्, अनुवृत्ताख्यातम्, विपरिणताख्यातम्, एकार्थाख्यातम्, समुच्चिताख्यातम्, कृदभिहिताख्यातम्, अपेक्षिताख्यातम्, एकान्तराख्यातम्, निरन्तराख्यातमिति। —शृ० प्र०

२. तेनात्र पदावगताः पुनः पदार्थाः मिथोऽन्वयं यान्ति।
इत्येवमभिहितान्वयसिद्धान्तो दर्शितोऽस्मदादीनाम्॥

—मानमेयोदय, पृ० ९७

३. द्रष्टव्य—मानमेयोदयः, पृ० ९४-९७।
अपि च, तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षाद् वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु।
पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत्॥

—न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थनिर्णयकाण्ड, ४३

धानवादी गुरुमत में वाक्यार्थ संसृष्ट क्रिया है। अन्विताभिधानवाद में पदों से अन्वित पदार्थों का अभिधान होता है। कभी भी पद अनन्वित पदार्थ का अभिधान नहीं करते। स्वतन्त्र रूप से सुना जाता हुआ पद भी जिस पदार्थ का ज्ञान कराता है, वह सामान्य रूप से सकल पदार्थों से अन्वित रूप में ही ज्ञात होता है। सामान्य रूप से अन्वित पदार्थ वाक्य में वाक्य के अन्य पदों के अर्थों से विशेष अन्वय प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वाक्य के सभी पद परस्पर एक दूसरे से विशेष रूप से अन्वित पदार्थों का साक्षात् अभिधान करते हैं।[1] फलतः पदों से अभिधेय अन्वित पदार्थ रूप का वाक्यार्थ प्राभाकारों को अभिमत है। चूँकि वाक्य में प्रधान अर्थ क्रिया होती है, अतः संसृष्ट क्रिया ही वाक्यार्थ है।

इस प्रकार आन्विताभिधान और अभिहितान्वय-दोनों ही मतों में पदार्थ-संसर्ग स्वीकृत है। इसके विपरीत वैयाकरण उक्त दोनों मतों के विरोधी हैं। इनके मत में वाक्य अखण्ड होता है, वाक्य में पदों की सत्ता व्यावहारिक है। वस्तुतः अखण्ड स्फोट रूप वाक्य अपना अर्थ किसी पदार्थ या पदार्थान्वय की अपेक्षा के बिना ही स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत करता है और वैयाकरण मत में यह वाक्यार्थ है—प्रतिभा।[2] वाक्य से उपलब्ध होने वाला यह प्रतिभा वाक्यार्थ एकरस होता है। अतः यहाँ अन्विताभिधानवाद या अभिहितान्वयवाद की चर्चा ही सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनों ही मतों में वाक्यार्थ एकरस न होकर अनेकरस होता है।[3]

आचार्य जयन्त का सिद्धान्त उक्त सभी मतों से भिन्न है। जयन्त न तो पदार्थ संसर्ग को वाक्यार्थ मानते हैं और न पदार्थ से वाक्यार्थ प्रतीति मानते हैं। यहाँ इनकी मान्यता से न्याय की परवर्त्ती काल में स्वीकृत एतद्विषयक मान्यता का मतभेद है। जयन्त के मत में वाक्यार्थ संसृष्ट-पदार्थ-समूह है और वाक्यार्थ की अवगति वाक्यभाव को प्राप्त करने वाले पदों से होती है, पदार्थों से नहीं। मीमांसा के अभिहितान्वय और अन्विताभिधान मतों का भी संसर्गभान के प्रसंग में जयन्त ने खण्डन किया है और स्वयं यह स्वीकार किया है कि पदार्थों

---

१. सकलपदान्तरपूर्त्तावितरपदार्थैः समन्वितं स्वार्थम्।
सर्वपदानि वदन्तीत्यन्येषामन्विताभिधानमतम्॥ —मान०, पृ० ९७

२ तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाक्यं, प्रतिभैव वाक्यार्थोऽध्यासश्च सम्बन्ध इति।

—वा० प०, पुण्यराज कृत प्रकाश टीका, पृ० ९७

३. प्रतिभायां त्वेकरसैव प्रतिपत्तिरिति न तत्र काचिदभिहितान्वयान्विताभिधानचर्चा। —वही, पृ० ९९

के विशेषण बनने वाले इस संसर्ग का भान पद की तात्पर्य शक्ति से होता है।[१]

वैयाकरणों को अभिमत स्फोट सिद्धान्त का जयन्त ने खण्डन किया है और इस प्रकार वर्णों की सत्ता को चुनौती देने वाले सिद्धान्त का खण्डन करके अनित्य वर्णों की सत्ता सिद्ध करते हुए जयन्त ने यह स्वीकार किया है कि यही क्षणिक वर्ण ही पद और वाक्यभाव को प्राप्त करते हैं। जयन्त ने पदार्थों से वाक्यार्थबोध मानने वाले पक्ष का खण्डन करके वाक्य द्वारा वाक्यार्थबोध की सत्ता सिद्ध किया है।

पदार्थों द्वारा वाक्यार्थबोध होता है—पूर्वपक्ष :

पदार्थों द्वारा वाक्यार्थबोध मानने वाले मीमांसक इस तथ्य का विखण्डन करते हैं कि वर्णों से वाक्यार्थबोध हो सकता है। वर्णों से वाक्यार्थबोध मानने पर अधोलिखित दोष उत्पन्न होंगे—

(१) वर्णों से पदार्थज्ञान तो हो सकता है, परन्तु वाक्यार्थज्ञान नहीं हो सकता। वाक्यार्थज्ञान तो पदार्थों द्वारा ही सम्भव है।

(२) वर्णों की चरितार्थता पदार्थज्ञान में होती है, अतः वाक्यार्थज्ञान में वर्णों की सामर्थ्य नहीं हो सकती। इसके विपरीत पदार्थों की सामर्थ्य ज्यों की त्यों बनी रहती है, अतः पदार्थ ही वाक्यार्थज्ञान कराते हैं।

(३) वर्णसमूहभूत पद में अर्थापत्ति से शक्ति की सत्ता मानकर पदार्थ का ज्ञान स्वीकार किया जाता है, परन्तु अन्यथानुपपत्ति स्वरूप वाली अर्थापत्ति के द्वारा वर्णों से ही वाक्यार्थज्ञान मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वाक्यार्थ-ज्ञान पदार्थों से उत्पन्न हो जाता है, अतः अन्यथा उपपन्न हो जाने से वाक्यार्थ के लिये वर्णों में शक्ति की कल्पना ठीक नहीं है।

(४) वर्णों से ही वाक्यार्थ प्रतीति होती है—यह मानने पर क्या एक ही पूर्ववर्ण जनित संस्कार से युक्त वर्ण पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों का ज्ञान कराते हैं? या भिन्न-भिन्न संस्कारों से युक्त होकर? एक संस्कार से पदार्थज्ञान और वाकार्थ-ज्ञान—दो कार्य नहीं हो सकते। पूर्व संस्कार से भिन्न किसी अन्य संस्कार की प्रतीति नहीं होती।[२] चूँकि वाक्यार्थज्ञान पदार्थों द्वारा उपपन्न हो जाता है, इसलिये पद में अनेक संस्कारों की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है।

---

१. अभिधात्रीशक्तिरेषां पदार्थेषूपयुक्ता, तात्पर्यशक्तिश्च वाक्यार्थे पर्यवस्यतीति।

—न्या० म०, भाग १, पृ० ३५८

२. एकयैव हि संस्कृतया कथं कार्यद्वयं भवेत्।
न चैषां पूर्वसंस्कारादन्योऽस्तीति प्रतीयते॥ वही, पृ० ३५६

(५) पद से पदार्थज्ञान में पद के अन्त्य वर्ण के पूर्व उच्चरित होने वाले वर्ण शीघ्र ही विनष्ट हुए रहते हैं, अतः उनका उपसंहार बुद्धि सरलता से कर लेती है। परन्तु यदि वर्णों द्वारा ही वाक्यार्थज्ञान मानें तो वाक्य के अन्त्यपदस्थ अन्त्यवर्ण के पूर्व उच्चारित सभी पदों के अवयवभूत वर्णों को अतिक्रांत हुए पर्याप्त समय व्यतीत हो जाता है, अतः वाक्यार्थ के लिये उन सभी वर्णों का उपसंहार करना दुःशक है।

(६) पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों का बोध यदि वर्णों से ही स्वीकार किया जाय तो या तो ये वर्ण एक साथ पदार्थ और वाक्यार्थ का ज्ञान करायेंगे या क्रम से पदार्थ और तब वाक्यार्थ का ज्ञान करायेंगे। एक ही बार उच्चरित वर्ण एक साथ पदार्थ और वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकते। यदि क्रम पक्ष स्वीकार करें तो पदार्थ का ज्ञान करने पर वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थ ही करायेंगे, वर्ण नहीं और पदार्थबोध के बिना वाक्यार्थ की संगति के अभाव में पदार्थ का बोध कराये बिना वर्ण रूप में वाक्यार्थ का ज्ञान पहले नहीं करा सकते।

(७) अन्वय व्यतिरेक द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि पदार्थों के द्वारा ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। यदि कोई व्यक्ति असावधानी से पदों को सुनता हुआ पदार्थबोध करने में समर्थ नहीं होता तो पदज्ञान होते हुए भी उसे वाक्यार्थज्ञान नहीं होता, जबकि शब्दभिन्न अन्य प्रमाणों से ही यदि व्यक्ति को पदार्थों का ज्ञान हो जाय तो वह वाक्यार्थ का ज्ञान कर सकता है। जैसे किसी जीव के श्वेत रूप को देखकर गुणी का अनुमान करके, हेषा (हिनहिनाहट) की ध्वनि सुनकर अश्व का अनुमान करके और टापों की आवाज सुनकर धावन क्रिया का अनुमान करके परस्पर अन्वय द्वारा 'श्वेत अश्व दौड़ रहा है' यह वाक्यार्थ जान लेता है। इस प्रकार बिना पद सुने पदार्थों के ज्ञान से वाक्यार्थ ज्ञान हो जाता है जबकि पदार्थों के ज्ञान के बिना कभी भी वाक्यार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।[१] अतः वाक्यार्थ-ज्ञान वर्णों से नहीं—पदार्थों से होता है।

(८) मीमांसकों के इस मत पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि एक पदार्थ से पूरे वाक्यार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है और पदार्थों का समुदाय असाधारण है, अतः पदार्थ अकेले या समुदित रूप में वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं कराता, अपितु समुदित पदार्थ ही वाक्यार्थज्ञान में हेतु है। पदार्थों के समुदाय की असाधारणता

---

१. पश्यतः श्वेतिमारूपं हेषाशब्दं न शृण्वतः।
खुरविक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीतिधीः॥
दृष्टा वाक्यविनिर्मुक्ता न पदार्थैर्विना क्वचित्॥ —श्लोक वा०, वाक्य, ३५८

से कोई हानि नहीं है। वाक्यार्थज्ञान अनुमान प्रमाण तो है नहीं कि लिङ्ग की तरह सम्बन्ध ग्रहण अपेक्षित हो। वहाँ पदों से अभिहित पदार्थ परस्पर सम्बन्ध न होते हुए भी आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल पर परस्पर संसृष्ट होते हैं। संसर्ग को वाक्यार्थ मानने वाले संसृष्ट-पदार्थ-समुदाय को वाक्यार्थ मानते हैं और भेद वाक्यार्थवादियों के मत में इतर-विशिष्ट-पदार्थ-समुदाय वाक्यार्थ होता है। इस प्रकार वाक्यार्थ पदार्थों द्वारा ही उपपन्न होता है। पदार्थ से वाक्यार्थ मानने पर वाक्यार्थ में अशाब्दत्वापत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि पदार्थ प्रतिपत्तिमूलक वाक्यार्थ होता है और पदार्थप्रतिपत्ति शब्द-मूलक होती है।[1]

इस प्रकार वर्णों द्वारा वाक्यार्थ प्रतीति का निषेध करते हुए पूर्वपक्ष यह सिद्ध करता है कि पद अपने-अपने अनन्वित अर्थ का अभिधान करके शान्त हो जाते हैं और तब ज्ञात पदार्थ वाक्यार्थ का ज्ञान कराते हैं।[2]

पदार्थों द्वारा वाक्यार्थबोध का खण्डन और जयन्त का अपना मत :

जयन्त मीमांसक-सम्मत पदार्थ से वाक्यार्थबोध मत का निषेध करते हुए कहते हैं कि वाक्यार्थ ज्ञान पदार्थ से नहीं होता वरन् वाक्य से होता है, क्योंकि इसकी प्रसिद्धि वाक्यार्थ के रूप में है। कोई भी इसे पदार्थार्थ नहीं कहता।[3] जिस प्रकार से काल्पनिक वर्णसमूहात्मक पद से पदार्थ का ज्ञान होता है (जो पूर्वपक्ष को भी अभीष्ट है), उसी प्रकार काल्पनिक पदसमूहात्मक वाक्य से वाक्यार्थ-प्रतीति होती है।

यदि पूर्वपक्ष यह कहे कि वाक्य पदों से भिन्न कुछ नहीं हैं और पद अपने पदार्थ का ज्ञान कराने मात्र से चरितार्थ हो जाते हैं और तब वाक्यार्थज्ञान के प्रति पदों या वाक्य रूप में समुदित पदों में शक्ति का अभाव होता है तो जयन्त का उत्तर है कि पदार्थों की शक्ति भी अपने ज्ञान के प्रति चरितार्थ हो जाने से उपक्षीण हो जाती है, जिससे वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थ भी नहीं करा पायेंगे।

मीमांसकों के पक्ष में यदि यह कहा जाय कि पदार्थ अपने ज्ञान के बाद वाक्यार्थज्ञान कराने में चरितार्थ होते हैं, तो समान न्याय से पद अपने ज्ञान के बाद

---

१. शब्दावगतिमूलत्वेन तस्याः शाब्दत्वाच्छब्दात्पदार्थप्रतिपत्तौ वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति।
—न्या० म०, भाग १, पृ० ३५७

२. पदानि हि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि, अथेदानीमवगताः पदार्था एव वाक्यार्थमवगमयन्ति।
—शा० भा०, १।१।२६

३. न पदार्थेभ्यो वाक्यार्थावगतिरपि तु वाक्यादेव, तथा चायं वाक्यार्थ इति प्रसिद्धो, न पदार्थार्थः।
—न्या० म०, भाग १, पृ० ३५७

पदार्थज्ञान कराने में चरितार्थ हो जाते हैं, अतः पदों से वाक्यार्थज्ञान असम्भव है, तो जयन्त का कहना है कि अन्त्य पद अपनी प्रतिपत्ति कराकर वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति में ही चरितार्थ होता है। नैयायिकों का एक ऐसा भी वर्ग है जो पूर्वपदों के स्मरण से सहकृत अन्त्यपद को ही वाक्य मानता है और पूर्वपदों के अर्थ से विशिष्ट अन्त्यपद के अर्थ को वाक्यार्थ मानता है। अतः पूर्वपदों के स्मरण से सहकृत अन्त्यपद की चरितार्थता स्वप्रतिपत्ति के बाद स्वार्थप्रतिपत्ति में न होकर वाक्यार्थ प्रतिपत्ति में है, क्योंकि वाक्यार्थ पूर्वपदार्थ विशिष्ट अन्त्य पदार्थ से भिन्न कुछ नहीं है।

पूर्वपक्ष ने एक संस्कार और दो संस्कार की आशंका व्यक्त की है, किन्तु स्पष्ट है कि कार्य के द्वारा कारण का अनुमान होता है। पदार्थज्ञान के प्रति हेतु होने से पद में जिस प्रकार एक संस्कार (पूर्व वर्ण जनित संस्कार) की कल्पना की जाती है. उसी प्रकार वाक्यार्थज्ञान के प्रति हेतुता में दूसरे पूर्वपद जनित संस्कार की कल्पना कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार वर्णों से वाक्यार्थबोध में चिरतिरोधान को दोष बताया गया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वर्णों में पद बुद्धि हो जाने से और पदों में वाक्यबुद्धि हो जाने से पद और वाक्य का तिरोधान चिरपूर्व का नहीं होता।

पूर्वपक्ष ने यह भी दोष आक्षिप्त किया था कि वर्णों से ही पदार्थज्ञान और वाक्यार्थज्ञान मानने पर दोनों ज्ञान युगपद् होते हैं या क्रम से ? जयन्त का उत्तर है कि युगपद् ज्ञान तो हमें अभीष्ट नहीं है। हम तो पहले वर्ण समूहभूत पद से पदार्थ-ज्ञान मानते हैं, तब पद-समूहभूत वाक्य से वाक्यार्थज्ञान स्वीकार करते हैं।

पूर्वपक्षी मीमांसक यह आक्षेप प्रस्तुत करता है कि पद सामान्य होता है और वाक्य विशेष होता है। पदार्थ और वाक्यार्थ में भेद होता है, अतः पद से भिन्न-भिन्न दो ज्ञान कैसे सम्भव हैं ? इस प्रश्न पर जयन्त कुमारिल के ही एक श्लोक को प्रस्तुत करके कहते हैं कि कुमारिल स्वयं यह मानते हैं कि वाक्यार्थज्ञान में पदों से होने वाला पदार्थज्ञान अवान्तर व्यापार है और वाक्यार्थ से भिन्न होता हुआ भी वाक्यार्थ का बाधक नहीं है।[1] जैसे—काष्ठपुञ्ज से पाक सम्पन्न करने के लिये ज्वाला अवान्तर व्यापार है और वह प्रधान क्रिया पाक की सहायक ही है, विरोधी नहीं, उसी प्रकार यहाँ भी पदों का प्रधान व्यापार वाक्यार्थज्ञान है और अवान्तर व्यापार पदार्थज्ञान है, जिसमें सामान्य-विशेष्य-भाव होते हुए भी विरोध

---

१. वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥ —श्लोक वा०, वाक्य०, ३४३

नही है। फिर भी जयन्त तो यह मानते हैं कि पद में अर्थ प्रतिपादन सम्बन्धी दो शक्तियाँ होती हैं—अभिधाशक्ति और तात्पर्यशक्ति। अभिधाशक्ति से पदार्थ का बोध होता है और तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान वाक्यार्थ में होता है। पदों की तात्पर्यशक्ति से वाक्यार्थ बोध होता है।[1]

पूर्वपक्ष के इस आक्षेप, कि शब्द के व्यापार रहित हो जाने पर पदार्थों द्वारा वाक्यार्थज्ञान होता है, की समीक्षा करते हुए जयन्त कहते हैं कि यदि उक्त पक्ष को स्वीकार कर लिया जाय तो हमें यह देखना चाहिए कि यह वाक्यार्थज्ञान किस प्रमाण से उत्पन्न होता है। निश्चित ही इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वाक्यार्थ अतीन्द्रिय होता है। अनुमान भी नहीं हो सकता, क्योंकि मीमांसक स्वतः इस ज्ञान को अनुमिति नहीं मानते हैं।[2] शब्द भी नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द व्यापार रहित हो चुके हैं। इस ज्ञान को अर्थापत्तिजन्य भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, अन्यथा अर्थापत्त्यैकप्रमाणगम्य धर्म से वाक्यार्थ अविशिष्ट हो जायेगा, जो किसी भी पक्ष को अभीष्ट नहीं है। अनुपलब्धि प्रमाण का प्रसंग ही नहीं उठता। अतः तब पदार्थ नामक कोई सातवाँ प्रमाण मानना होगा, जिसके द्वारा पदार्थ वाक्यार्थज्ञान कराते हैं। ऐसा निष्कर्ष मीमांसकों को भी अभीष्ट नहीं है। अतः पदार्थ से वाक्यार्थावगति किसी भी प्रकार उपपन्न नहीं हो सकती।

मीमांसकों ने जो यह आक्षेप प्रस्तुत किया है कि अन्वय व्यतिरेक से यह सिद्ध होता है कि पदार्थ द्वारा वाक्यार्थज्ञान होता है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि पदों के श्रवण के बिना किसी भी व्यक्ति को वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि प्रमादवश कोई व्यक्ति वाक्य का श्रवण नहीं करता तो वाक्यार्थ जानने के लिये वक्ता से पुनः कहने के लिये अनुरोध करता है, अतः पदों के द्वारा ही वाक्यार्थ ज्ञान होता है, पद जन्य पदार्थज्ञान अवान्तर व्यापार है। अतः यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि श्रोता ने पदार्थज्ञान न होने पर वाक्यार्थ नहीं जाना, वरन् श्रोता में वाक्यार्थज्ञान की अनुत्पत्ति का कारण पदों के ज्ञान का अभाव है। यदि पदों से वाक्यार्थज्ञान न होता तो श्रोता को पुनः वाक्योच्चारण के लिये निवेदन न करके अन्य साधनों से पदार्थों का स्मरण करके वाक्यार्थ जान लेना चाहिये;

---

१. पदानां हि द्वयी शक्तिरभिधात्री तात्पर्यशक्तिश्च, तत्राभिधात्री शक्तिरेषां पदार्थेषूपयुक्ता तात्पर्यशक्तिश्च वाक्यार्थे पर्यवस्यति।

—न्या० म०, भाग १, पृ० ३५८

२. द्रष्टव्य—श्लो० वा० वाक्य०, २३२-३५।

जबकि ऐसा नहीं होता। दूसरी ओर कुमारिल ने जो अश्वत्व जाति के अनुमान, श्वेत गुण के आश्रय गुणी के अनुमान और धावन क्रिया के अनुमानों का अन्वय किसी व्यक्ति से करके 'श्वेत अश्व दौड़ रहा है' इस रूप में वाक्यार्थ-ज्ञान शब्दों के अभाव में स्वीकार किया है, वह भी कुमारिल की बहुत बड़ी भूल है। 'श्वेत अश्व दौड़ रहा है' यह ज्ञान शाब्द न होकर अनुमान जन्य है। यह वाक्यार्थज्ञान नहीं है। 'पर्वत वह्नि विशिष्ट है' यह अनुमिति जिस प्रकार वाक्यार्थ नहीं होती, जब तक कि कोई वक्ता उक्त वाक्य का उच्चारण न करे, इसी प्रकार जब पद ज्ञान द्वारा 'श्वेत अश्व दौड़ रहा है' यह ज्ञान उत्पन्न होता है, तभी यह ज्ञान शाब्दबोध है, अन्यथा नहीं। इसलिये कुमारिल के दिये गये दृष्टान्त में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शाब्द न होकर अनुमिति है। जैसे हम सामने जाती हुई गाय को देखकर 'शुक्ल गाय जा रही है' यह ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु यह ज्ञान वाक्यार्थ न होकर प्रत्यक्ष है। उसी प्रकार 'श्वेत अश्व दौड़ रहा है' यह ज्ञान अनुमिति है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के एक-एक तर्क का उपपत्तिपूर्वक खण्डन करके जयन्त ने यह सिद्ध किया है कि वाक्यार्थज्ञान पदार्थों के द्वारा नहीं होता वरन् वाक्यार्थ-ज्ञान पद और वाक्यभाव को प्राप्त होने वाले क्रमिक एवं क्षणिक वर्णों द्वारा होता है।[१]

किस प्रकार वर्ण पद और वाक्यभाव को प्राप्त करके वाक्यार्थबोध में हेतु बनते हैं ?

जैसा कि हमने अनेकशः दर्शाया है कि जयन्त सूक्ष्मदर्शी एवं अविकारी विद्वान् थे, अतः उन्होंने मीमांसकों को अभिमत पदार्थ की वाक्यार्थज्ञानहेतुता का निराकरण करके पद और वाक्यभाव को प्राप्त करने वाले वर्णों से वाक्यार्थ-ज्ञान स्वीकार किया है। यहाँ यह प्रश्न अहंभूमिका निभाता है कि क्रमभावी और क्षणिक वर्ण कैसे पद बनता है और कैसे वाक्य बनता है? क्षणिक एवं क्रमभावी वर्णों का समुदाय ही कैसे सम्भव होता है? इस विषय में वर्णों की अनित्यता विरोधी तर्कों का निराकरण शब्द की अनित्यता के प्रसंग में किया जा चुका है। यहाँ पर जयन्त ने अपने से पूर्ववर्ती कुछ न्यायाचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में जयन्त ने अपने मत के अतिरिक्त तीन मतों को क्रमशः प्रस्तुत करके

१. तस्माद्वर्णेभ्य एव कयाचित्कल्पनया पदवाक्यभावमुपगतेभ्यः पदार्थवाक्यार्थ-संप्रत्ययः इति युक्तम्। तस्मात् पदार्थजन्या न भवति वाक्यार्थबुद्धिरिति सिद्धम्, अनुपरतव्यापाराद्वा वाक्यादेवेयमुद्भवति।

—न्या० म०, भाग १, पृ० ३५९

उनका खण्डन किया है। ये मत किनके हो सकते हैं? पहले मत में जयन्त ने 'आचार्याः' शब्द का प्रयोग किया है और दूसरे मत में 'व्याख्यातारः' पद का प्रयोग किया है। द्वितीय अध्याय में हम देख चुके हैं कि 'न्यायमञ्जरीग्रन्थिभङ्ग' के लेखक चक्रधर के अनुसार ये आचार्य 'न्यायवार्तिक' पर टीका लिखने वाले रुचिकार आदि न्यायदर्शन के आचार्य हैं। व्याख्याकार शब्द से जयन्त को 'न्यायभाष्य' के टीकाकार प्रवर आदि अभीष्ट थे, ऐसा चक्रधर का मत है।[1] तीसरे मत के अन्त में जयन्त ने शङ्करस्वामी का उल्लेख किया है, अतः स्पष्ट है कि तीसरा मत शङ्करस्वामी का है जो चक्रधर के ही शब्दों में 'न्यायभाष्य' के एक टीकाकार हैं।[2] अब हम क्रमशः तीनों मतों को प्रस्तुत करके उनकी समालोचना करते हुए अन्त में जयन्त का मत प्रस्तुत करेंगे।

प्रथम मत :

उच्चरित वर्णों के श्रवण के द्वारा वर्ण अधोलिखित रूप से पद एवं वाक्यभाव को प्राप्त करते हैं। यहाँ संख्यायें क्रम का बोध कराने के लिये प्रयुक्त हैं—

(१) प्रथम वर्ण का ज्ञान, (२) प्रथम वर्णज्ञान का संस्कार, (३) द्वितीय वर्णज्ञान, (४) प्रथम वर्णज्ञानजन्य संस्कार से विशिष्ट, अतएव प्रथम वर्णज्ञान जनित संस्कार से पटुतर संस्कार, (५) तृतीय वर्णज्ञान, (६) द्वितीय वर्णज्ञान जनित संस्कार से पटुतर संस्कार, (७) इसी क्रम से पद के अवयवभूत अन्त्यवर्ण का ज्ञान, (८) पूर्व संस्कारों से पटुतर संस्कार, (९) सभी पूर्व वर्णों का एक साथ स्मरण, (१०) अन्त्यवर्ण ज्ञान का विनाश और उसी काल में स्मरण के विषयभूत पूरे वर्ण समूह का 'पद है' इस रूप में ज्ञान, (११) पदज्ञान से जन्य पद ज्ञान का सस्कार, (१२) पूर्वक्रम से द्वितीय पद का ज्ञान और प्रथम पदज्ञान जनित संस्कार से पटुतर संस्कारोत्पत्ति, (१३) इसी क्रम से वाक्य के तृतीय-चतुर्थादि से लेकर अन्त्यपद तक का ज्ञान और अपेक्षाकृत उत्तरोत्तर पटुतर संस्कारोत्पत्ति, (१४) सभी पूर्वपदों का एक साथ स्मरण, (१५) स्मरण का विषय बनने वाले पद समूह में 'वाक्य है' यह ज्ञान होता है और (१६) इस वाक्यज्ञान द्वारा वाक्यार्थज्ञान होता है।

---

१. इह च सर्वत्राचार्यशब्देन उद्योतकरविवृतिकृतो रुचिकारप्रभृतयो विवक्षिताः, व्याख्यातृशब्देन च भाष्यविवरणकृतः प्रवरप्रभृतय इति।

—न्या० म० ग्रं० भ०, पृ० ४४

२. शङ्करस्वामी न्यायभाष्यटीकाकृत्। —वही, पृ० १६७।

प्रथम मत का खण्डन :

उक्त रीति से ज्ञान का यौगपद्य तर्कसंगत नहीं है। वाक्यार्थ प्रतीति के लिये अन्त्यपद के ज्ञान के बाद सभी पूर्वपदों का स्मरण स्वीकृत है। इसी स्मरण-काल में ही सभी पूर्वपदों और उनके पदार्थों के मध्य वर्तमान संकेत सम्बन्ध का भी स्मरण स्वीकार करना होगा, क्योंकि बिना संकेत स्मरण के पदार्थज्ञान न होगा और बिना पदार्थज्ञान के वाक्यार्थज्ञान नहीं होगा। इसलिये वाक्यार्थज्ञान की संगति के लिये एक ही काल में दो स्मरणात्मक ज्ञान स्वीकार करने होंगे। अन्यथा जिस तरह नारिकेल द्वीपवासियों को संकेत सम्बन्ध का ज्ञान न होने से संस्कृत भाषा के पदों से उन्हें पदार्थ बोध नहीं होता, उसी प्रकार पद स्मरण होते हुए भी पद-पदार्थ स्मरण के अभाव में सभ्य जनों पदार्थ ज्ञान और वाक्यार्थज्ञान नहीं होंगे। इसलिये ज्ञानयौगपद्य स्वीकार करना होगा और आत्मा एक काल में एक ही ज्ञान का अधिष्ठान हो सकता है। अतः दो ज्ञानों का एककालिक एकाधिकरणत्व सम्भव ही नहीं है। यदि उक्त मत के समर्थक संकेत स्मरण के बाद पूर्वपदों का स्मरण स्वीकार करें तो भी ज्ञानयौगपद्य से मुक्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि संकेतस्मरण से सहकृत पदार्थज्ञान पूर्वपदों के स्मृतिकाल में ही उत्पन्न होगा। तब पद स्मरण और पदार्थज्ञान का यौगपद्य उपस्थित होगा, क्योंकि पदार्थज्ञान के अविकल कारणों के समुदित हो जाने पर पदार्थज्ञान होगा ही और संकेत स्मरण से उपकृत पद ज्ञान पदार्थज्ञान का अविकल कारण है। ऐसी स्थिति में ज्ञानयौगपद्य से बचने के लिये यदि पदार्थज्ञान के बाद पूर्वपदों का स्मरण स्वीकार किया जाय तब ऐसी स्थिति में अन्त्यपदज्ञान के विनष्ट हो जाने से वाक्य अन्त्यपद रहित ही होगा, क्योंकि संकेत-स्मृतिकाल में अन्त्यपदज्ञान की विनश्यत्ता है और पदार्थज्ञान-काल में अन्त्यपदज्ञान विनष्ट ही हो चुका रहेगा। अतएव अन्त्यपद से रहित वाक्य कभी भी शुद्ध अर्थ नहीं दे सकता।

बचावपक्ष यदि यह स्वीकार करे कि अन्त्यपदज्ञान के विनष्ट हो जाने के कारण अन्त्यपद असंवेद्यमान ही रहता है, तब तो न्यायशास्त्र की सम्पूर्ण मान्यता ही लड़खड़ा जायेगी, क्योंकि संवेद्यमानता ही वर्णों के क्षणिकत्व और उनकी अनित्यता का आधार है। असंवेद्यमान वर्ण की अनित्यता का क्या प्रमाण होगा? यदि असंवेद्यमान भी अन्त्यपद को स्वीकार कर लिया जाय तो इसकी स्वीकृति से क्या लाभ है? क्योंकि श्रोत्र व्यापार के उपरत हो जाने पर इसका पुनर्ग्रहण सम्भव नहीं है और बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष के बिना अन्त्यपद का मानस प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं है। तब भी यदि इस अन्त्यपद का आन्तर प्रत्यक्ष ही स्वीकार कर लिया जाय, तब तो पुनः अन्त्यपद ज्ञान और पूर्वपदार्थज्ञान का यौगपद्य होगा।

पूर्वपद अर्थ रहित होकर अन्त्यपद ज्ञान के बाद शुष्क नीरस रूप में स्मृत स्वीकार किये जायें, तो ऐसे पदस्मरण से वाक्यार्थ प्रतीति में कोई सहायता नहीं मिलेगी। यदि यह स्वीकार करें कि पूर्वपद अर्थ सहित ही स्मृत होते हैं, तब जो ज्ञान - यौगपद्य उपस्थित होगा उसमें न केवल दो ही ज्ञानों की एककालिक एकाधिकरणता होगी वरन् समयस्मरण, पदार्थज्ञान, पूर्वपद स्मरण आदि अनेक ज्ञानों का यौगपद्य उपस्थित होगा।[1] अतः वर्णों का उक्त पद-वाक्योपगम-प्रकार क्षोदक्षम नहीं है।

द्वितीय मत :

न्यायभाष्य के कुछ व्याख्याकारों का मत उक्त मत से भिन्न है। उन्होंने वर्णों के पदवाक्यभावोपपत्ति का जो प्रकार प्रस्तुत किया है, उसमे उन्होंने मुख्यतः ज्ञानयौगपद्य वाले दोष से बचने का प्रयास किया है। वह इस प्रकार है—

(१) वर्णानुगम रूप से प्रथम पदज्ञान उत्पन्न होता है, (२) संकेत स्मरण होता है, (३) संकेत स्मरण से सहकृत विनश्यदवस्थ पदज्ञान से अपने वाच्य पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है जहाँ पद और पदार्थ का वाच्यवाचक भाव भी अवभासित होता है, (४) प्रथम पद - वाच्य पदार्थज्ञान से प्रथम पदार्थज्ञान का संस्कार उत्पन्न होता है, (५) इसी क्रम से द्वितीयादि पदों का ज्ञान संकेतस्मरण और पदार्थज्ञान उत्पन्न होता है और पदार्थज्ञान से क्रमशः दृढ़तर संस्कार उत्पन्न होता है, (६) इसी प्रकार अन्त्य पद का ज्ञान, संकेतस्मरण और पदार्थज्ञान तथा पूर्व सभी संस्कारों से पटुतर संस्कार उत्पन्न होता है, (७) इस प्रकार इस दृढ़तर संस्कार से सभी पदों का वाक्य रूप में एक साथ स्मरण होता है और अन्त में (८) इन स्मृत सभी पदों के वाच्य विषय के रूप में सभी पदार्थों का अनुभव होता है।

इस प्रकार स्मर्यमाण पदसमूह वाक्य कहा जाता है और उससे अनुभूयमान पदार्थ समूह वाक्यार्थ होता है।

द्वितीय मत का खण्डन :

यह तरीका भी उचित नहीं है। इस मत से अन्त्यपदार्थ की प्रतीतिवेला में अन्त्यपदार्थ के अवच्छेदक के रूप में अन्त्यपद भी ज्ञायमान ही रहता है। यह अन्त्यपद अपने पदार्थज्ञान के कारणों में से एक कारण है। पदार्थज्ञान के लिए पदज्ञान की उपस्थिति आवश्यक है। पद स्वयं पदज्ञान का कर्म होगा, ऐसी स्थिति

---

१. अथ सार्थकानि प्राञ्चि पदानि स्मर्यन्ते तर्हि समयस्मरणपदार्थज्ञानादिकार्यसांकर्यकृतमनेकशाखं प्रतिपदं ज्ञानयौगपद्यमापद्येत इत्यसतीयं कल्पना।

—न्या० म०, भाग १; पृ० ३६०

में इस पदज्ञान का कारण क्या होगा ? इस पदज्ञान का कारण श्रोत्र नहीं होंगे, क्योंकि अन्त्यपद की प्रतीति के बाद श्रोत्र व्यापार समाप्त हो जाता है और रुककर पुनः उसी पद की प्रतीति श्रोत्र कराये यह उचित नहीं है। बाह्येन्द्रिय के साहाय्य के विना अन्तरिन्द्रिय मन भी इसका ग्राहक नहीं हो सकता। यदि मन की एत-द्विषयक प्रवृत्ति मान ही लें, तब प्रथम द्वितीयादि सभी पद मानस व्यापार-गोचर हो जायेंगे, अतः पद स्मरण की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। इसलिए श्रोत्र-व्यापार इस ज्ञान का कारण नहीं होगा, अन्य कारण उपलब्ध नहीं हैं, अतः यह ज्ञान अकारण कैसे उत्पन्न होगा ?

यदि पूर्वपक्ष यह कहे कि जिस प्रकार अन्त्यपद अपने पदार्थज्ञान का कारण है, उसी प्रकार अन्त्यवर्ण अन्त्यपदार्थ के अवच्छेदक पद के ज्ञान के प्रति भी स्वयं ही कारण होगा, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि पदज्ञान रूप एक ही कर्म में वही अन्त्यपद कर्म और करण नहीं हो सकता। जयन्त इस बात का भी खण्डन करते हैं कि कोई अर्थ अपने वाचक पद से विशिष्ट होकर ज्ञात होता है। इस प्रकार अन्त्यपदार्थ के ज्ञान के लिए अन्त्यपद के ज्ञान की उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है जो इस मत में कथमपि उपपन्न नहीं होती। अतः यह मत भी तर्कोपेत एव ग्राह्य नहीं है।

तृतीय मत :

जयन्त ने तीसरे मत के रूप में न्यायभाष्य के टीकाकार शङ्करस्वामी के एतद्विषयक मत का उल्लेख किया है। शङ्करस्वामी ने अपने मत में सभी पदों के स्मरण को आवश्यक नहीं माना और न ही पदार्थों द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान स्वीकार किया, अपितु वे वाक्य द्वारा ही वाक्यार्थ स्वीकार करते हैं। इनके मत में वर्ण इस प्रकार पदवाक्यभाव को प्राप्त करते हैं—

(१) पूर्वरीति से ही सर्वप्रथम पद का ज्ञान होता है, (२) प्रथम पद और उसके अर्थ के मध्य संकेत सम्बन्ध का स्मरण होता है, (३) प्रथम पद के अर्थ का ज्ञान होता है, (४) प्रथम पद का विनाश, (५) श्रोत्र विनश्यदवस्थ प्रथम पद ज्ञान से सहकृत द्वितीय पद का ज्ञान कराता है, यह द्वितीय पद अपने पूर्व पद से विशिष्ट होता है, (६) दूसरे पद का संकेत-स्मरण और पदार्थज्ञान उत्पन्न होता है, (७) विनश्यदवस्थ द्वितीय पदज्ञान से सहकृत श्रोत्र तृतीय पद का ज्ञान उत्पन्न करता है। यह तृतीय पद अपने पूर्वपद के रूप में स्थित द्वितीय पद से विशिष्ट होता है, (८) इसी क्रम से अन्त्यपदार्थ तक के सभी पदों का ज्ञान, संकेत स्मरण और पदार्थज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्येक पदज्ञान अपने पूर्वपद के रूप में स्थित पहले वाले पद से विशिष्ट ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार सभी पदों के ज्ञान के बाद पूर्ववर्णित दोनों सिद्धान्तों की तरह इस मत में सभी पदों का स्मरण

अपेक्षित नहीं है, क्योंकि इस मत में उत्पन्न पदज्ञान पूर्वपद विशिष्ट होता है। इस प्रकार उत्तरवर्ती पद पूर्ववर्ती पद से विशिष्ट होने के कारण अन्त्यपद के ज्ञान-काल मे सभी पद उपस्थित रहेंगे। अतः जब विनश्यदवस्थपूर्वपद द्वारा किये गये उत्तर-उत्तर पदों के प्रति अनुराग के बल से ही सभी पदों की एक साथ उपलब्धि अन्त्यपद के ज्ञान के काल में स्वतः ही हो जाती है। अतः सभी पदों के एकत्र अवस्थान के लिए पूर्वपदों के स्मरण की आवश्यकता ही नहीं है। स्मरण के अभाव से ज्ञान यौगपद्य की आशंका भी नहीं की जा सकती। पूर्वोक्त रीति से ज्ञानमान अन्त्यपद से जो अर्थ प्रतीति होती है, वही वाक्यार्थ है, क्योंकि अन्त्यपद सभी पूर्वपदों से विशिष्ट होता है अन्त्यपद का अर्थ सभी पूर्वपदों के अर्थों से विशिष्ट होता है। इस प्रकार इस मत से वाक्यार्थज्ञान वाक्य से होता है, पदार्थों से नहीं।

तृतीय मत का खण्डन :

द्वितीय मत भी निरवद्य नहीं है। द्वितीय पद कभी भी प्रथम पद से विशिष्ट गृहीत नहीं हो सकता। प्रथम पद के ज्ञान के अनन्तर संकेत स्मरण होता है। संकेत-स्मरण के पश्चात् पदार्थज्ञान काल में तो प्रथम पद ज्ञान विनष्ट ही हो चुका होता है। यह विनष्ट हुआ प्रथम पदज्ञान अपने नाश के पश्चात् परवर्ती किसी ज्ञान के प्रति किसी भी प्रकार की भूमिका नहीं निभाता। अतएव द्वितीय पदज्ञान प्रथम पद ज्ञान से विनष्ट नहीं हो सकता।

किसी पद का ज्ञान वर्णक्रम से ही होता है। पद के अवयवभूत वर्णों के क्रमशः गृहीत होने पर ही पद का ग्रहण माना जाता है। जब एक पद एक साथ गृहीत नहीं होता, तो इसी क्रम से वाक्य के अवयवभूत पद एक साथ कैसे गृहीत होंगे ? अतः अन्त्यपदज्ञान काल में प्रथम द्वितीयादि सभी पदों का ज्ञान मानना सर्वथा असंगत है।

नैयायिकों को व्यवहित पदों से भी वाक्यार्थज्ञान अभीष्ट है। जैसे कोई व्यक्ति अनेक कार्यों में उलझा हुआ होने से व्यग्र हृदय वाला होकर 'रे कन्दलक' मात्र कहता है, इसके बाद किसी अन्य कार्य का निर्देश देता हुआ बीच में 'तुरङ्गम्' पद का उच्चारण करता है और तब किसी अन्य प्रयोजन में व्यस्त हो जाता है, पुनः याद आने पर 'कल्पितपर्याणम्' कहता है और फिर कुछ अन्य कार्य करके 'आनय' कहता है और श्रोता स्वामी के इन व्यवहृत पदों से 'रेकन्दलक, पर्याण कसकर अश्व ले आओ' ऐसा वाक्यार्थ जान लेता है। परन्तु शङ्करस्वामी के उक्त मत में व्यवहित पदों से वाक्यार्थ सम्भव नहीं है, क्योंकि व्यवहित पदों में परवर्ती वर्णों के प्रति अनुराग का अभाव होने से अन्त्य पद के ज्ञान काल में पूर्व पदों का स्मरण ही सम्भव नहीं है।

यदि हम प्रथम द्वारा दूसरे पद को विशिष्ट ही ज्ञायमान स्वीकार करें तो भी इससे कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि हमें केवल द्वितीय पद का ही ज्ञान होता है। प्रथम पद का ज्ञान तो होता नहीं, अतएव प्रथम पद द्वितीय का विशेषण भले बने, परन्तु द्वितीयपदज्ञान काल में ज्ञान का विषय न होने से इस विशेषणता से कोई लाभ नहीं होता। पद अपना स्वतन्त्र अर्थ व्यक्त करने के लिए भी व्यवहृत होता है। लेकिन द्वितीयपदज्ञान को प्रथम पद से विशिष्ट स्वीकार करने पर भी द्वितीय पदार्थ का ज्ञान कभी भी प्रथम पदार्थ से विशिष्ट नहीं ज्ञात होता। इसलिए विशिष्ट ज्ञान कभी भी व्यवहृत नहीं होता। इसलिए विशेषणता पर आधारित शङ्करस्वामी का यह पाण्डित्यपूर्ण सिद्धान्त तर्कनिकष पर खरा नहीं उतरता और न्याय सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है।

जयन्त का अपना मत :

उक्त तीनों मतों की आलोचना करने के पश्चात् जयन्त ने अपना मत प्रस्तुत किया है। जयन्त का कहना है कि कोई ज्ञान शीघ्र विनष्ट हुआ है या चिरकाल पहले, इस बात से उसकी प्रकृति का नियमन नहीं होता, क्योंकि किसी ज्ञान की स्मृति के लिए आवश्यकता उसके संस्कार की होती है।[१] संस्कार सदा एकरूप रहता है। सद्यः नष्टज्ञान के संस्कार और चिरप्रलीन ज्ञान के संस्कार में स्वरूपगत भेद नहीं होता। इसलिए वाक्य के पूर्वपदों के चिरतिरोहित हो जाने पर या व्यवहित उच्चारण प्रसंग में पदों के चिरतिरोहित हो जाने से वाक्यार्थबोध में कोई अड़चन नहीं पड़ती, क्योंकि उक्त व्यवहित या प्रलीन पद ज्ञानों के संस्कार उक्त ज्ञान के तत्काल बाद उत्पन्न होते हैं और इन संस्कारों से पूर्व पदों या व्यवहित पदों का स्मरण हो जाता है। जयन्त ने वर्णों द्वारा पद या वाक्यभाव की उपपत्ति में जो दूसरी प्रमुख गवेषणा प्रस्तुत की है, वह है ज्ञानयौगपद्य से बचाव। अन्त्यपद के अनुभवकाल में यदि पूर्वपदों का स्मरण स्वीकार कर लिया जाय तो ज्ञानयौगपद्य की प्रसक्ति होती है, परन्तु इससे बचने के लिये जयन्त यह स्वीकार करते हैं कि क्रमभावी वर्णों के ज्ञान के क्रम से सर्वप्रथम पहला पद ज्ञात होता है, तब संकेतस्मरण होता है और संकेतस्मरण समकाल में ही पूर्वज्ञान का संस्कार उत्पन्न होता है। दो ज्ञानों का यौगपद्य ही शास्त्रों में प्रतिषिद्ध है, संस्कार और ज्ञान का यौगपद्य प्रतिषिद्ध नहीं है। अतः प्रथम ज्ञान के बाद प्रथम पद का संकेत स्मरण

१. चिरातिक्रान्तत्वमचिरातिक्रान्तत्वं वा न स्मृतिकारणं, संस्कारकरणं हि स्मरणं भवति। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३६३

और संस्कार एक साथ उत्पन्न होते हैं।[1] इसके बाद पदार्थज्ञान होता है। इस पदार्थज्ञान से भी संस्कार उत्पन्न होता है। इसके बाद प्रथमपदज्ञानादि क्रम से ही द्वितीयादि पदों का ज्ञान संकेतस्मरण और संस्कार की उत्पत्ति, पदार्थज्ञान और पदार्थ संस्कार उत्पन्न होते हैं। क्रमशः उत्तरवर्ती संस्कार पूर्ववर्ती संस्कारों से अपेक्षाकृत अधिक पटु होते हैं। इस क्रम से अन्त्य पदार्थज्ञान और उसके अत्यधिक पीवर संस्कार के उत्पन्न होने पर पदों के संस्कार से सभी पदों को विषय बनाने वाली स्मृति उत्पन्न होती है और पदार्थों के संस्कार से पदार्थ विषयक स्मृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार पहले पदसंस्कार और बाद में पदार्थसंस्कार—इस क्रम से पद और पदार्थ दो विषयों की स्मृतियाँ होती हैं। इनमें से स्मृत पदों का समूह वाक्य कहलाता है और स्मृत पदार्थों का समूह वाक्यार्थ कहलाता है। इस प्रकार स्मृत होते हुए भी सभी पद वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।[2] जयन्त की मान्यता का आधार यह है कि जयन्त पद-समूह को वाक्य तथा पदार्थ-समूह को वाक्यार्थ मानते हैं। अभिहितान्वयवादी नैयायिकों के संसर्गपदार्थवाद के विपरीत जयन्त संसृष्ट पदार्थों को वाक्यार्थ मानते हैं। संसृष्ट-पदार्थ के रूप में अभिमत इस वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति वाक्य से ही होती है। स्मरण और संस्कार के यौगपद्य के कारण दो ज्ञानों के यौगपद्य की आपत्ति भी जयन्त के सिद्धान्त में नहीं प्रस्तुत की जा सकती।

पूर्वपक्ष यह आक्षेप प्रस्तुत करता है कि चूँकि स्मृति अप्रमाण होती है, यथार्थज्ञान नहीं होती, इसलिए स्मृति पर आधारित वाक्यार्थज्ञान भी अयथार्थ होना चाहिए। जयन्त का उत्तर है कि यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि शाब्दज्ञान की यथार्थता संकेतग्रह पर आधारित है। जहाँ पर सम्बन्ध ग्रहण व्यभिचरित नहीं होता वहाँ ज्ञान यथार्थ होता है और सम्बन्ध ग्रहण के व्यभिचरित हो जाने पर ज्ञान में दोष आ जाता है जैसे—धूम से अग्नि का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध होता है। परन्तु कुहरे से अग्नि का अनुमान किया जाय तो वह दोषपूर्ण होगा, क्योंकि कुहरे से अग्नि का अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध गृहीत नहीं है। शाब्दज्ञान के प्रसंग में यदि हम जानते हों कि अमुक पद अमुक अर्थ में संकेतित है, परन्तु हम उक्त संकेतित पदार्थ का स्मरण न करके किसी तद्भिन्न पदार्थ का स्मरण करें, तब

---

१. ततः संकेतस्मरणं संस्कारश्च युगपद्भवतः, ज्ञानयोर्हि यौगपद्यं शास्त्रे प्रतिषिद्धं न संस्कारज्ञानयोः। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३६३

२. संस्कारक्रमात्क्रमेण द्वे स्मृती भवतः, तत्रैकस्यां स्मृतावुपारूढः पदसमूहो वाक्यमितरस्यामुपारूढः पदार्थसमूहो वाक्यार्थः॥ —वही, पृ० ३६३

निश्चित ही हमारा ज्ञान दोषपूर्ण होगा, परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में क्रमभावी वर्ण उसी क्रम से पद के रूप में स्मृत होते हैं, जिस क्रम से ग्रहण होने पर उक्त वर्ण-समूहभूत पद में संकेत का ग्रहण हुआ था। अनुभूत पद या पदार्थ के निवृत्त होने के शीघ्र बाद ही उसका स्मरण भी किया जाता है, अतः इस स्मृति में कोई दोष नहीं है और न ही शाब्दज्ञान की यथार्थता को चुनौती दी जा सकती है।

जयन्त वर्णों के पदवाक्यभावोगम के लिए और वाक्य से वाक्यार्थ-ज्ञान की सिद्धि के लिए एक और विकल्प प्रस्तुत करते हैं। अन्त्यपदार्थ के ज्ञान के पश्चात् सभी पदों और पदार्थों को विषय बनाने वाला अनुव्यवसाय होता है। मानस अनुव्यवसाय के विषयभूत पद मिलकर वाक्य कहे जाते हैं और इसी अनुव्यवसाय के विषयभूत पदार्थ मिलकर वाक्यार्थ कहे जाते हैं।[१] इस रूप का मानस अनुव्यवसाय सभी को स्वीकृत है अतः अप्रत्याख्येय है।

जयन्त के इस द्विविध समाधान पर यह शङ्का की जा सकती है कि जब अन्त्यपद के अर्थज्ञान मात्र से ही वाक्यार्थ प्रतीति सम्भव हो तो अन्त्यपदार्थ के ज्ञान के बाद पूर्वपदों और पूर्वपदार्थों का स्मरण या अनुव्यवसाय स्वीकार करने की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न पर जयन्त का उत्तर है कि यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिक परीक्षक सभी इस बात को जानते हैं वाक्यार्थज्ञान एकाकार स्वरूप वाला होता है और एकाकार स्वरूप वाले इस वाक्यार्थ का ज्ञान किसी पद के ज्ञान या पदार्थ के ज्ञान से सम्भव नहीं है, वरन् यह केवल सभी पदों और पदार्थों के स्मरण से अथवा मानस प्रत्यक्ष से ही सम्भव है। अतः वाक्यार्थज्ञान की एकाकारता को अक्षुण्ण रखने के लिए स्मरण और मानसव्यापार का उपयोग होता है।[२] इसलिये स्मरण या अनुव्यवसाय की उपयोगिता को वाक्यार्थज्ञान के प्रसङ्ग में झुठलाया नहीं जा सकता। स्मृत्यारूढ या अनुव्यवसाय का विषय बनने वाले पदसमूह को ही वाक्य कहते हैं और संसृष्ट पदार्थ समूह को वाक्यार्थ कहते हैं।

---

१. अथवा कृतं स्मरणकल्पनयाऽन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं सकलपदार्थविषयो मानसोऽनुव्यवसायो भविष्यति, तदुपारूढानि पदानि वाक्यं तदुपारूढश्च पदार्थो वाक्यार्थः। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३६४

२. एकाकारो हि वाक्यार्थप्रत्ययः प्रत्यात्मवेदनीयो न शक्योऽपह्नोतुम्, न चासौ स्मर्यमाणादनुव्यवसायाद्वा विना समाद्यत इत्यस्ति तदुपयोगः।

—वही, पृ० ३६४

वाक्यार्थ विचार

वाक्यार्थवाद भारतीय ज्ञानमीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। विविध दार्शनिक प्रस्थानों में वाक्यार्थ का मौलिकस्वरूप विचारित हुआ है। चूँकि सभी दर्शनों के मूल सैद्धान्तिक पक्ष परस्पर एक दूसरे से मेल नहीं खाते, इसलिये वाक्यार्थ के स्वरूप में पर्याप्त भिन्नता के दर्शन होते हैं।[१] जयन्त ने अपनी 'न्याय-मञ्जरी' में वाक्यार्थ पर विभिन्न दर्शनों मे स्वीकृत आठ मत प्रस्तुत किया है। वाक्यार्थ के सम्बन्ध में दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की ओर से जयन्त ने जो समाधान प्रस्तुत किये हैं, वे हैं—ज्ञान, संसर्ग, अन्यव्यवच्छेद, प्रधान क्रिया, भावना, विधि, उद्योग और प्रतिभा। जबकि स्वयं जयन्त ने परस्पर संसृष्ट पदार्थ को वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार किया है। साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि वाक्य के विविध पदों में से किसी पद का अर्थ प्रधान भाव प्राप्त करके वाक्य के घटक अन्य पदों के गुणीभूत अर्थों से विशेषित होता हुआ वाक्यार्थ बनता है। विशेष विवेचन के द्वारा जयन्त ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वाक्यार्थभूत यह प्रधान पदार्थ फल ही हो सकता है, इसलिये वाक्य का अर्थ फल है। प्रस्तुत प्रकरण में सर्वप्रथम हम वाक्यार्थ से सम्बद्ध सभी विप्रतिपन्न पक्षों और उन पर जयन्त की प्रतिक्रियाओं को प्रस्तुत करेंगे और तब जयन्त के स्वाभिमत सिद्धान्त को प्रस्तुत करेगे।

वाक्यार्थवाद पर विप्रतिपत्तियाँ

इस सम्बन्ध में मुख्य दो विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ दार्शनिक जो बाह्यार्थ की सत्ता नहीं स्वीकार करते, वे वाक्यार्थ को आन्तर तत्त्व स्वीकार करते हैं। बाह्यार्थभिन्न वाक्यार्थ स्वीकार करने वाले चार मत 'न्यायमञ्जरी' में प्रस्तुत हुये हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि आन्तर प्रतिभा को वाक्यार्थ स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त दार्शनिकों का एक अन्य समुदाय ज्ञान को वाक्यार्थ मानता है। बौद्ध दार्शनिक अन्य व्यवच्छेद को वाक्यार्थ मानते हैं। इसी तरह मीमांसकों का एक देश उद्योग को वाक्यार्थ मानता है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसा दर्शनों में बाह्यार्थ की सत्ता को वास्तविक माना गया है, अतः इन दर्शनों

---

१. एवं पदार्थे निर्णीते वाक्यार्थश्चिन्त्यतेऽधुना।
तत्र विप्रतिपत्तिश्च बहुरूपा विपश्चिताम्॥

—न्या० म०, भाग १, पृ० ३००

तुलनीय—वाक्य० २.२ पर प्रकाश, पृ० ६५

में आन्तर वाक्यार्थ का खण्डन करते हुये बाह्यार्थ को वाक्य से सम्बद्ध स्वीकार किया गया है। संसर्ग, संसृष्ट क्रिया, भावना, विधि आदि सभी बाह्य तत्त्व हैं, जिन्हें न्याय एवं मीमांसा के विभिन्न दार्शनिक वाक्यार्थ कहते हैं।

(१) ज्ञान वाक्यार्थज्ञान :

वैयाकरणों से प्रभावित दार्शनिकों का कोई समूह बाह्य अर्थ की असत्ता को स्वीकार करता हुआ वाक्य से जिस अर्थ की प्रतिपत्ति स्वीकार करता है, वह बाह्यतत्त्व न होकर आन्तरतत्त्व ज्ञान है।[१] यदि वाक्यार्थ को बाह्यतत्त्व स्वीकार कर लें तो या तो वह पदार्थों से भिन्न होगा या अभिन्न। पदार्थ भिन्न वाक्यार्थ हो नहीं सकता, क्योंकि यह भिन्नता अप्रामाणिक है। एवमेव वाक्यार्थ पदार्थों से अभिन्न भी नहीं हो सकता। वाक्यगतपदों के अर्थ जाति, गुण, क्रियादि होते हैं, अतः पदार्थ से अभिन्न वाक्यार्थ या तो जात्यादि पदार्थों में से प्रत्येक होगा या सभी का समूह। जात्यादि में से प्रत्येक पदार्थ वाक्यार्थ के रूप में गृहीत नहीं होता और सत्ता या प्रतीति के द्वारा जात्यादि पदार्थों का सामस्त्य भी उपपन्न नहीं होता। इसलिये वाक्य से किसी बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं स्वीकार किया जा सकता।

बाह्य पदार्थों में वाक्यार्थ की असम्भाव्यता की तरह पदार्थों के अन्योऽन्य संसर्ग को भी वाक्यार्थ नहीं कह सकते। संसर्ग को अन्य की अपेक्षा होती है। एक पदार्थ का संसर्ग सदा अन्य पदार्थों से होगा, अतः संसर्ग के प्रसंग में अन्य की अपेक्षा उपस्थित रहती है। परन्तु निर्जीव पदार्थों में अन्य की अपेक्षा की उपपत्ति असम्भव है। बुद्धि भी क्षणिक होने से इस अपेक्षा की सन्तुष्टि नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त वाक्य में संसर्ग का वाचक कोई पद नहीं होता, अतः संसर्ग पदार्थ नहीं होगा और जो पदार्थ नहीं है, वह वाक्यार्थ भी नहीं हो सकता।[२] इसी प्रकार संसृष्ट पदार्थ भी संसर्ग की एतद्विषयक अशक्यता से वाक्यार्थ नहीं हो सकते। इस प्रकार से बाह्य वाक्यार्थ की असम्भाव्यता के कारण पदार्थ संसर्ग को प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही वाक्यार्थ है और लोक पदार्थ-संसर्ग विषयक इसी ज्ञान को व्यवहार में विषय बनाता है।[३]

---

१. केचिदाचक्षते बाह्यस्य वाक्यार्थस्यासम्भवात् पदार्थसंसर्गनिर्भास ज्ञानमेव वाक्यार्थ इति। न्या० म०, भाग १, पृ० १००

२. असति च तद्वाचिनि पदे न तयोः पदार्थत्वम्। अपदार्थस्य च न वाक्यार्थत्वम्।

३. तस्माद् बाह्यस्य वाक्यार्थस्य सर्वप्रकारमसम्भवात् पदार्थसंसर्गनिर्भासं ज्ञानं वाक्यार्थो भवितुमर्हति। तेनैव च लोके व्यवहारः इति। —वही, पृ० ३०१

ज्ञान वाक्यार्थवाद का खण्डन :

न्यायदर्शन बाह्यार्थवादी है, इसलिये जयन्त के मत में बाह्य पदार्थों की सत्ता के वास्तविक होने एवं पदार्थों के पदवाच्य होने के कारण वाक्यार्थ बाह्य हो सकता है, आन्तर नहीं। वाक्यार्थ को पदार्थ से अभिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'गाम्' पद के अर्थ और 'शुक्लां गामानय' पदों के अर्थ में पर्याप्त अन्तर होता है। यह बात अनुभव सिद्ध है। अतः वाक्यार्थ सदा पदार्थ से भिन्न ही होगा।[1] जो यह कहा गया है कि पदार्थों का संसर्ग प्रतीत नहीं होता, वह भी ठीक नहीं है। 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इन अनन्वित पदार्थवाची पदों का अर्थ 'गौः शुक्ला आनीयताम्' इन अन्वित पदों के अर्थ से निश्चित ही भेद रखता है। वाक्य के घटक पदों के अपने अर्थों से अतिरिक्त जो पदार्थ संसर्ग है, उस आधिक्य से युक्त पदार्थ ही वाक्यार्थ बन सकते हैं। पदार्थों के परस्पर संसर्ग की प्रतीति हम इसी अध्याय में वर्णों के पदवाक्यभावोपम के प्रसङ्ग में देख चुके हैं, फलतः आन्तरज्ञान को किसी भी प्रकार वाक्यार्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता।

(२) अन्य-व्यवच्छेद वाक्यार्थवाद :

अन्य-व्यवच्छेद को वाक्यार्थ मानने वालों का तर्क भी यही है कि चूँकि बाह्य अर्थ सत् नहीं होता, अतः वाक्यार्थ का तात्पर्य संभाव्य बाह्य अर्थ के अन्य-व्यवच्छेद में निहित है। यदि यह कहा जाय कि अन्य-व्यवच्छेद की सिद्धि के लिये किसी सत् अन्य को बाह्यतः स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा व्यवच्छेद्य के अभाव में किसका व्यवच्छेद होगा? और जब व्यवच्छेद के लिये सत् बाह्यार्थ को स्वीकार करना ही पड़ेगा, तो बाह्यतः सत् वाक्यार्थ मान लेने में क्या दोष है? तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अन्य-व्यवच्छेद का सिद्धान्त बाह्यार्थ की असत्ता पर ही अवलम्बित है। यदि व्यवच्छेद्य की आकांक्षा होने पर बाह्यार्थ की सत्ता मान भी लें तो भी वह बाह्यार्थ वाक्यार्थ नहीं होता, वरन् उससे भिन्न का निषेध ही वाक्यार्थ होता है। 'गौः शुक्ला अनीयताम्' में किसी बाह्य शुक्ल गौ की प्रतिपत्ति न होकर कृष्णादि अन्य गायों का निषेध ही प्रधानतः जाना जाता है।[2]

अन्य-व्यवच्छेद का खण्डन :

ज्ञान वाक्यार्थवाद के खण्डन के समान तर्कों द्वारा ही अन्य-व्यवच्छेद का खण्डन हो जाता है। यदि अन्य-व्यवच्छेद कोई बाह्यार्थभिन्न तत्त्व है तो वह वाक्यार्थ बन ही नहीं सकता। यदि वाक्यार्थ को बाह्य मानकर अन्य-व्यवच्छेद

---

१. न च पदार्थव्यतिरिक्तो नास्तीति वाक्यार्थः। —वही, पृ० ३९२

२. अन्य-व्यवच्छेदो वाक्यार्थः इत्यपरे। शुक्लादि पदान्तरोच्चारणे कृष्णादि-निवृत्तेरवगमात्। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३००

की सिद्धि की जाय तो भी वह वाक्यार्थ नहीं बन सकता। हमारे ज्ञान का विषय होने वाला वाक्यार्थ विधिरूप में ही अवगत होता है, न कि तद्भिन्न के व्यवच्छेद के रूप में। दूसरी प्रमुख बात यह है कि जब तक व्यवच्छेद का सम्बन्ध भावात्मक शुक्ल गाय से नहीं होगा, तब तक कृष्ण गाय के व्यवच्छेद की वार्ता करना भी निरर्थक है।[1] 'गौः शुक्ला अनीयताम्' में व्यवच्छेद गाय का तो होता ही नहीं, व्यवच्छेद केवल शुक्लत्वादि गुणों का कृष्णत्वादि गुणों से होता है। बौद्ध-विचारक यदि अन्य-व्यवच्छेद को इस रूप में स्वीकार करें कि जब कोई संज्ञा पद प्रयुक्त होता है तो उससे ज्ञात होने वाला गवादि पदार्थ असंख्य विशेषणों से सामान्येन अन्वय रखता है, परन्तु जब शुक्ल विशेषण आ जाता है तो वह कृष्णादि अन्य विशेषणों से गाय के अन्वय का व्यवच्छेद कर देता है। जयन्त का कहना है कि व्यवच्छेद यहाँ पर केवल विशेषण का होता है, अन्वित विशेष्य का नहीं। 'गौः शुक्ला अनीयताम्' में आनयन क्रिया से साक्षात् कर्मत्वेन विशेष्य भूत द्रव्य से व्यवच्छेद नहीं होता। पुनश्च यदि एक विशेषण से अन्य विशेषणों का व्यवच्छेद मान भी लें तो इससे वाक्यार्थ में और वाक्यार्थ की बाह्यता में कोई दोष नहीं आता।[2] परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि अन्य-व्यवच्छेद को वाक्यार्थ स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं है।

(३) प्रतिभा वाक्यार्थवाद :

वाक्य को निरवयव एवं अखण्ड मानने वाले वैयाकरण भर्तृहरि के अनुसार क्रमवान् अतात्त्विक पदों से अभिव्यङ्ग्य निष्क्रम, अखण्ड वाक्यस्फोट रूप शब्द-तत्त्व ही वाक्य कहा जाता है।[3] वाक्य की तरह वाक्यार्थ भी निरवयव और अखण्ड होता है। इस निरवयव वाक्यार्थ को ही प्रतिभा कहा गया है। अतएव उनके मत में प्रतिभा को वाक्यार्थ कहा गया है।[4] देवदत्तादि पदों के पृथक्-पृथक् अर्थ

---

१. न हि शुक्लपदार्थेन असंसृष्टो गोपदार्थः कृष्णादिभ्यो व्यावृत्त इत्यवगम्यते।
वही, पृ० ३०२

२. तत्सम्बन्धावगमपूर्वकत्वात्तदितरव्यावृत्तेः। तत्सम्बन्धावबोधेन सिद्धे वाक्यस्यार्थवत्त्वे पाश्चात्त्यः कृष्णादिव्यवच्छेदावगमो यदि भवति, भवतु कामम्, न त्वसौ वाक्यार्थ इति।
वही, पृ० ३०२

३. द्रष्टव्य—वा० प०, २।२८-२९ तथा इन पर पुण्यराजकृत टीका।

४. विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम्॥
—वही, २।१४३

अपि च, Shastri Gauri Nath, Philosophy of word and Meaning.
—Page 252

Also : Barough J., Some Indian Theories of Meaning.—P. 171

ग्रहण करने के अवसर पर उन पदों से एक विशेष प्रतिभा उद्बुद्ध होती है, वही वाक्यार्थ है। पुण्यराज के अनुसार शब्द स्फोट है और अर्थ प्रतिभा है। स्फोट लक्षण-शब्द में कोई विभाग नहीं है। प्रतिभा वाक्यार्थ में अध्यास लक्षण सम्बन्ध है।[१] जिस प्रकार से असत्य पदों से सत्य वाक्यात्मक अखण्ड स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार पृथक्-पृथक् असत्य पदार्थों से निरवयव प्रतिभा रूप वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह प्रतिभा केवल प्रौढ मनुष्यों में ही नहीं, वरन् अज्ञ बालक, तिर्यग्गामी गजाश्वादि जीवों में भी होती है।[२]

प्रतिभा वाक्यार्थवाद का खण्डन :

प्रतिभावाक्यार्थवाद का खण्डन करते हुये जयन्त कहते हैं कि प्रतिभा चूंकि एक प्रकार का ज्ञान है, जो वाक्य रूप शब्द से ही उत्पन्न होता है। परन्तु चक्षुष् से जिस प्रकार नीलपीतादि रूपों का ज्ञान होता है, पर वे आँख के अर्थ नहीं होते, उसी प्रकार प्रतिभारूप ज्ञान भी वाक्य से उत्पन्न होता है, पर उस वाक्य का अर्थ नहीं है।[३] चूंकि बाह्य विषय का अभाव है, इसीलिये प्रतिभा ही आन्तर तत्त्व होने से विषय मान ली जाय—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थों की बाह्यता अनेकशः सिद्ध की जा चुकी है।[४] जिस प्रकार 'व्याघ्र आयातः' कहने पर शूर, कातरादि विभिन्न श्रोताओं के मन में भिन्न-भिन्न भावों का उदय होता है। यथा शूर में उत्साह, कातर में भय आदि भाव उत्पन्न होते हैं। ये विभिन्न भाव उन-उन श्रोताओं के मन में बाह्यरूप से वास्तविक व्याघ्र के आगमन को जानकर वासनाओं के उद्दीप्त होने से होते हैं। अतः स्पष्ट है कि उत्साहादि की उत्पत्ति का हेतु उक्त वाक्यार्थ निश्चय ही बाह्यार्थ है, न कि आन्तर ज्ञायमान प्रतिभा। इन उत्साहादि की उत्पत्ति में हेतु ज्ञान मात्र नहीं है, बल्कि ज्ञायमान अर्थ इसमें हेतु है।[५] यदि उच्चरित वाक्य का अर्थ बाह्यरूप से उपलब्ध न हुआ तो

---

१. तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाच्यं, प्रतिभैव वाक्यार्थः अध्यासश्च सम्बन्ध इति। —प्रकाश, पृ० ६७

२. वा० प०, २।१४७

३. प्रतिभा खलु विज्ञानं तच्च शब्देन जन्यते।
न च शब्दस्य विषयो रूपधीरिव चक्षुषः॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० ३३५

४. बाह्यस्य विषयस्याभावात् सैव विषय इति चेतन्न तस्य समर्थितत्वात्। —वही, पृ० ३३५

५. योऽपि व्याघ्र आयात इत्युक्ते शूरकातरनराधिकरणनानाप्रकारकार्योत्पादः स बाह्येऽर्थे व्याघ्रागमनादौ प्रतिपन्ने वासनाऽनुसारेण भवन्न प्रतिभामात्र-हेतुको भवति। —वही, पृ० ३३५

ऐसे वाक्य को विप्रलम्भक वाक्य कहा जाता है। इस प्रकार के विप्रलम्भक वाक्य में अर्थ असत् हो सकता है, पर बाह्य भिन्न आन्तर विषय उसका अर्थ नहीं होता।[१] जिस प्रकार से बाह्यरूप से सत् एक वनिता को देखने पर विरक्त, रसिक एवं व्याघ्रादि में वासनानुरूप भिन्न-भिन्न अस्पृश्यत्व, भोग्यत्व और भक्ष्यत्व रूप प्रतिभाओं की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार शब्दार्थ के प्रसङ्ग में भी 'व्याघ्र आयात:' वाक्य सुनकर शूर व्यक्तियों में उत्साह, कायर में भय आदि कार्य उत्पन्न होते हैं। परन्तु इतने मात्र से प्रतिभा को वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता। हाँ, यदि वाक्य के प्रयोजन के कारण प्रतिभा को वाक्यार्थ कहने का आग्रह हो, तो कह सकते हैं, परन्तु यह प्रतिभा शब्द से अभिधेय नहीं होगी।[२] जबकि वाक्यार्थ को शब्दाभिधेय होना चाहिये। जिस प्रकार स्त्री दर्शन से उत्पन्न अस्पृश्यत्वादि प्रतिभायें वाक्य से अभिधेय नहीं हैं, उसी प्रकार 'व्याघ्र आयात:' वाक्य श्रवण से उत्पन्न उत्साहादि प्रतिभायें वाक्य से अभिधेय बिल्कुल नहीं हैं। शब्द से सर्वथा अनभिहित रहने वाली ये प्रतिभायें वाक्यार्थ कैसे हो सकती हैं। वैयाकरण कह सकते हैं कि नैयायिक भी संसर्ग की सत्ता वाक्यार्थ में स्वीकार करते हैं जो अभिधेय नहीं होता, क्योंकि वहाँ भी वाक्य में संसर्ग का अभिधान करने वाला कोई पद नहीं होता। जयन्त के अनुसार इसका उत्तर यह है कि संसर्ग को वाक्यार्थ नहीं माना जाता, वरन् संसृष्ट पदार्थों को वाक्यार्थ माना जाता है, जिसके अभिधान में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है। इस आधार पर वैयाकरण यदि यह मान लें कि प्रतिभा वाक्यार्थ नहीं होती, अपितु प्रतिभा में अन्त होने वाला अर्थ वाक्यार्थ होता है, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं। वैयाकरण यह कह सकते हैं कि बाह्यार्थ मानने पर अतीत और अनागत विषयों का अभाव होता है, किन्तु अतीत और अनागत विषयों का अभिधान नैयायिक भी स्वीकार करेगा ही, तब अतीत, अनागत-अनुपलब्ध विषयों की तरह वाक्य आन्तर प्रतिभा का अभिधान क्यों नहीं कर सकता? जयन्त का समाधान है कि न्याय में वर्तमान भावात्मना सत् बाह्य विषयों की तरह से केवल उन्हीं अतीत, अनागत विषयों का अभिधान अभिप्रेत है, जो वर्तमानादि के माध्यम से सत् एवं वास्तविक रूप में सिद्ध माने जाते हैं। इस प्रकार परिणाम रूप में जयन्त की यह उद्घोषणा है कि वाक्यार्थ बाह्यतः भावात्मक, एवं सत् है और हमारी कल्पना से प्रसूत नहीं है।[३]

१. अर्थस्तदानीं नास्तीति चेद् विप्रलम्भकवाक्यमिदमसत्यार्थं भविष्यति न त्वबाह्यविषयं तत्। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३३५

२. तस्माद् वाक्यप्रयोज्यत्वेन वा यदि प्रतिभा वाक्यार्थः कथ्यते, कथ्यतां नाम, न त्वसौ शब्दस्याभिधेया। —वही, पृ० ३३६

३. वाक्यार्थः परमार्थ एव तदयं नो कल्पनानिर्मितः। —वही, पृ० ३३६

(४) उद्योगवाक्यार्थवाद :

जयन्त ने उद्योगाख्य आत्मस्पन्द विशेष को वाक्यार्थ मानने वाले एक पक्ष को प्रस्तुत किया है। 'न्यायमञ्जरी ग्रंथिभङ्ग' के लेखक आचार्य चक्रधर के अनुसार मीमांसा के तृतीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक भट्टनारायण के मत का उपन्यास जयन्त ने उद्योग वाक्यार्थवाद के रूप में किया है।[१] निरुद्योग आत्मा जिसके प्रतीत होने पर सोद्योग हो जाय, वह आत्मस्पन्द उद्योग कहलाता है।[२] भट्टनारायण ने लिङ्गादि शब्द श्रवण होने पर उत्पन्न होने वाले आत्मस्थ प्रयत्न या उद्योग को वाक्यार्थ कहा है।[३]

उद्योगवाक्यार्थवाद का खण्डन :

जयन्त उद्योग की वाक्यार्थता भी नहीं स्वीकार करते। जयन्त का कथन है कि यदि उद्योग आत्मस्पन्द है, तो इसका स्वरूप हम नहीं जानते। आत्मस्पन्द होने से निश्चित ही यह आत्मा का कोई गुण हो सकता है। आत्मा के नौ विशेष गुण—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म-अधर्म और संस्कार स्वीकार किये गये हैं। इनमें से उद्योग का समीकरण किस गुण के साथ हो सकता है। निश्चित है कि सुख, दुःख, धर्म, अधर्म और संस्कार से उद्योग समीकृत नहीं किया जा सकता। अतः उद्योग या तो बुद्धि है या इच्छा है, या द्वेष है या प्रयत्न है। यदि उद्योग बुद्धि है तो यह वैयाकरणों के प्रतिभा वाक्यार्थ से अभिन्न है और प्रतिभा विरोधी तर्कों से ही इसका भी निराकरण हो जायेगा। यदि उद्योग प्रयत्न से अभिन्न है, तब यह भावना का ही दूसरा नाम हो सकता है, जिसका खण्डन आगे भावनावाक्यार्थवाद के प्रसङ्ग में किया जायेगा। यदि यह इच्छा या द्वेष में से कोई है तो सुख की उपादित्सा और दुःख की जिहासा ही वाक्यार्थ होगी जो फल से अभिन्न है और तब यह नैयायिकों का ही अभिमत पक्ष है। यदि भाट्टों को अभिमत आत्म-व्यापार उद्योग है, तब यह भावना से अभिन्न है। यदि उद्योग को प्रेरक या अनुष्ठेय के रूप में स्वीकार करें तो यह नियोग का नामान्तर है, क्योंकि उद्योग और नियोग का एक ही अर्थ है। दोनों शब्दों में केवल 'उत्' और 'नि' उपसर्गों की ही भिन्नता है। नहीं तो धातु 'युज्' और प्रत्यय 'घञ्' दोनों शब्दों

---

१. मीमांसायां तृतीयदर्शनकर्तृभट्टनारायणमतोपन्यासः।
—न्या० म० ग्रं० भ०, पृ० १४१

२. यस्मिन् प्रतीते सति निरुद्योगस्य सतः आत्मनः सोद्योगत्वं भवति स उद्योगः।
—वही, पृ० १४१

३. अन्ये पुनः अभिनवं वाक्यार्थमुद्योगं नाम वर्णयाम्बभूवुः।
—न्या० म०, भाग १, पृ० ३००

में उभयनिष्ठ हैं। अतः आगे निराकरणीय विधि वाक्यार्थ से समीकृत उद्योग भी वाक्यार्थ नहीं हो सकता। जयन्त उद्योग वाक्यार्थवादियों का मजाक उड़ाते हुये कहते हैं कि यह उद्योग वाक्यार्थ का विषय इसके पूर्व दर्शन के क्षेत्र में कभी नहीं सुना गया। महाभारत के उद्योग पर्व में उद्योग का परिचय मिल सकता है पर दर्शन के क्षेत्र से उद्योग का कुछ लेना-देना नहीं।[1]

उपर्युक्त आन्तरवाक्यार्थवाद की विप्रतिपत्तियों की तरह बाह्यार्थवादी दार्शनिक मान्यताओं में—विशेषतः न्याय और मीमांसा में, एक मत से किसी बाह्य अर्थविशेष को वाक्यार्थ स्वीकार नहीं किया गया। प्राभाकर मीमांसक प्रधान क्रिया को वाक्यार्थ मानते हैं, जबकि कुमारिल एवं उनके कुछ शिष्य वाक्यार्थ के रूप में आर्थीभावना एवं शाब्दीभावना या विधि को प्रस्तुत करते हैं। न्याय दर्शन के क्षेत्र में वाक्यार्थ पर सर्वप्रथम जयन्त ने ही विचार किया है। जयन्त स्वतः संसृष्टपदार्थ एवं फल को वाक्यार्थ मानते हैं, जबकि जयन्त के उत्तरवर्ती नैयायिक पदार्थ संसर्ग को वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। यद्यपि जयन्त से पूर्व भी दार्शनिकों का कोई वर्ग संसर्ग को वाक्यार्थ मानता था, क्योंकि अन्य विपरीत मान्यताओं के साथ-साथ जयन्त ने संसर्ग वाक्यार्थवाद का खण्डन किया है।

(५) क्रिया वाक्यार्थवाद :

वाक्यार्थ के विषय में प्रभाकर एवं उनके शिष्यों की अपनी भिन्न मान्यता है। ये अन्विताभिधानवादी मीमांसक वाक्य के घटक सभी पदों के अर्थों में गुण-प्रधानभाव आवश्यक मानते हैं। पदों के मध्य अन्वय या संसर्ग पदों के मध्य गुण-प्रधानभाव के होने पर ही सम्भव है। वाक्य में द्रव्य, गुण, क्रिया आदि अर्थों में आने वाले पदों में क्रिया पद की प्रधानता होती है। प्रत्येक वाक्य में क्रिया पद अवश्य प्रयुक्त होता है। जब तक वाक्य में क्रिया पद नहीं आता, तब तक वाक्य की आवश्यक शर्त आकांक्षा की शान्ति नहीं होती। श्रोता की आकांक्षा की शान्ति के लिये ही लोक में वाक्य का प्रयोग किया जाता है। लोक की ही तरह वेद में भी वाक्य योजना अकांक्षानिवृत्ति के लिये ही स्वीकृत है। अतएव आकांक्षा की निवृत्ति के लिये वाक्य में आख्यात पद का प्रयोग अवश्य होता है। उसी का साध्य क्रिया रूप अर्थ वाक्यार्थ कहा जाता है।

वाक्य में दो प्रकार के पदों का प्रयोग होता है। कुछ पद सिद्ध अर्थों का अभिधान करते हैं और कोई पद साध्य अर्थ को अभिहित करता है। क्रिया पद

---

१. तस्मादश्रुतपूर्वेण कृतमुद्योगपर्वणा।
स भारतमनुष्याणां गोचरो न तु मादृशाम्॥—न्या० म०, भाग १, पृ० ३३५

द्वारा वाक्योच्चारण से पूर्व साध्य रूप में स्वीकृत या वाक्योच्चारण के पश्चात् साध्यमान-अर्थ का अभिधान होता है। जिस वाक्य में सिद्ध और साध्य अर्थों के वाचक पद मिल-जुलकर आवें, वहाँ कौन पद किसके अधीन हो—यह जानना आवश्यक हो जाता है। प्रभाकर के मत में[१] वाक्य में सिद्ध अर्थों के वाचक पद साध्य अर्थ की सिद्धि के लिये ही प्रयुक्त होते हैं। क्रिया ही साध्यमान होती है और साध्य क्रिया की सिद्धि के लिये ही द्रव्य, गुण आदि के वाचक पद प्रयुक्त होते हैं। इसलिये वाक्य में क्रिया की ही प्रधानता होती है और इस कारण क्रिया ही वाक्यार्थ होती है। क्रिया वाचक पद ही वाक्य के अन्य साधनभूत अर्थों के वाचक पदों से सम्बन्ध बनाता है। क्रिया पद का वाक्य के अन्य पदों से यह सम्बन्ध या अन्वय कुछ से साक्षात् होता है और कभी-कभी कुछ पदों से साक्षात् सम्बन्ध न बन पाने की स्थिति में अदृष्ट पदों से सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है। अदृष्ट पदों से यह सम्बन्ध कई प्रकार से हो सकता है। तद्यथा—(१) पदान्तरोपात्त, (२) वाक्यान्तरोपात्त, (३) प्रकरण पाठलभ्य, (४) आरात् (दूर से) उपकारक, (५) सन्निपत्य (समीप से) उपकारक, (६) कुछ को समीप रहने के बावजूद अयोग्य होने से छोड़ दिया जाता है और (७) कुछ का दूरवर्ती होने पर भी योग्यता के कारण ग्रहण किया जाता है।

'स्वर्गकामो यजेत' आदि वाक्यों में क्रिया वाची यजेत पद से वाच्य यागादि रूप साध्य क्रिया ही का प्राधान्य है, अतएव वही वाक्यार्थ है। यहाँ पर अधिकारी के वाचक 'स्वर्गकाम' पद का प्राधान्य सम्भव नहीं है। अधिकारी का वाचक पद क्रिया के निमित्त अपनी प्रधानता का परित्याग करता है। क्रिया, कर्त्ता के निमित्त नहीं होती, वरन् कर्त्ता, क्रिया के निमित्त होता है, क्योंकि कर्त्ता की उपलब्धि क्रिया को सम्पादित करते हुये ही होती है।[२] स्वर्ग की इच्छा रखने वाले अधिकारी यजमान को याग क्रिया में प्रवृत्त होने का विधान वेद करता है। अतः यजमान की यह प्रवृत्ति शब्द-प्रमाण सम्मत है। शब्द - प्रमाणभूत वेद से जिस क्रिया में प्रवृत्ति की प्रेरणा कर्त्ता प्राप्त करता है, वह अनतिक्रमणीय है और वह वाक्य में क्रिया के प्राधान्य की स्थापना करता है। अतएव क्रिया ही वाक्यार्थ है। इसीलिये

१. साध्यञ्च साध्यमानत्वात् प्रधानमवगम्यते।
तस्मात्तदेव वाक्यार्थः क्रियातो नापरञ्च तत्॥

—न्या० म०, भाग १, पृ० ३०३

२. तत्र च कर्त्ता क्रियासु स्वप्राधान्यमुज्झति, न हि क्रिया कर्त्रर्था अपितु कर्त्ता क्रियार्थः, स हि तां निर्वर्तयन्नुपलभ्यते। —वही, पृ० ३०३

आचार्य जैमिनि ने अपने सूत्रों में द्रव्य, गुण और संस्कार में शेष भाव माना है।[1] तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण और संस्कार दूसरे के निमित्त होते हैं। तब ये वाक्य में प्रधान नहीं हो सकते। ये वाक्य में जिसके निमित्त होगे अथवा जिसके प्रति इनका शेष भाव होगा, वह क्रिया ही वाक्य में प्रधान होती है और वही वाक्यार्थ होती है।

क्रिया वाक्यार्थवाद का खण्डन :

प्रधानता के कारण क्रिया को वाक्यार्थ मानने वाले प्रभाकर के मत का जयन्त खण्डन करते हैं। जयन्त का कहना है कि वाक्य में क्रिया की प्रधानता ही नहीं सिद्ध की जा सकती, तब उस पर अवलम्बित क्रिया वाक्यार्थवाद की सिद्धि कैसे होगी? क्रिया की प्रधानता या तो वस्तुवृत्त होगी या शब्द के प्रत्ययादि से गम्य होगी। यदि वास्तविकता पर विचार किया जाय तो वाक्य में साध्य क्रिया की अपेक्षा उस क्रिया के फल की प्रधानता होती है। वेद से, गुरु या राजा की आज्ञा से प्रेरित होकर भी कोई व्यक्ति तब तक क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता जब तक कि क्रिया की सिद्धि से उत्पन्न फल कर्त्ता को समीहित नहीं होता। मूर्ख-माणवक भी गुरु की आज्ञा का पालन या तो मार पड़ने के डर से या लड्डू इत्यादि की प्राप्त्याशा से करता है।[2] फलतः वस्तुवृत्त तो वाक्य में क्रिया की भी अपेक्षा फल का प्राधान्य उपस्थित करता है।

मीमांसक शब्द सामर्थ्य से वाक्य में क्रिया की प्रधानता स्वीकार कर सकते हैं। 'स्वर्गकामो यजेत' वाक्य में याग क्रिया के प्रति कर्त्ता की प्रवृत्ति का उपदेश है। वस्तु वृत्त से भले ही याग क्रिया सम्पादित होने पर स्वर्ग फल की प्राप्ति हुआ करे, या उसी फल की आकांक्षा रखता हुआ ही पुरुष क्रिया में प्रवृत्त हो, किन्तु शब्द से फल का उपदेश नहीं किया गया है।[3] जैमिनीय सूत्रों के भाष्य-कार शबर ने बादर्यधिकरण में 'तस्मिस्तु कृते स्वयमेव तद् भवति',[4] कहकर यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वेदवाक्य तो याग का ही विधान करता

१. द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः। —मी० सू०, ३।१।३

२. जडो माणवकोऽप्येष चपेटापातहानये।
मोदकाद्याप्तये वापि करोति गुरुशासनम्॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० ३०३

३. स्वर्गकाम इत्यपि क्रियां प्रति कर्तुरुपदेशः, वस्तुवृत्तेन च कर्मणि क्रियमाणे कर्मस्वाभाव्यं फलं चेद् भवति, भवतु तत्, पुरुषोऽपि प्रयततां नाम फलेन, न तु शब्दः फलोपदेशनिष्ठः। —वही, पृ० ३०४

४. शा० भा०, ३।१।३

है, स्वर्गफल का नहीं, अब यदि याग क्रिया अनुष्ठित होगी तो स्वर्ग फल की प्राप्ति तो होगी ही। स्पष्ट है कि यहाँ क्रिया फल के अधीन नहीं है, वरन् वेद-विधान की दृष्टि से तो क्रिया की ही प्रधानता है। जयन्त मीमांसकों की इस गवेषणा को भी अङ्गीकार नहीं करते। शब्द सामर्थ्य से यदि क्रिया की प्रधानता मानते हुये फल-भूत स्वर्ग को अप्रधान मानेंगे तो यजेत के साथ स्वर्गकाम का अन्वय दुःशक हो जायेगा।[१] यहाँ स्वर्गकाम पद अधिकारी का वाचक होता हुआ भी वाक्य में स्वर्गकामना विशिष्ट पुरुष को प्रधान सिद्ध करता है। जब तक क्रिया याग का साध्य स्वर्ग के प्रति साधनत्व स्वीकार न किया जाय, तब तक स्वर्गकामः का यजेत से अन्वय सम्भव नहीं है। आचार्य जैमिनि ने भी क्रिया को फल के प्रति शेष या गौण माना है।[२] ऐसी स्थिति में क्रिया की प्रधानता एवं वाक्यार्थता दोनों असम्भव है।[३]

अपि च प्रधानता के आधार पर वाक्यार्थ सिद्ध करना स्वयमेव असंगत है। वाक्य में द्रव्य, गुण व संस्कार की अपेक्षा क्रिया की प्रधानता दिखाई गयी है, उसी प्रकार क्रिया की अपेक्षा फल की प्रधानता सिद्ध की गयी है। फल की अपेक्षा भी प्रधानता पुरुष की होती है, क्योंकि पुरुष क्रिया में प्रवृत्त इसलिये होता है कि क्रिया की सिद्धि पर उत्पन्न फल का वह भोक्ता होगा। पुरुष भी औदुम्बरी सम्मार्जन आदि क्रियाओं में साधन बनता है, अतः पुरुष की अपेक्षा क्रिया की प्रधानता दिखाई पड़ती है। अतः यदि प्रधानता का मापदण्ड उपादेयता और साध्यसाधनता है तो क्रिया, फल और पुरुष में से किसका प्राधान्य माना जाय ?

जयन्त का कहना है कि पुरुष तो वाक्यार्थ हो नहीं सकता। पुरुष तो आख्यात या क्रिया पद से वाच्य ही नहीं होता, तब वह वाक्यार्थ कैसे होगा ? कर्त्ता में समवेत एकत्व द्वित्वादि की संख्या ही आख्यातवाच्य होती है। अतएव कर्त्ता पुरुष को वाक्यार्थ नहीं कहा जा सकता। फल भी साध्य रूप में अथवा सिद्ध रूप में निश्चिततया निर्णीत न हो सकने के कारण वाक्यार्थ नहीं कहा जा

---

१. एवं वर्ण्यमाने स्वर्गकामो यजेतेति स्वर्गकामपदस्यान्वयो दुरुपपादः।
—न्या० म०, भाग १, पृ० ३०४

२. कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्। —मी० सू०, ३।१।४

३. अतएव क्रियायाः फलं प्रति गुणाभावान्न प्राधान्यमप्राधान्याच्च न वाक्यार्थत्वम्।
—न्या० म०, भाग १, पृ० ३०५

सकता ।[1] अतएव फल, पुरुष अथवा क्रिया में से न तो वाक्य में निश्चिततया किसी की प्रधानता है और न ही इनको वाक्यार्थ कहा जा सकता है ।

(६) आर्थीभावना वाक्यार्थवाद : मीमांसा का एक मत :

भाट्टमीमांसक वाक्यार्थ आर्थीभावना को मानते हैं । भावना के वाक्यार्थत्व पर विचार करने के पूर्व भावना के स्वरूप और भेदों के विषय में विचार करना चाहिये ।

जयन्त के शब्दों में भावना भावक का व्यापार है ।[2] √भू धातु से प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय करने पर कर्त्रर्थक ण्वुल् प्रत्यय से भावक शब्द बनता है जिसका अर्थ है—भावयिता या भावना का कर्त्ता । भावयिता के भाव्य के भवनानुकूल व्यापार को भावना कहते हैं ।[3] भाव्य कहते हैं स्वर्गादि फल को जिसकी भावना की जाय । उस स्वर्गादि फल के उत्पन्न होने के अनुकूल प्रयोजक (कर्त्ता पुरुष) के व्यापार को भावना कहा जाता है । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' आदि वाक्यों में क्रिया वाचक यजेत पद में तीन अंश होते हैं—(१) धात्वंश, (२) तिङंश या या आख्यातांश, (३) लिङंश । इसके धात्वंश से यागादि क्रिया वाच्य होती है और शेष अंश से भावना वाच्य होती है । इस भावना के दो भेद होते हैं—आर्थीभावना और शाब्दीभावना । स्वर्गादि प्रयोजन को लक्ष्य करके यागादि क्रिया को अनुष्ठित करने का श्रोता पुरुष में जो व्यापार उत्पन्न होता है, वह आर्थीभावना है ।[4] इसे ही प्रयोजक का व्यापार कहा गया है । यह आर्थीभावना भवनक्रिया के कर्त्ता का विषय है । यह पुरुषनिष्ठ होती है । इस भावना का कर्त्ता पुरुष होता है और कर्म स्वर्गादि फल होते हैं ।[5] प्रयोजक का वह व्यापार विशेष जो श्रोता पुरुष की प्रवृत्ति के अनुकूल होता है, उसे शाब्दीभावना कहते हैं ।[6] शाब्दभावना शब्दनिष्ठ

१. अलं चानया शास्त्रान्तरगर्भया द्राघीयस्या कथया, पुरुषस्तावन्न वाक्यार्थः । फलमपि न वाक्यार्थः । —न्या० म०, भाग १, पृ० ३०६

२. भावकव्यापारो भावना । —वही, पृ० ३०६

३. भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः । —अर्थ०, पृ० २५

४. प्रयोजनेच्छाजनितविषयव्यापार आर्थीभावना । —वही, पृ० ३६

५. यो भवनक्रियाकर्तृविषयः प्रयोजकव्यापारः पुरुषस्थो यत्र क्रियायाः कर्त्ता स्वर्गादिः कर्मतामापद्यते सोऽर्थभावनाशब्देनोच्यते ।

—न्या० म०, भाग १, पृ० ३१४

६. तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना ।

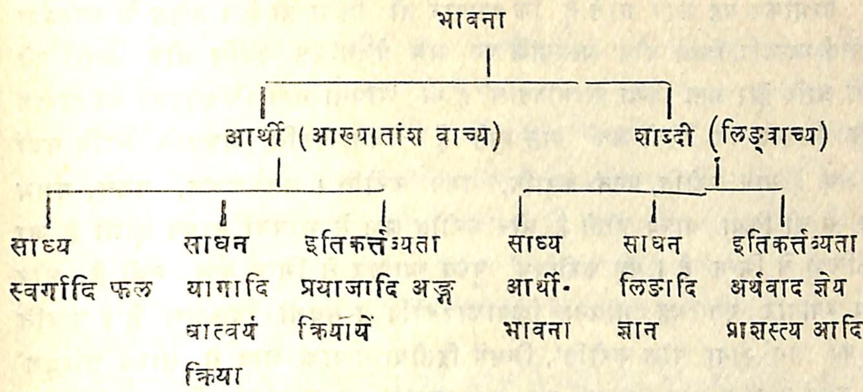
—अर्थ०, पृ० २७

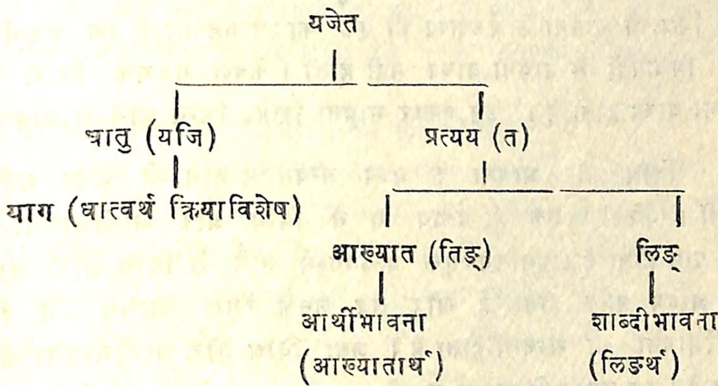
होती है, पुरुष प्रवृत्ति इसका साध्य होती है।[१] 'यजेत' आदि पदों के धात्वंश से क्रिया का बोध होता है और इसके प्रत्ययांश से दो कार्य होते हैं—आख्यातांश से व्यक्ति यागादि से अवछिन्न अपने व्यापार का ज्ञान प्राप्त करता है, साथ ही उसके लिङंश से वह यह ज्ञान भी प्राप्त करता है कि सम्बद्ध वाक्य उसको तत्तत् व्यापार के अनुष्ठान के लिये प्रेरित करता है। तन्त्रवार्तिक में कुमारिल ने यह स्वीकार किया है कि लिङन्त क्रियायुक्त वाक्य आर्थी और शाब्दी भावना का अभिधान करता है।[२] कुमारिल का कहना है कि प्रत्यय के लिङंश से शाब्दीभावना अभिहित होती है और तिङंश या आख्यातांश से आर्थीभावना अभिहित होती है। शाब्दभावना को ही विधि कहा जाता है। ये आर्थी और शाब्दी भावनायें तब तक चरितार्थ नहीं होतीं जब तक इनका अंशत्रय से अन्वय न हो। दोनों प्रकार की भावनाओं को साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता रूप अंशत्रय की अपेक्षा होती है। साध्य है—'किं भावयेत् ?' अर्थात् भावना का साध्य या विषय क्या है ? साधन का तात्पर्य है—'केनभावयेत् ?' अर्थात् पुरुष व्यापार का भाव्य अर्थ के उत्पन्न होने के अनुकूल व्यापार किस साधन से सम्पन्न होता है ? इतिकर्त्तव्यता में उन कारणों का ग्रहण होता है, जिनसे भावना को बल प्राप्त होता है। आर्थी भावना का साध्य स्वर्गादि फल है, यागादि प्रधान क्रिया ही साधन है क्योंकि भावना के वाचक प्रत्ययांश से सम्बद्ध प्रकृति का अंश यही क्रिया है। जब भावना के करण या साधन की आकांक्षा से 'केनभावयेत् ?' का प्रश्न किया जाता है तो भावना से यागादि का ही सम्बन्ध होता है। साधनभूत यागादि प्रधान क्रियाओं के अङ्ग के रूप में अभिमत प्रयाजादि क्रियायें अर्थीभावना की इतिकर्त्तव्यता हैं। इसी तरह शाब्दी-भावना का साध्य अर्थीभावना होती है। पुरुषार्थसाधन योग्यता के कारण आर्थी-भावना ही शाब्दी भावना का साध्य है। लिङादि का ज्ञान ही शाब्दीभावना का साधन है, क्योंकि लिङादिज्ञान ही शाब्दीभावना का प्रकाशक है। शाब्दीभावना का अभिधान करने वाला शब्द ही लिङादि है और इसका ज्ञान शाब्दीभावना का साधन है। शाब्दीभावना के इतिकर्त्तव्यता के रूप में अर्थवाद वाक्यों का ग्रहण होता है।

---

१. यस्तु शब्दगतः प्रयोजकव्यापारः यत्र पुरुषप्रवृत्तिः साध्यतां प्रतिपद्यते सा शब्दभावना। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३१४

२. अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातस्य गोचरः॥ —तन्त्र०, २।१।१





भावना के स्वरूप का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करके अब भाट्टों को अभिमत वाक्यार्थ पर विचार करना चाहिये। इनके मत में आर्थीभावना ही वाक्यार्थ है। वेद के सभी पाँच प्रकार के वाक्यों में प्रधानता विधि वाक्यों की है। अन्य निषेध, मन्त्र, अर्थवाद या नामधेय की अर्थवत्ता विधि वाक्यों से एकवाक्यता होने पर ही है। विधि वाक्य ही शाब्दीभावना है जिसका साध्य आर्थीभावना ही वाक्यार्थ है। इस आर्थीभावना से धात्वर्थ रूप यागादि क्रियायें करणत्वेन अन्वित हैं। स्वर्गादि फल इस आर्थीभावना से साध्य या कर्म कारक के रूप में अन्वित हैं। 'यजेत स्वर्गकामः' का अर्थ होता है 'यागेन स्वर्गं भावयेत्।' अर्थात् प्रयोजक व्यापार रूप भावना ण्यन्त भू धातु से वाच्य है। भू धातु अकर्मक होते हुये भी ण्यन्त होकर सकर्मक हो जाती है। अतः इसका कर्म स्वर्ग है और करण याग है। इसका कर्त्ता प्रयोजक पुरुष होता है। पुरुष उस भाव्य स्वर्ग की अपने व्यापार से भावना करता है, अतः यही व्यापार ही आर्थीभावना है और यही वाक्यार्थ है।

प्राभाकर यह शंका करते हैं कि व्यापार तो क्रिया ही है। यजेत के धात्वंश का अर्थ यागादि क्रिया और प्रत्ययांश का अर्थ प्रेरणारूप विधि और कर्त्ता की संख्या आदि हैं। अतः क्रिया ही वाक्यार्थ होगा भावना नहीं।[1] भाट्टों का उत्तर है कि लिङन्त पद से दो अर्थ प्राप्त होते हैं। यजते, पठति, गच्छति आदि पदों का अर्थ है याग करोति, पठनं करोति, गमनं करोति। अतः यजन, पठन, गमन अंश से तो क्रिया वाच्य होती है और करोति अंश से भावना वाच्य होती है जो उक्तक्रिया से भिन्न है। यह करोत्यर्थ पुरुष व्यापार से भिन्न कुछ नहीं है, और पुरुष व्यापार रूप यह भावना क्रियाकारकादि से सर्वथा विलक्षण है। पचति पद का अर्थ होगा 'पाकं करोति', जिसमें द्वितीयान्त पाक शब्द से साध्य धात्वर्थ का कथन होता है और प्रकृत्यर्थ रूप कर्तृव्यापार का कथन करोति पद से होता है।[2] क्रिया से भावना के वैलक्षण्य का एक कारण यह भी है कि अकर्मक धातुओं वाले क्रियापदों से भावना वाच्य नहीं होती। केवल सकर्मक क्रिया पदों से ही भावना वाच्य होती है।[3] इस प्रकार भावना क्रिया भिन्न होने से वाक्यार्थ है।

विधि और भावना के मध्य अन्वय न होने की शका नहीं की जा सकती। 'यजेत' के एक ही प्रत्यय 'त' से विधि और आर्थीभावना दोनों का ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये एक प्रत्ययगम्य होने से विधि और आर्थीभावना का अन्वय पहले होता है और तब उनके मूल धात्वर्थ से विधि और आर्थीभावना का सम्बन्ध होता है। अतः विधि और आर्थीभावना का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार निरपवाद रूप से आर्थीभावना ही वाक्यार्थ है। अप्रवृत्त को प्रवृत्त कराने वाले को विधि कहते हैं।[4] अप्रवृत्त नियोज्य—पुरुष का प्रवर्तक न तो फल होता है, न पुरुष का व्यापार होता है, न श्रेयः-साधनत्व प्रवर्तक है, न रागादि। वरन् प्रवर्तक लिङादि गम्य व्यापार रूप शाब्दीभावना या

---

१. ननु व्यापारः क्रियैव न तदतिरिक्तस्य व्यापारस्यासम्भवात्क्रियाव्यापारपक्षश्च प्रतिक्षिप्तः। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३०७

२. यथा पाकं करोतीति प्रतीतिर्नास्ति लौकिकी।
प्रत्ययार्थः करोत्यर्थो पचत्यादौ तु वर्तते॥ —वही, पृ० ३०४

३. भावार्थाः कर्मशब्दा ये तेभ्यो गम्येत भावना।
यजेतेत्येवमादिभ्यः स एवार्थो विधीयते॥ —वही, पृ० ३०८

४. विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्तकम्।
अतिप्रसङ्गदोषेण नाज्ञातज्ञापनं विधिः॥ —वही, पृ० ३१२

विधि ही है।[१] प्रवर्तक विधि और आर्थीभावना का सम्बन्ध सिद्ध ही किया जा चुका है। जिस प्रकार से बटलोई में पानी डालने और चावल डालने से लेकर आग जलाना, चावल की विक्लित्ति आदि समस्त क्रियायें पाक क्रिया कहलाती हैं, उसी प्रकार पहले पद के ज्ञान से लेकर वाक्य के अर्थज्ञान तक का पूरा व्यापार शाब्दबोध है और भावना तत्त्वविषयक ज्ञान है।[२] ज्ञाता की प्रज्ञा पदज्ञान के रूप में अङ्कुरित होती है, पदार्थज्ञान के रूप में पुष्पित होती है तथा वाक्यार्थज्ञान के रूप में फलित होती है।[३] इस प्रकार प्रयोजक का व्यापार करोत्यर्थरूपा आर्थी-भावना ही वाक्यार्थ है।[४]

कुछ मीमांसक शाब्दीभावना को वाक्यार्थ कहते हैं। इसे ही विधि कहा गया है। कुछ अन्य मीमांसक नियोग को वाक्यार्थ मानते हैं, जबकि जयन्त ने उक्त सभी मतों को प्रस्तुत करके उनका खण्डन करते हुये संसृष्ट पदार्थों को वाक्यार्थ सिद्ध किया है।

शाब्दीभावना वाक्यार्थवाद : मीमांसा का द्वितीय मत :

कुछ मीमासक आर्थीभावना को वाक्यार्थ न मानकर शाब्दीभावना या विधि को वाक्यार्थ स्वीकार करते हैं। 'यजेत' आदि क्रियापद के लिङ्त्वांश से शाब्दीभावना वाच्य होती है और वेद की अपौरुषेयता तथा ईश्वरास्तित्व के अनङ्गीकार से पुरुषाभाव होने के कारण यह भावना शब्दनिष्ठ होती है। शाब्द-बोध शब्दनिष्ठ ही होना चाहिये, इसलिये ये लोग शाब्दीभावना को ही वाक्यार्थ मानते हैं।

भाट्ट मीमांसक शाब्दीभावना के वाक्यार्थत्व का खण्डन करते हैं। शाब्दी-भावना नामक शब्दव्यापार शब्द से उत्पन्न होता है और अभिधेय होता है। इस पर भाट्टों का प्रश्न है कि क्या आर्थीभावना की उत्पत्ति और अभिधान शब्द किसी व्यापार द्वारा करता है, या व्यापार का अभाव होता है। यदि अभाव पक्ष स्वीकार

---

१. किन्तु पुरुषप्रवृत्तावपि तथावगमात्, लिङर्थावगमे सति प्रवृत्तिर्दृश्यत इति तत्रापि लिङ् व्यापारः प्रभवति, स चायं लिङादिव्यापारः शब्दभावनानामधेयो विधिरित्युच्यते, स एव च प्रवर्तकः। —न्या० मं०, भाग १, पृ० ३१३

२. यथा हि स्थाल्यधिश्रयणात्प्रभृत्या निराकाङ्क्षौदननिष्पत्तेरेकैवेयं पाकक्रिया तथा प्रथमपदज्ञानात्प्रभृति आ निराकाङ्क्षवाक्यार्थपरिच्छेदादेकैवेयं शाब्दी प्रमितिः। —वही, पृ० ३१७

३. पदात्प्रभृति या चैषा प्रज्ञा ज्ञातुर्विजृम्भते।
पुष्पिता सा पदार्थेषु वाक्यार्थेषु फलिष्यति॥ —तंत्रवा०, १।३।३०

४. सोऽयं वाक्यार्थः भावनानामधेयः कर्तृव्यापारः। —न्या० मं०, भाग १, पृ० ३१७

किया जाय तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यह व्यापार अन्य व्यापारों से निरपेक्ष ही अपना अर्थ प्रस्तुत करेगा और इस प्रकार व्यापार कल्पना बाधित होगा। यदि भावपक्ष स्वीकार करें तो एक व्यापार के लिये अन्य व्यापार की अपेक्षा होने से अनवस्था दोष होगा। शब्द व्यापार से कार्य और अभिधान एक साथ स्वीकार नहीं किये जा सकते। शक्तिहीन लिङादि प्रत्यय एक साथ कई कार्य कर सकने में सर्वथा असमर्थ होगा। यह कर्त्ता, कर्तृसंख्या और कर्त्ता के व्यापार का एक साथ अभिधान नहीं कर सकता। अकेला लिङ् प्रत्यय अर्थभावना को अभिहित करता है और शब्द भावना को उत्पन्न करता है—यह भी सम्भव नहीं है। साथ ही शाब्दी भावना या विधि एक प्रत्ययगम्य होने के कारण आर्थीभावना से अन्वित कैसे होगी ?

भाट्टमीमांसक तो यह स्वीकार करते हैं कि आर्थीभावना अंशत्रयोपेत होकर वाक्यार्थ होती है, जिससे स्वर्गकामादि पदों का अर्थ अन्वित होता है। शब्दव्यापार पुरुषव्यापार के लिये अपेक्षित किसी भी अंश की पूर्ति न करने से अर्थभावना के प्रति गुणभाव युक्त नहीं है। शब्दव्यापार और पुरुषव्यापार—दो प्रधान तत्त्वों के मध्य घट-पट की तरह कोई गुणप्रधानभावनामा सम्बन्ध उपलब्ध नहीं होता।

पुरुषव्यापार शाब्दीभावना के लिये विषय का समर्पण करता है। इस आधार पर आर्थीभावना का शाब्दी भावना के प्रति गुणभाव नही कहा जा सकता, क्योंकि तब शाब्दीभावना को वाक्यार्थ मानने वाला मीमांसक अप्राधान्य के कारण आर्थीभावना के वाक्यार्थत्व का निषेध तो कर सकता है, परन्तु इससे उसका मूल सिद्धान्त कि दोनों भावनायें एक प्रत्ययवाच्य होती हैं—सिद्ध नहीं होता। अक्ष, पाद, मास आदि पद अनेकार्थक हैं, परन्तु इनके विभिन्न अर्थ परस्पर सम्बन्द्ध नहीं होते, इसी प्रकार यदि दोनों भावनाओं को एक प्रत्यय वाच्य मान भी लें तो दोनों भावनाओं के मध्य कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार पुरुष व्यापारात्मक आर्थीभावना ही वाक्यार्थ होगी, न कि शाब्दीभावना।

नियोग वाक्यार्थवाद : मीमांसा का तृतीय मत :

मीमांसकों का एक वर्ग नियोग को वाक्यार्थ मानता है। नियोग का अर्थ है–आज्ञा। गुरु या शासक के आदेश की अवश्यकरणीयता ही नियोग (Mandate) कही जाती है। आज्ञा में जो प्रेर्यमाणता होती है, वही नियोग है। नियोग का अस्तित्व मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों में स्वीकृत है। प्राभाकर मीमांसक[1] नियोग

---

१. नियोगस्य अपरं नाम कार्यं यद्धि कर्तुः कृतिसाध्यम्, अर्थात् कर्तुः कृतेरुद्देश्यम्। कृतिसाध्यत्वादेव कार्यमित्युच्यते। यतो हि कार्यं स्वसिद्धये नियोज्यपुरुषेस्य नियोगं करोतीति नियोगनाम्नाभिधीयते। —विधिविवेक की भूमिका

को क्रिया के पर्याय के रूप में स्वीकार करते हैं। नियोग ही धर्म कहा गया है। स्वर्गादिफल की कामना वाला नियोज्य पुरुष यागादि क्रियाओं में प्रवृत्त होता है और यह कार्य उसके काम्य स्वर्ग का साधक है अत: यही कर्म नियोग है। यागादि ही यह कर्म है, अत: यही धर्म हैं। इसके विपरीत भाट्ट मीमांसक नियोग की कार्यता का निषेध करते हैं।[१] नियोग कर्त्तव्यता विषयक होता है, न कि स्वयं कर्त्तव्यता होता है। विध्यर्थ प्रवृत्ति और निषेधार्थ निवृत्ति नियोगैकगम्य नहीं होतीं।[२]

कुमारिल नियोग को भी वाक्यार्थ मानते हैं। लिङादि प्रत्यय वही अर्थ अभिहित करते हैं जो इससे नियत रूप से ज्ञात होता है, जिसका अभिधान करने से लिङ् प्रत्यय में कोई अतिभार भी नहीं आशंकित होता और जहाँ लिङादि युक्त वाक्य के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण समर्थ नहीं है, वह नियोग नाम का वाक्यार्थ है।[३] वाक्यार्थ का ग्रहण व्यक्ति वृद्धव्यवहार से सीखता है। किसी अर्थ की प्रस्तुति के लिये वाक्य का प्रयोग देखा जाता है और वाक्य से ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। वाक्य से संघटक पदों में मे क्रियापद का अर्थ प्रधान होता है। वाक्य के शेष पदों के अर्थ क्रियापद के अर्थ से अन्वित होते हैं। क्रिया पद का अर्थ ही नियोग है। जब तक वाक्य में क्रिया पद का उच्चारण नहीं होता तब तक नियोग का ज्ञान नहीं होता और क्रिया पद का श्रवण होते ही हो जाता है। इस प्रकार यजेत आदि लिङन्त पदों वाले वाक्य का अर्थ नियोग होता है। यजेत आदि नियोगवाचक पदों से सर्वप्रथम प्रैष और प्रैष्य का सम्बन्ध गृहीत होता है। प्रैष का तात्पर्य है प्रेरणा और प्रैष्य का तात्पर्य है प्रेर्यमाण या कर्त्तापुरुष। जब कोई पुरुष विधि आदि से प्रेरित होता है तो वह अपने को किसी क्रिया के सम्पादन हेतु तैयार करता है। प्रैष-प्रैष्य का यह सम्बन्ध याग, पुरुष के मध्य के क्रिया-कर्तृसम्बन्ध से भिन्न प्रकार का है। इस प्रकार यजते आदि पदों से प्रैष-प्रैष्य सम्बन्ध का ज्ञान पहले होता है और क्रियाकर्तृसम्बन्ध का ज्ञान बाद में होता है।

---

१. वेदार्थ इत्थमाशङ्क्य नियोगस्य न कार्यता।
नियुक्तस्य प्रवृत्तिश्च न नियोगैकनिबन्धना॥ —वही, पृ० ६१

२. तस्मादनुविधेयपुरुषधौरेयनियोगादेव प्रवृत्तिनिवृती। —न्या० कणि०, पृ० ८१

३. यो लिङादेः प्रत्ययादवशिष्यते यमभिवदतो न तस्यातिभारो यत्र न तद्व्यतिरेकेण प्रामाणान्तरं क्रमते स नियोगो नाम वाक्यार्थः।
—न्या० म०, भाग १, पृ० ३१८

इस प्रकार प्रैष-प्रैष्य सम्बन्धावच्छिन्न जो लिङर्थ प्रैष के रूप में पहले ज्ञात होता है, वही नियोग है और वाक्य के सभी पदार्थों से अन्वय की योग्यता रखने के कारण प्राधान्येन यह वाक्यार्थ है।[1] वस्तुतः नियोग केवल विधिलिङ्लकार के वाक्य का ही अर्थ है; परन्तु वर्तमान कालादि की क्रियायें इसी लिङ् के औपाधिक भेद के रूप में मीमांसकों को अभिमत हैं, अतः सभी क्रियाओं का अर्थ नियोग ही होगा। वाक्य के सभी पदों के अर्थ में लिङादि वाच्य नियोग की प्रधानता होती है। पुरुष नियोज्य होने से गौण है। यदि कार्य की प्रधानता स्वीकार करें तो नियोग कार्य है, अतएव प्रधान है और यदि फल की प्रधानता स्वीकार करें तो फल साध्यता का ज्ञान होना आवश्यक है जो नियोग के अधीन है, अतः नियोग की प्रधानता सिद्ध होती है।[2] इसलिये नियोग ही प्रधान होने से वाक्यार्थ है— यह सिद्ध होता है।

जयन्तभट्ट द्वारा उक्त मीमांसक मतों का निराकरण :

हमने अभी यह देखा है कि भाट्ट मीमांसक आर्थीभावना को वाक्यार्थ मानते हैं और आर्थीभावना में प्रवर्तकत्व की उपपत्ति न होने के कारण नियोग को वाक्यार्थ मानते हैं। आचार्य जयन्त इस मत का उपस्थापन करने के बाद नियोगवाक्यार्थवाद का खण्डन करते हैं। यदि वाक्यार्थत्व का आधार प्रवर्तकत्व है तो वास्तविक प्रवर्त्तक नियोग न होकर फल है। इसलिये प्रवर्तकत्व की फल में उपपत्ति हो जाने पर तथा नियोग में प्रवर्तकत्व के असंभव होने से वाक्यार्थ फल होगा, नियोग नहीं।

लिङादि से अवगम्यमान कार्यरूप प्रेरणात्मक नियोग को मीमांसक वाक्यार्थी कहते हैं, परन्तु कार्यरूप और प्रेरणात्मा होता हुआ भी शाब्दीभावना और आर्थीभावना की तरह नियोग भी प्रवर्त्तक नहीं होगा। कार्यात्मा और प्रेरणात्मा तो वस्तुतः नियोग न होकर क्रिया होती है जो कार्य भी होती है और प्रयोजक को

---

१. आचार्यचोदितः करोमीति हि दृश्यते, यजेतेति श्रुते नियुक्तोऽहमिति प्रथममवगच्छति, ततो यजते, तेनायमाद्यः सम्बन्धः पाश्चात्यस्तु क्रियाकर्तृसम्बन्धः तद्योऽयं लिङर्थः प्रथममवगम्यते प्रैषो नाम सा प्रेरणा स नियोगः स वाक्यार्थः।

—न्या०मं०, भाग १, पृ० ३१९

२. कार्यं चेत्प्रधानमुच्यते नियोग एव कार्यम्, फलं चेत्प्रधानमुच्यते तदपि नासिद्धम्, अपि तु साध्यं साध्यत्वं चास्य नियोगाधीनमिति नियोग एव प्रधानम्, पुरुषस्तु नियोज्यमानत्वादप्रधानमिति, एवं नियोग एव प्रधानत्वाद्वाक्यार्थः।

—वही, पृ० ३२४

प्रेरित करने से प्रेरक भी है।[१] मीमांसक प्रैष्य-प्रैष सम्बन्ध को क्रिया-कर्तृसम्बन्ध से भिन्न सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि 'कुर्यात्' इत्यादि शब्दों से क्रिया से भिन्न प्रेरणात्मा किसी अर्थान्तर का ज्ञान नहीं होता।[२] 'करोति' और 'कुर्यात्' पदों के अर्थ अभिन्न नहीं है। करोत्यर्थ वर्तमान कालावच्छिन्न व्यापार होता है, पर यह व्यापार न तो प्रेरक होता है और न ही शाब्दीभावना का अर्थभूत पुरुष प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार है। यह ठीक है कि 'राजाज्ञां करोमि' जैसी विधियाँ प्रेरक के रूप में अभिमत प्रतीत होती हैं, परन्तु वस्तुतः इनमें प्रेरकत्व नहीं है। यह केवल एक प्रकार का वाग्व्यवहार है। इसमें प्रेरकत्व 'राजाज्ञां कुर्याम्' का सर्वथा अभाव होता है। यह वाक्य केवल इतना स्पष्ट करता है कि 'राजा की आज्ञा मानना एक कार्य है, इस कार्य को मैं कर रहा हूँ। इस प्रकार आज्ञापालन में किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति किसी अल्पवयस्क बालक या मूर्ख के लिङन्त वाक्य को सुनकर भी प्रवर्तित नहीं होता है। इसके विपरीत भले ही कोई वाक्य विध्यन्त न होकर लडन्त हो तो भी वर्तमानकालिक वाक्य से व्यक्ति प्रेरित हो सकता है यदि उस वाक्य से किसी फल का निर्देश हो।[३] उदाहरण के लिये 'हरीतकीं भुञ्जानस्य आरोग्यसम्पत्तिर्भवति' इस वर्तमानकालिक वाक्य से भी फल आरोग्यलाभ के निर्देश होने से श्रोता पुरुष आरोग्यलाभ की कामना से हरीतकी भक्षण के लिये प्रेरित है और तदनुकूल व्यापार करता है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से यह स्पष्ट है कि प्रेरकत्व फल में होता है, नियोग में नहीं, अतः वाक्यार्थ फल होना चाहिये, नियोग नहीं। लौकिक वाक्यों की तरह वैदिक वाक्यों के प्रसङ्ग में वेदवाक्यों का कर्त्ता परमेश्वर है, उसी के आशय से स्वर्गादि फल की कामना करने वालों की प्रवृत्ति होती है। अतः वैदिक वाक्यों के प्रसङ्ग में भी प्रवर्तकत्व फल के ही कारण होता है। सुख प्राप्ति की इच्छा ही मूलतः प्रवर्त्तक होती है।

---

१. क्रियैव तावत्कार्यात्मा प्रेरणात्मा फलार्थिता।
प्रतीयते ततोऽन्यस्तु नियोगो नोभयात्मकः॥
—न्या० म०, भाग १, पृ० ३२६

२. कुर्यादित्यादिशब्देभ्यः क्रियादिव्यतिरेकिणः।
नार्थान्तरस्य संवित्तिः कस्यचित्प्रेरणात्मनः॥ —वही, पृ० ३२६

३. वर्तमानापदेशेऽपि फलं यत्रावगम्यते।
तत्र प्रवर्त्तते लोको लिङादिष्वश्रुतेष्वपि॥
भवत्यारोग्यसम्पत्तिर्भुञ्जानस्य हरीतकीम्।
तत्कामो भक्षयेच्चेति को विशेषः प्रवर्त्तने॥ —वही, पृ० ३२६

विध्यन्त वाक्यों से अभीष्ट फल प्राप्ति द्वारा सुख प्राप्त होता है। निषेध वाक्यों से अनभीष्ट परिहार द्वारा सुख प्राप्ति होती है। क्योंकि दुःख का अभाव भी सुख की ही तरह काम्य है। अतः एकमात्र प्रेरक है फल के प्रतिकामना। इस फलार्थिता के अतिरिक्त अन्य किसी भी नियोगादि से प्रेरकता सम्पादित नहीं होती।[1] अतएव प्रेरकता के अभाव के कारण नियोग वाक्यार्थ नहीं है। आर्थीभावना एवं शाब्दीभावना की वाक्यार्थप्रसिद्धि का खण्डन नियोग वाक्यार्थवादियों ने पहले ही कर दिया है। फलतः मीमांसा के विभिन्न सम्प्रदायों में अभिमत आर्थीभावना या शाब्दीभावना या नियोग का वाक्यार्थत्व जयन्त की दृष्टि में असगत एवं उपेक्षणीय है।

जयन्त का स्वाभिमत वाक्यार्थ सिद्धान्त—फल एवं संसृष्ट पदार्थवाद :

इस प्रकार वाक्यार्थ के सम्बन्ध में समस्त विप्रतिपत्तियों का एकैकशः निराकरण करते हुये निष्कर्ष के रूप में जयन्त यह स्वीकार करते हैं कि यदि वाक्यार्थ का आधार प्रेरकत्व है तब फल ही प्रेरक होने से वाक्यार्थ है। हिताहित के प्राप्तिपरिहार के निमित्त पूर्वानुभव के स्मरण से सहकृत अभिलाष ही व्यक्ति में फल की कामना को जन्म देता है। अतः फल ही प्रवर्त्तक है, जिसमें अनुभव प्रमाण है।[2] प्रवर्तकत्व के स्वरूप का उपसंहार करते हुये जयन्त कहते हैं कि पुरुष की प्रवृत्ति का कारण न विधि अर्थात् शाब्दी भावना है, न लिङादि प्रत्यय वाच्य नियोग है। आर्थीभावना भी पुरुष में प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न कर सकती। इसी तरह विधि विषयगत श्रेयः साधनता और रागादि भी प्रवृत्ति के हेतु नहीं हैं। न्याय-सूत्रकार अक्षपाद का मन्तव्य प्रस्तुत करते हुये जयन्त काम्यमान फल को ही प्रेरक स्वीकार करते हैं।[3] सूत्रकार ने प्रयोजन का लक्षण करते हुये फल का प्रवर्तकत्व स्पष्ट

---

१. तत्र प्रेरकत्वेन फलार्थिता निर्ज्ञाता नाऽन्या काचित्प्रेरणा।

—न्या० म०, भाग १, पृ० ३३०

अपि च, अतश्च प्रेरकाज्ञानं शब्दादपि परस्य यत्।
कल्प्यते कल्प्यतां तत्र प्रेरिका सैव सुन्दरी॥ —वही, पृ० ३३१

२. हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थित्वमेवेत्यतः फलं प्रवर्त्तकं युक्तम् अनुभवसाक्षिकत्वात्।

—वही, पृ० ३३१

३. तस्मात्पुंसः प्रवृत्तौ प्रभवति न विधिर्नापि शब्दो लिङादि-
व्यापारोऽप्येतदीयो न हि पटुरभिधा भावनानामधेया।
न श्रेयःसाधनत्वं विधिविषयगतं नापि रागादिरेवं
तेनाख्यत्काम्यमानं फलममलमतिः प्रेरकं सूत्रकारः॥ —वही, पृ० ३३२

किया है[१] और भाष्यकार ने भी फल की इच्छा को प्रर्वातिका कहा है।[२] फल को इसलिये भी वाक्यार्थ स्वीकार किया जाना चाहिये, क्योंकि कोई व्यक्ति निष्प्रयोजन किसी वाक्य का उच्चारण नहीं करता है। जिस प्रयोजन से व्यक्ति वाक्य का उच्चारण करता है, वह ही उस वाक्य का अर्थ है। यह प्रयोजन कहीं तो साक्षात् वाक्य संघटक पदों से ज्ञात होता है, कहीं पर पद लभ्य न होने पर प्रकरण से लभ्य होता है और कहीं आलोचना या विचार-विमर्श द्वारा ज्ञात होता है। परन्तु प्रत्येक वाक्य के सम्बन्ध में फल की उपलब्धि अवश्य होती है।[३] वाक्य के विभिन्न पदों से वाच्य कर्त्ता-कर्मादि कारकों से क्रिया का सम्पादन होता है, क्रिया से फल का सम्पादन होता है, परन्तु फल से अन्य किसी का सम्पादन नहीं होता, इसलिये फल ही प्रधान है और इसीलिये वाक्यार्थ है।[४]

यह शंका हो सकती है कि फल भी तो पुरुष के लिये होता है, अतः प्रधानता फल की न होकर पुरुष की होनी चाहिये। परन्तु उक्त शंका के लिये अवकाश नहीं है। फल सुखात्मक होने के कारण पुरुषाश्रित होता है, क्योंकि सुखादि आत्मा के गुण होने से व्यक्ति के ही आश्रित होंगे। परन्तु इतने मात्र से पुरुष की प्रधानता नहीं होगी, क्योंकि पुरुष की भी जो प्रवृत्ति होती है, फल के लिये होती है। भावना भी फलनिष्ठ व्यापार है, नियोग का प्रवर्तकत्व फल के बिना सम्भव नहीं है। फल रहित केवल क्रिया भी वाक्यार्थ नहीं हो सकती। फल ही निरवकाश रूप से सर्वत्र साध्य होता है, क्रियादि का सम्पादन फल के लिये होता है। अतः फल ही वाक्यार्थ है।[५]

मीमांसक फल वाक्यार्थवाद पर यह शंका करते हैं कि कारकों का सिद्ध स्वर्गादि फल से सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि नैयायिक आन्तर क्रियाओं

---

१. यमर्थमधिकृत्य पुरुषः प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्। —न्या० सू०, १।१।२४

२. प्रमाणेनाय खलु ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमीप्सति जिहासति वा तस्येप्साजिहासा-प्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरुच्यते सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्धः।
—न्यायभाष्य का प्रारम्भिक चौथा वाक्य

३. क्वचित्साक्षात्पदोपात्तं क्वचित्प्रकरणं गतम्।
क्वचिदालोचनालभ्यं फलं सर्वत्र गम्यते ॥—न्या० म०, भाग १, पृ० ३३४

४. सकलेन च कारककलापेन क्रिया निर्वर्त्यते, क्रियया च फलं, न तु फलेना-न्यत्किमपि निर्वर्त्यत इति प्रधानत्वात् फलमेव वाक्यार्थः। —वही, पृ० ३३४

५. तस्मात्फलस्य साध्यत्वात्सर्वत्र तदवर्जनात्।
क्रियादीनां च तादर्थ्यात्तस्य वाक्यार्थतेष्यते ॥ —वही, पृ० ३३४

से कारकों और फल का सम्बन्ध स्वीकार करें तब इस प्रकार का सम्बन्ध कारक और क्रिया के मध्य भी सम्भव होगा। ऐसी स्थिति में क्रिया को भी फल की तरह वाक्यार्थ क्यों न मान लिया जाय? जयन्त इसका उत्तर देते हैं कि कारक का सम्बन्ध रखने वाली क्रिया करण होती है, जबकि क्रिया से फल साध्य रूप में सम्बद्ध होता है। क्रिया फल का साधन होती है, फल क्रिया का साधन नहीं होता। इसलिये क्रिया की अपेक्षा फल का प्राधान्य है। अतः फल ही वाक्यार्थ है।

जयन्त ने 'न्यायमञ्जरी' में वाक्यार्थ चिन्तन के प्रसङ्ग में एक बहुत मूलभूत प्रश्न उठाया है और उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। प्रश्न यह है कि सूत्रकार ने न्यायसूत्रों में वाक्यार्थ पर कहीं कोई चर्चा क्यों नहीं की?[१] एक आसान सा उत्तर यह प्राप्त होता है कि चूंकि न्याय प्रमाण-शास्त्र है, अतः यह प्रमाणों पर विचार करता है। वाक्य सम्बन्धी समस्त विचार मीमांसा का विषय है, अतः दूसरे दर्शन का क्षेत्र होने से सूत्रकार ने वाक्यार्थ विचार उपेक्षित कर दिया होगा। परन्तु इस पर पुनः एक शंका होती है कि इसी प्रकार पद विषयक विचार तो व्याकरण का विषय है, परन्तु महर्षि अक्षपाद ने 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः' आदि सूत्रों से पद के सम्बन्ध में क्यों विचार किया? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुये जयन्त कहते हैं कि पदार्थ के स्वरूप पर विचार करते हुये महर्षि ने वाक्यार्थ विषयक अपना अभिमत प्रस्तुत कर दिया है, क्योंकि उन्हें पदार्थ समूह रूप में ही वाक्यार्थ अभिमत था।

अकेले किसी एक पद का अर्थ वाक्यार्थ नहीं होता, वरन् वाक्य संघटक सभी पदों का अर्थ मिलकर वाक्यार्थ बनता है। इस पदार्थ समुदाय की यह विशेषता होती है कि पद वाच्य सभी पदों में परस्पर संसर्ग होता है। अतः परस्पर संसृष्ट पदार्थों का समूह वाक्यार्थ होता है।[२] संसृष्ट पदार्थ तो वाक्यार्थ है, परन्तु संसर्ग वाक्यार्थ नहीं होता, क्योंकि वाक्यार्थ के पूर्व अर्थ को पदार्थ होना चाहिये। संसर्ग वाक्य संघटक किसी पद का अर्थ नहीं होता। 'गौः शुक्ला आनीयताम्' में किसी भी पद का अर्थ संसर्ग नहीं है। अतः जो संसर्ग पदार्थ नहीं वह वाक्यार्थ कैसे होगा? पदार्थ रूप अवयवों में समवेत वाक्यार्थ जैसा कोई अवयवी भी स्वीकृत नहीं है। अतः पदार्थेतर संसर्ग स्वतन्त्रतया वाक्यार्थ नहीं है। इसलिये संसृष्टपदार्थसमुदाय ही वाक्यार्थ है। परस्पर संसृष्ट पदार्थों में गुण-प्रधानभाव होता है। परन्तु यह गुणप्रधानभाव सदा नियत रूप का नहीं होता।

१. द्रष्टव्य—न्या० म०, भाग १, पृ० ३३१।

२. परस्परं संसृष्टपदार्थसमुदायो वाक्यार्थः। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३३३

अपितु कभी क्रिया प्रधान होती है, कारक गौण होता है—जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत' और कहीं कारक प्रधान होता है, क्रिया गौण होती है—जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति।' इसलिये विविध पदार्थों में गुणप्रधानभाव में एकरूपता के अभाव में परस्पर अन्योऽन्य संसृष्ट पदार्थ समूह ही वाक्यार्थ है। पद और पदार्थ की सत्ता मानने वाले सभी वादी संसर्ग का ज्ञान स्वीकार करते हैं। संसर्ग पद का अभिधेयार्थ नहीं होता, अपितु तात्पर्यार्थ होता है जिसका ज्ञान पदों की तात्पर्यशक्ति से होता है। इस प्रकार परस्पर संसृष्ट पदार्थ समुदाय ही वाक्यार्थ है।[१] अथवा वाक्य में अन्य पदार्थों के गुणीभूत हो जाने पर प्रधानभाव को प्राप्त एक ही पदार्थ जिससे शेष पदार्थ अन्वित हों, वाक्यार्थ कहा जा सकता है और यह प्रधानभूत वाक्यार्थ फल हैं।[२]

इस प्रकार जयन्त ने वाक्यार्थ के विषय में दो विकल्प प्रस्तुत किया। प्रवर्त्तकत्व के आधार पर वाक्यार्थ का निर्णय करने पर वाक्यार्थ फल है[३] और और यदि प्रवर्त्तकत्व पर विना विचार किये ही सामान्यतया वाक्य के अर्थ पर विचार किया जाय तो वाक्यार्थ परस्पर संसृष्ट पदार्थ समूह है।[४]

संसर्ग-बोध एवं वाक्यार्थ-बोध के सिद्धान्त

हम यह देख चुके हैं सभी सखण्ड वाक्यार्थवादियों को वाक्यार्थ बोध के लिये पदार्थों के मध्य ससर्ग किसी न किसी रूप में अभीष्ट है। अखण्ड-वाक्यवादी वैयाकरणों के मत में अखण्ड, एक एवं अनवयव स्फोट को वाक्य तथा अखण्ड प्रतिभा को वाक्यार्थ स्वीकार किया गया है।[५] इसलिये वैयाकरण मत में

1. "The meaning of a sentence is a concatenation of the individual items expressed by the words."
—K. Kunjunni Raja—Indian Theories of Meaning, Page 203

२. अथवा गुणीभूतेतरपदार्थानुगृहीत एक एव प्रधानभूतः पदार्थो वाक्यार्थ इत्येकाकारप्रतीतिबलादुपेयताम्। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३३४

३. प्राधान्ययोगादथवा फलस्य वाक्यार्थता तत्र सतां हि यत्नः।
प्रयोजनं सूत्रकृता तदेव प्रवर्त्तकत्वेन किलोपदिष्टम्॥ —वही, पृ० ३३५

४. अन्योऽन्यसंगतिविशेषित एव यस्माद्वाक्यार्थभावमुपयाति पदार्थपुञ्जः।
एतच्च चेतसि निधाय ततो न भिन्नं वाक्यार्थमभ्यधित कञ्चन सूत्रकारः॥
—वही, पृ० ३३५

५. तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणः वाक्यं प्रतिभैव वाक्यार्थः। —वा० प० पर प्रकाश, पृ० ६७

वाक्यार्थ ज्ञान के लिये संसर्ग की अपेक्षा नहीं है। सखण्ड वाक्यवादी वाक्यार्थबोध के लिये यद्यपि संसर्ग को स्वीकार करते हैं, पर सभी मतों में संसर्गज्ञान की अभीष्ट पद्धतियों में ऐक्य नहीं है। इसलिये शाब्दबोध के मूल सिद्धान्तों में भी अन्तर आ गया। इस सम्बन्ध में मीमांसा में दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त विकसित हुये—अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद। प्रथम की गवेषणा कपिल ने की और उसका विस्तार प्रभाकर ने किया तथा द्वितीय का परिचय शबर ने दिया तथा उसका विस्तार कुमारिल और उसके अनुयायियों ने किया।[१] नैयायिकों और अद्वैत वेदान्तियों ने भी अभिहितान्वयवाद का समर्थन किया। वैयाकरण पदार्थों की स्वतत्र सत्ता मानते ही नहीं, अतः पदार्थों के अन्वय के विषय में वैयाकरणों के मत में अभिहितान्वय या अन्विताभिधान की चर्चा का प्रश्न ही नहीं उठता।[२]

जयन्त की मान्यता इस विषय में न्याय की सर्वस्वीकृत मान्यता से भिन्न है। जयन्त अभिहितान्वय और अन्विताभिधान—इन दोनों ही मतों का निषेध करके संसर्ग ज्ञान तात्पर्य शक्ति से स्वीकार करते हैं। जैसा कि प्रत्येक विवाद के प्रसंग में जयन्त की विशेषता रही है, जयन्त ने सर्वप्रथम अभिहितान्वय और अन्विताभिधान—दोनों ही सिद्धान्तों को पूर्ण ईमानदारी के साथ यथावत् रूप में प्रस्तुत किया है।[३] तत्पश्चात् इन सिद्धान्तों का खण्डन करते हुये अन्त में अपने मत को प्रस्तुत किया है।

जयन्त ने संसर्गग्रह सम्बन्धी उक्त दो प्रधान मतों को प्रस्तुत करने के साथ एतद्विषयक दो अन्य मत भी प्रस्तुत किया है। परिमाणतः जयन्त ने कुल चार मतों का परिचय देकर उनका खण्डन किया है और अन्ततः निष्कर्ष के रूप में अपने मत की स्थापना की है। जयन्त ने जिन चार मतों को प्रस्तुत किया है, वे इस प्रकार हैं—

(१) अभिहितान्वयवाद।
(२) अन्विताभिधानवाद।
(३) अन्वीयमानाभिधान तथा अभिधीयमानान्वयवाद।
(४) सामान्यरूप से अन्विताभिधान और विशेषरूप से अभिहितान्वयवाद।

(१) अभिहितान्वयवाद :

इस मत में पदों से सर्वप्रथम अनन्वित पदार्थों का अभिधान स्वीकार किया गया है, पुनः अभिहित पदार्थों में परस्परान्वय के द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान होता है।

1. G. N. Jha—Purva Mimansa in its Sources. —P. 137
२. प्रतिभायां त्वेकरसैव प्रतिपत्तिरिति तत्र न काचिदभिहितान्वयान्विताभिधानचर्चा। —वा० प० पर प्रकाश, पृ० ६७
3. G. N. Shastri—Philosophy of Word and Meaning. —P. 222

अभिहित पदार्थ वाक्य के शेष पदार्थों से संसृष्ट होते हैं और तब वाक्यार्थबोध होता है। इसलिये अभिहितान्वयवादी आचार्य वाक्यार्थज्ञान पदार्थों से स्वीकार करते हैं। कुमारिल[1] और पार्थसारथि[2] दोनों यह स्वीकार करते हैं कि पद अपनी अभिधात्री शक्ति से केवल पदार्थ का ज्ञान कराते है और अभिहित पदार्थों की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के फलस्वरूप वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। पदों से वाक्यार्थ का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। शबर की मान्यता है कि पद अपने-अपने अर्थ का अभिधान करके व्यापार-शून्य हो जाते हैं। इसके बाद अवगत पदार्थ वाक्यार्थ का ज्ञान कराते हैं।[3] कुमारिल ने यह स्पष्ट नहीं किया कि अभिहित पदार्थों के संसर्ग का ज्ञान किसप्रकार होता है और क्यों होता है? पार्थसारथि मिश्र ने इस दोष का निवारण करते हुये दो प्रकार की मान्यतायें प्रस्तुत कीं। न्यायरत्नमाला में पार्थसारथि ने संसर्ग ज्ञान का हेतु लक्षणा को माना है जबकि दूसरी ओर श्लोकवार्तिक की टीका न्याय-रत्नाकर में संसर्ग ज्ञान के लिये तात्पर्य को पृथक् शक्ति माना गया है।[4] अन्यत्र भी पदार्थों का संसर्ग पदों की लक्षणा शक्ति से स्वीकृत है।[5]

संसर्ग पदों के अभिधान के पूर्व हो या पश्चात्? भाट्ट मीमांसकों ने इस प्रश्न के समाधान में ज्ञान को आधार माना है। यदि वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान होता हो तब तो अन्वय अभिधान के पूर्व हो सकता है। परन्तु ज्ञान तो पद से सीधे पदार्थ का होता है, न कि वाक्य से वाक्यार्थ का। भाट्ट मीमांसक अन्विताभिधानवाद में इन दोषों को आक्षिप्त करके अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करते हैं—

---

१. न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेषु पदानि नः।
तन्मात्रावशिष्टेष्वेषु पदार्थेभ्यः स गम्यते॥ —श्लो० वा०, ७।२२९

२. द्रष्टव्य—न्यायरत्नमाला, पृ० १०५।

३. पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति। —शा० भा०, तर्कपाद, पृ० ११६

४. (क) तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षाद् वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु।
पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत्॥
—न्यायरत्न० वाक्यार्थनिर्णयकाण्ड, ४३

(ख) पदार्थावसिताभिधाव्यापाराणामपि पदानां तत्रानवसिततात्पर्याणां वाक्यार्थावगतावेव तात्पर्यमिति युक्तं तेषां क्रियार्थेन समाम्नाय इति।
—श्लोक०, वाक्या०, ३४३ पर न्यायरत्ना०

५. द्रष्टव्य—मानमेयोदय, पृ० ९४-९७

(१) पदों का स्वतन्त्र अर्थ स्वीकार न करने से किसी पद से जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि अर्थों का ज्ञान सम्भव नहीं है, जबकि यह बात अव्यावहारिक है।[१]

(२) यदि आवापोद्वाप द्वारा पदार्थ को भी अभिधेय माना जाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि आवापोद्वाप के प्रसङ्ग में अपेक्षित पदों का स्वतन्त्र अर्थ सम्भव ही नहीं है, क्योंकि पदों से अन्वित पदार्थों का ही एक साथ अभिधान होता है।

(३) पद से अन्वित पदार्थों का अभिधान स्वीकार करने पर वाक्य के प्रथम पद से शेष पदार्थों द्वारा अन्वित पदार्थों का अभिधान स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में वाक्य के प्रथम पद से ही वाक्यार्थ ज्ञान होना चाहिये और शेष पद निरर्थक होना चाहिये।

(४) व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता कि एक पद के उच्चारण से पूरे वाक्य के अर्थ का बोध हो जाय। 'गौः' पद कहने पर गाय अर्थ से अनन्त अर्थों का सामान्य अन्वय होने पर विशेष अन्वय का सर्वथा अभाव रहता है। अतः यह मत व्यवहार विरुद्ध है।

(५) जिस प्रकार से किसी प्यासे व्यक्ति के लिये अगाध समुद्र और मरुभूमि एक ही तरह है, क्योंकि वह समुद्र में भी जल की अपेयता के कारण उसी प्रकार प्यासा रहता है जिस प्रकार मरुभूमि में जल के अभाव में।[२] उसी प्रकार विशेष अन्वय के अभाव में गो पदार्थ का अनन्त पदार्थों से सामान्य अन्वय होना भी किसी पदार्थ से अन्वय के न होने की तरह अनुपयोगी है।

(६) यदि प्राभाकर यह स्वीकार करें कि एक पद अन्य पदों से मिलकर पूर्वपद का ज्ञान कराता है, तो भी उचित नहीं, क्योंकि यह पदान्तर पदार्थ का अभिधान करता हुआ ही पूर्व पद के अर्थ को निश्चित करेगा। ऐसी स्थिति में अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करना ही पड़ता है।[३]

---

१. न ह्यनवगतपदार्थस्य वाक्यार्थसम्प्रत्ययो दृश्यते। पदार्थप्रविभागश्चैव गम्यते-ऽस्य पदस्य जातिरर्थोऽस्य द्रव्यमस्य गुणोऽस्य क्रियेति।

—न्या० म०, भाग १, पृ० ३६४

२. न हि रसविदां पूर्णोऽप्यब्धिर्मरोरतिरिच्यते सलिलकार्यानिष्पत्तेः। नियतगुण-क्रियानुरक्तस्वार्थप्रतिपादने तु गोशब्दस्य न हेतुमुत्पश्यामः।

—वही, पृ० ३६५।

३. अर्थप्रतिपादनेन तु पदान्तरं यदि नियमहेतुः? सोऽयमभिहितानामर्थानामन्वयः उक्तो भवति।

—वही, पृ० ३६५

इस प्रकार अन्विताभिधानमत में उक्त दोषों को प्रदर्शित करते हुये जयन्त निष्कर्ष स्वरूप भट्टों का मत प्रस्तुत करते हैं कि अन्विताभिधान मत के दोषग्रस्त होने से ही भाट्ट लोग अभिहितान्वयवाद स्वीकार करते हैं। पद अपनी अभिधा शक्ति से पदार्थों का अभिधान करते हैं। ये अभिहित पदार्थ परस्पर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि आदि के द्वारा परस्पर संसृष्ट हो जाते हैं।[१] इस प्रकार परस्पर संसर्ग को प्राप्त करके अभिहित पदार्थ वाक्यार्थ के हेतु बनते हैं। अभिहितान्वय मत में अभिहित पदार्थों का अन्वय चूंकि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण स्वीकृत है, अतः केवल उन्हीं पदार्थों का परस्पर अन्वय होता है, जो परस्पर आकांक्षा योग्यता या सन्निधि से युक्त होते हैं। इस प्रकार 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' आदि प्रलापों से वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि यहाँ पदार्थों में परस्पर योग्यता का अभाव है। अन्विताभिधान मत से ऐसे वाक्यों का अर्थ भी स्वीकार करना होगा जो दोषपूर्ण है। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद की अपेक्षा भाट्टों को अपना अभिहितान्वयवाद निरवद्य प्रतीत होता है।[२]

अभिहितान्वयवाद का खण्डन :

यद्यपि अभिहितान्वय का सिद्धान्त भाट्टों और वेदान्तियों की तरह नैयायिकों को भी मान्य है, परन्तु जयन्त ने अभिहितान्वयवाद का खण्डन किया है। आचार्य जयन्त ने अभिहितान्वयवाद का खण्डन लगभग उन्हीं तर्कों द्वारा किया है, जिन तर्कों द्वारा अन्विताभिधानवादी अभिहितान्वय के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। जयन्त का कहना है कि कोई भी पद प्रदीप की तरह स्वतंत्रतापूर्वक अर्थ का प्रकाशक नहीं होता। प्रदीप तो अन्य निरपेक्ष होकर अर्थ को प्रकाशित करता है, परन्तु पद को अर्थ प्रकाशन में व्युत्पत्ति की अपेक्षा होती है।[३] व्युत्पत्ति वृद्धों के व्यवहार से आती है और वृद्ध-व्यवहार से आवापोद्वाप प्रक्रिया द्वारा पदों से अर्थ का निर्णय वाक्य के माध्यम से ही होता है। केवल पद के प्रयोग से पदार्थ का बोध वृद्ध-व्यवहार द्वारा नहीं होता, वरन् वाक्य प्रयोग द्वारा ही वृद्ध-व्यवहार वाक्यार्थ का बोधक होता है। इस प्रकार मूलतः वक्ता वाक्य का प्रयोग करता है और श्रोता वाक्य श्रवण से वाक्यार्थ का ग्रहण करता है।

---

१. पदेभ्यः प्रतिपन्नास्तावदर्था आकाङ्क्षासन्निधियोग्यत्ववशेन परस्परमभिसम्बध्यन्ते। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३६५

२. तस्मादभिहितानामेव पदार्थानामन्वयः इति युक्तम्। —वही, पृ० ३६५

३. न व्युत्पत्तिमन्तरेण दीप इव शब्दोऽर्थमवगमयति। —वही, पृ० ३६६

यहाँ वक्ता वाक्य में जिन पदों का प्रयोग करता है, उनसे वह स्वतन्त्र पदार्थों का बोध नहीं कराना चाहता, वरन् वह एक दूसरे से परस्पर संसर्ग युक्त पदार्थों का ही बोध कराना चाहता है। वक्ता और श्रोता से भिन्न तटस्थ जो वाक्य प्रयोग से वाक्यार्थ का ग्रहण करते हुये नूतन पदों और उनके अर्थों का ज्ञान प्राप्त करता है, वहाँ वह भी पद से सीधे निराकांक्ष पदार्थ का ग्रहण न करके वाक्य के अन्य पदों के अर्थों से अन्वित अर्थ का ही ग्रहण करता है।[1] एक पूर्ण अर्थ को मिलकर जो पद प्रस्तुत करते हैं, उन पदों को वाक्य कहा जाता है। इस प्रकार एक पूर्ण एवं निराकांक्ष अर्थ को अन्य पदों की सहायता लिये बिना कोई भी एक पद स्वतन्त्रतया नहीं व्यक्त कर सकता।[2] कुछ उदाहरणों के द्वारा जयन्त वाक्य घटक पदों के मिलकर वाक्यार्थबोधन की क्रिया को स्पष्ट करते हुये कहते है कि जिस प्रकार कारणभूत अनेक क्रियायें यथा काष्ठज्वलन, स्थाली आरोपण आदि मिलकर पाक क्रिया को सिद्ध करती हैं, या जिस प्रकार पालकी के वाहक मिलकर पालकी को उठाते हैं, या जिस प्रकार तीन पत्थर मिलकर उखा (पतीली) को धारण करते हैं, ठीक उसी प्रकार वाक्य के सब पद मिलकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।[3] इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों को अभिमत पद द्वारा पदार्थबोध कथमपि सम्भव नहीं है और पदों से अन्वित पदार्थों का अभिधान किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

अभिहितान्वयवादी यह कह सकते है कि यदि वाक्य में एक पद अन्य सब पदों के अर्थों से अन्वित अर्थ का अभिधान करता है—ऐसा मान लिया जाय, तब तो एक पद का उच्चारण होते ही पूरे वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाना चाहिय और वाक्यार्थ ज्ञान के लिये पुनः वाक्य के अन्य पदों के उच्चारण की आवश्यकता नही रह जानी चाहिये। जयन्त का उत्तर है कि वाक्य का एक ही पद अन्य पदो के

---

१. अर्थप्रकरण - प्राप्तपदार्थान्तरवेदने।
पदं प्रयुज्यते यत् तद् वाक्यमेवोदित भवेत्॥
वक्ता वाक्यं प्रयुङ्क्ते च संसृष्टार्थविवक्षया।
तथैव बुद्ध्यते श्रोता तथैव च तटस्थितः॥—न्या०म०, भाग १, पृ० ३६६

२. संहत्यार्थमभिदधति पदानि वाक्यम्। एकार्थः पदसमूहो वाक्यमिति वाक्यविदः। तत्रायं पदसमूह एकार्थो भवति। एवं न संहत्यार्थमभिदध्युः पदानि यद्येकस्यैव पदस्य व्यापारः। —वही, पृ० ३६६

३. यथा हि बाह्यानि करणानि काष्ठादीनि पाके व्याप्रियन्ते, यथा च शिविकाया उद्यन्तारः सर्वे शिविकामुद्यच्छन्ति, यथा त्रयोऽपि ग्रावाण उखां बिभ्रति, तथा [illegible]वाण्येव पदानि वाक्यार्थमवबोधयन्ति। - वही, पृ० ३६६

सहयोग के बिना पूरे वाक्य का अर्थबोध नहीं कराता, क्योंकि एक पद में पूरे वाक्य के अर्थ को प्रकाशित करने की क्षमता नहीं होती है।

अब यदि जयन्त की उक्त मान्यता स्वीकार करें कि एक पद में वाक्यार्थ बोधन की स्वतन्त्र क्षमता नहीं होती तब तो वैयाकरणों की तरह से वाक्य को एक निरवयव तत्त्व मान लेना चाहिये, फिर वाक्य में पद संघात की स्थिति को स्वीकार करने की आवश्यकता क्या है? जयन्त का उत्तर है कि वाक्य को समुदायी और सावयव इसलिये मानना आवश्यक है कि वाक्य में समुदायी पद मिलकर जिस प्रकार वाक्यार्थ की पूर्ति करते हैं, उसी प्रकार पद से पदार्थ की भी प्रतिपत्ति होती है। जिस प्रकार से लकड़ियों का जलना, बटलोई में चावल भरना, उसका चूल्हे पर आरोपण आदि पृथक्-पृथक् क्रियायें हैं और ये सब क्रियायें मिलकर पाक क्रिया कही जाती हैं, उसी प्रकार पदों द्वारा उनके अलग-अलग पदार्थों का ज्ञान स्वतंत्रता पूर्वक होता है, किन्तु सारे पद मिलकर वाक्यार्थ का ज्ञान कराते हैं।[1] किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि पद से वाक्यार्थ का कोई अंश अभिहित होता है। जिस प्रकार से शकट (बैलगाड़ी) अनेक अवयवों से मिलकर बनती है, किन्तु उसका कोई भी अवयव बैलगाड़ी के द्वारा करणीय किसी भी काम या उसके अंश को नहीं कर सकता, उसी प्रकार वाक्य के पद मिलकर वाक्यार्थ को अभिहित करते हैं, परन्तु कोई पद स्वयं अकेले वाक्यार्थ के किसी अंश का अभिधान नहीं कर सकता।[2] इसलिये एक अर्थ के वाचक पदों के समूह को तो वाक्य कहा ही जाता है, साथ ही वाक्य के लिये यह भी आवश्यक है कि उसके घटक पदों में मिलकर वाक्यार्थ को प्रकाशित करने की क्षमता भी हो।

इस प्रकार अपने सिद्धान्त में जयन्तभट्ट वैयाकरणों की तरह वाक्य के पदों में मिलकर अर्थ प्रकाशन की क्षमता मानते हैं। परन्तु वैयाकरणों के विपरीत वाक्य में पदों की स्वतन्त्र सत्ता और पदों से स्वतन्त्र पदार्थ का अभिधान भी मानते हैं। इसी प्रकार अन्विताभिधानवादियों की तरह पदों द्वारा अन्वित पदार्थों के अभिधान को तो जयन्तभट्ट स्वीकार करते हैं परन्तु अन्विताभिधानवादियों

---

१. वाक्यार्थप्रतिपत्तिः सङ्घातकार्यम्, स्वकार्यं तु पदार्थप्रतिपत्तिः। यथा पाकः संघातकार्यम् स्वकार्यं ज्वलनभरणादिकाष्ठस्थाल्यादीनाम्।
—न्या० म०, भाग १, पृ० ३६७

२. यथा शकटाङ्गानामयमंशोऽनेन कृतोऽयमनेनेति न पृथक् प्रयुज्यमानानि शकटाङ्गानि मनागपि शकटकार्यं कुर्वन्तीति। एवं न केवलं पद प्रयुज्यते, प्रयुक्तमपि वा न तत्कार्याङ्गम्, पदान्तरेण तु सह व्यापारात् तदन्वितार्थकार्येव पदमिति युक्तम्।
—वही, पृ० ३६७

के विपरीत अभिहितान्वयवादियों की तरह जयन्त यह भी स्वीकार करते हैं कि पदों से वाक्यार्थ बोध के पूर्व भी पदार्थ बोध हो सकता है।[1]

(२) अन्विताभिधानवाद :

भाट्टों के अभिहितान्यवाद के विरुद्ध प्रभाकर ने जिस वाक्यार्थ-सिद्धान्त को स्वीकृति दी उसे अन्विताभिधानवाद कहते हैं। प्रभाकर के मत का आशय यह है कि वाक्य में पद स्वतन्त्रतया पदार्थों के अभिधायक नहीं होते। पदों से अन्वित पदार्थों का बोध होता है। एक पद से होने वाला पदार्थाभिधान वाक्य के अन्य पदार्थों से अन्वित ही होता है। इसलिये अन्विताभिधान का तात्पर्य है— अन्वित पदार्थों का अभिधान।[2] 'गामानय' वाक्य में 'गाम्' पद का अर्थ आनयनान्वित गो पदार्थ और 'आनय' पद का अर्थ है गोपदार्थान्वित आनयन क्रिया। पदार्थों के संसर्ग ज्ञान का यही उचित मार्ग है। चूंकि हमें परस्परान्वित पदार्थों का ही ज्ञान होता है, इसलिये यह स्वीकार करना पड़ता है कि इतरेतरसंसृष्ट पदार्थ ही पदों द्वारा अभिहित होते हैं, क्योंकि संसर्ग-बोध का एतद्भिन्न और कोई कारण नहीं है। प्रभाकर के मत में वाक्य का प्रधान अर्थ क्रिया है, परन्तु क्रिया का स्वतन्त्र अर्थ प्राप्त नहीं हो सकता, अतः वाक्यगत अन्य पदों से संसृष्ट क्रिया ही वाक्य का अर्थ है। हम वृद्ध-व्यवहार से शक्तिग्रह करते हैं। यह शक्तिग्रह वाक्य में होता है, पदों में नहीं। 'गामानय' आदि वाक्य के प्रयोजक वृद्ध द्वारा उच्चरित होने पर और प्रयोज्य वृद्ध के तदनुकूल व्यापार करने पर तटस्थ अज्ञ उक्त वाक्य का पूरी क्रिया के रूप में अर्थ जान लेता है। बाद में आवापोद्वाप की प्रक्रिया द्वारा पदों का अर्थ भी ज्ञात होता है। किसी पद से उच्चारण करने पर और वाक्य के अन्य पदों के उच्चारण न करने पर ज्ञायमान पदार्थ अनेक गुण क्रियादि से सामान्यतः

---

१. तदेवमवयवकार्योपलम्भान्न वैयाकरणवन्निमित्तान्यपि निह्नुमहे। कृत्स्नफलसिद्ध्यवधि व्यापारपरिनिश्चयाच्च नान्यमीमांसकवच्छुद्धपदार्थाभिधानमुपगच्छामः। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३६७

२. पदेभ्य एव वाक्यार्थप्रत्ययो जायते यथा।
तथा वयं निबध्नीमः प्रभाकरगुरोर्मतम् ॥
पदैरेवान्वितस्वार्थमात्रोपक्षीणशक्तिभिः।
स्वार्थाश्चेद् बोधिता बुद्धो वाक्यार्थोऽपि तथासति ॥
प्रधानगुणभावेन लब्धान्योऽन्यसमन्वयान्।
पदार्थानेव वाक्यार्थान् संगिरन्ते विपश्चितः ॥
—प्रकरण पंजिका, वाक्यार्थ भा०, १

अन्वित ही ज्ञात होता है। परन्तु वाक्य चूंकि विशेष अर्थ का अभिधायक होता है। अतः वाक्य के शेष पदों के उच्चरित होने पर गुण विशेष और क्रिया विशेष से उक्त पदार्थ का संसर्ग हो जाने पर अन्य अनेक पदार्थों से अन्वय की आकांक्षा का उपरम हो जाता है।[१]

'अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' जैसे योग्यता विहीन वाक्यों के अर्थबोध के लिये अन्विताभिधानवादी भी वही प्रक्रिया स्वीकार करता है जो प्रक्रिया अभिहितान्वयवादी स्वीकार करता है।[२] पदों में जिस संसर्ग का अन्वय उनके अभिधान के पूर्व स्वीकार किया गया है, वह आकांक्षादि-त्रय से युक्त ही होता है।[३] आकांक्षादि-त्रय को इसलिये स्वीकार किया जाता है, क्योंकि यदि आकांक्षादि से युक्त अन्वय न स्वीकार किया गया तो उस-उस विषय में समर्थ अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाण बाधित हो जायेंगे।[४] अतः अन्य प्रमाण बाधित न हों, इसके लिये आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि से युक्त पदार्थों का अभिधान स्वीकार किया जाता है। अन्य प्रमाणों से शब्दप्रमाणलभ्य अर्थ के बाधित होने पर शब्दप्रमाण का स्वतः-प्रमाणत्व भी बाधित हो जायेगा। यदि उक्त वाक्य से वाक्यार्थ स्वीकार किया गया तो आधाराधेय भाव बाधित हो जायेगा। अतः आकांक्षादि से रहित वाक्य वाक्यार्थ बोध कराने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि उनमें परस्परान्वय की योग्यता नहीं होती। अन्विताभिधानवादी प्रमाणान्तरबाधित ओर आकांक्षादिरहित पदों को वाक्य नहीं स्वीकार करते। ऐसा पद तो निरर्थक वर्णों का एक समूहमात्र होता है, जिससे किसी प्रकार का अर्थ नहीं प्राप्त होता। वेद का स्वतः-प्रामाण्य सर्वथा निरवद्य है और वेदवाक्य स्वतंत्रता से अपने अन्वितार्थ का अभिधान करते हुये वाक्यार्थ का अवगम कराते हैं।[५] इस प्रकार अन्विताभिधान मत को स्वीकार करके हम वाक्य द्वारा अर्थबोध की प्रक्रिया को निर्बाध पाते हैं। इसलिये

---

१. व्यतिषक्तार्थबुद्ध्या हि व्यतिषङ्गोऽवगम्यते।
अपरं तु न संसर्गप्रतीतेरस्ति कारणम्॥—न्या०म०, भाग १, पृ० ३६८

२. मयापि योग्यासन्नादिसंसृष्टस्वार्थवाचिता।
पदानां दर्शिता सा च तेषु नास्तीत्यनन्वयः॥ —वही, पृ० ३६८

३. क्रियाकारकसंसर्गबुद्धिरन्यापि शब्दजा।
तादृश्येवाययार्था तु नरबुद्धिप्रमादतः॥ —वही, पृ० ३६८

४. प्रमाणान्तरदर्शनमत्र बाधते। —वही, पृ० ३६८

५. अतएव स्वसामर्थ्यसिद्धनिर्निबन्धकव्यापारे शब्दे स्वतोवेदे प्रामाण्यमनाकुलम्।
—वही, पृ० ३६९

प्रभाकर के मत से भाट्टों को अभिमत व्युत्पत्ति रहित अभिहितान्वयवाद को छोड़कर अन्विताभिधानवाद स्वीकार कर लेना चाहिये ।[१]

अन्विताभिधानवाद का खण्डन :

यद्यपि जयन्त पदों द्वारा अन्वित पदार्थों की प्रतीति मानते हैं, परन्तु पदों द्वारा अन्वित पदार्थों का अभिधान मानने वाले प्रभाकर के मत का जयन्त खण्डन करते हैं। यह ठीक है कि वाक्यार्थ के ज्ञान में वृद्ध-व्यवहार सहायक होता है, यह भी सत्य है कि सभी प्रकार के व्यवहार में वाक्य ही माध्यम बनता है, किन्तु एक साथ मिलकर पालकी उठाने वाले कहारों की तरह से वाक्यगत पद मिलकर वाक्यार्थ का ज्ञान कराते हैं, यह भी सत्य है। अन्विताभिधान के सिद्धान्त पर जयन्तभट्ट का आक्षेप है कि प्राभाकर जो वृद्ध-व्यवहार से वाक्यार्थ की व्युत्पत्ति स्वीकार करते हैं—वही अनुपपन्न है। क्या यह वाक्यार्थ व्युत्पत्ति वाक्य घटक सभी पदों के एक अविभाज्य संघात से होती है या एक पद से अलग-अलग एक-एक पदार्थ की होती है। यदि सघातरूप अविभक्त वाक्य से व्युत्पत्ति स्वीकार करेंगे तब एक वाक्य से एक वाक्यार्थ की व्युत्पत्ति होगी और यह किसी भी व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं है कि इस प्रकार वह सभी वाक्यों का अर्थ जान सके, क्योंकि वाक्य तो अनन्त प्रकार के होते हैं और उन सबकी व्युत्पत्ति श्रोता को हो ही नहीं सकती।[२] यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करें तब प्रत्येक पद का निश्चित अर्थ निर्धारित होना चाहिये।[३] शकट के अवयवों द्वारा पृथक्-पृथक् व्यापार स्वीकार करते हुये प्रभाकर एवं उनके शिष्यों ने इसी रीति से पदों द्वारा अर्थ निर्धारण भी स्वीकार किया है। यदि पद से पदार्थबोध स्वीकार न किया जाय तो 'गाम् आनय' कहने की विवक्षा रखने वाले वक्ता को 'अश्व' आदि पदों का भी निमित्त रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। पदार्थ ही वाक्यार्थ नहीं बन सकता। इस प्रकार आवापोद्वाप पर्यालोचना के द्वारा गो पद का जो सास्नादिमान अर्थ निर्धारित होता है, वही अर्थ वाक्यार्थ में पद संघात द्वारा अवधेय होता है।[४]

---

१. इत्यन्विताभिधानन वाक्यार्थज्ञानसम्भवात्।
व्युत्पत्तिरहितः प्राज्ञैः प्रहेयोऽभिहितान्वयः ॥—न्या०म०, भाग १, पृ० ३६९

२. पूर्वस्मिन् पक्षे प्रतिवाक्यं व्युत्पत्तिरपरिहार्या, सा च बहुप्रमादेयुत्क्तम् ।
—वही, पृ० ३६९

३. पदार्थपर्यन्तायां व्युत्पत्तौ नूनं निर्धारणीयमियान् पदस्यार्थ इति ।
—वही, पृ० ३६९

४. तदसौ यावान् आवापोद्वापपर्यालोचनया गोपदस्यार्थो निर्धार्यते, तावानेव संघातकार्येऽपि व्याप्रियमाणस्य तस्यार्थः । —वही, पृ० ३६९

अन्विताभिधानवादी यह मानते हैं कि पद से अन्य आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि वाले पदों के अर्थों से संयुक्त अर्थ जाना जाता है, किन्तु 'गौः' पद का सर्वदा संहत प्रयोग ही होता है। 'गौः' पद का केवल उतना ही अर्थ माना जाता है, जितना कि पद की अभिधात्री शक्ति प्रस्तुत करती है। यहाँ पुनः यह देखना आवश्यक हो जाता है कि पदार्थबोध और वाक्यार्थबोध में किस सीमा तक अभिधात्री शक्ति का प्रयोग होता है और कितना अंश अभिधात्री शक्ति के लिये अभिव्यक्त करना असम्भव होता है? मीमांसकों का उत्तर[1] है कि अन्योऽन्य से आकांक्षित, योग्य और सन्निहित जितने पदों का परित्याग पद नहीं करता, उतना अर्थ अभिधा द्वारा व्यक्त स्वीकार करना चाहिये। अर्थात् गोत्व मात्र या तद्वन्मात्र अर्थ अभिधा से वाच्य होता है। अन्वय और व्यतिरेक की रीति से पद का यही अर्थ निर्धारित होता है। जयन्त यहाँ पर पदों के परस्पर संसर्ग के लिये तात्पर्य शक्ति को स्वतंत्र रूप से पदनिष्ठ शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु मीमांसक अभिधाशक्ति द्वारा ही अन्वित पदार्थों का सीधे अभिधान स्वीकार करते हैं। जयंत मीमांसकों द्वारा अभिधाशक्ति के व्यापक प्रयोग सम्बन्धी सिद्धान्त का खण्डन करते हैं।[2] अभिधाशक्ति से केवल गोत्व जाति या शुद्ध जाति मात्र ही वाच्य हो सकती है, क्योंकि गो शब्द से जिन साकांक्षादि पदों से अन्वित अर्थ का अभिधान स्वीकार करना मीमांसकों को अभीष्ट है, उन पदों के उच्चारण के बिना उनका पदार्थ बोध नहीं होता। यदि साकांक्षादि पदों के उच्चारण के अभाव में ही 'गौः' पद सारे अन्वित पदार्थों को अभिहित करने की सामर्थ्य रखता है तो फिर पूरे वाक्य का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि एक ही पद के उच्चारण से पूरे वाक्यार्थ का अभिधान स्वीकार किया गया है। इस प्रकार निष्कर्ष स्वरूप जयन्तभट्ट यह मानते हैं कि वाक्य घटक पदों का पूरा अर्थ एकमात्र अभिधा शक्ति द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सकता।[3]

---

१. गोत्वमात्रं तद्वन्मात्रं वेत्यतस्तावत्येवाभिधात्री शक्तिरन्वयव्यतिरेकाभ्यामस्य निर्धार्यते। —न्या० मं०, भाग १, पृ० ३६९

२. अतः परमेकस्य पदस्याप्रयोगात् सर्वदा संघातकार्यरहितकेवलस्वकार्यचातुर्यानवधारणात् प्रधानकार्ये तात्पर्यशक्तिरस्य व्याप्रियते, नाभिधात्री।
—वही, पृ० ३६९

३. तदभिधाने वा तद्वत् सर्वाभिधानमित्येकमेव गोपदं सर्वार्थं भवेत्। तस्मान्न सर्वत्राभिधात्री शक्तिः पदस्योपपद्यत इति नान्विताभिधानम्।
—वही, पृ० ३७०

अन्विताभिधानवादियों के विरुद्ध प्रायः एक आपत्ति यह प्रस्तुत की जाती है कि इस मत में 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' आदि प्रमत्तवाक्य भी अर्थवान् हो जायेंगे। यदि अन्विताभिधानवादी इसका यह उत्तर दें कि वस्तुतः वाक्यार्थ के घटक पदार्थों में बाह्य रूप से वर्तमान कोई अन्वय नहीं होता, यह अन्वय तो केवल शाब्दिक अर्थात् शब्दोच्चारण में ही पाया जाता है। जयन्त का उत्तर है कि तब यदि बाह्य अर्थों में अन्वय का अभाव माना जायेगा तब तो शब्द और उसके द्वारा अभिहित पदार्थ के मध्य ही सम्बन्ध का अभाव हो जायेगा अर्थात् तब शब्द से किसी भी अर्थ का अभिधान नहीं हो पायेगा। मीमांसक यदि कहें कि शब्द का व्यापार केवल अर्थ का प्रकाशन मात्र है, तब भी उक्त समस्या बनी रहेगी, क्योंकि शब्द से केवल अन्वित विषयों का ही प्रकाशन होगा—ऐसा नियम नहीं है और नियमन के अभाव में शब्द से अनन्वित अर्थों का अभिधान भी स्वीकार करना पड़ेगा।[1] इस प्रकार पदों से अन्वित अर्थों का सीधे अभिधान होता है—यह पक्ष युक्तियुक्त नहीं है। दूसरी ओर जयन्तभट्ट अभिहितान्वयवादियों को अभिमत पदों द्वारा परस्पर असंसृष्ट पदार्थों का अभिधान भी नहीं मानते, क्योंकि यह मत व्यवहार विरोधी है। यदि असंसृष्ट पदार्थों का अभिधान स्वीकार करें तो बाद में पदार्थों में अन्वय की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि पदार्थों का अभिधान करने वाली अभिधात्री शक्ति जब पदार्थाभिधान कर लेती है, तब पुनः वही शक्ति फिर से कोई अन्य प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकती। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद संसर्ग सम्बन्धी दोनों ही मीमांसक मतों का जयन्तभट्ट तर्कोपन्यास पूर्वक निषेध कर देते हैं।[2]

(३) अन्वीयमानाभिधान तथा अभिधीयमानान्वयवाद–प्रस्तुति एवं निषेध :

संसर्गग्रह सम्बन्धी उक्त परस्पर विरोधी मतों के पारस्परिक आक्षेपों से बचने के लिये कुछ तार्किक यह स्वीकार करते हैं कि वाक्यार्थ का ज्ञान अन्वीयमानाभिधान या अभिधीयमानान्वय से होता है। अन्वीयमान पदार्थ कभी अभिहित होते हुये वाक्यार्थ होते हैं तो कभी अभिहित होते हुये पदार्थ परस्पर अन्वित होकर वाक्यार्थ होते हैं।

---

१. प्रकाशकत्वमात्रं व्यापार इति चेत्, बाढम्। तत्तु अनन्वितविषयं वेदितुं युक्तम्, न पुनरन्वितविषयमेवेति शक्यते नियन्तुम्।

—न्या० म०, भाग १, पृ० ३७०

२. मतद्वयमपीदन्तु नास्मभ्यं रोचतेतराम्।
कुतोऽन्विताभिधानं वा कुतो वाऽभिहितान्वयः॥ —वही, पृ० ३७०

जयन्त पूर्वोक्त दोनों मतों की ही तरह इस मत का भी खण्डन करते हैं। जयन्त का कहना है कि अन्वीयमान का अभिधान और अभिधीयमान का अन्वय— ये दोनों अलग-अलग स्थित रहने वाली क्रियायें व्यवहार में अनुभूत नहीं होतीं, क्योंकि अभिधान क्रिया पदनिष्ठ होती है, जबकि अन्वय क्रिया वाच्य पदार्थनिष्ठ होती है।[1] इन दोनों पृथक् स्थित क्रियाओं का अनुभव यदि स्वीकार भी किया जाय तो या तो दोनों क्रियायें क्रम से होंगी, या एक साथ। क्रमिक स्वीकार करने पर यदि पहले अन्वय क्रिया होती है तो यह मत अन्विताभिधान से अभिन्न है और यदि पहले अभिधान क्रिया होती है तो यह मत अभिहितान्वय से अपृथक् है। अभिधान और अन्वय ये दोनों क्रियायें एक साथ नहीं उपलब्ध होतीं, क्योंकि अर्थागत क्रिया अभिधान काल में उपलब्ध नहीं होती।[2] यदि इस मत के समर्थक इसमें केवल एक अभिधान क्रिया को ही स्वीकार करें तो अभिधान के विना अर्थो में अन्वीयमानता की उपपत्ति सम्भव नहीं है।[3] 'गौः शुक्लः आनीयताम्' इस वाक्य में एक द्रव्य से समवेत रहने वाली जाति, गुण, क्रिया का तदभिधायक पदों के विना अन्वय कैसे होगा ? अतः यह स्पष्ट है कि अन्विताभिधान और अभिहितान्वय दोनों सिद्धान्तों के दोष यहाँ एक साथ उपस्थित होंगे[4], क्योंकि यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है, वरन् शाब्दिक परिवर्तन करके उक्त मत ही पुनः इस नये मत के रूप में प्रस्तुत कर दिये गये हैं।

(४) सामान्येनान्विताभिधान विशेषतोऽभिहितान्वयवाद-प्रस्तुति एवं निषेध :

जयन्त ने वाक्यार्थबोध सम्बन्धी जिस चौथे मत का परिचय दिया है, उसके अनुसार वाक्य का अन्विताभिधान से गृहीत अर्थ सामान्य अर्थ होता है और अभिहितान्वय के अनुसार गृहीत अर्थ वाक्य का विशेष अर्थ होता है। उदाहरण के लिये गो शब्द विशेष गुण, क्रिया से रहित केवल अन्वित सामान्य पदार्थ

---

१. न हि द्वे अनुभूयेते क्रिये एते पृथक् स्थिते।
अभिधानक्रिया चान्या वाच्यस्था चान्वयक्रिया ।।
—न्या० म०, भाग १, पृ० ३७०

२. युगपत्तु क्रियाद्वयसंवेदनं नास्ति अर्थागतायाः क्रियायाः शब्दप्रयोगकालेऽनुपलम्भात्। वही, पृ० ३७०

३. अभिधानक्रियैवैका तदभिज्ञैः परीक्ष्यते।
अन्वीयमानताऽर्थानामभिधानाद्विना कुतः ।। —वही, पृ० ३७०

४ उक्तेर्नूतनतैवेयं न पुनर्वस्तु नूतनम्।
न चात्रापि निवर्त्तन्ते दोषाः पक्षद्वयस्पृशः ।। —वही, पृ० ३७०

का जो ज्ञान कराता है, वह अन्विताभिधान है और शुक्लादि पदान्तरों से लभ्य शुक्लादि विशेष गुण से संसृष्ट गो पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वह अभिहितान्वयवाद है।

जयन्त का कहना है कि अन्विताभिधान और अभिहितान्वय पक्षों की दोषयुक्तता की तरह ये सामान्य और विशेष पक्ष भी दोषपूर्ण हैं, क्योंकि अन्विताभिधान के सभी दोष सामान्य पक्ष में प्रस्तुत होंगे और अभिहितान्वयवाद के सभी दोष विशेष वाक्यार्थ पक्ष में उपस्थित होंगे।[1] दूसरा आक्षेप जयन्त ने यह किया कि यह कोई नया सिद्धान्त नहीं प्रवर्तित किया गया। वरन् अभिहितान्वय पक्ष में पहले ही से अभिहित पदार्थों का जो अन्वय मानते हैं वह वस्तुतः वाक्य का विशेष पदार्थ ही होता है।[2] इस प्रकार संसर्ग के ग्रहण और वाक्यार्थ बोध के सम्बन्ध में यह चतुर्थ मत भी त्याज्य है।

संहत्यकारितावाद और तात्पर्यवाद—जयन्त का अपना मत :

जयन्त ने ससर्ग बोध के लिये पदों में तात्पर्य शक्ति स्वीकार की है,[3] इसलिये उनका सिद्धान्त तात्पर्यवाद कहलाता है और चूँकि उनके सिद्धान्त के अनुसार वाक्य के सभी पद मिलकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं,[4] अतः इस सिद्धान्त को संहत्यकारितावाद भी कहा जाता है। जयन्त का विचार है कि न तो अभिहित पदार्थ इतरेतरान्वित होकर वाक्यार्थबोध कराते हैं और न ही कोई एक प्रधान पदार्थ अन्य पदार्थों से अन्वित ही अभिहित होता है, वरन् वाक्य के सभी पद मिलकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। पद अपना अनन्वित अर्थ व्यक्त करने में में असमर्थ होते हैं, अतः इस अंश में जयन्त का कुमारिल से मतभेद है। भाट्टों से जयन्त का दूसरा मतभेद यह है कि भाट्ट मीमांसक पदार्थों के संसर्गबोध के लिये या तो कोई शक्ति विशेष मानते ही नहीं, या परवर्ती भाट्टों ने लक्षणा शक्ति से संसर्ग-

---

१. दोषोऽन्विताभिधाने यः सामान्येऽपि स तादृशः।
दोषस्तुल्यो विशेषेऽपि यश्चोक्तोऽभिहितान्वये॥
—न्या० म०, भाग १, पृ० ३७१

२. अभिहितान्वयवादिनो विशेषे एवाभिहितान्वय आश्रीयत, इति प्राक्तन एवेष्टः पन्था वेदितव्यः। —वही, पृ० ३७१

३. अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठता।
तेषां तात्पर्यशक्तिस्तु संसर्गावगमावधिः॥ —वही, पृ० ३७२

४. संहत्यकारीणि हि पदानीत्युक्तम्, समुदितैः पदैरेको वाक्यार्थः प्रत्याय्यते।
—वही, पृ० ३७१

बोध स्वीकार किया है, जबकि जयन्त के अनुसार पदों की अभिधा शक्ति केवल पदार्थबोध कराती है और ससर्गबोध पदगत तात्पर्य शक्ति से होता है। जयन्त ने पदों में एक साथ दो प्रकार की शक्तियों[१] का होना स्वीकार किया है। पहली अभिधा शक्ति है, जिससे केवल पदार्थ का अभिधान होता है। पदार्थ का अभिधान करने में ही अपनी शक्ति उपक्षीण कर लेने वाली अभिधा पुनः किसी भी प्रकार वाक्यार्थ का बोध नहीं कराती। तब पदनिष्ठ तात्पर्य शक्ति से पदार्थों का संसर्गबोध और वाक्यार्थ-बोध होता है। अन्विताभिधानवादियों की तरह जयन्त भी वृद्ध व्यवहार में वाक्य प्रयोग से शक्तिग्रह होने के कारण अन्वित पदार्थ में ही पद की शक्ति मानते हैं, परन्तु प्राभाकारों से जयन्त का यह मतभेद है कि प्रभाकर अन्वित पदार्थों का अभिधान मानते हैं, जबकि जयन्त पदों द्वारा मिलकर अन्वित अर्थ की प्रतीति मानते हैं, अभिधान नहीं। जयन्त के मत में पद कभी भी अपनी अभिधा शक्ति से अन्वित अर्थ का अभिधान नहीं कर सकते। पद जिस पदार्थ का अभिधान करते हैं, वह अनन्त पदार्थंतरों से सामान्येन अन्वित होता है, परन्तु विशिष्ट पदार्थान्तरों से अन्वय जयन्त पदों की तात्पर्य शक्ति से स्वीकार करते हैं।[२]

जयन्त कुमारिल के एक श्लोक[३] को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार एकैकशः जलाई जाती हुई लकड़ियाँ एक पाक कार्य को सिद्ध करती हैं और पाक के सन्दर्भ में ज्वालाओं की संहत्यकारिता है, उसी प्रकार क्रमिक वर्ण उच्चरित होते हुये भी पदवाक्यभाव को प्राप्त होकर एक वाक्यार्थ को सिद्ध करते हैं और वाक्यार्थबोध के प्रति सभी पदों की संहत्यकारिता होती है। पद परस्पर एक

---

१. इय वाचो युक्तिः पदानि अन्वितं प्रत्याययन्ति, नान्वितमभिदधति, नाभिधात्री शक्तिरन्वितविषया, किन्त्वन्वयव्यतिरेकावगतनिष्कृटस्वार्थविषयैव, तात्पर्यशक्तिस्तु तेषामन्वितावगमपर्यन्ता। —न्या० म०, भाग १, पृ० ३७१

2. Jayanta differes from Kumaril in that he does not endorse the apprehension of isolated meanings as the sole condition precedent to the verbal judgement irrespective of the role of parts of speach. He also differs from Prabhakar in that he refuses to believe that words can convey a verbal judgement by their denotative capacity.

G. N. Shastri—Philosophy of word and Meaning. —P. 225

Also, K. Kunjunni Raja-Indian Theories of Meaning. —P. 221

३. तन्त्र वा०, १।३।३० —न्या० म०, भाग १, पृ० ३७२ में उद्धृत

दूसरे की अपेक्षा रखते हुये मिलकर वाक्यार्थबोध रूप कार्य को सम्पन्न करते हैं। पद स्वयं अपना अर्थ व्यक्त कर सकता है। एक पद दूसरे पद का अर्थ या एक वाक्य दूसरे वाक्य का अर्थ नहीं व्यक्त करते, अतः अन्विताभिधान का सिद्धान्त स्वीकरणीय नहीं है। इसलिये यहाँ स्वीकार करना चाहिये कि सभी पद वाक्यार्थ बोध के लिये परस्पर दूसरे पदों की अपेक्षा रखते हैं। दूसरे पदों से मिलकर ही तात्पर्य शक्ति द्वारा गृहीत संसर्ग से परस्पर संसृष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ कहे जाते हैं। जिस प्रकार प्रकृति और प्रत्यय पदार्थ ज्ञान कराने के लिये परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, उसी प्रकार वाक्यार्थ बोध के लिये एक पद दूसरे पदों की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार प्रकरणार्थ के बोध के लिये विभिन्न वाक्य परस्पर अन्योऽन्य की अपेक्षा रखते हैं।[1] इस प्रकार जयन्त के मत में न तो अभिहित पदार्थों का संसर्ग होता है, और न अन्वित पदार्थों का अभिधान होता है। पद से पदार्थों का अभिधान होता है, परन्तु वह वाक्यार्थ-बोध में सीधा उपकार नहीं करता। अभिहित पदार्थों के अन्वय का ज्ञान तात्पर्य शक्ति से होता है और तात्पर्य शक्ति के द्वारा ज्ञात अन्वित पदों की सहत्यकारिता से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है।

कुमारिल का कहना है कि विभिन्न पदों के ज्ञान से पदार्थ रूपी पुष्प उद्भूत होता है और वही क्षणान्तर में वाक्यार्थ रूपी फल के रूप में उपस्थित होता है।[2] सम्भवतः कुमारिल के इसी भाव से प्रभावित होकर जयन्त ने समूची वाक्यार्थ-बोध प्रक्रिया को एक लता के रूपक द्वारा प्रस्तुत किया है। जयन्त का कहना है कि जिस प्रकार कोई लता अङ्कुरित होती है, पुनः उसमें पत्तियाँ और तब फूल, तब फल होता है, जिसका कोई व्यक्ति मधुर आस्वाद प्राप्त करता है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति रूपी जड़ वाली प्रज्ञारूपी वल्ली का पद-व्यवस्थान अङ्कुर है, विभिन्न वर्णों के संस्कार इस लता के पत्ते हैं, विभिन्न ज्ञायमान पदार्थ इसके फूल हैं और एकात्मक वाक्यार्थ इसका फल है। इस अत्यन्त मधुर एवं सुस्वादु फल के हृदय में धारण करने पर श्रोता व्यक्ति नैराकांक्ष्य भाव को प्राप्त होता है।[3]

---

१. एवं पदान्यपि परस्परापेक्षीणि संहत्य कार्यं करिष्यन्ति, न च परस्परमर्थमभिधास्यन्ति। वाक्यान्यपि प्रकरणपतितान्येवमेव। तदुक्तम्—

प्रकृतिप्रत्ययौ यद्वदपेक्षते परस्परम्।
पदं पदान्तरं तद्वद्वाक्यं वाक्यान्तरं तथेति॥ —न्या० म०, भाग १, पृ० २७२

२. श्लो० वा०, वाक्या०/३४३

३. सेयं व्युत्पत्तिमूला पदविसरसमुद्भिद्यमानाङ्कुरश्रीः ,
संस्कारोदारपत्रा कुसुमचयवती प्रोल्लसद्भिः पदार्थैः।
प्रज्ञावल्ली विशाला फलति फलमिदं स्वादु वाक्यार्थतत्त्वं-,
नैराकांक्ष्यं लसद्भिर्हृदयमुपगते यान्ति यस्मिन् पुमांसः॥ —वही, पृ० २७२

जयन्त का संहत्यकारिता का सिद्धान्त ज्ञान के क्षेत्र को जयन्त की प्रमुख देन है। जयन्त के संहत्यकारितावाद और तात्पर्यवाद को परवर्ती काल में अत्यधिक समादर प्राप्त हुआ। प्रसिद्ध काव्यशास्त्री भोज वाक्यार्थ के सम्बन्ध में जयन्त की मान्यता को स्वीकृति देते हैं और अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधानवाद का विरोध करते हैं।[१] जयन्त स्वीकृत तात्पर्य शक्ति उत्तरकाल में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के अलावा चौथी शक्ति के रूप में स्वीकृत हुई। अभिनवगुप्त भी जयन्त के मत को मान्यता प्रदान करते हैं। प्रो० राघवन् ने ठीक ही कहा है कि जयन्त की शब्द-व्यापार तथा प्रमाण सम्बन्धी दार्शनिक गवेषणाओं ने कवियों एवं काव्यशास्त्रियों को असमर्थ सिद्ध कर दिया है।[२] अपि च शाब्दबोध सम्बन्धी जयन्त की मान्यता सभी भारतीय दार्शनिकों के लिये एक चुनौती और प्रकाश स्तम्भ है।

—:o:—

१. अनुभयवादिनः पुनरेवं समर्थयन्ते, नान्विताभिधानं न चाभिहितान्वयः। किं तर्हि ? समुदितैः पदैः एको वाक्यार्थः प्रत्याय्यते, स च गुणभूतेतरपदार्थ-संसृष्टः कश्चित् पदार्थ एवेति। नेदमन्विताभिधानं किं तर्हि ? संहत्यकारिता पदानामुच्यते, संहत्यकारिताप्यस्ति।.........एवं पदान्यपि परस्परापेक्षीणि संहत्य कार्यं करिष्यन्ति। —शृ० प्र०, ८।१२६-२७

अपि च, अयमेवपक्षः श्रेयान् संहत्यकारित्वं पदार्थानाम्।—.....तस्मान्ना-न्विताभिधानं नाप्यभिहितान्वयः किन्तु यथोपन्यस्तपक्ष एव श्रेयान्।

—वही, ८।२९६

2. V. Raghawan, Bhoja's Shringar Prakash.—PP. 145,728-29,756-57

अष्टम अध्याय

उपसंहार

प्राचीन न्याय के इतिहास में नैयायिक जयन्तभट्ट का प्रमुख स्थान है। न्याय के विभिन्न पहलुओं पर अधिकारपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत करने के लिये जयन्त ने न केवल अपने से पहले के न्यायदर्शन के सभी छोटे-बड़े टीकाकारों भाष्यकारों का अध्ययन किया था, वरन् समकालीन दर्शनों-विशेषतः बौद्ध और मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों—का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया। यही कारण है कि जयन्त ने पूर्वपक्ष की प्रस्तुति में जिस ईमानदारी का परिचय दिया है, वह भारतीय विचारकों के लिये एक चुनौती है। फिर भी जयन्त के न्याय समर्थक निष्कर्ष उनकी अनवरत शास्त्र साधना और अप्रतिहत मति का परिचय देते हैं। पहले भी हम देख चुके हैं कि जयन्त ने जेल के समय को बिताने के लिये 'न्याय-मञ्जरी' पुस्तक लिखी है। जयन्त के लिये किसी विषय का प्रतिपादन जितना अभीष्ट था, उतना ही अभीष्ट जेल की अवधि का उपयोग था। इसलिये जयन्त ने जिस भी विषय पर कलम उठाई उसका अत्यन्त विशद एवं सूक्ष्मदर्शी विवेचन प्रस्तुत किया। इसी कारण से जयन्त के वाद-विवाद प्रायः लम्बे हो गये हैं और उसमें पूर्वपक्ष की एक-एक बात की धज्जी उड़ा दी गयी है। विषय विस्तार के कारण कुछ लोग जयन्त पर अनावश्यक विस्तार का दोष मढ़ते हैं, परन्तु यह दोष दर्शन जयन्त के साथ अन्याय है और जयन्त की व्यक्तिगत परिस्थितियों की उपेक्षा एवं तद्विषयक अज्ञान से प्रेरित है।

आलोच्य विषय के सन्दर्भ में जयन्त का महत्त्व जिन कारणों से है, उनमें से प्रथम जयन्त का सामग्री-प्रमाणवाद है। प्रमाण-विषयक परम्परावादी मान्यता यह है कि जो प्रमा का करण अर्थात् प्रकृष्ट साधन हो, वह प्रमाण है। प्रमा का यह साधकतम कोई कारण विशेष होता है जो करण कारक की संज्ञा प्राप्त करता है। परन्तु जयन्त की इस विषय में यह मान्यता है कि प्रमा का सातिशय कारण किसी विशेष कारक में नहीं हो सकता। जयन्त पूरी कारण-सामग्री का ही सातिशयत्व मानते हैं। इनकी यह मान्यता है कि प्रमा को उत्पन्न करने वाली पूरी सामग्री में से यदि किसी एक सामग्री का भी अभाव रहा, तो प्रमा उत्पन्न नहीं हो सकती।

इसलिये यथार्थ ज्ञान से कर्त्ता, कर्म, करण आदि रूपों में अन्वित सामग्री कर्तृकर्मादि कारकत्व के बिना ही प्रमा से करणत्वेन अन्वित है और प्रमा का सातिशय कारण है। प्रमाण लक्षण के ही प्रसंग में न्यायशास्त्र के लिये जयन्त की दूसरी प्रमुख देन यह है कि जयन्त ने प्रत्यक्ष लक्षक सूत्र में आये विभिन्न पदों—'अर्थोत्पन्न' 'अव्यभिचारि' 'व्यवसायात्मक' पदों को प्रमाण-लक्षण के प्रसंग में अध्याहृत करते हुये बोध या बोधेतर स्वभाव वाली उस सामग्री को प्रमाण कहा है जिससे अर्थ विषयक असंदिग्ध और अव्यभिचारी ज्ञान उत्पन्न हो। इसी तरह प्रमा और प्रामाण के मध्य साध्यसाधन भाव दिखाने के लिये जयन्त उपमान लक्षक सूत्र से 'साध्यसाधनम्' पद का ग्रहण करते हैं।

शब्द प्रमाण और शाब्द-बोध सम्बन्धी विशद विवेचन न्यायदर्शन के इतिहास में पहली बार आचार्य जयन्त ने प्रस्तुत किया है। यहाँ तक कि अपने पूर्ण ग्रन्थ के एक तिहाई अंश में जयन्त ने शब्द विषयक विविध मान्यताओं का परिचय दिया है तथा शेष में अन्य प्रमाणों तथा प्रमेयादि पदार्थों का विश्लेषण किया है। न्यायसूत्रकार गौतम के समय में शब्द प्रमाण और शाब्दबोध सम्बन्धी प्रश्न बहुत उलझा हुआ नहीं था। इसलिये गौतम ने समय की आवश्यकता के अनुकूल केवल शब्द के प्रमाणत्व पर ही विचार किया है। भाष्यकार, वार्तिककार तथा तात्पर्य-टीकाकार भी इस विषय में अधिक कुछ नहीं कह पाये, क्योंकि इनका विचार-क्षेत्र अक्षपाद सूत्रों से सीमित था। सम्भवतः इसी कारण से जयन्त ने न्यायसूत्रों में से प्रत्येक की क्रमबद्ध व्याख्या न करके केवल उन सूत्रों का चयन किया जो उन्हें अपने कथ्य के लिये आवश्यक प्रतीत हुये। जयन्त नवम सदी के उत्तरार्ध से सम्बद्ध हैं। जयन्त के आविर्भाव के पूर्व ही शब्दशास्त्र और शब्द-दर्शन पर प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ 'वाक्यपदीय' लिखा जा चुका था। मीमांसा सूत्रों के भाष्यकार एवं टीकाकार शबर, कुमारिल और प्रभाकर के शब्द-विषयक विचार अब तक प्रकाश में आ चुके थे। मीमांसक और वैयाकरण न्याय-मान्यता के विरुद्ध शब्द को नित्य सिद्ध कर चुके थे। इसी प्रकार वैशेषिकों और बौद्धों ने शब्द के पृथक् प्रामाण्य को ही अस्वीकृत कर दिया था। वेद के प्रामाण्य के सम्बन्ध में नास्तिकों ने विभिन्न आक्षेप प्रस्तुत करके वेद-प्रामाण्य को संदिग्ध सिद्ध कर दिया था। पदार्थ और वाक्यार्थ सम्बन्धी विभिन्न मान्यतायें मतभेदों की अधिकता के कारण दुरूह एवं संशयग्रस्त हो चुकी थीं। इसलिये जयन्त के सामने शब्द-सम्बन्धी प्रत्येक मान्यता पर चुनौतियाँ प्रस्तुत थीं। समर्पित नैयायिक होने के कारण इन सब चुनौतियों को स्वीकार करके इनका न्याय समर्थित समाधान प्रस्तुत करना जयन्त के लिये एक आवश्यकता बन चुकी थी और जयन्त ने इसे बखूबी निभाया।

शब्द-प्रमाण का लक्षण प्रस्तुत करते हुये जयन्त ने यह स्वीकार किया है कि आप्त का उपदेश शब्द-प्रमाण होता है। आप्त के आवश्यक विशेषण ईश्वर में घटित होते हैं। ईश्वर को धर्म प्रत्यक्षगोचर है, अतएव ईश्वर साक्षात्कृतधर्मा है। परमकारुणिक ईश्वर ने रागद्वेष से रहित होकर यथादृष्ट अर्थ का उपदेश किया है। परमाप्त ईश्वर का यही उपदेश वेद है, अतः वेद शब्द-प्रमाण है। इस प्रकार लौकिक और वैदिक उभयविध वाक्य शब्द-प्रमाण हो सकते हैं। लोक में कोई ही उपदेष्टा आप्त होता है, अतः कोई ही लौकिक उपदेश शब्द-प्रमाण होता है, परन्तु वेद निरवकाश रूप से ईश्वरोक्त होने के कारण शब्द-प्रमाण है।

बौद्धों और वैशेषिकों ने शब्द प्रमाण के पृथक् प्रामाण्य को निराकृत करके शब्द का अनुमान प्रमाण में ही अन्तर्भाव स्वीकार किया है, परन्तु जयन्त ने बौद्धों और वैशेषिकों को अभिमत शब्दानुमानान्तर्भाव पक्ष के तर्कों का एकैकशः खण्डन करके शब्द को प्रमा की उत्पत्ति में स्वतन्त्र और क्लृप्त कारण स्वीकार किया है। इस प्रकार शब्द को पृथक् प्रमाण सिद्ध करके जयन्त ने भाषाशास्त्र की आधारशिला प्रस्तुत की अन्यथा शब्द के अप्रामाण्य से शब्द-व्यवहार की असंगति प्राप्त होती। भाषा व्यवहार की रीढ़ शब्द है, शब्द द्वारा अर्थबोध मानव-व्यवहार का सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण पहलू है। इसलिये शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध करके जयन्त ने भाषा तथा शब्द और भाषायी व्यवहार—दोनों का बहुत अधिक उपकार किया है।

जीवन के विविध व्यापार ज्ञान परम्परा पर आधारित होते हैं और ज्ञान को अपनी सत्यता तथा निश्चेयता की अपेक्षा होती है। ज्ञान की यही सत्यता व निश्चेयता प्रामाण्य कही जाती है। भारतीय दर्शनों में प्रामाण्यवाद ज्ञानमीमांसा का आवश्यक उपसिद्धान्त बन गया है। प्रामाण्यवाद की अवधारणा का विकास वेद के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये हुआ है। अदृष्टफलक वेद में प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति हो, इसके लिये आवश्यक है कि वेद का प्रामाण्य सिद्ध किया जाय। प्रामाण्यवाद से तात्पर्य प्रामाण्य के स्वतस्त्व या परतस्त्व से होता है। इस प्रसंग में जयन्त ने नैयायिकों की परम्परावादी मान्यता का समर्थन किया है और सभी प्रमाणों का परतः प्रामाण्य सिद्ध करते हुये शब्द प्रमाण और वेद का भी परतः प्रामाण्य सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में जयन्त ने मीमांसकों को अभिमत स्वतः प्रामाण्यवाद का खण्डन किया है।

वैयाकरण और मीमांसक शब्द को नित्य और अभिव्यङ्ग्य मानते हैं, जबकि न्यायवैशेषिक में शब्द की कार्यता और अनित्यता स्वीकार की गयी है। वैयाकरण तो स्फोट को ही शब्द मानते हैं। यह स्फोट एक, नित्य एवं अनवयव है। ये वाक्य

को अखण्ड मानते हैं। शब्द के वाक्य, पद, वर्ण आदि भेद मिथ्या हैं। वस्तुतः ये भेद ध्वनि के हैं और ध्वनि शब्द का गुण है। अतः स्फोट अभिन्न और नित्य होता है। इसी प्रकार मीमांसक भी शब्द को नित्य मानते हैं जो वाय्वादि के द्वारा अभिव्यक्त होता है। यदि शब्द उत्पाद्य हो तब तो वह अनित्य हो सकता है, परन्तु मीमांसक शब्द को उत्पाद्य न मानकर अभिव्यङ्ग्य मानते हैं। न्याय बाह्यार्थ-वादी दर्शन है। बाह्यार्थ में शब्द की क्षणिक उपलब्धि होती है। अतः न्याय में शब्द के क्षणिकत्व के प्रकाश में ही पूरी शाब्दबोध प्रक्रिया विकसित हुई है। हमें न तो किसी शब्द को नित्य उपलब्धि ही होती है, और न उसकी अभिव्यक्ति या मिथ्यात्व का बोध होता है। इसलिये जयन्त ने न्याय मान्यता को सुप्रतिष्ठित करने के लिये उक्त दोनों मतों का विस्तार से प्रतिवाद किया। पूर्व पक्ष में उक्त मतों को यथावत् प्रस्तुत करके सिद्धान्त में न्याय के व्यावहारिक दर्शन की महत्ता सुप्रतिष्ठित करते हैं। इस प्रकार न्यायदर्शन को अभिमत शब्दानित्यत्ववाद की पुनः प्रतिष्ठा का श्रेय जयन्त को है।

हम यह जानते हैं कि भाषा या शब्द का व्यवहार किसी अर्थ का ज्ञान करने या कराने के लिये होता है। अतः स्पष्ट है कि शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष का बोध होता है। सभी शब्दों से सभी अर्थों का बोध नहीं हो सकता अन्यथा बड़ी अव्यवस्था हो जायेगी। इसलिये यही स्वीकार करना चाहिये कि नियत अर्थों का ज्ञान नियत शब्दों से होता है। नियत शब्द से ही नियत अर्थ का ज्ञान इसलिये होता है किअर्थ और शब्द के मध्य वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है। जिस अर्थ का सम्बन्ध जिस शब्द से होगा, उसी शब्द से उस अर्थ का ज्ञान होगा। शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध किस रूप का होता है—नित्य या अनित्य, स्वाभाविक या साङ्केतिक? इस विषय में विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों में मतभेद रहा है। मीमांसक शब्द और अर्थ के मध्य स्वाभाविक और नित्य सम्बन्ध मानते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि पदों में नित्य शक्ति होती है जो सम्बद्ध अर्थ का अभिधान करती है। परन्तु इसके विपरीत न्याय मान्यता में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कृतक, अनित्य और साङ्केतिक होता है। इसलिये शब्द और अर्थ के सम्बन्ध प्रतिपादन के प्रसग में जयन्त ने मुख्य रूप से मीमांसकों को पूर्वपक्ष में प्रस्तुत किया है और अन्ततः पूर्वपक्षी मान्यताओं, तर्कों एवं आक्षेपों का उत्तर देकर जयन्त यह सिद्ध करते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध साकेतिक और अनित्य होता है। सृष्टि के आदि में ईश्वर इस सम्बन्ध की उत्पत्ति करता है और बाद में वृद्ध व्यवहार से आवापोद्वाप की प्रक्रिया के द्वारा इस सम्बन्ध का ज्ञान होता है। जयन्त ने न्याय के बाह्यार्थवाद के कारण ही परम्परा-

वादी संकेत सम्बन्ध को मान्यता दी और नित्य सम्बन्ध का विरोध किया, क्योंकि नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने पर हमें उस प्रत्येक शब्द से उसके नियत अर्थ का ज्ञान होना चाहिये जिसका हम उच्चारण या श्रवण करते हैं, जबकि विदेशी भाषाओं के सम्बन्ध मे ऐसा नहीं होता। अतः जयन्त का मत ही अधिक वैज्ञानिक और व्यावहारिक है।

सभी नैयायिकों ने प्रायः वेद-विषयक विचारों की उपेक्षा कर दी है। परन्तु जयन्त वेद को ही मौलिक शब्द-प्रमाण स्वीकार करते हैं। इसलिये वेद के विरुद्ध नास्तिकों द्वारा प्रस्तुत सभी आक्षेपों का उत्तर देना जयन्त के लिये आवश्यक हो गया था। परतः प्रामाण्य स्वीकार करने के कारण जयन्त वेदों का प्रामाण्य भी परतः ही मानते हैं। वेदों के प्रामाण्य का यह हेतु है—वेदों का ईश्वरकर्तृकत्व। अतः वेद कर्त्ता के रूप में जयन्त ने ईश्वर की सिद्धि किया और ईश्वर विषयक न्याय-सम्मत धर्मों सर्वज्ञत्व, अशरीरित्वादि की ईश्वर में सिद्धि की। अनीश्वरवादी मीमांसक वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हैं अतः वेद उनके मत में अपौरुषेय हैं। परन्तु जयन्त वेद का परतः प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये वेदों को पौरुषेय सिद्ध करते हैं। वेद प्रामाण्य का हेतु भूत ईश्वर ही वेद का कर्त्ता है, अतः वेद पौरुषेय हैं। इसके अतिरिक्त जयन्त चार्वाक आदि नास्तिकों द्वारा प्रस्तुत किये गये वेद-प्रामाण्य विरोधी आक्षेपों का परिहार करके वेद के विधि, मंत्र, नामधेयादि भागों का प्रामाण्य सिद्ध करते हैं। इस प्रकार न्यायदर्शन में वेदों के प्रामाण्य पर न्याय पक्ष से इतना व्यापक विचार जयन्त ने ही किया है। जयन्त के पूर्ववर्त्ती या उत्तरवर्ती प्रायः सभी नैयायिकों ने वेद को मीमांसा का विषय मानकर हमेशा उपेक्षित रखा है। वेद के प्रामाण्य को सिद्ध करके जयन्त उन सभी आगमों का प्रामाण्य भी स्वीकार करते हैं, जिनका प्रामाण्य वेद के अधीन है। जैसे स्मृति, पुराण, विभिन्न विद्या-स्थान, शैव और पाञ्चरात्र आगम। इसके साथ ही जयन्त ने उन आगमों के प्रामाण्य का विरोध किया है जो वेद विरोधी हैं—जैसे बौद्धों, जैनों और चार्वाकों के आगम।

शब्द के प्रमाणत्व का भली-भाँति प्रतिपादन करने के बाद जयन्त शब्द से सम्बद्ध मुख्य समस्या शाब्द-बोध का विश्लेषण करते हैं। इस विश्लेषण में सबसे पहले पद से ज्ञात होने वाले अर्थ पर विचार किया है, तब वाक्य से ज्ञात होने वाले अर्थ पर।

पदार्थ ज्ञान के लिये आवश्यक शक्तियों पर जयन्त यद्यपि अलग से व्यवस्थित विचार नहीं करते, फिर भी जयन्त का अभिमत न्याय की परम्परावादी मान्यता से एक अंश तक साम्य रखता है। जयन्त भी पदगत अभिधा लक्षणा वृत्तियों को

स्वीकार करते हैं और व्यञ्जना का खण्डन करते हैं। जयन्त व्यञ्जना का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण और निषेध-लक्षणा में कर लेते हैं।

भारतीय ज्ञान मीमांसा को जयन्त की देनों में से एक देन यह भी है कि जयन्त अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त पदों में समवेत एक तात्पर्य शक्ति भी स्वीकार करते हैं। इस तात्पर्य शक्ति से पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, वरन् यह तात्पर्य शक्ति विभिन्न पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान कराती है। कुछ टीकाकारों की भ्रान्ति से यह परम्परा चल पड़ी थी कि तात्पर्य शक्ति की सर्वप्रथम उद्भावना मीमांसकों ने की है। परन्तु यह मान्यता निराधार है। वस्तुतः तात्पर्य शक्ति को प्रथम स्वीकृति जयन्तभट्ट ने दिया है। मीमांसा के दो प्रमुख आचार्य प्रभाकर एवं कुमारिल वाक्यार्थबोध में अभिधाशक्ति को समर्थ स्वीकार करते हैं। प्राच्य नैयायिक और भाट्ट मीमांसक दोनों ही अभिहितान्वयवादी हैं और पदगत अभिधा और लक्षणा शक्तियों से अनन्वित पदार्थों का अभिधान स्वीकार करते हैं। वाद में पदार्थों के परस्पर संसर्ग बोध द्वारा वाक्यार्थ बोध होता है। पदार्थों का यह संसर्ग ज्ञान किस प्रकार होता है? नैयायिक पदार्थों की संसर्ग मर्यादा द्वारा संसर्ग बोध या अन्वय स्वीकार करते हैं। कुमारिल ने स्वयं इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं दिया। वरन् आकांक्षा, योग्यता, और सन्निधि द्वारा पदार्थों का अन्वय स्वीकार किया है। कुमारिल के उत्तराधिकारियों ने इस प्रश्न का समाधान खोजने का प्रयास अवश्य किया। पार्थसारथि मिश्र ने इस विषय में दोहरी मान्यता प्रस्तुत की। श्लोक वार्त्तिक की टीका न्यायरत्नाकर में पार्थसारथि ने तात्पर्य से संसर्ग बोध स्वीकार करते हुये वाक्यार्थ के लिये तात्पर्य शक्ति को आवश्यक माना है। किन्तु इसके विपरीत उन्होंने न्यायरत्नमाला नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में वाक्यार्थ के लिये आवश्यक पदार्थ-संसर्ग का ज्ञान लक्षणा द्वारा स्वीकार किया है। प्रसिद्ध मीमांसक नारायण भट्ट ने मानमेयोदय में संसर्ग बोध लक्षणा द्वारा स्वीकार किया है।

यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि शास्त्रकारों और टीकाकारों ने तात्पर्य शक्ति की स्वीकृति को भाट्ट मीमासकों से सम्बद्ध स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश को वृत्ति में और अभिनवगुप्त ने लोचन में तात्पर्य शक्ति को भाट्टों द्वारा स्वीकृत शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। काव्य प्रकाश के टीकाकारों ने भी तात्पर्य को अभिहितान्वयवादी भाट्टों से सम्बद्ध स्वीकार किया है। इस कारण प्रायः यह भ्रान्त धारणा बन गयी कि तात्पर्य की सर्वप्रथम उद्भावना कुमारिल ने की। हम यह कह चुके हैं कि तात्पर्य को पदगत शक्ति के रूप

मे संसर्ग बोध के लिये जयन्त ने आवश्यक माना है और तात्पर्य शक्ति की प्रथम उद्भावना का श्रेय भी जयन्तभट्ट को है। तब यह प्रश्न स्वारसिक बन जाता है कि जयन्त की यह उपेक्षा क्यों हुई और तात्पर्य को अचार्यों ने भाट्टों से सम्बद्ध करने की महती भूल क्यों की ?

यद्यपि पार्थसारथि ने जयन्त की तरह तात्पर्य को वाक्यार्थ के लिये उपयोगी माना है, किन्तु तात्पर्य की प्रथम उद्भावना का श्रेय जयन्त को ही जाता है। जयन्तभट्ट कालक्रम की दृष्टि से पार्थसारथि मिश्र से पूर्ववर्ती हैं। जयन्त ने श्लोक वार्त्तिक को बाहुल्येन उद्धृत किया है. किन्तु पार्थसारथि का ज्ञान जयन्त को नहीं था। जयन्त नवम सदी के उत्तरार्ध से सम्बद्ध है जबकि पार्थसारथि का समय ग्यारहवीं सदी माना जाता है। यद्यपि पार्थसारथि का काल-निर्णय विवाद-ग्रस्त है किन्तु किसी प्रकार पार्थसारथि के समय को जयन्त के समय तक नहीं खींच सकते। अपि च पार्थसारथि का तात्पर्य स्वीकार ऐकान्तिक नही है। कहीं उन्होंने संसर्ग बोध के लिये लक्षणा को आवश्यक माना तो कहीं तात्पर्य को। इस कारण तात्पर्य की प्रथम स्वीकृति जयन्त द्वारा ही अन्वेषित स्वीकार की जानी चाहिये।[१]

यदि तात्पर्य का सम्बन्ध नैयायिक जयन्त से था तो शास्त्रकारों ने तात्पर्य को भाट्टों से सम्बद्ध क्यों माना ? इसका समाधान यह है कि जयन्त ने न्यायमञ्जरी की रचना जेल में की थी और इस कारण से जयन्त को और उनकी न्यायमञ्जरी को समय से वह सम्मान नहीं मिल पाया, जो उसे मिलना चाहिये था। एक लम्बे समय तक न्यायमञ्जरी परवर्त्ती विद्वानों के लिये अनभिज्ञ थी, इसका निरूपण हम पहले भी कर चुके हैं। मम्मट और उनके टीकाकारों तथा अभिनव गुप्त को वाक्यार्थ के अभिहितान्वय या अन्विताभिधान और संसर्ग ज्ञान के प्रकार से कुछ लेना देना नहीं था। पदगत शक्तियों की गणना के प्रसङ्ग में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के अतिरिक्त चौथी शक्ति के रूप में तात्पर्य की गणना मात्र इनका प्रयोजन था। अपने इस प्रयोजन में पार्थसारथि की तात्पर्य शक्ति की ही गणना इनके द्वारा की गयी। पार्थसारथि और अन्य मीमांसकों द्वारा संसर्ग बोध के लिये अन्यत्र स्वीकृत लक्षणा की गणना इनके लिये आवश्यक नही थी क्योंकि लक्षणा की गणना इसके पूर्व वे स्वयं ही कर चुके थे। प्रमाणों के अभाव में यह निर्णय करना कठिन है कि पार्थसारथि ने तात्पर्य की स्वीकृति जयन्त से प्रभावित

---

१. 'तात्पर्य शक्ति का प्रथम उद्भावक कौन—कुमारिलभट्ट या जयन्तभट्ट ?' शीर्षक से लेखक का स्वतन्त्र शोधपत्र अलग से प्रकाशित हो रहा है।

होकर की अथवा इसकी उद्भावना उन्होंने स्वयं ही की। यह भी सम्भव है कि जयन्त की ही तरह पार्थसारथि ने संसर्ग बोध के लिये तात्पर्य की आवश्यकता स्वयमेव अनुभव की हो या यह भी हो सकता है कि जयन्त से प्रभावित होकर पार्थसारथि ने तात्पर्य को अलग वृत्ति माना हो। परन्तु इतना अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि तात्पर्य की सर्वप्रथम उद्भावना जयन्त ने ही की। तात्पर्य की प्रथम उद्भावना का श्रेय किसी मीमांसक को नहीं दिया जा सकता। भाट्ट मीमांसकों से तात्पर्य का सम्बन्ध होने में—जैसा कि अनेक परवर्त्ती आचार्य मानते हैं, कोई विशेष अनौचित्य नहीं है, किन्तु यदि तात्पर्य की प्रथम उद्भावना का श्रेय किसी भी मीमांसक को दिया जाता है तो यह चिन्तन के बौनेपन का परिचायक है और जयन्तभट्ट के प्रति चिन्तन जगत् का एक बड़ा अपराध है।

पद का अर्थ क्या हो—इस विषय में जयन्त जाति, आकृति, व्यक्ति—ये तीन पक्ष प्रस्तुत करते हैं। जाति पक्ष के विरोधी बौद्धाभिमत अपोहपक्ष को भी जयन्त पदार्थ विचार में स्थान देते हैं। जयन्त का अपना मत उक्त सभी मतों से भिन्न है। जयन्त पद का अर्थ प्रधानतः व्यक्ति मानते हैं जिससे आकृति और जाति सामान्य रूप से अन्वित रहते हैं। जयन्त यह भी स्वीकार करते हैं कि कुछ विशेष स्थितियों में व्यक्ति प्रधान न होकर गौण भी हो सकता है और उस स्थिति मे जाति अथवा आकृति की प्रधानता होती है।

पदार्थ की ही तरह जयन्त ने वाक्यार्थ के विषय में प्रचलित विभिन्न मतो को प्रस्तुत करके उनका खण्डन किया है। आन्तर वाक्यार्थ से सम्बद्ध ज्ञान, अन्यव्यवच्छेद, प्रतिभा, और उद्योग के वाक्यार्थ सिद्धान्तों और बाह्य वाक्यार्थ से सम्बद्ध मीमांसा के विविध सम्प्रदायों को अभिमत क्रिया, आर्थीभावना, शाब्दीभावना या विधि और नियोग के वाक्यार्थ सिद्धान्तों को प्रस्तुत करके तर्कोपन्यास पूर्वक सभी का निषेध करते हुये अपने मत के रूप में जयन्त ने फल और संसृष्ट पदार्थ को वाक्यार्थ स्वीकार किया है। जयन्त ने यह भी स्वीकार किया है कि उनसे पूर्ववर्त्ती नैयायिकों ने वाक्यार्थ पर कोई विचार नहीं किया। प्रवर्त्तकत्व के आधार पर विचार करने पर वाक्यार्थ फल सिद्ध होता है, जबकि संसर्गबोध की दृष्टि से वाक्यार्थ परस्पर संसृष्ट पदार्थ समूह है।

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में जयन्त का योगदान चिरस्थायी है। मीमांसा के दो सम्प्रदायों को अलग-अलग अभिमत अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद वाक्यार्थबोध से सम्बद्ध मुख्य सिद्धान्त थे। वाक्य और वाक्यार्थ पर विचार

करने का कार्य भी मीमांसा का है, क्योंकि मीमांसा वाक्य-शास्त्र है। अतः शाब्द-बोध के सम्बन्ध में मीमांसा के उक्त मत अन्तिम थे। परन्तु जयन्त ही इतने साहसी न्यायवेत्ता थे कि इन्होंने मीमांसा के दोनों ही शाब्दबोध सिद्धान्तों का खण्डन करके एक तीसरा सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसे संहत्यकारितावाद कहा जाता है। जयन्त का संहत्यकारिता का सिद्धान्त मीमांसा के उक्त दोनों सिद्धान्तों से अधिक तर्कसंगत और वैज्ञानिक है। संहत्यकारितावाद की सिद्धि के लिये जयन्त ने अभिहितान्वयवादियों को अभिमत पदार्थों द्वारा वाक्यार्थ बोध की स्वीकृति नहीं दी, जबकि भाट्ट मीमांसक और शेष नैयायिक पदार्थों से ही वाक्यार्थ ज्ञान मानते हैं। इस मत का खण्डन करते हुये जयन्त ने पद और वाक्य भाव को प्राप्त करने वाले क्षणिक वर्णों में ही वाचकता की सिद्धि की है। ये पद ही एक साथ मिलकर वाक्यार्थ का ज्ञान करवाते हैं। यही संहत्यकारिता का निष्कर्ष है। जयन्त का संहत्यकारिता सिद्धान्त परवर्त्ती काल में भी अनेक विचारकों द्वारा स्वीकृत हुआ। भोज ने अपने शृङ्गार-प्रकाश में जयन्त का अनुकरण करते हुये अन्विता-भिधान और अभिहितान्वय के सिद्धान्तों का खण्डन करके संहत्यकारितावाद को स्वीकार किया है।

अन्ततः जयन्त ने वैदिक शब्दों की अर्थवत्ता पर विचार करते हुये क्रिया-र्थक और सिद्धार्थक सभी पदों को सार्थक स्वीकार किया है और साधु शब्दों के अर्थज्ञान हेतु व्याकरण के अध्ययन को आवश्यक स्वीकार किया है।

इस प्रकार शब्दखण्ड के अन्तर्गत जयन्त ने जिस पाण्डित्य और विद्वत्ता का परिचय दिया है उससे जयन्त की धाक न केवल न्याय में वरन् व्याकरण, मीमांसा, बौद्ध आदि विभिन्न दर्शन क्षेत्रों में स्थापित हो गयी। ज्ञान के क्षेत्र में अपने इन महत्त्वपूर्ण योगदानों के लिये जयन्त सदा स्मरणीय रहेंगे।

—:०:—

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

संस्कृत ग्रन्थ

पुस्तक	लेखक	प्रकाशन
अर्थ संग्रह	लौगाक्षिभास्कर	चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, १९७९
अष्टाध्यायी सूत्रपाठ	पाणिनि	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, १९७३।
आगगडम्बर	जयन्तभट्ट	मिथिला विद्यापीठ दरभंगा, १९६४।
ईशादिदशोपनिषदः (शाङ्करभाष्यसमेताः)		मोतीलाल बनारसीदास, १९७८।
ऋग्वेदसंहिता		पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, द्वारा सम्पादित।
कारिकावली (सिद्धान्त मुक्तावली सहित)	विश्वनाथ	कृष्णवल्लभाचार्य विरचित किरणावलीयुक्त, वाराणसी, १९४०।
काव्यप्रकाश (आचार्य विश्वेश्वर की हिन्दी टीका सहित)	मम्मट	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, १९७४।
गाथासप्तशती	हाल	काव्यमाला २१, पाण्डुरंगजावजी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३३।
तत्त्वचिन्तामणि शब्दखण्ड भाग-१	गंगेशोपाध्याय	रहस्य टीका सहित, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, १८८७।
तत्त्वचिन्तामणि शब्दखण्ड भाग-२	गंगेशोपाध्याय	रहस्य टीका सहित, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, १९०१।
तत्त्वसंग्रह	शान्तरक्षित	द्वारिकादास शास्त्री द्वारा सम्पादित बौद्धभारती, १९६८।
तन्त्रवार्त्तिक	कुमारिल	आनन्दाश्रम, पूना, १९७०।
तर्कभाषा	केशवमिश्र	श्रीनिवास शास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या सहित, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७२।

तर्कभाषा	केशवमिश्र	तर्कभाषा प्रकाशिका सहित, बाम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, १९३७।
तर्कसंग्रह (तर्कदीपिका और न्याय बोधिनी सहित)	अन्नं भट्ट	भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, १९७४।
तात्पर्यटीका	वाचस्पति मिश्र	गंगाधर शास्त्री द्वारा प्रकाशित, १९५४।
तत्त्वोपप्लवसिंह	जयराशि भट्ट	बड़ौदा ओरिएन्टल इंस्टीट्यूट १९५६।
ध्वन्यालोक (लोचन सहित)	आनन्दवर्धन	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९७९।
धातुपाठ (धात्वर्थ प्रकाशिका सहित)	पाणिनि	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६९।
न्याय कुसुमाञ्जलि	उदयन	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९७८।
न्याय दर्शन (वात्स्यायनभाष्य सहित)	अक्षपाद	बौद्धभारती, वाराणसी, १९७६।
न्याय दर्शन (खद्योत सहित)	अक्षपाद	चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९२५।
न्याय दर्शन भाग-१ (वात्स्यायन भाष्य, वार्त्तिक, तात्पर्य और परिशुद्धि से युक्त)	अक्षपाद	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६७।
न्याय परिशुद्धि	उदयन	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६७।
न्याय-बिन्दु (न्यायबिन्दु टीका सहित)	धर्मकीर्ति	(श्रीनिवासशास्त्री कृत भाषानुवाद सहित) साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७५।
न्यायमञ्जरी	जयन्तभट्ट	गंगाधरशास्त्री द्वारा प्रकाशित, विजयनगरम् संस्कृत सीरीज, १८९५।
न्यायमञ्जरी	जयन्तभट्ट	सूर्यनारायण शुक्ल द्वारा प्रकाशित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३६।

न्यायमञ्जरी भाग १ (न्यायसौरभ सहित)	जयन्तभट्ट	प्राच्य विद्या संशोधनालय, मैसूर, १९७०।
न्यायमञ्जरीग्रंथिभंग	चक्रधर	एल० डी० इन्स्टीट्यूट आफ इन्डोलाजी, अहमदाबाद, १९७२।
न्यायरत्नमाला	पार्थसारथिमिश्र	चौखम्भा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, १९००।
न्यायसिद्धान्त मुक्तावली (दिनकरी व रामरुद्री सहित)	विश्वनाथ	चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९७२।
प्रकरण-पञ्चिका	सालिकनाथ मिश्र	बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, १९६१।
प्रमाण वार्त्तिक (मनोरथनन्दिवृत्ति सहित)	धर्मकीर्ति	बौद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९६८।
प्रमाणवार्त्तिक भाष्य	प्रज्ञाकर गुप्त	काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९५३।
प्रशस्तपादभाष्य	प्रशस्तदेव	चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी, १९६६।
प्रशस्तपादभाष्य (न्यायकन्दली सहित)	प्रशस्तदेव	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७७।
बृहती	प्रभाकर मिश्र	चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९३३।
बोधिचर्यावतार	शान्तिदेव	बुद्ध बिहार, लखनऊ, १९५५।
भाट्टचिन्तामणि (तर्कपाद)	गागाभट्ट	चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, १९३३।
मानमेयोदय	नारायणभट्ट	थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास, १९३३।
मीमांसा श्लोकवार्त्तिक (न्यायरत्नाकर सहित)	कुमारिलभट्ट	चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९५३।
मीमांसा सूत्र शाबर भाष्य (भाग १ से ७)	शबर	आनन्दाश्रम संस्था, पूना, १९७६।

योगदर्शन (व्यासभाष्य सहित)	पतञ्जलि	संवित् प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७३ ।
राजतरङ्गिणी	कल्हण	पण्डितराज पुस्तकालय, काशी, १९६० ।
वाक्यपदीय (पुण्यराजकृत प्रकाश सहित)	भर्तृहरि	मेसर्स बी० बी० दास एण्ड कम्पनी, बनारस, १८८७ ।
वाक्यपदीय (भाग १ से ३) (अम्बाकर्त्री सहित)	भर्तृहरि	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६८ ।
विधि विवेक (न्यायकणिका सहित)	मण्डन मिश्र	तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९७८ ।
विवरण प्रमेय सग्रह	भारती तीर्थ	आन्ध्रविश्वकला परिषद्, बाल्टेर, १९४१ ।
वेदान्तपरिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९७७ ।
वैया० सिद्धान्त कौमुदी (बालमनोरमा तत्त्वबोधिनी सहित) (भाग १ से ४)	भट्टोजि दीक्षित	मोतीलाल बनारसीदास, १९७९ ।
वैशेषिक सूत्र	कणाद	ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६१ ।
वैशेषिकसूत्रोपस्कार	शंकर मिश्र	चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९६९ ।
व्याकरण महाभाष्य (१ से ५ अह्निक तक)	पतञ्जलि	चौखम्भा विद्याभवन, बाराणसी, १९७८ ।
शब्दशक्तिप्रकाशिका (कृष्णकान्तीरामभद्री सहित)	जगदीश	चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, १९७३ ।
शब्दव्यापारविचार	मम्मट	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९७४ ।
शाब्दतरङ्गिणी	सुब्रह्मण्यमुशास्त्री	संस्कृत एजूकेशन सोसायटी मद्रास, १९६९ ।

शास्त्रदीपिका (तर्कपाद)	पार्थसारथि मिश्र	साधुवेला संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, १९७७।
शास्त्रदीपिका (युक्तिस्नेहप्रपूरिणी सिद्धान्तचन्द्रिका तथा गूढार्थप्रकाशिका सहित)	पार्थसारथि मिश्र	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१५।
शाब्दबोधविमर्शः	बदरीनाथ सिंह	वाराणसी, १९७५।
शृङ्गारप्रकाश (भाग १-४)	भोज	कारोनेशन प्रेस, मैसूर, १९५५-५६।
सांख्यकारिका (तत्त्वकौमुदी सहित)	ईश्वर कृष्ण	प्रभानाम्नी हिन्दी टीका सहित डा० आद्याप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित— प्रेम प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद,
सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६४।

प्रकाशित हिन्दी शोध ग्रन्थ

उद्योतकर का न्यायवार्तिक	दयाशंकर अवस्थी	भारतीय प्रकाशन, कानपुर, १९७४।
न्याय परिचय (हिन्दी अनुवाद)	फणिभूषण तर्कवागीश	चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी, १९६८।
पद-पदार्थ समीक्षा	बल्देव सिंह	कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी, १९६९
भारतीय दर्शन का इतिहास भाग १ (हिन्दी अनुवाद)	सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त	राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, १९७८।
भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद	शारदा गान्धी	साहित्य भण्डार मेरठ, १९७५।
भारतीय दर्शनशास्त्र- (न्याय-वैशेषिक)	धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, १९५३।
भारतीय न्यायशास्त्र एक अध्ययन	ब्रह्ममित्र अवस्थी	इन्दु प्रकाशन, नई दिल्ली, १९६७।

भाषातत्त्व और वाक्यपदीय	सत्यकाम वर्मा	भारतीय प्रकाशन दिल्ली, १९६८।
स्फोट दर्शन	रंगनाथ पाठक	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९६७।

●

बङ्गला ग्रन्थ

न्याय मञ्जरी (बङ्गलानुवाद)	फणिभूषण तर्कवागीश	कलिकाता विश्वविद्यालय, १९३९।

●

कोश ग्रन्थ

अमरकोश (मणिप्रभायुक्त)	अमर सिंह	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, १९५७।
अंग्रेजी हिन्दी कोश	फादर कामिल बुल्के	काथलिक प्रेस, राँची, १९७४।
न्याय कोश	भीमाचार्य झलकीकर	दि भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, १९२८।
न्यायोक्ति कोश	छविनाथ मिश्र	अजन्ता पब्लिकेशन्स, इण्डिया, १९६८।
संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ	द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी	रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, १९७७।
संस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास, १९६६।
A Student Sanskrit English Dictionary	V. S. Apte	Motilal Banarasidas, 1976.
English Sanskrit Dictionary	B. D. Mullgovokar,	Gopal Narayan and Company, Bombay, 1936.

Oxford Advanced Learner's Dictionary of C rrent English	A. S. Hornby,	Oxford University Press, 1974.
Sanskrit English Dictionary	Moniar Williams,	Oxford University Press, 1956.

●

अंग्रेजी ग्रन्थ

A History of Indian Philosophy Vol. 1 to 5	S. N. Das Gupta	Motilal Banarasidas, 1975.
Ancient Monumentes of Kashmir	Ramchandra Kak	Indian Society, London 1933.
Bhoja's Shringar Prakasha	V. Raghawan	Karnataka Publishing House, Bombay, 1940.
Buddhistic Logic	St.herbatsky	Leningrad, 1932
Division of Catagories of Nyaya Philosophy	E. Roer	J. B. Mission Press, Calcutta, 1950.
Encyclopaedia of Indian Philosophy (Vol. I. Bibliography)	Karl H. Potter	Motilal Banarasidas, 1974.
Encyclopaedia of Indian Philosophy Vol. II (Nyaya-Vaisheshik)	Karl H. Potter	Motilal Banarasidas,, 1977.
Epistemology of the Bhatta School of Purva Mimamsa,	G. P. Bhatta	Chaukhambha Sanskrit Series Varanasi, 1962
Gautama Nyaya-Sutra (Eng. Translation)	D.P. Chattopadhyaya	Oriental Book Agency, Poona, 1939.
Gleenings from the History and Bibliography of Nyaya Vaisheshika Literature.	Gopinath Kaviraj	Indian studies, Past and Present, Calcutta, 1961.

History of classical Sanskrit Literature	M. Krishnamachariyar	Motilal Banarasidas, 1974.
History of Dharma-shastra, Vol. I	P. V. Cane	Bhandarkar Research Institute, Poona, 1930
History of Indian Logic	S. C. Vidya Bhushana	Motilal Banarasidas, 1971.
Indian Logic in the Eariy Schools.	H. N. Randle	Oxford University Press 1930.
Indian theories of Knowledge	C. D. Bijalwan	Heritage Publishers, New Delhi, 1977.
Indian theories of Meaning	K. Kunjunni Raja	Adyar Library and Research Center, Madras, 1969.
Kalhana's Chronicles of the kings of Kashmir Vol. I, II	M. A. Stein	Munsi Ram Manoher lal, Delhi 1961.
Nyaya-Manjari Vol. I (English Translation)	J. V. Bhattacharya	Motilal Banarasidas, 1978.
Nyaya Philosophy Vol. I, II	D. P. Chattopadhyaya	Indian Studies, Past and Present, 1968.
Philosophy of Nyaya-Vaisheshika Literature and its conflict with the Buddhistic Dinnaga School.	D. N. Shastri	Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1976.
Philosophy of word and Meaning.	G. N. Shastri	Sanskrit College Calcutta, 1959.
Primer of Indian Logic.	S. Kuppooswami shastri	Mylapore, Madras, 1961.
Purva Mimamsa in Its Sources	G. N. Jha	Banaras Hindu University, 1942.

Shloka Vartika (Eng. Translation)	G. N. Jha	Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1900.
Schools of Indian Philosophical Thoughts.	Swami Prajnananand	Firma, K. L. Mukhopadhyaya, Calcutta, 1973.
Tarkasangraha (with the notes af Bod.s)	Y. V. Athalye	Bhandarkar Research Institute, Poona, 1974.
The Problem of Meaning in Indian Philosophy.	R. C. Pande	Motilal Banarasidas, 1977.
What is Living and what is Dead in Indian Philosophy.	D. P. Chattopadhyaya	People's Publishing House, New Delhi, 1977.

विशिष्ट शब्द सूची


श्रीभुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान
" यद्भद्रंतन्नऽआसुव "
ॐ
मातः! परं नास्तिमे